लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

(पञ्चम भाग)

भीमसेन शास्त्री

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[पञ्चम भाग]

(तद्धित-प्रकरणम्)

भीमसेन शास्त्री

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली–११०००६

व्याकरण-प्रशस्तिः

अङ्गीकृतं कोटिमितं च शास्त्रं
नाङ्गीकृतं व्याकरणं च येन ।
न शोभते तस्य मुखारविन्दं
सिन्दूरबिन्दुर्विधवा-ललाटे ॥१॥

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्म्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् ।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य धीमान्
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी ॥२॥

व्याकरणात् पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिश्चयो भवति ।
अर्थात् तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ॥३॥

अव्याकरणमधीतं भिन्नद्रोण्या तरङ्गिणीतरणम् ।
भेषजमपथ्यसहितं त्रयमिदमकृतं वरं, न कृतम् ॥४॥

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याः

(तद्धितप्रकरणस्य विषयानुक्रमणिका)

✲ शुभं भूयात् ✲

आत्म-निवेदनम्

लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या का यह तद्धितप्रकरणात्मक पाञ्चवां खण्ड संस्कृतव्याकरणानुरागी जनता एवं प्रतीक्षारत छात्रों के हाथों समर्पित करते मुझे आज अपार हर्ष हो रहा है। इसलिये भी, कि इस खण्ड के साथ इस व्याख्या की समाप्ति भी हो रही है। इस व्याख्या के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा षष्ठ खण्ड पहले ही प्रकाशित हो चुके थे, केवल तद्धितप्रकरणात्मक पाञ्चवां खण्ड ही शेष रहता था जो अब प्रकाशित हो रहा है। इस तरह गत पचास वर्षों से आरभ्यमाण यह लघु-कौमुदीसम्बन्धी व्याख्यायज्ञ आज समापनोन्मुख हो रहा है। अपने यौवनकाल से आरब्ध यह यज्ञ अब ढलती उमर में आकर समाप्त हुआ है। लघुसिद्धान्तकौमुदी पर लगभग २७०० पृष्ठों की यह अतीव विस्तृत विपुल व्याख्या पहली बार केवल हिन्दी भाषा के माध्यम से ही प्रकाश में आई है। भारत भर के संस्कृतप्रेमी अध्यापकों, अनुसन्धान-प्रेमियों, विद्यार्थियों तथा व्याकरणजिज्ञासु साधुसन्तों ने जैसे इस व्याख्या का सम्मान वा आदर प्रकट कर मुझे उत्तरोत्तर उत्साहित किया है, मैं उन सब का हृदय से आभारी हूं। मैं उन के इस स्नेहातिरेक को कभी भुला नहीं सकता। अस्तु।

भैमीव्याख्या का यह पाञ्चवां खण्ड लघुकौमुदीस्थ तद्धितप्रकरण पर हिन्दी में लिखा विस्तृत भाष्य है। पाणिनीय तद्धितप्रकरण भारतीय स्वर्णिम इतिहास का एक सुनहरा वर्क है। कारणकि इस में सैंकड़ों प्राचीन व्यक्तियों, राजाओं, कुलों, जनपदों नगरों, ग्रामों, नदियों, पर्वतों आदि का स्थान स्थान पर उल्लेख मिलता है। इस के अतिरिक्त इस में नानाविध भारतीय व्यवसायों, सामाजिक रीतिरिवाजों, ललित-कलाओं, शिल्पों तथा विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थों का भी पर्याप्त वर्णन पाया जाता है। भारत के प्राक्कालिक या वैदिकोत्तर इतिहास को जानने के लिये यह प्रकरण जितना उपयोगी सिद्ध होता है वैसे दूसरा कोई नहीं। इसी का आश्रय ले कर श्रीवासु देवशरण अग्रवाल ने **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** नामक अपना अपूर्व शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया है। एवं पाश्चात्य लेखकों का भी यह प्रकरण सदा से उपजीव्य रहा है। इसी प्रकरण से सम्बद्ध गणों में आज भी ऐसे सैंकड़ों व्यक्तियों वा स्थानों का उल्लेख पाया जाता है जिन का वर्णन अन्यत्र इतिहास के किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता।

इस प्रकरण के अध्ययन और मनन से दूसरा सब से बड़ा लाभ यह होता है कि पाणिनि की शास्त्रनिर्माणविधि (Technique) को इस से भलीभान्ति समझा जा सकता है। उदाहरणत: एक ही प्रत्यय को विविध अनुबन्धों से सजा कर पाणिनि ने शास्त्रनिर्माणविधि में अपना अभूतपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है। निदर्शनार्थ एक ही

तद्धितप्रत्यय 'य' को लीजिये। पाणिनि ने अपने शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये इसे अठारह प्रकार से प्रयुक्त किया है। तथाहि—

(१) य। **सख्युर्यः** (११६१)। सख्यम्।
(२) यक्। **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३)। सैनापत्यम्।
(३) यत्। **दण्डादिभ्यो यत्** (११४६)। दण्ड्यः।
(४) यञ्। **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८)। गार्ग्यः।
(५) यन्। **ब्राह्मणमाणववाडवाद् यन्** (४.२.४१)। ब्राह्मण्यम्।
(६) यस्। **कंशंभ्यां ब-भ-युस्-ति-तु-त-यसः** (५.२.१३८)। कंयः। शंयः।
(७) यप्। **द्विगोर्यप्** (५.१.८१)। द्विमास्यः।
(८) यल्। **वेशोयशआदेर्भगाद् यल्** (४.४.१३१)। वेशोभग्यः।
(९) ञ्य। **अतिथेर्ञ्यः** (५.४.२६)। अतिथये इदम् आतिथ्यम्।
(१०) ञ्यङ्। **वृद्धेत्कोसलाजादाद् ञ्यङ्** (४.१.१६९)। आवन्त्यः।
(११) ञ्यट्। **आयुधजीविसङ्घाञ्ञ्यट्** ० (५.३.११४)। क्षौद्रक्यः।
(१२) ट्यण्। **सोमाट् ट्यण्** (१०४३)। सौम्यं हविः।
(१३) ड्य। **वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ** (१०३७)। वामदेव्यं साम।
(१४) ड्यत्। **वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ** (१०३७)। वामदेव्यं साम।
(१५) ड्यण्। **पाथोनदीभ्यां ड्यण्** (४.४.१११)। पाथ्यः। नाद्यः।
(१६) ण्य। **कुर्वादिभ्यो ण्यः** (१०२९)। कौरव्यः। नैषध्यः।
(१७) ण्यत्। **षण्मासाण्ण्यच्च** (५.१.८२)। षाण्मास्यः।
(१८) ष्यञ्। **वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च** (११५९)। शौक्ल्यम्।

जहां जहां आचार्य को केवल 'य' का विधान अभीष्ट होता है वहां वे अनुबन्धरहित शुद्ध 'य' का प्रयोग करते हैं। यथा—**सख्युर्यः** (११६१)—सख्यम्। **सभाया यः** (११३६)—सभ्यः। जहां उन्हें 'य' के परे रहते आदिवृद्धि करनी अभीष्ट होती है वहां यकार के साथ ककार, णकार या अकार अनुबन्धों को भी जोड़ लेते हैं जिस से **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) या **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि हो जाये। यथा—**पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३)—सैनापत्यम्। **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८)—गार्ग्यः। **कुर्वादिभ्यो ण्यः** (१०२९)—कौरव्यः, नैषध्यः। जहां 'य' के परे रहते टि का लोप अभीष्ट होता है वहां 'य' के साथ डकार अनुबन्ध को जोड़ देते हैं जिस से **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप हो सके। यथा—**पाथोनदीभ्यां ड्यण्** (४.४.१११)—पाथसि भवः—पाथ्यः। जहां स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय लाना अभीष्ट होता है, वहां 'य' प्रत्यय के साथ षकार अनुबन्ध एवं जहां ङीप् अभीष्ट होता है वहां टकार अनुबन्ध जोड़ देते हैं। यथा—**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (ष्यञ्) (११६०)—मधुरस्य भावो माधुरी, चतुरस्य भावश्चातुरी, उचितस्य भाव औचिती। **सोमाट् ट्यण्** (१०४३)—सोमो देवताऽस्याः—सौमी ऋक्।

इसी प्रकार पाणिनि ने तद्धित 'अ' प्रत्यय को सात प्रकार से (अ, अच्, अण्, अञ्, अत्, ञ, डट्) स्वप्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रयुक्त किया है।

पाणिनि ने प्रत्ययों के साथ अनुबन्ध जोड़ते समय लोकप्रचलित उदात्तादिस्वरों का भी विशेष ध्यान रखा है। जहां जो जो स्वरविशेष अभीष्ट होता है वहां तदनुसार प्रत्यय के साथ लकार, तकार, ञकार, नकार, चकार आदि अनुबन्ध जोड़ देते हैं। यथा—**सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) द्वारा विहित त्रल् के लित् होने से **लिति** (६.१.१८७) द्वारा लित् से पूर्व उदात्त हो जाता है। इसी प्रकार **तित्स्वरितम्** (६.१.१७९) से तित् प्रत्यय को स्वरित हो जाता है। **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) द्वारा ञित् या नित् प्रत्यय के परे रहते आदि को उदात्त हो जाता है। चित् या कित् तद्धितान्त को **चितः** (६.१.१५७) और **कितः** (६.१.१५९) सूत्रों के द्वारा अन्तोदात्तस्वर हो जाता है। **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (३.१.४) से पित् प्रत्यय को अनुदात्त माना गया है। इन के अतिरिक्त अन्य प्रत्यय **आद्युदात्तश्च** (३.१.३) के द्वारा आद्युदात्त होते हैं। ध्यान रहे कि पाणिनि के समय लोक में संस्कृतभाषा बोलचाल की भाषा थी और इस में उदात्तादि स्वरों (Accent) का विशेष ध्यान रखा जाता था। अत एव पाणिनि ने अपने व्याकरण में इस का पूरा पूरा ध्यान रखा है। यह सब उन्होंने प्रत्ययों के साथ प्रायः विशिष्ट अनुबन्ध लगा कर ही सिद्ध किया है। पाणिनि की इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख कर इस व्याख्या में प्रत्येक प्रत्यय के साथ जुड़े अनुबन्धों का प्रयोजन सर्वत्र स्पष्ट दर्शाया गया है जिस से विद्यार्थियों को पाणिनि की सूक्ष्म शास्त्रप्रणयनशैली का पदे पदे स्पष्टीकरण होता रहे। इस विषय में संस्कृत-व्याकरण-जगत् में हिन्दी भाषा के माध्यम से किया गया यह पहला यत्न समझना चाहिये।

इस खण्ड में भी पूर्व खण्डों की भान्ति व्याख्या-शैली अपनाई गई है। सर्वप्रथम सूत्रों का पदच्छेद, विभक्ति, वचन, अनुवृत्ति तथा परिभाषादिजन्य विशेषताओं के द्वारा बना समग्र सूत्रार्थ दर्शा कर बाद में उदाहरणरूपेण प्रस्तुत प्रत्येक रूप की विस्तृत सिद्धि दी गई है। प्रकृतसूत्र का उस रूप की सिद्धि में क्या कार्यविशेष रहता है इसे विशेषरीत्या समझा समझा कर सर्वत्र स्पष्ट किया गया है। सिद्धि के साथ साथ प्रत्येक तद्धितान्त का विग्रह दे कर उस का हिन्दीभाषा में अर्थ भी सर्वत्र दे दिया गया है। शङ्कासमाधान का भी वही ढंग रखा गया है। जहां तक लघुकौमुदीकार के आन्तरिक रहस्यों का प्रश्न है उसे समझाने के लिये कुरेद कुरेद कर शङ्काओं का समाधान किया गया है। यह व्याख्या केवल लघुकौमुदी के मूलोक्त उदाहरणों तक ही सीमित नहीं है बल्कि अन्यान्य अनेकों उदाहरण भी विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन चुन कर यहां प्रदर्शित किये गये हैं। मूलोक्त लगभग पाञ्च सौ उदाहरणों के अतिरिक्त दो हज़ार अन्य उदाहरण भी विद्यार्थियों को विषय के आत्मसात् कराने के लिये विग्रहप्रदर्शन-पूर्वक यहां संकलित किये गये हैं ताकि वे कूपमण्डूक न रह कर विषय के विशेष ज्ञाता बन सकें। इसी तरह मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त तद्धितप्रकरण के लगभग पचास अन्य सरल सूत्र भी यहां छात्रों की ज्ञान-वृद्धि के लिये सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं।

तद्धितान्त उदाहरणों के साहित्यगत प्रयोगों को भी यत्र तत्र निर्दिष्ट किया गया है। जगह जगह लोकप्रसिद्ध सुभाषितों और सूक्तियों से भी इसे मण्डित करने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में छः परिशिष्ट बड़े यत्न से संगृहीत किये गये हैं। इन में चौथा परिशिष्ट मूलोक्त उदाहरणों की अनुक्रमणिका है जो शोध-छात्रों के बड़े काम की वस्तु है। इसी तरह तद्धितप्रकरणस्थ प्रत्ययों की सूची भी अनेक दृष्टियों से बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

मुझ से जो बन पड़ा सतत तीन वर्ष लगा कर इस भाग को पूरा किया। इस में सब से बड़ा सहयोग मेरे विशाल पुस्तकालय का है जो आज भी राजधानी में संस्कृतपुस्तकों का व्यक्तिगत एक बड़ा संग्रह है।

इस बार प्रूफ़ पढ़ने का कार्य प्रायः स्वयं मैं ने ही किया है। लाख यत्न करने पर भी मानवसुलभस्वभाव के कारण दोषराहित्य तो दुर्लभ है ही परन्तु फिर भी यह ग्रन्थ पर्याप्त शुद्ध छपा है। इस में अशुद्धियां क्वचित् ही रही होंगी जो अनिवार्य हैं। किसी ने युक्त ही कहा है—

अत्यूर्जितं वस्तु चलं च चित्तमतः प्रमादः सुलभः प्रणेतुः।
प्रमादिनौ लेखकमुद्रकौ च क्वात्यन्तिकी पुस्तक ते विशुद्धिः॥

शास्त्रिसदनम्
९/६४४२, मुखर्जी गली
गांधीनगर, दिल्ली-११००३१
[२५.७.१९९१ (ई०)]

सुरभारती का तुच्छ समुपासक
भीमसेन शास्त्री
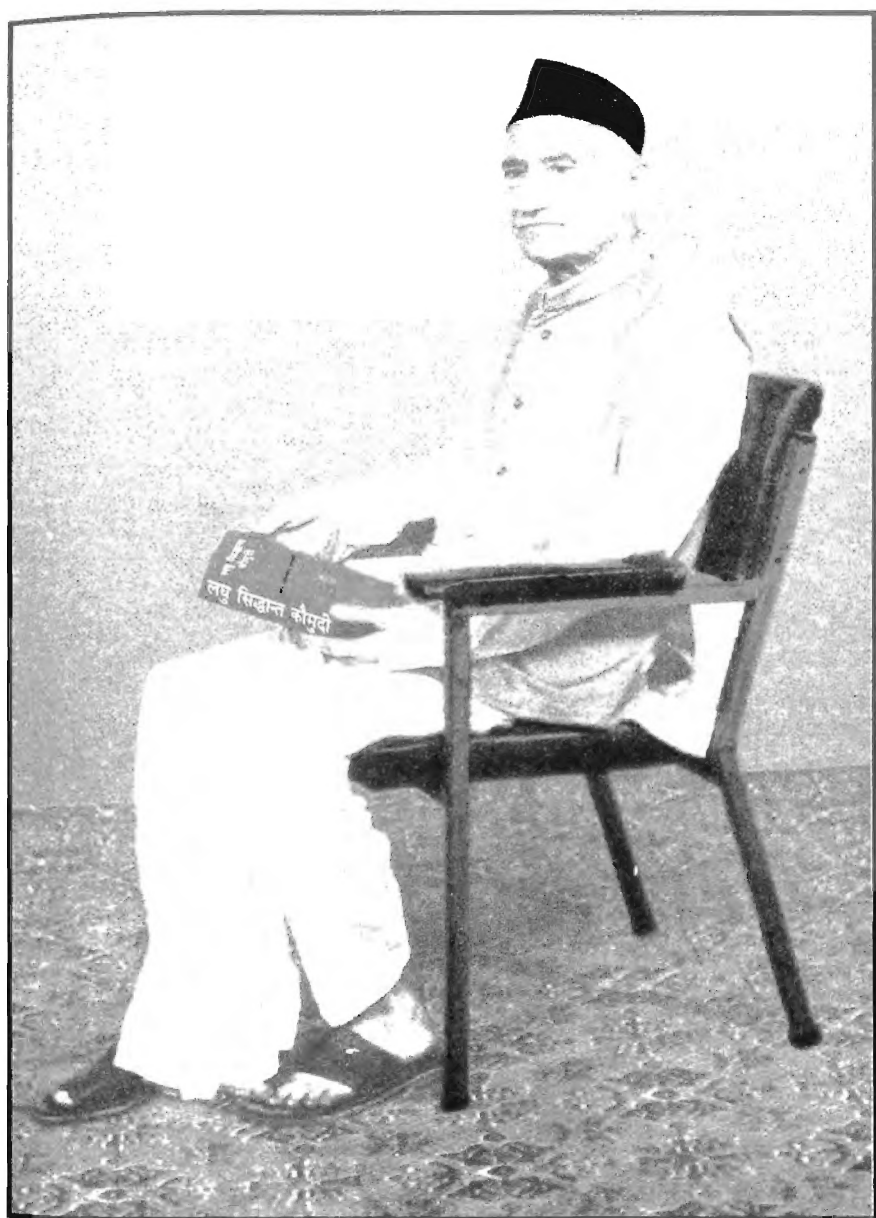
भैमीव्याख्याकार डा० भीमसेन शास्त्री

ॐ

श्रीवरदराजाचार्यप्रणीता

※ लघु-सिद्धान्त-कौमुदी ※

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

[पञ्चमो भागः]

——:०:——

वरेण्यं सच्चिदानन्दं साक्षिणं सर्वकर्मणाम् ।
आकाराद्यनवच्छिन्नं वन्दे वन्द्यं जगद्गुरुम् ॥१॥
प्रेरको जगतोऽध्यक्षो धियो यो नः प्रचोदयेत् ।
येन शास्त्ररहस्यं नश्चकास्तु हृदये सदा ॥२॥
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
प्रकृतः पञ्चमो भागो दीपवत्तिमिरं हरेत् ॥३॥
सुबन्तानि तिङन्तानि कृदन्त-कारकाणि च ।
सुव्याख्याय समासांश्च तद्धितान् विवृणेऽधुना ॥४॥
मामकीनं श्रमं वीक्ष्य पठकाः पाठका अपि ।
सर्वे मुदमवाप्स्यन्ति संछिन्नोत्थितसंशयाः ॥५॥

——:०:——

अथ तद्धित-प्रकरणम्

सुँबन्त, तिङन्त, कृदन्त, कारक और समास इन सब उपजीव्य प्रकरणों के अनन्तर अब यहां से तद्धितप्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। जैसे धातुओं से विविध प्रत्यय लाने से अनेक प्रातिपदिकों की निष्पत्ति होती है वैसे प्रातिपदिकों से भी विविध तद्धित प्रत्यय करने पर तद्धितान्त शब्दों की निष्पत्ति होती है। संस्कृतसाहित्य का

अधिकांश भाग तद्धितान्त प्रयोगों से भरा पड़ा है । लोक से लौकिक, वेद से वैदिक, धर्म से धार्मिक, पाणिनि से पाणिनीय, व्याकरण से वैयाकरण, मीमांसा से मीमांसक, ग्राम से ग्रामीण, दशरथ से दाशरथि, मेधा से मेधाविन्, गर्ग से गार्ग्य, जन से जनता, अध्यात्म से आध्यात्मिक, भूत से भौतिक, दक्षिणा से दाक्षिणात्य, तुला से तुल्य, उपगु से औपगव, दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, मृदु से मृदुता मृदुत्व और म्रदिमन्, चक्षुष् से चाक्षुष, राष्ट्र से राष्ट्रिय, युष्मद् से युष्मदीय, अस्मद् से अस्मदीय, समाज से सामाजिक, धनुष् से धानुष्क, शरण से शरण्य, सभा से सभ्य, कण्ठ से कण्ठ्य, दन्त से दन्त्य, मूर्धन् से मूर्धन्य, अहन् से आह्निक, स्त्री से स्त्रैण, पुरोहित से पौरोहित्य इत्यादि तद्धितान्तों के कुछ उदाहरण हैं ।[1] इस प्रकरण में पढ़े गये प्रत्ययों की **तद्धिताः** (९१६) सूत्र से तद्धित-सञ्ज्ञा होती है ।[2] ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्व का है । इस में अनेक प्राचीन स्थानों, जनपदों, नगरों आदि के उल्लेख के साथ-साथ अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों के कुल, कृति, व्यवसाय, सामाजिक रीति-रिवाज एवं भक्ष्याभक्ष्य आदि पर—बहुमुखी प्रकाश पड़ता है जो प्राचीन भारतीय इतिहास का सुनहरा पन्ना सिद्ध होता है ।[3] मुनिवर पाणिनि की अष्टाध्यायी का लगभग एक चौथाई भाग इन तद्धितप्रत्ययों से भरा पड़ा है । यह प्रकरण अन्य प्रकरणों की अपेक्षा अतीव सरल है । प्रायः तीन-चार सूत्रों से ही रूपसिद्धि हो जाती है । इस प्रकरण में अर्थ का विशेष ध्यान रखना होता है ।

अब सब से प्रथम तद्धितप्रकरणोपयोगी अधिकारसूत्र का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रम्—(**९९७**) **समर्थानां प्रथमाद्वा** ।४।१।८२।।

इदं पदत्रयमधिक्रियते 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (११९७) इति यावत् ।।

---

१. आङ्गल आदि भाषाओं में भी इसी प्रकार के प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं । यथा—Prison से Prisoner, King से Kingdom, Crime से Criminal, City से Citizen, Civil से Civillian, Red से Reddish, Sun से Sunny, Child से Childish, Fool से Foolish, Christ से Christion, India से Indian आदि ।

२. तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः—तद्धिताः । तद्धितप्रत्ययों को इसलिये तद्धित कहते हैं क्योंकि ये उन उन प्रयोगों की निष्पत्ति में हितकर अर्थात् सहायक होते हैं । तात्पर्य यह है कि इन प्रत्ययों का उपयोग शिष्टसम्मत इष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिये ही किया जाता है मनमाने नये-नये प्रयोग घड़ने के लिये नहीं । इस विषय पर एक टिप्पण **तद्धिताः** (९१६) सूत्र पर समासप्रकरण में लिख चुके हैं, उसका भी यहां पुनरवलोकन कर लेना चाहिये ।

३. इस विषय के लिये श्रीवासुदेवशरण-अग्रवालविरचित **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** नामक ग्रन्थ का अवलोकन करें ।

अर्थः—समर्थानाम्, प्रथमात् और वा—इन तीनों पदों का अधिकार किया जाता है। यह अधिकार अष्टाध्यायी में **प्राग्दिशो विभक्तिः** (५.३.१) सूत्र तक जाता है।

व्याख्या—समर्थानाम् ।६।३। (निर्धारणे षष्ठी, समर्थानां मध्य इत्यर्थः)। प्रथमात् ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। यहां तीनों पदों में प्रत्येक पद पर स्वरित का चिह्न होने से **स्वरितेनाधिकारः** (१.३.११) द्वारा तीनों पदों का पृथक्-पृथक् रूप से अधिकार किया जा रहा है। इस से किसी एक अधिकार के निवृत्त हो जाने पर भी दूसरे की प्रवृत्ति बनी रहती है। **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) सूत्र तक तो तीनों का उपयोग होने से तीनों पदों का अधिकार चलेगा ही, परन्तु आगे स्वार्थिक प्रत्ययों में अनुपयुक्त होने से 'समर्थानाम्' और 'प्रथमात्' की निवृत्ति हो जायेगी केवल 'वा' पद का ही यथासम्भव अधिकार रहेगा। अर्थः—(समर्थानाम्) समर्थों के मध्य जो समर्थ (प्रथमात्) प्रथम उच्चरित हो उस से परे (वा) विकल्प कर के वक्ष्यमाण तद्धित प्रत्यय हों। ध्यान रहे कि इस प्रकरण में **प्रत्ययः** (१२०), **परश्च** (१२१), **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११६) और **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार पूर्वतः आ रहे हैं।

यह अधिकारसूत्र है। अधिकारसूत्रों का उपयोग अपने स्थानों पर नहीं हुआ करता। विधिसूत्रों में उपस्थित होकर उन के साथ एकवाक्य बन कर इन की चरितार्थता हुआ करती है। यथा—**तस्याऽपत्यम्** (१००४) यह विधिसूत्र है। यहां प्रथम उच्चरित 'तस्य' पद है जो षष्ठ्यन्त का उपलक्षण है, अतः तद्बोध्य पद को ही प्रक्रियादशा में प्रथम समझा जायेगा। इस से उपगोरपत्यम् इत्यादि में 'उपगोः' आदि षष्ठ्यन्त पदों से ही तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति होगी प्रथमान्त अपत्यशब्द से नहीं। तद्धितप्रत्यय विकल्प से होते हैं। इस से पक्ष में 'उपगोरपत्यम्' आदि वाक्य तथा 'उपग्वपत्यम्' आदि समास भी हो सकते हैं।[1]

यहां 'समर्थ' का अभिप्राय 'अर्थबोध कराने में समर्थ' से है। जिस में तत्तत्सन्धि-कार्य हो चुके हों वही पद अर्थबोध कराने में समर्थ हो सकता है अकृत-सन्धिकार्य नहीं। अतः 'समर्थ' से यहां कृतसन्धिकार्य (कृतं सन्धिकार्यं यस्मिन्) पद का ही ग्रहण समझा जायेगा। इस से 'सु उत्थितस्य अपत्यम्' यहां **अत इञ्** (१०१४) सूत्र से इञ् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि और आव् आदेश करने से 'सावुत्थितिः' न बनेगा, अपितु सूत्थित शब्द

---

१. ननु 'उपग्वपत्यम्' इति कथं षष्ठीसमासः, तद्धितानां समासापवादत्वात्। न च तद्धितानां पाक्षिकत्वात् तदभावपक्षे षष्ठीसमासो निर्बाध इति वाच्यम्। अपवादेन मुक्ते पुनरुत्सर्गो न प्रवर्त्तेत इति **पारे मध्ये षष्ठ्या वा** (२.१.१७) इति वाग्रहणेन ज्ञापितत्वाद् इति चेच्छृणु। **दैवयज्ञि-शौचिवृक्षि-सात्यमुग्रि-काण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतर-स्याम्** (४.१.८१) इति पूर्वसूत्राद् 'अन्यतरस्याम्'-ग्रहणानुवृत्तेः समासोऽपि सिध्यति।

से ही इञ् प्रत्यय होकर 'सौत्थितिः' बनेगा। इसी प्रकार 'वि ईक्षमाणस्य अपत्यम्' यहां 'वायिक्षमाणिः' न बनकर 'वैक्षमाणिः' ही बनेगा।[१]

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि अत्यन्त स्वार्थिक प्रत्ययों को छोड़ कर अन्य तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति सुँबन्तों से ही हुआ करती है केवल 'उपगु' आदि शुद्ध प्रातिपदिकों से नहीं।[२] तद्धितप्रत्यय अलौकिकविग्रह में 'उपगु ङस्' आदि सुँबन्तों से ही होते हैं।[३]

तो इस प्रकार तद्धितविधान पदविधि है। अतः **समर्थः पदविधिः** (६०४) परिभाषाद्वारा समर्थपदों से ही तद्धितप्रत्ययों का विधान होगा असमर्थ पदों से नहीं। यथा—कम्बलमुपगोरपत्यं देवदत्तस्य (कम्बल तो उपगु का है, सन्तान देवदत्त की है)। यहां उपगुशब्द का कम्बल के साथ सम्बन्ध है अपत्य के साथ नहीं, अतः एकार्थीभाव-सामर्थ्य के न रहने से 'उपगोरपत्यम्' में तद्धित की उत्पत्ति नहीं होती।[४]

कई लोग **समर्थानां प्रथमाद्वा** के स्थान पर **समर्थात्प्रथमाद्वा** ऐसा सूत्र पसन्द करते हैं। 'समर्थानाम्' में बहुवचन का निर्देश उन्हें उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

स्मरणीय सार—

(१) तद्धितप्रत्यय उस शब्द से होते हैं जिस में सन्धिकार्य किया जा चुका हो।

(२) **तस्यापत्यम्** (१००४), **तेन रक्तं रागात्** (१०३३), **तेन प्रोक्तम्** (११०८), **तस्य समूहः** (१०४७), **तत आगतः** (१०६८) इत्यादि प्रत्ययविधायकसूत्रों में तस्य, तेन, ततः आदि जो प्रथम पढ़े गये पद, तद्बोध्य शब्दों से ही तद्धितप्रत्यय हुआ करते हैं।

---

१. जैसाकि महाभाष्य में यहां स्पष्ट लिखा है—
किम्पुनः समर्थम्? अर्थाभिधाने यत्समर्थम्। किं पुनस्तत्? कृतवर्णानुपूर्वीकं पदम्। सौत्थितिः। वैक्षमाणिः। (महाभाष्य ४.१.८२)

२. अत एव **घकालतनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६) यहां तरप् तमप् इन तद्धित प्रत्ययों के परे रहते सप्तमी के अलुक् का विधान किया गया है। यदि तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति सुँबन्त से न होकर केवल प्रातिपदिक से ही होती तो तरप्-तमप् आदि तद्धितप्रत्ययों के परे होने पर सुँप् के न होने से उस के लुक् या अलुक् का प्रश्न ही पैदा न होता। अतः इस से सुतरां सिद्ध होता है कि सुँबन्तों से ही तद्धितों की उत्पत्ति होती है।

३. तद्धितों में भी समासों की तरह लौकिक और अलौकिक दो प्रकार का विग्रह हुआ करता है। 'उपगोरपत्यम्' यह लौकिकविग्रह तथा 'उपगु ङस्+अण्' यह अलौकिक विग्रह है।

४. जब पद मिल कर परस्परसम्बद्ध एक अर्थ की प्रतीति कराते हैं तो वहां एकार्थीभावरूप सामर्थ्य होता है। समास, तद्धित आदि पदविधियों में यही सामर्थ्य पाया जाता है।

(३) तद्धितप्रत्यय विकल्प से होते हैं अतः पक्ष में वाक्य तथा यथासम्भव समास भी हो सकता है ।

(४) तद्धितप्रत्यय (अत्यन्त स्वार्थिकों को छोड़ कर) सुँबन्तों से ही होते हैं केवल प्रातिपदिकों से नहीं। जहां प्रातिपदिकों से विधान कहा है वहां पर भी तत्तत्प्रकृतिक सुँबन्तों से ही विधान समझना चाहिये ।

(५) तद्धितप्रत्ययों के विधान में भी समर्थपरिभाषा (**समर्थः पदविधिः** ६०४) प्रवृत्त हो जाती है । अतः समर्थ पदों से ही तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है असमर्थ पदों से नहीं । यथा—'ऋद्धस्य उपगोरपत्यम्, कम्बलमुपगोरपत्यं देवदत्तस्य' इत्यादियों में उपगुशब्द से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय नहीं होता ।[1]

अब प्राग्दीव्यतीय तद्धितों का वर्णन करने से पूर्व कुछ साधारण (सामान्य) प्रत्ययों को दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्[2]—(९९८) **अश्वपत्यादिभ्यश्च** ।४।१।८४।।

एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम् । गाणपतम् ।।

अर्थः—अश्वपति आदि शब्दों से (भी) प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अश्वपत्यादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। प्राग् इत्यव्यय-पदम् । दीव्यतः ।५।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) । **तद्धिताः** यह अधिकृत है। अश्वपति-शब्द आदिर्येषां तेऽश्वपत्यादयस्तेभ्यः=अश्वपत्यादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(अश्वपत्यादिभ्यः) अश्वपति आदि शब्दों से (च) भी (तद्धिताः) तद्धित संज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है (दीव्यतः) **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र से (प्राक्) पूर्व के अर्थों में ।

आगे **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७) सूत्र आयेगा । इस सूत्र से पहले-पहले **तस्यापत्यम्** (उस की सन्तान), **तेन रक्तं रागात्** (उस से रङ्गा गया) इत्यादि जो अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं उन्हें प्राग्दीव्यतीय अर्थ कहते हैं ।[3] इन अर्थों में अश्वपति

---

१. **समर्थः पदविधिः** (६०४) का सामर्थ्य तथा **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) का सामर्थ्य परस्पर बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है । इस के उपर्युक्त सूक्ष्मभेद को बुद्धि में ठीक तरह से बिठा लेना चाहिये ।

२. प्राग्दीव्यतोऽर्थबोधकेषु इदमधिक्रियते इत्यादिप्रकारेण एषामप्यधिकारत्वं बोध्यम् । तेष्वयम्भवतीति विधायकत्वमेवेत्यन्ये—इति दित्यदित्यादित्यसूत्रभाष्योद्योते नागेशः।

३. दीव्यतः प्राक् प्राग्दीव्यत्, **अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या** (२.१.११) इत्यव्ययीभावः । तत्र भवाः प्राग्दीव्यतीयाः । **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छः । लघुसिद्धान्तकौमुदी में मुख्यतः प्राग्दीव्यतीय अर्थ इस प्रकार से दिये गये हैं— १. **तस्यापत्यम्** (१००४) ।

आदि शब्दों से अण् प्रत्यय होता है । अश्वपत्यादि एक गण है ।[1]

यह सूत्र आगे आने वाले **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्रद्वारा प्राप्त 'ण्य' प्रत्यय का अपवाद है । सूत्र के उदाहरण यथा—

अश्वपतेरपत्यादि[2] आश्वपतम् (अश्वपति की सन्तान आदि) । तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति सुँबन्तों से ही होती है—इस नियम के अनुसार यहां 'अश्वपति ङस्' आदि से **तस्याऽपत्यम्** (१००४, उस की सन्तान) आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में **अश्वपत्यादिभ्यश्च** (९९८) इस प्रकृतसूत्र से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर 'अश्वपति ङस्+अण्' हुआ । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने से 'अश्वपति+अण्' रहा । पुनः अण् प्रत्यय के णकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** (३) से उस इत् का लोप हो जाता है—अश्वपति+अ । अण् प्रत्यय के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) सूत्र से 'अश्वपति' अङ्ग के आदि अकार

---

२. **तेन रक्तं रागात्** (१०३३) । ३. **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४) । ४. **दृष्टं साम** (१०३६) । ५. **परिवृतो रथः** (१०३८) । ६. **तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः** (१०३९) । ७. **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) । ८. **साऽस्य देवता** (१०४१) । ९. **तस्य समूहः** (१०४७) । १०. **तदधीते तद्वेद** (१०५३) । ११. **तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि** (१०५६) । १२. **तेन निर्वृत्तम्** (१०५७) । १३. **तस्य निवासः** (१०५८) । १४. **अदूरभवश्च** (१०५९) । १५. **शेषे** (१०६८) । १६. **तत्र जातः** (१०८७) । १७. **प्रायभवः** (१०८९) । १८. **सम्भूते** (१०९०) । १९. **तत्र भवः** (१०९२) । २०. **तत आगतः** (१०९८) । २१. **प्रभवति** (११०३) । २२. **तद् गच्छति पथिदूतयोः** (११०४) । २३. **अभिनिष्क्रामति द्वारम्** (११०५) । २४. **अधिकृत्य कृते ग्रन्थे** (११०६) । २५. **सोऽस्य निवासः** (११०७) । २६. **तेन प्रोक्तम्** (११०८) । २७. **तस्येदम्** (११०९) । २८. **तस्य विकारः** (१११०) । इन के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थों का भी अष्टाध्यायी में उल्लेख किया गया है ।

१. अश्वपत्यादिगण यथा—
अश्वपति । ज्ञानपति । शतपति । धनपति । गणपति । स्थानपति । यज्ञपति । राष्ट्रपति । कुलपति । गृहपति । पशुपति । धान्यपति । धन्वपति । बन्धुपति । धर्मपति । सभापति । प्राणपति । क्षेत्रपति ।

२. आदि शब्द से अन्य भी प्राग्दीव्यतीय अर्थों का यथासम्भव संग्रह कर लेना चाहिये । यथा—अश्वपतीनां समूहः । अश्वपतेर्जातः । अश्वपतेरागतः । अश्वपतौ भवः । अश्वपतेर्निवासः । अश्वपतेरिदम् इत्यादि । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये ।

की आकार वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक[1] इकार का लोप करने पर आश्वपत्+अ='आश्वपत' यह तद्धितान्त शब्द निष्पन्न हुआ। तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण इस से स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। विशेष्यानुसार यहां लिङ्ग की व्यवस्था होती है। सामान्य की अपेक्षा से नपुंसक में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **अतोऽम्** (२३४) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'आश्वपतम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के पुंलिङ्ग होने पर 'आश्वपतः' एवं स्त्रीलिङ्ग होने पर **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'आश्वपती' बनेगा।

दूसरा उदाहरण—गणपतेरपत्यादि गाणपतम् (गणपति की सन्तान आदि)। गणपतिशब्द भी अश्वपत्यादिगण में पढ़ा गया है अतः इस से भी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में पूर्वोक्तप्रकारेण अण् प्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'गाणपतम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—कई लोग 'गणपतिर्देवताऽस्य' इस विग्रह में **साऽस्य देवता** (१०४१) इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में अग्रिम **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र से ण्य (य) प्रत्यय कर 'गाणपत्यो मन्त्रः' (गणपतिदेवतावाला मन्त्र) इस प्रकार लिखते हैं। वह सर्वथा अपशब्द समझना चाहिये। गणपतिशब्द से समस्त प्राग्दीव्यतीय अर्थों में प्रकृतसूत्रद्वारा अण् प्रत्यय ही होगा। अतः 'गाणपतो मन्त्रः' कहना ही शुद्ध है।

यहां यह भी विशेष ध्यातव्य है कि इस प्राग्दीव्यतीयप्रकरण में **प्राग्दीव्यतोऽण्** [(४.१.८३) अर्थः—**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७)—सूत्र से पूर्व अण् प्रत्यय का अधिकार जानना चाहिये] सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय का अधिकार किया गया है। शेष सब प्रत्यय इस के अपवाद हैं। जहां अन्य कोई विशेष प्रत्यय विधान न किया जायेगा वहां सामान्यतः अण् प्रत्यय ही होगा। अश्वपत्यादिगण में सामान्यप्राप्त अण् प्रत्यय को बाध कर **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) इस अग्रिमसूत्रद्वारा 'ण्य' प्रत्यय प्राप्त होता था परन्तु हमें यहां अण् प्रत्यय करना ही अभीष्ट है अतः उस का पुरस्तादपवाद यह प्रकृतसूत्र समझना चाहिये।

अब सामान्यप्राप्त अण् के अपवाद 'ण्य' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९९)

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ।४।१।८५॥

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यात्। अणोऽपवादः। दितेरपत्यं दैत्यः। अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम्—

---

१. तद्धितप्रत्यय स्वादिप्रत्ययों के अन्तर्गत हैं अतः यकारादि और अजादि तद्धितों के परे होने पर **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसञ्ज्ञा तथा हलादियों के परे होने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पूर्व की पदसंज्ञा जाननी चाहिये।

अर्थः—दिति (दैत्यों की माता), अदिति (देवताओं की माता) और आदित्य (सूर्य) शब्दों से तथा पतिशब्द जिन का उत्तरपद हो ऐसे शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय हो। यह सूत्र अण् प्रत्यय का अपवाद है।

व्याख्या—दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात् ।५।१। ण्यः ।१।१। प्राक् इत्यव्ययपदम्। दीव्यतः ।५।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकारसूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि सब पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पतिशब्द उत्तरपदं यस्य स पत्युत्तरपदः (शब्दः), बहुव्रीहिसमासः। दितिश्च अदितिश्च आदित्यश्च पत्युत्तरपदश्च दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदम्, तस्मात्=दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(दीव्यतः) दीव्यत् से (प्राक्) पहले के अर्थों में (दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्) दिति, अदिति और आदित्य शब्दों से एवं पतिशब्द जिन का उत्तरपद हो ऐसे समस्त शब्दों से भी परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ण्यः) ण्य प्रत्यय हो जाता है। **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) द्वारा अधिकृत अण् प्रत्यय का यह अपवाद है। उदाहरण यथा—

दितेरपत्यं दैत्यः (दिति की सन्तान)। यहां 'दिति ङस्' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से **तस्यापत्यम्** (१००४) के अर्थ में **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) इस सामान्यप्राप्त अण्प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र से ण्यप्रत्यय हो कर तद्धितान्तत्वेन समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा (११७), सुँब्लुक् (७२१), **चुटू** (१२९) से ण्यप्रत्यय के आदि णकार की इत्संज्ञा एवं **तस्य लोपः** (३) से उस का लोप करने पर 'दिति + य' हुआ। अब तद्धित प्रत्यय के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) सूत्रद्वारा अङ्ग के आदि अच् इकार को ऐकार वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अन्त्य इकार का लोप करने से 'दैत्य' शब्द बना। अब विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग में सुँविभक्ति लाने पर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'दैत्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अदितेरपत्यम् आदित्यः (अदिति की सन्तान)। यहां भी पूर्ववत् 'अदिति ङस्' से अपत्यार्थ में प्रकृतसूत्र से ण्यप्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आदित्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

आदित्यस्य अपत्यम् आदित्यः (आदित्य की सन्तान)। यहां 'आदित्य ङस्' इस सुँबन्त से अपत्यार्थ में ण्यप्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि[1] तथा भसंज्ञक अकार का लोप हो कर 'आदित्य् + य' हुआ। अब इस अवस्था में पूर्व यकार का वैकल्पिक लोप करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** (जैसे बादल, जल और स्थल सब जगह एक समान वृष्टि करते हैं वे यह नहीं देखते कि जल में बरसना व्यर्थ और स्थल में उपयोगी है वैसे सूत्रों की भी प्रवृत्ति होती है) इस परिभाषा के कारण दीर्घ आकार को भी पुनः वृद्धि आदेश के द्वारा आकार आदेश हो जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०००) **हलो यमां यमि लोपः ।८।४।६३।।**

वा स्यात् । इति यलोपः । आदित्यः । प्राजापत्यः ।।

अर्थः—हल् से परे यम् वर्णों का लोप हो विकल्प से, यदि यम् वर्ण परे हो तो ।

व्याख्या—हलः ।५।१। यमाम् ।६।३। यमि ।७।१। लोपः ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। (**झयो होऽन्यतरस्याम्** से) । अर्थः—(हलः) हल् से परे (यमाम्) यम्प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों का (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (लोपः) लोप हो जाता है (यमि) यम् परे हो तो । एक अवस्था में लोप कहने से दूसरी अवस्था में लोप न होगा, अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा । यम् प्रत्याहार में अन्तःस्थ तथा वर्गों के पञ्चम वर्ण आते हैं । **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) परिभाषा के अनुसार यकार परे होने पर यकार का, वकार परे होने पर वकार का इत्यादि प्रकारेण लुप्यमान यम् से तादृग यम् परे होने पर ही लोप होगा ।[1]

'आदित्य् + य' यहां तकार हल् से परे 'य्' इस यम् का प्रकृत **हलो यमां यमि लोपः** (१०००) सूत्र से वैकल्पिक लोप हो जायेगा क्योंकि 'ण्य' वाला 'य' दूसरा यम् वर्ण परे है ही । अतः लोपपक्ष में 'आदित्यः' तथा लोपाभाव में 'आदित्य्यः' इस प्रकार दो रूप बनेंगे ।[2]

---

१. अत एव 'माहात्म्यम्, तादात्म्यम्' इत्यादियों में मकार यम् के परे होने पर तकार यम् का लोप नहीं होता ।

२. द्विविधो हि आदित्यशब्दोऽवगन्तव्यः । एकस्तावद् अदितेरपत्यम् इत्यर्थे व्युत्पादितः । द्वितीयोऽपत्यार्थभिन्नजाताद्यर्थे 'अदितौ जातः' इत्यादिप्रकारेण निष्पादितः । उभयत्र अदितिशब्दाद् **दित्यदित्यादित्य०** (९९९) सूत्रेण ण्यप्रत्ययो भवति । परं यदा आदित्यशब्दात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यप्रत्ययः क्रियते तदा द्विविधाभ्यामपि आदित्यशब्दाभ्यां समानेऽपि ण्यप्रत्यये प्रक्रियावैषम्यं भवति । तत्रादौ जाताद्यर्थे व्युत्पादितस्य आदित्यशब्दस्य प्रक्रियेत्थम्—

जाताद्यर्थे निष्पन्नाद् आदित्यशब्दाण्ण्ये आदिवृद्धौ, **यस्येति च** (२३६) इति भस्याकारस्य लोपे 'आदित्य् + य' इति स्थिते **यणो मयो द्वे वाच्ये** (वा०) इति पूर्वयकारस्य विकल्पेन द्वित्वे **हलो यमां यमि लोपः** (१०००) इति वा यलोपः । तदेवम्—

द्वित्वे सति कृते लोपे—आदित्य्यः ।
द्वित्वे सति लोपाभावे—आदित्य्य्यः ।
द्वित्वाभावे कृते लोपे—आदित्यः ।
द्वित्वाभावे, लोपाभावे—आदित्य्यः ।

इत्थम् एकयं द्वियं त्रियं चेति त्रीणि रूपाणि सिध्यन्ति । अपत्यप्रत्ययान्ताद् आदित्यशब्दाण्ण्ये, आदिवृद्धौ, भस्याकारस्य लोपे च कृते 'आदित्य् + य' इति स्थितौ **आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति** (६.४.१५१) इति पूर्वयकारस्य नित्यं लोपे 'आदित्यः' इत्येकयमेव रूपम् ।

यञ, अञ्

यहां यह बात विशेषतः ध्यातव्य है कि हल् से परे ही यह यमोयमिलोप प्रवृत्त होता है। अन्नम्, प्रसन्नम् आदि में अच् से परे यह लोप नहीं होता।

अब पत्युत्तरपदों से ण्य का उदाहरण यथा—

प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः (प्रजापति की सन्तान)। 'प्रजापति' में षष्ठीतत्पुरुष-समास है—प्रजायाः पतिः प्रजापतिः। प्रजापतिशब्द में 'पति' शब्द उत्तरपद में है। अतः सुँबन्त प्रजापतिशब्द से अपत्यार्थ में प्रकृत **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (६६६) सूत्र से ण्यप्रत्यय, सुँब्लुक् (७२१), आदिवृद्धि (६३८) तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने पर—प्राजापत्+य='प्राजापत्यः' प्रयोग निष्पन्न हो जाता है।

इसी प्रकार—सेनापतेरपत्यादि सैनापत्यम्। बृहस्पतेरपत्यादि बार्हस्पत्यम्। इत्यादि।

अब प्राग्दीव्यतीयप्रकरण में औत्सर्गिक अण् के अपवाद कुछ वार्त्तिकों का उल्लेख करते हैं—

[लघु०] वा०—(६७) देवाद् यञञौ ॥

दैव्यम्। दैवम् ॥

अर्थः—देवशब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यञ् और अञ् प्रत्यय हों।

व्याख्या—देवात्।५।१। यञञौ।१।२। यञ् च अञ् च यञञौ, इतरेतरद्वन्द्वः। यह वार्त्तिक **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार में **दित्यदित्यादित्य०** (६६६) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। अतः प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ही अण् का अपवाद जानना चाहिये। अर्थः—(प्राग् दीव्यतः) दीव्यत् से पहले के अर्थों में (देवात्) देवशब्द से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (यञञौ) यञ् और अञ् प्रत्यय हो जाते हैं। यञ् और अञ् में ञकार इत् है। उदाहरण यथा—

देवस्य अपत्यादि दैव्यं दैवं वा (देव की सन्तान आदि)। सुँबन्त देवशब्द से अपत्य आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में औत्सर्गिक अण् के अपवाद प्रकृत **देवाद् यञञौ** (वा० ६७) वार्त्तिक से यञ् या अञ् प्रत्यय होकर प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि से एकार को ऐकार तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर यञ्पक्ष में 'दैव्यम्' और अञ्पक्ष में 'दैवम्' प्रयोग निष्पन्न होता है।[1] अण् और अञ्

---

१. ध्यान रहे कि अञ्पक्ष में 'दैव' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'दैवी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। परन्तु यञ्पक्ष में दैव्यशब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **यञश्च** (१२५२) सूत्रद्वारा ङीप् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् ही होता है—दैव्या। इस का कारण यह है कि **यञश्च** (१२५२) सूत्र में अपत्याधिकारपठित यञ् प्रत्यय का ग्रहण ही अभीष्ट है। यहां 'दैव्य' में हुआ यञ्प्रत्यय अपत्याधिकार में पढ़ा नहीं गया अपितु अपत्याधिकार से पूर्व प्राग्दीव्यतीय साधारणप्रत्ययों के प्रकरण में पढ़ा गया है। इस का विशेष विवेचन स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण में **यञश्च** (१२५२) सूत्र पर इसी व्याख्या में देखें।

प्रत्ययों में स्वर का ही अन्तर पड़ता है। यदि अण् होता तो शब्द अन्तोदात्त होता जो अनिष्ट था। अब अञ् करने से आद्युदात्तस्वर होता है जो अभीष्ट है।

अब दूसरे वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(६८) बहिषष्टिलोपो यञ् च ॥

बाह्यः ॥

अर्थः—'बहिस्' शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक यञ् प्रत्यय तथा बहिस् की टि (इस्) का लोप हो जाता है।

व्याख्या—बहिषः ।५।१। टिलोपः ।१।१। यञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। प्राक् इत्यव्ययपदम्। दीव्यतः ।५।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से)। टेर्लोपः टिलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(दीव्यतः) दीव्यत्शब्द से (प्राक्) पहले के अर्थों में (बहिषः) बहिस् अव्यय से (यञ्) यञ् प्रत्यय (च) तथा (टिलोपः) बहिस् की टि का लोप हो जाता है। **अचोऽन्त्यादि टि** (३९) के अनुसार बहिस् की टि 'इस्' है। यञ् में ञकार इत् है जो **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

बहिर्भवः—बाह्यः (बाहर में होने वाला अर्थात् बाहरी)। 'बहिस्' यह स्वरादि-गणपठित अव्यय है। 'बहिस् ङि' इस सुँबन्त से **तत्र भवः** (१०९२) इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **बहिषष्टिलोपो यञ् च** (वा० ६८) वार्त्तिक से यञ् प्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्[1], आदिवृद्धि तथा इसी वार्त्तिक से 'इस्' टि का लोप हो कर[2]—बाह्+य='बाह्य' बना। अब विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में पुंलिङ्ग में 'बाह्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3] स्त्रीलिङ्ग में टाप् (१२४९) प्रत्यय ला कर 'बाह्या'[4] तथा नपुंसकलिङ्ग में 'बाह्यम्' बनेगा।

---

१. वस्तुतः अव्ययों से सुँप् का लुक् अन्तरङ्ग होने से **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा सब से पहले ही हो जाता है। वह इतने काल तक प्रतीक्षा नहीं करता। अतः यहां 'बहिस् ङि' से प्रत्ययविधान प्राथमिक विद्यार्थियों को समझाने के लिये ही किया गया है।

२. यद्यपि **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा० ८५) इस वार्त्तिक से ही बहिस् अव्यय की टि का लोप हो सकता था पुनः यहां उस का विधान उस वार्त्तिक की अनित्यता का द्योतक है। इस से अव्ययों की भसंज्ञक टि का क्वचित् लोप नहीं भी होता। यथा—आराद् भवः—आरातीयः, यहां टि का लोप नहीं हुआ।

३. **तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम**
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
बाह्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ (पञ्चतन्त्र)

४. **या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।**
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ (मनु० १२.९५)

अब बहिस्‌विषयक एक अन्य वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] वा०—(**६९**) **ईकक् च ॥**

अर्थः—बहिस्‌शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक ईकक् प्रत्यय तथा बहिस् की टि का लोप भी हो जाता है।

व्याख्या—बहिषः ।५।१। टिलोपः ।१।१। (पूर्वोक्त वार्त्तिक से)। ईकक् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। दीव्यतः ।५।१। प्राक् इत्यव्ययपदम् (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) अर्थः—(दीव्यतः प्राक्) दीव्यत् से पहले के अर्थों में (बहिषः) बहिस् अव्यय से (ईकक्) ईकक् प्रत्यय (च) तथा बहिस् की (टिलोपः) टि का लोप भी हो जाता है

ईकक् प्रत्यय का अन्त्य ककार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। 'ईक' मात्र अवशिष्ट रहता है। प्रत्यय का कित्करण आदिवृद्धि के लिये किया गया है। इसे दर्शाने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१००१**) **किति च ।७।२।११८॥**

किति तद्धिते च अचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । बाहीकः ॥

अर्थः—कित् तद्धित प्रत्यय के परे होने पर भी (अङ्ग के) अचों में जो आदि अच् उस के स्थान पर वृद्धि आदेश हो।

व्याख्या—किति ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। तद्धिते ।७।१। अचाम् इति निर्धारण-षष्ठीबहुवचनान्तम्। आदेः ।६।१। (**तद्धितेष्वचामादेः** सूत्र से)। अचः ।६।१। (**अचो ञ्णिति** सूत्र से)। वृद्धिः ।१।१। (**मृजेर्वृद्धिः** सूत्र से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। क् इद् यस्य स कित्, तस्मिन्=किति, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(किति तद्धिते) कित् तद्धित के परे होने पर (च) भी (अङ्गस्य) अङ्ग के (अचाम्) अचों के मध्य जो (आदेः, अचः) आदि अच्, उस के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। ञित् या णित् तद्धित के परे रहते **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि का विधान पहले कर चुके हैं अब कित् तद्धित के परे होने पर भी उस का विधान किया जा रहा है। अतः सूत्र में 'च' लगाया गया है। उदाहरण यथा—

बहिर्भवः—बाहीकः (बाहर में होने वाला अर्थात् बाहरी)। यहां भी बहिस् अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में **ईकक् च** (वा० ६९) वार्त्तिक से तद्धितसंज्ञक ईकक् प्रत्यय, अन्त्य ककार अनुबन्ध का लोप, **किति च** (१००१) से अङ्ग के आदि अच् बकारोत्तर अकार को वृद्धि तथा इसी वार्त्तिक से बहिस् की टि (इस्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'बाहीकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के स्त्रीलिङ्ग होने पर **नञ्-स्नञीकक्-ख्युंस्तरुण-तलुनानाम्०** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'बाहीकी' बनेगा। बाहीकी सेना (बाहर की सेना)।

अब प्राग्दीव्यतीय अर्थों में एक अन्य वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] वा०—(**७०**) **गोरजादिप्रसङ्गे यत् ॥**

गोरपत्यादि गव्यम् ॥

अर्थः—अजादि प्रत्ययों के प्रसङ्ग में गोशब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धित-संज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या— गोः ।५।१। अजादिप्रसङ्गे ।७।१। यत् ।१।१। दीव्यतः ।५।१। प्राग् इत्यव्ययपदम् । (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) । अच् आदिर्येषां ते=अजादयः प्रत्ययाः, बहुव्रीहिसमासः । अजादीनां (प्रत्ययानाम्) प्रसङ्गः=अजादिप्रसङ्गः, तस्मिन्=अजादि-प्रसङ्गे, षष्ठीतत्पुरुषः । अण् आदि प्रत्यय अजादि प्रत्यय हैं। अर्थः—(दीव्यतः प्राक्) दीव्यत् शब्द से पहले के अर्थों में (गोः) गोशब्द से (अजादिप्रसङ्गे) अजादिप्रत्ययों के प्राप्त होने पर (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है । तात्पर्य यह है कि यदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में गोशब्द से कोई अजादि प्रत्यय प्राप्त होता हो तो वह न हो कर यत् प्रत्यय हो जाये । यत् प्रत्यय का अन्त्य तकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है । तकार अनुबन्ध स्वरितस्वर के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

गोरपत्यम्, गवि भवम्, गोभ्य आगतम्, गौर्देवताऽस्य, गोरिदम्—गव्यम् (गौ की सन्तान, गौ में होने वाला, गौओं से आया हुआ, गौ देवता वाला, गौ का यह इत्यादि) । यथायोग्य सुँबन्त गोशब्द से अपत्य आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में सामान्यतः **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) से अण् प्रत्यय प्राप्त होता है । अण् अजादि प्रत्यय है अतः प्राग्दीव्यतीय तत्तद् अर्थों में प्रकृत **गोरजादिप्रसङ्गे** यत् (वा० ७०) वार्त्तिक से उसे बाध कर यत् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से ओकार के स्थान पर अव् आदेश करने से ग् अव्+य='गव्य' बना । अब **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) के अनुसार नपुंसक मान कर विभक्तिकार्य करने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'अजादिप्रसङ्गे' कथन के कारण 'गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोरूप्यं गोमयं वा' इत्यादि हलादि प्रत्ययों के प्रसङ्ग में यत् न होगा । इन में **तत आगतः** (१०९८) के अर्थ में **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** (११०१) सूत्र से रूप्यप्रत्यय तथा **मयट् च** (११०२) सूत्र से मयट् प्रत्यय किया गया है ।

अब औत्सर्गिक अण् के अपवाद एक अन्य सूत्र का भी यहां अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००२) उत्सादिभ्योऽञ् ।४।१।८६।।

(प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु) । औत्सः ।।

अर्थः—उत्स आदि गणपठित शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक अञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—उत्सादिभ्यः ।५।३। अञ् ।१।१। प्राग् इत्यव्ययपदम् । दीव्यतः ।५।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । उत्सः (उत्सशब्दः) आदिर्येषान्ते उत्सादयः, तेभ्यः=उत्सादिभ्यः । तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(प्राग्दीव्यतः) दीव्यत् से पहले के अर्थों में (उत्सादिभ्यः) उत्स आदि प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अञ्) अञ् प्रत्यय होता है । उत्सादि

एक गण है जो पाणिनीयगणपाठ में पढ़ा गया है।[1] यह सूत्र औत्सर्गिक अण् तथा अण् के अपवाद इञ् आदि प्रत्ययो का भी अपवाद है। अञ् का 'अ' ही शेष रहता है। अण् और अञ् प्रत्ययों से रूपसिद्धि में केवल स्वर का ही अन्तर पड़ता है। अण्प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त तथा अञ्प्रत्ययान्त आद्युदात्त होते हैं। सूत्र का उदाहरण यथा—

उत्से भव औत्सः (उत्स अर्थात् झरने में होने वाला मण्डूक आदि)। यहां 'उत्स ङि' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से प्राग्दीव्यतीय **तत्र भवः** (१०६२) के अर्थ में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय प्राप्त होता है परन्तु उत्सशब्द उत्सादियों में परिगणित है। अतः औत्सर्गिक अण् का बाध कर प्रकृत **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) सूत्र से अञ् प्रत्यय, तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, अञ् के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) से अङ्ग के आदि अच् उकार को औकार वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य कर पंलिङ्ग प्रथमा के एकवचन में 'औत्सः' प्रयोग सिद्ध होता है।[2]

इसीप्रकार—

महानसे भवः—माहानसोऽग्निः (रसोईघर में होने वाली अग्नि)।
ग्रीष्मे भवम्—ग्रैष्ममहः (ग्रीष्मर्तु में होने वाला दिन)।
उदपाने[3] भवः—औदपानः (कूप में होने वाला मण्डूक आदि)।
भरतस्यापत्यम्—भारतः (भरत की सन्तान)।
उशीनरस्यापत्यम्—औशीनरः (उशीनर की सन्तान)।
जनपदे भवः—जानपदः (जनपद में होने वाला)।
जनपदादागतः—जानपदः (जनपद से आया हुआ)।

---

१. उत्सादिगण यथा—

उत्स। उदपान। विकर। विनद। महानद। महानस। महाप्राण। तरुण। तुलन। **बष्कय असे** (ग० सूत्र० असे=असमासे)। धेनु। पृथिवी। पङ्क्ति। जगती। त्रिष्टुभ्। अनुष्टुभ्। जनपद। भरत। उशीनर। ग्रीष्म। पीलु। कुल। **उदस्थान देशे** (ग० सूत्र०)। **वृष दंशे** (ग० सूत्र०)। भल्लकीय। रथन्तर। मध्यन्दिन। बृहत्। महत्। सत्त्वत्। कुरू। पञ्चाल। इन्द्रावसान। उष्णिह्। ककुभ्। सुवर्ण। सुपर्ण। देव। **ग्रीष्मादच्छन्दसि** (ग० सूत्र०)।
[इस गण के अनेक शब्द विचारणीय वा शोधनीय हैं।]

२. स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'औत्सी' बनेगा। एतद्विषयक एक टिप्पण आगे **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र पर इस व्याख्या में देखें।

३. **पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं च पुंसि वा** इत्यमरः।

अभ्यास [१]

(१) तद्धित-नामकरण का क्या कारण है ? इसे बहुवचन से क्यों निर्दिष्ट किया गया है । क्या संस्कृतेतर अन्य भाषाओं में भी ये उपलब्ध होते हैं ? सोदाहरण विवेचन करें ।

(२) किन तद्धितप्रत्ययों के परे रहते आदि अच् को वृद्धि हो जाती है ?

(३) सूत्रनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ रूपों की सिद्धि करें—
१. औत्सः । २. आदित्यः । ३. गाणपतम् । ४. गव्यम् । ५. बाहीकः । ६. बाह्यः । ७. प्राजापत्यः । ८. ग्रैष्मम् ।

(४) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्तरूप सिद्ध करें—
१. जनपदादागतः । २. दितेरपत्यम् । ३. महानसे भवः । ४. अश्वपतेरपत्यादि । ५. देवस्यापत्यादि । ६. आदित्यस्यापत्यम् ।

(५) निम्नस्थ सूत्रों वा वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. हलो यमां यमि लोपः । २. समर्थानां प्रथमाद्वा । ३. दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः । ४. प्राग्दीव्यतोऽण् । ५. गोरजादिप्रसङ्गे यत् । ६. बहिषष्टिलोपो यञ् च । ७. अश्वपत्यादिभ्यश्च । ८. किति च ।

(६) समुचित टिप्पण करें—
[क] अण् और अञ् प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाला अन्तर ।
[ख] प्राग्दीव्यतीय अर्थ ।
[ग] सुँबन्त से ही तद्धितोत्पत्ति ।
[घ] समर्थानां प्रथमाद्वा तथा समर्थः पदविधिः के सामर्थ्यों में भेद ।
[ङ] तद्धितप्रत्ययों की विकल्पता ।
[च] 'गाणपत्यो मन्त्रः' का असाधुत्व ।
[छ] तद्धितों के परे रहते भसंज्ञा तथा पदसंज्ञा ।

(७) निम्नस्थ तद्धितान्तों के स्त्रीलिङ्ग रूप लिखें—
१. बाहीक । २. बाह्य । ३. दैव । ४. औत्स । ५. दैव्य । ६. आश्वपत ।

(८) 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' से सिद्ध होने पर भी **बहिषष्टिलोपो यञ् च** वार्त्तिकद्वारा टिलोप का पुनर्विधान क्यों किया गया है ?

(९) अधोलिखित प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—
[क] गोरूप्यम् में गोरजादि० द्वारा यत् क्यों नहीं होता ?
[ख] तद्धितों के अलौकिकविग्रह में सुँप् का लुक् कैसे हो जाता है ?
[ग] तादात्म्यम् और अन्नम् में यमोयमिलोप क्यों नहीं होता ?

[लघु०] इत्यपत्यादिविकारान्तार्थाः साधारणप्रत्ययाः ॥

[अपत्यार्थ से लेकर विकारार्थ तक अर्थात् प्राग्दीव्यतीय अर्थों के साधारण प्रत्ययों का विवेचन यहां समाप्त होता है ।]

——:०:——

अथाऽपत्याधिकारः

अब तद्धितप्रकरण के अन्तर्गत अष्टाध्यायीक्रमानुसार सर्वप्रथम अपत्यप्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रम्—(१००३)

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ।४।१।८७॥

धान्यानां भवने० (११६४) इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमाद् नञ्-स्नञौ स्तः । स्त्रैणः । पौंस्नः ॥

अर्थः—धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (११६४) इस सूत्र से पूर्व के अर्थों में स्त्री और पुंस् प्रातिपदिकों से तद्धितसंज्ञक क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय हों ।

व्याख्या—स्त्रीपुंसाभ्याम् ।५।२। नञ्-स्नञौ ।१।२। भवनात् ।५।१। प्राग् इत्यव्ययपदम् (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। स्त्री च पुमान् च स्त्रीपुंसौ, ताभ्याम्=स्त्रीपुंसाभ्याम् । इतरेतरद्वन्द्वः । **अचतुर-विचतुर-स्त्रीपुंस०** (५.४.७७) इति अच् समासान्तः । यह अधिकारसूत्र है । इस की अवधि के लिये 'भवनात्' कहा गया है । **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** (११६४) यह सूत्र आगे प्राग्दीव्यतीयों के भी बाद आता है। उस के भवनशब्द को यहां 'भवनात्' कह कर अवधित्वेन ग्रहण किया गया है ।[1] अर्थः—(भवनात् प्राक्) यहां से ले कर **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** सूत्र से पहले के अर्थों में (स्त्रीपुंसाभ्याम्) स्त्री और पुंस् प्रातिपदिकों से परे (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (नञ्स्नञौ) नञ् और स्नञ् प्रत्यय हो जाते हैं। **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) परिभाषा के अनुसार क्रमशः अर्थात् स्त्रीप्रातिपदिक से नञ् एवं पुंस्प्रातिपदिक से स्नञ् प्रत्यय होगा । नञ् और स्नञ् प्रत्ययों का अन्त्य ञकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'न' और 'स्न' मात्र अवशिष्ट रहते हैं । ञकार अनुबन्ध आदि-वृद्धि आदि के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

स्त्रिया अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः, स्त्रीभ्य आगतः, स्त्रीभ्यो हितः, स्त्रीणाम् अयम् वा—स्त्रैणः (स्त्री की सन्तान, स्त्रियों में होने वाला, स्त्रियों का समूह, स्त्रियों से आया हुआ, स्त्रियों के लिये हितकारी, स्त्रीसम्बन्धी इत्यादि) । यहां पर तत्तदर्थों में तत्तत्सुँबन्त स्त्रीशब्द से **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) इस प्रकृत अधिकारसूत्र के कारण **तस्यापत्यम्** (१००४) आदि तत्तत्सूत्रों द्वारा नञ्

---

1. इस प्रकार इस अधिकार की व्याप्ति सब प्राग्दीव्यतीय अर्थों तथा उस से आगे के दो पादों (चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद तथा पञ्चमाध्याय के प्रथमपाद) के अर्थों में भी समझनी चाहिये ।

प्रत्यय, अकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा के कारण सुँब्लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से अङ्ग के आदि अच् ईकार को ऐकार वृद्धि तथा **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'स्त्रैणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

पुंसोऽपत्यम्, पुंसु भवः, पुंसां समूहः, पुंभ्य आगतः, पुम्भ्यो हितः, पुंसामयं वा पौंस्नः (पुरुष की सन्तान, पुरुषों में होने वाला, पुरुषों का समूह, पुरुषों से आया हुआ, पुरुषों के लिये हितकारी, पुरुषों का यह इत्यादि)। यहां भी पूर्ववत् तत्तदर्थों में तत्तत्सुँबन्त पुंस्प्रातिपदिक[2] से **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) इस अधिकार-सूत्र के कारण **तस्यापत्यम्** (१००४) आदि तत्तत्सूत्रों से स्नञ्प्रत्यय, अकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुँब्लुक् तथा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि अच् उकार को औकार वृद्धि करने से 'पौंस् + स्न' इस स्थिति में **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा पदसंज्ञा के कारण **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से पौंस् के संयोगान्त सकार का लोप, **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** परिभाषा के अनुसार अनुस्वार को मकार तथा **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) से मकार को पुनः अनुस्वार हो कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से पुंलिङ्ग में 'पौंस्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

स्त्रैण और पौंस्न शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम्** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'स्त्रैणी, पौंस्नी' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।[3]

---

१. स्त्रैणशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

पूषा वसिष्ठः कुशिकात्मजोऽयं त्रयस्त एते गुरवो रघूणाम्।
महामुनेरस्य गिरा कृतोऽपि स्त्रैणो वधो मां न सुखाकरोति ॥
(अनर्घराघव २.६७)

स्त्रैणः स्त्रीसम्बन्धी वध इत्यर्थः।

२. **पूञ् पवने** (क्र्या० उभय०) धातु से **पूञो डुम्सुँन्** (उणादि० ६१८) सूत्रद्वारा डुम्सुँन् प्रत्यय करने पर डित्त्व के कारण टि का लोप कर 'प्+उम्स्=पुम्स्' इस अवस्था में **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त मकार को अनुस्वार हो कर 'पुंस्' शब्द निष्पन्न होता है। इस की विस्तृत निष्पत्ति **पुंसोऽसुँङ्** (३५४) सूत्र पर इस व्याख्या में दर्शा चुके हैं उसे यहां पुनः बुद्धिस्थ कर लेना चाहिये।

३. साहित्यगत प्रयोग यथा—

संगच्छ पौंस्नि! स्त्रैणं मां युवानं तरुणी शुभे।
राघवः प्रोष्य पापीयान् जहीहि तमकिञ्चनम् ॥ (भट्टि० ५.६१)

पुंसे हिता पौंस्नी, तस्याः सम्बुद्धौ 'पौंस्नि' इति।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **स्त्री पुंवच्च** (१.२.६६), **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इत्यादि सूत्रों के निर्देश से नञ और स्नञ् प्रत्ययों की प्रवृत्ति वतिँप्रत्यय के विषय में नहीं होती । अतः 'स्त्रिया तुल्यमिति स्त्रीवत् प्रवर्त्तते, पुंसा तुल्यमिति पुंवत् प्रवर्त्तते' इन स्थानों पर **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११५१) द्वारा वतिँप्रत्यय ही होता है नञ् और स्नञ् नहीं ।

'स्त्रैणम्' के साथ 'स्त्रीत्वम्, स्त्रीता' प्रयोगों के तथा 'पौंस्नम्' के साथ 'पुंस्त्वम् पुंस्ता' प्रयोगों के समावेश के लिये सूत्रकार ने **आ च त्वात्** (११५४) सूत्र में 'च' का ग्रहण किया है । यह सब आगे उसी सूत्र पर मूल में ही स्पष्ट किया गया है ।

अब तद्धितों के अर्थनिर्देश के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम अपत्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००४) **तस्याऽपत्यम्** ।४।१।९२।।

षष्ठ्यन्तात् कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ।।

अर्थः—जिस में सन्धिकार्य किया जा चुका हो ऐसे षष्ठ्यन्त समर्थ पद से अपत्य (सन्तान) अर्थ में पूर्वोक्त और आगे कहे जाने वाले प्रत्यय हों ।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (यहां षष्ठ्यन्त तद्शब्द से पञ्चमी विभक्ति का लुक् समझना चाहिये[1]। 'तस्य' शब्द 'उपगोरपत्यम्' आदि में षष्ठ्यन्त पदों का उपलक्षण या अनुकरण है) । समर्थात् ।५।१। (**समर्थानां प्रथमाद्वा** सूत्र से) । समर्थात् ।५।१। (तद्धितोत्पत्ति सुँबन्त से ही होती है अतः तद्धितविधान के पदविधि होने के कारण **समर्थः पदविधिः** परिभाषा से 'समर्थात्' पद उपलब्ध हो जाता है) । अपत्यम् ।७।१। (यह भी उपगोरपत्यम् आदि विग्रहवाक्यों के 'अपत्यम्' आदि का उपलक्षण या अनुकरण है । इस से परे सप्तमीविभक्ति का लुक् समझना चाहिये) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(समर्थात्) जिस में सन्धिकार्य किया जा चुका हो ऐसे (समर्थात्) एकार्थीभाव-सामर्थ्ययुक्त (तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से (अपत्यम् इत्यर्थे) सन्तान अर्थ में (तद्धिताः) तद्धितसंज्ञक प्रत्यय (वा) विकल्प से होते हैं ।

इस सूत्र में केवल अर्थ का ही निर्देश है । प्रत्यय तो पीछे या आगे कहे जाने वाले तत्तत्सूत्रों से ही होगा । प्रत्ययविधायकसूत्रों की अर्थविधायकसूत्रों के साथ एकवाक्यता हो जाती है । उदाहरण यथा—

---

१. **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) सूत्रद्वारा 'प्रथमात्' का अधिकार किया गया है । **तस्याऽपत्यम्** (१००४) आदि लक्षणसूत्रों में प्रथम निर्दिष्ट (पहले कहे हुए) 'तस्य' आदि के बोध्य से ही प्रत्ययविधान अभीष्ट है, 'अपत्यम्' आदि से नहीं । जब 'तस्य' से प्रत्ययविधान होगा तो उस से लुप्तपञ्चमी की कल्पना सुतरां करनी ही पड़ेगी । इस प्रकार 'प्रथमात्' का अधिकार भी संगृहीत हो जाता है ।

उपगोरपत्यम् औपगवः (उपगु नामक व्यक्ति की सन्तान)। यहां अलौकिक-विग्रह में 'उपगु ङस्' यह कृतसन्धिकार्य[1] षष्ठ्यन्त समर्थ अर्थात् एकार्थीभावसामर्थ्य से युक्त पद है। इस से **तस्याऽपत्यम्** (१००४) इस प्रकृतसूत्र के अपत्यार्थ में विकल्प से तद्धितसंज्ञक प्रत्यय करना है। यहां **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) इस अधिकारसूत्र के कारण तद्धित अण् प्रत्यय प्राप्त होता है। अण् प्रत्यय करने पर णकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप हो जाता है—उपगु ङस्+अ। पुनः तद्धितान्त होने से समग्र समुदाय की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् कर देने से—उपगु+अ। अण् के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) सूत्र से अङ्ग (उपगु) के आदि अच् उकार को औकार वृद्धि हो कर 'औपगु+अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००५) ओर्गुणः ।६।४।१४६।।

उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते। उपगोरपत्यम् औपगवः। आश्वपतः। दैत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः।।

अर्थः—तद्धित प्रत्यय परे होने पर उवर्णान्त भसंज्ञक (अङ्ग) के स्थान पर गुण आदेश हो।

व्याख्या—ओः।६।१। गुणः।१।१। भस्य।६।१। अङ्गस्य।६।१। (दोनों अधिकृत हैं)। तद्धिते।७।१। (**नस्तद्धिते** सूत्र से)। 'ओः' यह 'उ' शब्द की षष्ठी का एकवचन है और 'भस्य अङ्गस्य' का विशेषण है। अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) द्वारा विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उवर्णान्तस्य भस्याङ्गस्य' बन जायेगा। अर्थः—(ओः= उवर्णान्तस्य) उवर्णान्त (भस्य) भसंज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे हो तो। यह गुण **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषाद्वारा भसंज्ञक अङ्ग के अन्त्य अल्=उवर्ण के स्थान पर ही होता है।

'औपगु+अ' यहां **यचि भम्** (१६५) द्वारा उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग है—औपगु। इस से परे 'अ' यह तद्धितप्रत्यय विद्यमान है ही, अतः प्रकृत **ओर्गुणः** (१००५) सूत्र से इस अङ्ग के अन्त्य अल् उकार को गुण ओकार हो कर **एचोऽयवायावः** (२२) से उसे अव् आदेश करने पर 'औपगव' बना।[2] तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण

---

१. ध्यान रहे कि कृतसन्धिकार्य केवल प्रातिपदिक ही होना चाहिये न कि सुब्विशिष्ट शब्द। अत एव शब्दकौस्तुभ में स्पष्ट लिखा है—

परिनिष्ठितत्वं च ङ्याप्प्रातिपदिकांश एव न तु सुब्विशिष्ट इत्यवधेयम्।

२. यहां तद्धितप्रकरण में प्रक्रियासम्बन्धी एक बात विशेष ध्यातव्य है कि **अचो ञ्णिति** (१८२) से होने वाली अजन्तवृद्धि तथा **अत उपधायाः** (४५५) से की जाने वाली उपधावृद्धि इन दोनों की अपेक्षा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा की जाने वाली आदिवृद्धि अधिक बलवान् है। अतः जब आदिवृद्धि का विषय हो अथवा उस की प्रवृत्ति हो चुकी हो तो वहां **अचो ञ्णिति** (१८२) या **अत उपधायाः**

अब इस से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'औपगवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। औपगवः, औपगवौ, औपगवाः इत्यादिप्रकारेण रामशब्दवत् रूपमाला चलेगी। स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्र से ङीष् प्रत्यय करने पर औपगवी।[1] नदीवत् रूपमाला चलेगी।

अश्वपतेरपत्यम् आश्वपतः। दितेरपत्यं दैत्यः। उत्सस्यापत्यम् औत्सः। स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणः। पुंसोऽपत्यम् पौंस्नः। इन सब की सिद्धि पीछे दर्शाई जा चुकी है।

अब अपत्याधिकार में अत्युपयोगिनी गोत्रसंज्ञा का विधान दर्शाते हैं—

[**लघु०**] संज्ञा-सूत्रम्—(१००६)

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ।४।१।१६२।।

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ।।

अर्थः—जब पौत्र आदि को अपत्य अर्थात् सन्तान कहना अभीष्ट हो तो उस की गोत्रसंज्ञा हो।

व्याख्या—अपत्यम् ।१।१। पौत्रप्रभृति ।१।१। गोत्रम् ।१।१। अपत्यम् इत्यनुवर्त्तमाने पुनरपत्यग्रहणं पौत्रादीनामपत्यविवक्षायामेव गोत्रत्वबोधनार्थम्। यदि पौत्रादीनां

---

(४५५) सूत्रों की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं होती। यथा—'उपगु+अण्' में अण् के णित्त्व के कारण अजन्तवृद्धि नहीं होती। इसीप्रकार **ओर्गुणः** (१००५) द्वारा गुण कर अव् आदेश करने के बाद 'औपगव्+अ' इस स्थिति में **अत उपधायाः** (४५५) से प्राप्त उपधावृद्धि भी नहीं होती। ऐसा मानने में ज्ञापक है अनुशतिकादिगण में उभयपदवृद्धि के लिये किया गया पुष्करसद् शब्द का पाठ। पुष्करसद् शब्द से **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्रद्वारा इञ् प्रत्यय करने पर 'पौष्करसादिः' बनता है। यहां आदिवृद्धि एवम् उपधावृद्धि से जब काम चल सकता है तो पुनः उभयपदवृद्धिद्वारा इसे सिद्ध करने के लिये अनुशतिकादियों में पढ़ने की क्या आवश्यकता? इस से यही ज्ञापित होता है कि आदिवृद्धि के विषय में उपधावृद्धि तथा अजन्तवृद्धि प्रवृत्त नहीं होती। इस से त्वष्टुरिदम्—त्वष्टृ+अण्=त्वाष्टृ+अ=त्वाष्ट्रम्; जगत इदम्—जगत्+अण्=जागत्+अ=जागतम् आदियों में आदिवृद्धि के विषय में क्रमशः अजन्तवृद्धि तथा उपधावृद्धि की प्रवृति नहीं होती। विस्तार के लिये काशिका में **तद्धितेष्वचामादेः** सूत्र पर न्यास-पदमञ्जरी का अथवा सिद्धान्तकौमुदी के **तस्याऽपत्यम्** सूत्र पर तत्त्वबोधिनी तथा बालमनोरमा आदि टीकाग्रन्थों का अवलोकन करें।

१. औपगवशब्द, गोत्रप्रत्ययान्त होने से जातिवाचक है अतः **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा प्राप्त ङीप् का बाध कर जातिलक्षण ङीष् हो जाता है। विस्तार के लिये (१२६९) सूत्र की व्याख्या का अवलोकन करें।

पौत्रत्वादिना एव विवक्षा तदा न भवति गोत्रसंज्ञेति बोध्यम् । समासः—पौत्रः प्रभृतिर् (आदिर्) यस्य तत् पौत्रप्रभृति, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अपत्यम्) अपत्यरूप से विवक्षित (पौत्रप्रभृति) पौत्र, प्रपौत्र आदि (गोत्रम्) गोत्रसंज्ञक होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि यदि पौत्र, प्रपौत्र आदि पीढ़ियों को भी अपत्यरूपेण (सन्तान-रूपेण) कहना अभीष्ट हो तो उन की गोत्रसंज्ञा हो जाती है ।

अब गोत्रसंज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] नियमसूत्रम्—(१००७) **एको गोत्रे** ।४।१।९३॥

गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यम् औपगवः ॥

अर्थः—गोत्र में एक ही अपत्यप्रत्यय हो ।

व्याख्या—एकः ।१।१। गोत्रे ।७।१। अपत्यप्रत्ययः ।१।१। (अपत्याधिकार एवं प्रत्ययाधिकार के कारण उपलब्ध हो जाता है)। 'एकः' शब्द के कथन से अन्य संख्याओं का व्यवच्छेद हो कर 'एक एव' यह नियम उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(गोत्रे) गोत्र की वाच्यता में (एक एव) एक ही (अपत्यप्रत्ययः) अपत्यप्रत्यय होता है ।

तात्पर्य यह है कि उपगोरपत्यम् औपगवः, तस्य औपगवस्यापि अपत्यम् औपगवः, तस्याप्यपत्यम् औपगवः, एवमग्रेऽपि । इस प्रकार एक ही अपत्यप्रत्यय (अण्) से, जो मूलपुरुष से किया जाता है सब पीढ़ियों का बोध होता है, चाहे तीसरी चौथी पाञ्चवीं या सौंवी पीढ़ी भी क्यों न हो । प्रतिपीढ़ी नया अपत्यप्रत्यय नहीं होता । उपगु की सन्तान 'औपगव' कहायेगी तो उस औपगव की सन्तान भी 'औपगव' ही होगी । इस प्रकार पोता, परपोता आदि सब पीढ़ियों का बोध एक ही अपत्यप्रत्यय से हो कर 'औपगव' ही कहायेगा ।

उपगोर्गोत्रापत्यम् यह विग्रह पौत्रप्रभृति गोत्रापत्य में हुआ करता है । गोत्रसंज्ञा पौत्र से शुरु हो कर आगे की सब पीढ़ियों में चली जाती है । पुत्र अर्थात् दूसरी पीढ़ी की गोत्रसंज्ञा नहीं होती ।

अब गोत्रापत्य में प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००८) **गर्गादिभ्यो यञ्** ।४।१।१०५॥

गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः ॥

अर्थः—गर्गआदिगणपठित शब्दों से गोत्रापत्य में तद्धितसंज्ञक यञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गर्गादिभ्यः ।५।३। यञ् ।१।१। गोत्रे ।७।१। (**गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्** सूत्र से)। अपत्ये ।७।१। (**तस्याऽपत्यम्** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा** इत्यादि सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—गर्गशब्द आदिर्येषान्ते गर्गादयः, तेभ्यः=गर्गादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(गर्गादिभ्यः) गर्ग आदिगण में पठित प्रातिपदिकों से (गोत्रेऽपत्ये) गोत्रापत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यञ्) यञ् प्रत्यय होता है । यञ् का ञकार इत् है, 'य' मात्र शेष रहता है ।

गर्गादि एक गण है ।[1] गोत्रापत्य पौत्र से आरम्भ हो कर अगली असंख्य पीढ़ियों तक चला जाता है । उदाहरण यथा—

गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः (गर्ग का गोत्रापत्य अर्थात् पौत्र आदि सन्तान) । यहां 'गर्ग ङस्' इस सुँबन्त से गोत्रापत्य अर्थ में प्रकृत **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) सूत्र से तद्धितसंज्ञक यञ् प्रत्यय, ञकार का लोप, तद्धितान्त समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा (११७), प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् (७२१), प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) से आदि अच् को वृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) सूत्र से तद्धित के परे रहते भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर—गार्ग्+य=‘गार्ग्य’ प्रातिपदिक निष्पन्न हुआ । अब विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन में 'सुँ' विभक्ति ला कर सकार को रुँ आदेश (१०५) तथा अवसान में रेफ को विसर्ग आदेश (९३) करने से 'गार्ग्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—वत्सस्य गोत्रापत्यं वात्स्यः (वत्सनामक व्यक्ति का गोत्रापत्य अर्थात् पौत्र आदि सन्तान) । यहां 'वत्स ङस्' से गोत्रापत्य अर्थ में यञ्, सुँब्लुक्, आदि-वृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वात्स्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । वत्सशब्द भी गर्गादियों में पढ़ा गया है ।

गर्गादियों से गोत्रापत्य में यञ् के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) पुलस्तेर्गोत्रापत्यं पौलस्त्यः ।
(२) धूमस्य गोत्रापत्यं धौम्यः ।
(३) शकलस्य गोत्रापत्यं शाकल्यः ।

---

१. गर्गादिगण यथा—
गर्ग । वत्स । **वाजाऽसे** (गणसूत्रम् । असे=असमासे) । सङ्कृति । अज । व्याघ्रपाद् । विदभृत् । प्राचीनयोग । अगस्ति । पुलस्ति । रेभ । अग्निवेश । शङ्ख । शठ (शट) । एक । धूम । अवट । चमस । धनञ्जय । मनस । वृक्ष । विश्वावसु । जनमान (जरमाण) । लोहित । संशित । बभ्रु । वल्गु । मण्डु । गण्डु । मक्षु (मङ्क्षु) । अलिगु । शङ्कु । लिगु । गुलु (गुहलु) । मन्तु । जिगीषु । मनु । तन्तु । मनायी । भृत् । कथक । कष । तण्ड । वतण्ड । कपि । कत । कुरुकत । अनडुह् । कण्व । शकल । गोकक्ष । अगस्त्य । कुण्डिन । यज्ञवल्क । उभय । जात (उभयजात) । विरोहित । वृषगण । रहूगण । शण्डिल । वण (पणक) । कुचुलुक । मुद्गल । मुसल । पराशर । जतूकर्ण । महित । मन्त्रित । संहित । अश्मरथ । शर्कराक्ष । पूतिमाष । स्थूण (स्थूरा) । अररक । पिङ्गल । कृष्ण । गोलुन्द । उलूक । तितिक्ष । भिषज् । मडित । मण्डित । दलभ । चिकित । देवहू । चिकित्सित । इन्द्रहू । एकलू । पिप्पलू । बृहदग्नि । जमदग्नि । सुलाभिन् । उकत्थ (उक्थ) । कुटीगु । रुक्ष । तरुक्ष । तलुक्ष । प्रचुल । विलम्ब । विष्णुज । पथ । कन्थु । श्रुव । सूनु (सून) । कर्कटक (पर्णवल्क) ॥

यञ्, अञ्

(४) अगस्तेर्गोत्रापत्यम् आगस्त्यः ।

(५) शाण्डिलस्य गोत्रापत्यं शाण्डिल्यः ।

(६) मुद्गलस्य गोत्रापत्यं मौद्गल्यः ।

(७) यज्ञवल्कस्य गोत्रापत्यं याज्ञवल्क्यः ।

(८) जिगीषोर्गोत्रापत्यं जैगीषव्यः [ओर्गुणः, वान्तो यि प्रत्यये] ।

(९) मण्डोर्गोत्रापत्यं माण्डव्यः [ओर्गुणः, वान्तो यि प्रत्यये] ।

प्रकृतसूत्र गोत्रापत्य में ही प्रत्यय का विधान करता है, अनन्तरापत्य अर्थात् पुत्र अर्थ में नहीं । गर्गस्य अपत्यं गार्गिः (गर्ग का पुत्र), यहां **अत इञ्** (१०१४) इस वक्ष्यमाणसूत्र से इञ् प्रत्यय ही होगा, यञ् नहीं ।[1]

अब बहुवचन में गोत्रापत्य अर्थ में हुए यञ्प्रत्यय का वैशिष्ट्य प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००९) **यञञोश्च** ।२।४।६४।।

गोत्रे यद् यञन्तम् अञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्, तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ।।

अर्थः—गोत्र अर्थ में जो यञन्त और अञन्त शब्द, उन के अवयव यञ् और अञ् प्रत्ययों का लुक् हो जाता है यदि उन प्रत्ययों के अर्थ का बहुत्व बताना अभीष्ट हो । परन्तु स्त्रीलिङ्ग में यह लुक् प्रवृत्त नहीं होता ।

व्याख्या—यञञोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम् । लुक् ।१।१। (**ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः** सूत्र से) । गोत्रे ।७।१। (**यस्कादिभ्यो गोत्रे** सूत्र से) । बहुषु ।७।३। तेन ।३।१। एव इत्यव्ययपदम् । अस्त्रियाम् ।७।१। (**तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्** सूत्र से) समासः—यञ् च अञ् च यञञौ, तयोः=यञञोः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । अर्थः—(गोत्रे) गोत्र अर्थ में (यञञोः) जो यञ् और अञ् प्रत्यय उन का (लुक्) लुक् हो जाता है (तेन एव बहुषु) उस गोत्रप्रत्ययद्वारा ही बहुत्व कहने में । परन्तु यह लुक् (अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता ।[2]

तात्पर्य यह है कि बहुवचन में गोत्रापत्य अर्थ में हुए यञ् और अञ् प्रत्ययों का

---

१. रामो जामदग्न्यः (जमदग्नि का पुत्र राम=परशुराम), व्यासः पाराशर्यः (पराशर का पुत्र व्यास)—इन दोनों स्थानों पर अनन्तरापत्य में भी यञ् का प्रयोग देखा जाता है । शायद जमदग्नि तथा पराशर की वृद्धावस्था में सन्तति होने से उसे पौत्रतुल्य मान कर गोत्रप्रत्यय यञ् किया जाने लगा हो ।

२. लघुकौमुदी की वृत्ति में प्रत्ययग्रहणपरिभाषाद्वारा प्रत्ययों से तदन्तविधि कर उन के अवयव यञ् और अञ् का लुक् कहा गया है । **प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः** (१८९) से समस्त प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक्सञ्ज्ञा की गई है अतः यहां अलोऽन्त्य-परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती ।

लुक् हो जाता है। परन्तु यह लुक् तभी होता है जब वह बहुवचन गोत्रापत्य के बहुत्व को ही बताता हो। किञ्च स्त्रीलिङ्ग में यह लुक् प्रवृत्त नहीं होता। उदाहरण यथा—

गर्गस्य गोत्रापत्यानि गर्गाः (गर्ग के बहुत गोत्रापत्य)। 'गार्ग्य' में गोत्रापत्य अर्थ में **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) से यञ् किया गया है। इस यञन्त शब्द से प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् प्रत्यय लाने पर प्रकृत **यञञोश्च** (१००९) सूत्र से यञ् प्रत्यय का लुक् होकर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्याय के अनुसार उस के आदिवृद्धि आदि कार्यों के भी निवृत्त हो जाने से शुद्ध गर्गशब्द रह जाता है—गर्ग + जस्। अब रामशब्दवत् **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ कर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'गर्गाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार अन्य बहुवचन-विभक्तियों में भी जानना चाहिये।

गार्ग्य (गर्ग का गोत्रापत्य) शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	गार्ग्यः	गार्ग्यौ	गर्गाः†
द्वितीया	गार्ग्यम्	,,	गर्गान्†
तृतीया	गार्ग्येण	गार्ग्याभ्याम्	गर्गैः†
चतुर्थी	गार्ग्याय	,,	गर्गेभ्यः†
पञ्चमी	गार्ग्यात्	,,	गर्गेभ्यः†
षष्ठी	गार्ग्यस्य	गार्ग्ययोः	गर्गाणाम्†
सप्तमी	गार्ग्ये	,,	गर्गेषु†
सम्बोधन	हे गार्ग्य!	हे गार्ग्यौ!	हे गर्गाः!†

†इन सब स्थानों पर **यञञोश्च** (१००९) सूत्रद्वारा यञ् का लुक् हुआ है।

इसीप्रकार—वत्सस्य गोत्रापत्यानि वत्साः। वत्सशब्द से भी गोत्रापत्य अर्थ में **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) द्वारा यञ् प्रत्यय करने से 'वात्स्य' शब्द निष्पन्न होता है। इस से भी बहुवचन में यञ् का **यञञोश्च** (१००९) से लुक् हो कर 'वत्साः' प्रयोग सिद्ध होता है। वात्स्यः, वात्स्यौ, वत्साः इत्यादि।

यहां यञ् के उदाहरण दिये गये हैं। गोत्रापत्य में अञ् के उदाहरण आगे **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** (१०१६) सूत्र पर 'बिदाः' आदि आयेंगे।

तेनैव बहुत्वे कथन का यह अभिप्राय है कि बहुवचन द्वारा गोत्रापत्य के बहुत्व को बताना आवश्यक है। यदि किसी अन्य का बहुत्व बताया जायेगा तो गोत्रापत्यप्रत्यय का लुक् न होगा। यथा—प्रियगार्ग्याः। यहां 'प्रियो गार्ग्यो येषां ते प्रियगार्ग्याः' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास है। इस में बहुवचन तो अन्यपदार्थ के बहुत्व को बतलाने के लिये प्रयुक्त हुआ है, गार्ग्य तो एक ही है, अतः यञ् का लुक् न होगा।

स्त्रीलिङ्ग में यञ् का लुक् नहीं होता। यथा—गार्गी, गार्ग्यौ, गार्ग्यः। स्त्रीत्व की विवक्षा में गार्ग्यशब्द से **यञश्च** (१२५२) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप हो जाता है—गार्ग्य् + ई। अब **हलस्तद्धितस्य**

(१२५३)[1] से यकार का भी लोप कर देने से 'गार्गी' शब्द निष्पन्न होता है। इस की रूपमाला नदीशब्द की तरह होती है।

अब गोत्रसंज्ञा की अपवाद युवसंज्ञा का विधान दर्शाते हैं—

[**लघु०**] संज्ञा-सूत्रम्—(१०१०)

जीवति तु वंश्ये युवा ।४।१।१६३ ॥

वंश्ये पित्रादौ जीवति (सति) पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद् युव-संज्ञमेव स्यात् ॥

अर्थः—वंश में होने वाले पिता, पितामह आदि के जीवित रहते जो पौत्र आदि का अपत्य चतुर्थ आदि पीढ़ी से स्थित हो वह 'युवन्' संज्ञक ही हो (गोत्रसंज्ञक नहीं)।

व्याख्या—जीवति—इति सप्तम्येकवचनान्तं शत्रन्तम्। तु इत्यव्ययपदम्। वंश्ये ।७।१। युवा ।१।१। पौत्रप्रभृतेः ।६।१। (**अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। अपत्यम् ।१।१। (**तस्यापत्यम्** सूत्र से)। वंशे भवो वंश्यः, पितृपितामहादिः। अर्थः—(वंश्ये) वंश में होने वाले पिता, पितामह या प्रपितामह के (जीवति) जीवित रहते (पौत्रप्रभृतेः) पौत्र आदि की (अपत्यम्) सन्तान (युवा) 'युवन्' संज्ञक (तु) ही[2] होती है।

मूलपुरुष (पीढ़ीप्रवर्त्तक या प्रथम पीढ़ी) का पुत्र दूसरी पीढ़ी, पौत्र तीसरी पीढ़ी और प्रपौत्र चौथी पीढ़ी होता है। यदि पिता (तीसरी पीढ़ी), पितामह (दूसरी पीढ़ी) या प्रपितामह (पहली पीढ़ी) जीवित हों तो चौथी पीढ़ी से ले कर आगे की सब पीढ़ियों की 'युवन्' संज्ञा ही होती है, गोत्रसंज्ञा नहीं। यह गोत्रसंज्ञा का अपवाद है। **अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्** (१००६) के अनुसार गोत्रसंज्ञा तीसरी पीढ़ी से आरम्भ होती है और उत्तरोत्तर सब पीढ़ियों में चली जाती है। युवसंज्ञा चतुर्थ पीढ़ी से आरम्भ हो कर अगली सब पीढ़ियों तक चली जाती है परन्तु इस के लिये आवश्यक है कि युवसंज्ञक के वंश में पिता, पितामह आदि पूर्वजों में कोई एक या अनेक जीवित हों। यदि पिता, पितामह आदि में कोई जीवित नहीं होगा तो गोत्रसंज्ञा ही रहेगी युवसंज्ञा नहीं।

अपत्यशब्द लोक में पुत्र अर्थ में प्रसिद्ध है परन्तु यहां शास्त्र में पुत्र, पौत्र आदि पीढ़ी के अर्थ में आता है।[3] इस शास्त्र में अपत्य तीन प्रकार से प्रयुक्त होता है—

---

१. **हलस्तद्धितस्य** (१२५३)। अर्थः—हलः परस्य तद्धितयकारस्य उपधाभूतस्य लोप ईकारे परे।

२. तुरवधारणे। तेन एकसंज्ञाधिकारं विनापि युवसंज्ञैव न गोत्रसञ्ज्ञेति लभ्यते।

३. न पतन्ति पितरो येन तद् अपत्यम्—अर्थात् जो पितृ-पितामह आदि को पतन से बचाता है वह 'अपत्य' होता है। **अपतनाद् अपत्यम्** इति भाष्ये (५.१.५९)।

उपत्य

(१) अनन्तरापत्य

अनन्तरापत्य केवल पुत्र[1] अर्थात् दूसरी पीढ़ी को ही कहते हैं। इस का विग्रह केवल 'अपत्यम्' लगा कर ही किया जाता है। यथा—गर्गस्यापत्यं गार्गिः [**अत इञ्** (१०१४) इति इञ्], दक्षस्यापत्यं दाक्षिः [इञ्], उपगोरपत्यम् औपगवः [अण्] इत्यादि।

(२) गोत्रापत्य

गोत्रापत्य पुत्र के पुत्र अर्थात् तीसरी पीढ़ी से आरम्भ होता है और आगे की सब पीढ़ियों में चला जाता है। इस का विग्रह 'गोत्रापत्यम्' शब्द लगा कर ही किया जाता है। यथा—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः [**गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८)], उपगोर्गोत्रापत्यम् औपगवः (अण्), दक्षस्य गोत्रापत्यं दाक्षिः (इञ्)। इत्यादि।

(३) युवापत्य

यदि बाप-दादा आदि जीवित हों तो प्रपौत्र अर्थात् चतुर्थ पीढ़ी से लेकर आगे 'युवन्' संज्ञा हो जाती है, तब गोत्रसंज्ञा नहीं रहती। इस का विग्रह 'गर्गस्य गोत्रापत्यं युवा' या 'गर्गस्य युवापत्यम्' इस प्रकार किया जाता है। गार्ग्यायणः, दाक्षायणः इत्यादि इस के उदाहरण हैं। इन की सिद्धि आगे देखें।

विद्यार्थियों को निम्नस्थ वंशवृक्ष का सदा ध्यान रखना चाहिये—
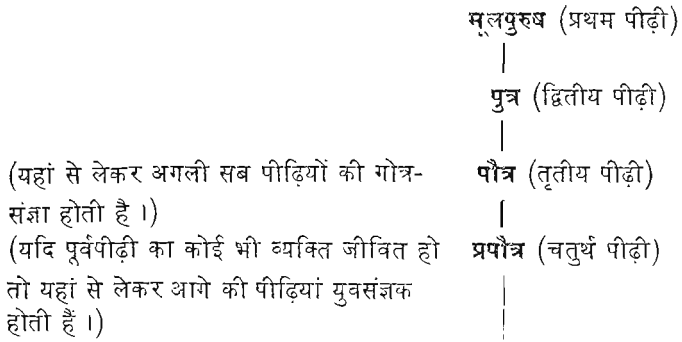
मूलपुरुष (प्रथम पीढ़ी)
|
पुत्र (द्वितीय पीढ़ी)
|
(यहां से लेकर अगली सब पीढ़ियों की गोत्रसंज्ञा होती है।) — **पौत्र** (तृतीय पीढ़ी)
|
(यदि पूर्वपीढ़ी का कोई भी व्यक्ति जीवित हो तो यहां से लेकर आगे की पीढ़ियां युवसंज्ञक होती हैं।) — **प्रपौत्र** (चतुर्थ पीढ़ी)
|
इसी प्रकार आगे भी

अब युवसंज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[**लघु०**] नियमसूत्रम्—(१०११) **गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्** ।४।१।९४॥

यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसञ्ज्ञा॥

अर्थः—युवापत्य विवक्षित होने पर गोत्रप्रत्ययान्त से ही प्रत्यय हो परन्तु स्त्रीलिङ्ग में युवसंज्ञा नहीं होती।

---

१. ध्यान रहे कि इस अपत्याधिकार में लिङ्ग और वचन अविवक्षित होते हैं अतः पुत्र से पुत्री एवम् एकवचन से द्विवचन और बहुवचन का भी ग्रहण होता है।

फक् (युवा)

व्याख्या—गोत्रात् ।५।१। यूनि ।७।१। अस्त्रियाम् ।७।१। प्रत्ययः ।१।१। (यह अधिकृत है) । अर्थः—(गोत्रात् = गोत्रप्रत्ययान्तात्) गोत्रप्रत्ययान्त से ही (यूनि) युवापत्य अर्थ में (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है । (अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में युवसंज्ञा नहीं होती ।[1]

यह नियमसूत्र है ।[2] यदि युवापत्य अर्थ में प्रत्यय करना हो तो वह गोत्रप्रत्ययान्त से ही हो, मूलप्रकृति से अनन्तरापत्य से या युवप्रत्ययान्त से न हो । उदाहरण यथा—

उपगोरपत्यं युवा औपगविः । यहां प्रथम 'उपगु ङस्' से गोत्रापत्य अर्थ में **तस्याऽपत्यम्** (१००४) द्वारा औत्सर्गिक अण् प्रत्यय कर 'औपगव' शब्द बना लेना चाहिये । अब इस से युवापत्य अर्थ में **अत इञ्** (१०१४) सूत्र से इञ्प्रत्यय तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'औपगविः' प्रयोग सिद्ध करना चाहिये ।

नोट—**तस्यापत्यम्** (१००४) आदि सूत्रोंद्वारा तीनों प्रकार के अपत्यार्थों में सामान्यतः अण् आदि प्रत्यय होते हैं । विशेष विशेष सूत्रोंद्वारा अपत्यविशेष में भी प्रत्यय विधान किये गये हैं । यथा—**गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) से केवल गोत्रापत्य अर्थ में ही यञ् प्रत्यय होता है । इसी प्रकार कुछ सूत्रों से केवल युवापत्य में ही प्रत्यय होता है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा केवल युवापत्य में ही प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०१२**) **यञिञोश्च** ।४।१।१०१ ।।[3]

गोत्रे यौ यञिञौ, तदन्तात् फक् स्यात् ।।

अर्थः—गोत्र में जो यञ् या इञ् प्रत्यय, तदन्त से युवापत्य में तद्धितसञ्ज्ञक फक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गोत्रे ।७।१। (**गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्** सूत्र से) । यञिञोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम् । फक् ।१।१। (**नडादिभ्यः फक्** सूत्र से) । यञ् और इञ् प्रत्यय हैं अतः **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** परिभाषा के अनुसार तदन्तविधि हो जाती है । यहां षष्ठी

१. अत्र 'अस्त्रियाम्' इति योगं विभज्य 'यूनि' इत्यनुवर्त्य उभयत्र प्रथमया विपरिणामः क्रियते, तेन 'स्त्री युवा न' इति लभ्यते । स्त्रियां तु गोत्रत्वादेक एव प्रत्ययः—गार्गी ।

२. इस का नियमसूत्र होना व्याकरण के उच्चग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है । यहां प्राथमिक जिज्ञासुओं के आगे वह सब प्रस्तुत करना अनावश्यक प्रतीत होता है । विशेषजिज्ञासु आकरग्रन्थों का अवलोकन करें ।

३. पूर्वपठित **यञञोश्च** (१००९) सूत्र और इस **यञिञोश्च** (१०१२) सूत्र के अन्तर को भलीभांति हृदयङ्गम कर लेना चाहिये । पूर्वपठित जहां यञ् और अञ् का लुक् करता है वहां यह यञन्त और इञन्त से फक् का विधान करता है ।

फ → आयन्
ढ → एय्
ख → ईन्
छ → ईय्
घ → इय्

को पञ्चमी में परिणत कर लेना चाहिये। गोत्रप्रत्ययान्त से गोत्रप्रत्यय तो हो नहीं सकता, क्योंकि **एको गोत्रे** (१००७) के नियमानुसार गोत्र में दूसरा प्रत्यय वर्जित है। अतः सामर्थ्य से युवापत्य में ही यह प्रत्यय समझा जायेगा। अर्थः—(गोत्रे) गोत्र में हुए जो (यञिञोः=यञिञ्भ्याम्=यञिञन्ताभ्याम्) यञ् और इञ् प्रत्यय, तदन्तों से (यूनि) युवापत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (फक्) फक् प्रत्यय हो जाता है। फक् का ककार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'फ' मात्र शेष रहता है।

'गर्गस्य गोत्रापत्यम्' इस विग्रह में 'गर्ग ङस्' इस सुँबन्त से प्रथम **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) द्वारा गोत्रापत्य में यञ् प्रत्यय करने से 'गार्ग्य' बना लेना चाहिये। तब **गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्** (१०११) के नियमानुसार युवापत्य में प्रकृत **यञिञोश्च** (१०१२) सूत्र से फक् प्रत्यय कर 'गार्ग्य+फ' हुआ अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०१३**)

आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम् ।७।१।२।।

प्रत्ययादेः—फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः। गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। दाक्षायणः।।

अर्थः—प्रत्यय के आदि में स्थित—फ् को आयन्, ढ् को एय्, ख् को ईन्, छ् को ईय् तथा घ् को इय् आदेश हो जाये।

व्याख्या—आयनेयीनीयियः ।१।३। फ-ढ-ख-छ-घाम् ।६।३। प्रत्ययादीनाम् ।६।३। समासः—आयन् च एय् च ईन् च ईय् च इय् च आयनेयीनीयियः, इतरेतरद्वन्द्वः। फश्च ढश्च खश्च छश्च घ् च फढखछघः, तेषाम्=फ-ढ-ख-छ-घाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। फादिष्वकार उच्चारणार्थः, घकारस्तु शुद्ध एव पठितः। प्रत्ययस्य आदिः प्रत्ययादिः, तेषाम्=प्रत्ययादीनाम्, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(प्रत्ययादीनाम्) प्रत्यय के आदि (फ-ढ-ख-छ-घाम्) फ्, ढ्, ख्, छ् और घ् वर्णों के स्थान पर (आयनेयीनीयियः) आयन्, एय्, ईन्, ईय् और इय् आदेश हो जाते हैं।[1]

---

१. इन के संक्षिप्त उदाहरण यथा—
फ् को आयन्—गार्ग्यायणः [**यञिञोश्च** (१०१२) इति फक्]।
ढ् को एय्—वैनतेयः, सौपर्णेयः [**स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०)]।
ख् को ईन्—ग्रामीणः [**ग्रामाद् यखञौ** (१०७०) इति खञ्]।
छ् को ईय्—शालीयः, मालीयः [**वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छः]।
घ् को इय्—क्षत्रियः [**क्षत्राद् घः** (१०२५) इति घः]।
[इन सब उदाहरणों की सिद्धि तत्तत्सूत्रों पर देखें]।
प्रकृतसूत्र में 'प्रत्यय' इसलिये कहा है कि धातुओं के आदि में फ् आदि वर्णों को आयन् आदि आदेश न हो जायें। यथा—फक्कति, ढौकते, खनति, छादयति, घूर्णते इत्यादि। 'आदि' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि प्रत्यय के मध्य में ये आदेश नहीं होते। यथा—'ऊरुदघ्नम्' में दघ्नच् प्रत्यय के मध्यवर्त्ती घ् को इय् आदेश नहीं होता।

यथासंख्यपरिभाषा के अनुसार ये आदेश क्रमशः होते हैं। यथा—फ् को आयन्, ढ् को एय्, ख् को ईन्, छ् को ईय् तथा घ् को इय् हो जाता है। आयन् आदि आदेशों के अन्त्य हल् की उच्चारणसामर्थ्य से **हलन्त्यम्** (१) सूत्र द्वारा इत्संज्ञा नहीं होती।[1]

'गार्ग्य+फ' यहां **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) इस प्रकृतसूत्र से प्रत्यय के आदि फ् को आयन् आदेश हो जाता है—गार्ग्य+आयन् अ=गार्ग्य+आयन। अब स्थानिवद्भाव से या **एकदेशविकृतमनन्यवत्** न्याय से 'आयन' इस समुदाय को तद्धित मान कर उस के परे रहते **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक अकार का लोप तथा **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) सूत्र से नकार को णकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'गार्ग्यायणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

दक्षस्यापत्यं युवा दाक्षायणः (दक्ष का युवापत्य)। 'दक्ष ङस्' से प्रथम गोत्रापत्य में **अत इञ्** (१०१४) द्वारा इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर 'दाक्षि' बन जाता है। अब **गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्** (१०११) के नियमानुसार युवापत्य में **यञिञोश्च** (१०१२) सूत्रद्वारा फक् प्रत्यय, प्रत्यय के आदि फ् को आयन् आदेश, भसंज्ञक इकार का लोप तथा नकार को णकार करने पर 'दाक्षायणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'गार्ग्यायणः' और 'दाक्षायणः' का अर्थ है—गर्ग या दक्ष की चतुर्थ आदि पीढ़ी वाली सन्तान। इसी को युवापत्य कहा जायेगा। ध्यान रहे कि यदि पिता, पितामह आदि पूर्वजों में से कोई एक या अनेक जीवित होंगे तो तभी 'गार्ग्यायणः' या 'दाक्षायणः' कहा जायेगा। यदि वे मर चुके होंगे तो केवल गोत्रसंज्ञा ही हो कर 'गार्ग्यः' एवं 'दाक्षिः' ही बनेगा।

अब यहां विद्यार्थियों के अभ्यास के लिये कुछेक शब्दों के तीनों प्रकार के अपत्यरूप दर्शा रहे हैं—

शब्द	अनन्तरापत्य	गोत्रापत्य	युवापत्य
(१) उपगु	औपगवः (अण्)	औपगवः (अण्)	औपगविः (अण्+इञ्)
(२) गर्ग	गार्गिः (इञ्)	गार्ग्यः (यञ्)	गार्ग्यायणः (यञ्+फक्)
(३) दक्ष	दाक्षिः (इञ्)	दाक्षिः (इञ्)	दाक्षायणः (इञ्+फक्)
(४) अश्वपति	आश्वपतः (अण्)	आश्वपतः (अण्)	आश्वपतिः (अण्+इञ्)
(५) वत्स	वात्सिः (इञ्)	वात्स्यः (यञ्)	वात्स्यायनः (यञ्+फक्)
(६) बाहु	बाहविः (इञ्)	बाहविः (इञ्)	बाहवायनः (इञ्+फक्)
(७) उडुलोमन्	औडुलोमिः (इञ्)	औडुलोमिः (इञ्)	औडुलोमायनः (इञ्+फक्)
(८) दशरथ	दाशरथिः (इञ्)	दाशरथिः (इञ्)	दाशरथायनः (इञ्+फक्)
(९) शिव	शैवः (अण्)	शैवः (अण्)	शैविः (अण्+इञ्)
(१०) विनता	वैनतेयः (ढक्)	वैनतेयः (ढक्)	वैनतेयिः (ढक्+इञ्)

१. **प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्** (४.१.१६०) सूत्र से अपत्यार्थ में फिन् प्रत्यय विधान

अब अपत्य अर्थ में इञ्प्रत्ययविधायक प्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१४) **अत इञ्** ।४।१।९५।।

अपत्येऽर्थे । दाक्षिः ।।

अर्थः—कृतसन्धिकार्य अदन्तप्रातिपदिकप्रकृतिक षष्ठयन्त समर्थ पद से अपत्य अर्थ में विकल्प कर के तद्धितसंज्ञक इञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अतः ।५।१। इञ् ।१।१। 'तस्यापत्यम्' पदों की **तस्यापत्यम्** सूत्र से अनुवृत्ति आती है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । **समर्थः पदविधिः** (९०४) परिभाषा का भी यह विषय है । 'अतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है । 'तस्य' अर्थात् 'षष्ठयन्तात्' के साथ 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' का सम्बन्ध कैसे जोड़ें ? क्योंकि जो षष्ठयन्त है वह प्रातिपदिक नहीं और जो प्रातिपदिक है वह षष्ठयन्त नहीं । इस के लिये यहां 'अदन्तप्रातिपदिकप्रकृतिक-षष्ठयन्तात्' ऐसा अभिप्राय निकाला जाता है । इस से पदों का समन्वय ठीक हो जाता है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये, इसे बार बार नहीं लिखेंगे । अर्थः—(समर्थात्) जिस में सन्धिकार्य हो चुका हो ऐसे (अतः=अदन्तात् प्रातिपदिकात्) अदन्तप्रातिपदिकप्रकृतिक (समर्थात्) एकार्थीभावसामर्थ्ययुक्त (तस्य=षष्ठयन्तात्) षष्ठयन्त से परे (अपत्यम् इत्यर्थे) सन्तान अर्थ में (वा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (इञ्) इञ् प्रत्यय हो । यह औत्सर्गिक अण् प्रत्यय का अपवाद है ।

कृतसन्धिकार्य आदि का अभिप्राय पीछे स्पष्ट कर चुके हैं । इस सूत्र का सरल अभिप्राय यह है कि अपत्य अर्थ में अदन्त प्रातिपदिक से विकल्प कर के इञ् प्रत्यय हो। यदि किसी अन्यसूत्र से विशेष प्रत्यय प्राप्त होगा तो वही होगा तब इञ् न होगा । यथा—**उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) सूत्रद्वारा उत्स आदियों से अञ् प्रत्यय कहा गया है तो यह इञ् का बाधक होगा । परन्तु बाधक के अभाव में अदन्त प्रातिपदिकों से सर्वत्र इञ् ही होगा । इञ् में ञकार इत् है अतः इस के परे रहते **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा आदिवृद्धि हो जाती है । उदाहरण यथा—

दक्षस्यापत्यं दाक्षिः (दक्ष की सन्तान) । 'दक्ष' यह अदन्त प्रातिपदिक है । अतः 'दक्ष ङस्' इस षष्ठयन्त सुँबन्त से अपत्य अर्थ में प्रकृत **अत इञ्** (१०१४) सूत्र से इञ् प्रत्यय

किया गया है । फिन् के आदि फ् वर्ण को आयन् आदेश हो जाता है । फिन् का नकार इत् है और वह नित्कार्य स्वरविशेष के लिये जोड़ा गया है—ग्लुचुकस्यापत्यं ग्लौचुकायनिः । अब यहां विचार उपस्थित होता है कि यदि फ् के स्थान पर होने वाला आयन् नित् होता तो फिन् को नित् करने की आवश्यकता न होती क्योंकि नित्कार्य तो तब भी हो जाते । अतः इस से ज्ञापित होता है कि आयन् आदेश का नकार इत् नहीं होता । ज्ञापक को सामान्यापेक्ष मानने से एय् आदियों में यकार आदि की भी इत्संज्ञा नहीं होती ।

हो कर अनुबन्धलोप, तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दाक्षिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रत्यय विकल्प से होता है अतः पक्ष में वाक्य या समास का प्रयोग हो सकता है।[1]

इसी प्रकार—

(१) गर्गस्यापत्यं गार्गिः (गर्ग की सन्तान)।

(२) उत्तानपादस्यापत्यम् औत्तानपादिः (उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव)।

(३) दुष्यन्तस्यापत्यम् दौष्यन्तिः (दुष्यन्त का पुत्र भरत)।

(४) वसुकस्यापत्यं वासुकिः (वसुक की सन्तान)।

(५) दशरथस्यापत्यं दाशरथिः (दशरथ की सन्तान, राम)।[2]

सूत्र में 'अतः' कहा गया है अतः 'विश्वपा' आदि आकारान्तों से इञ् न होगा। यथा—विश्वपोऽपत्यं वैश्वपः (विश्वपा की सन्तान)। यहां विश्वपाशब्द से औत्सर्गिक अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक आकार का लोप करने से रूप निष्पन्न होता है।

अब एक अन्य सूत्र के द्वारा इञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. इञ् प्रत्यय विकल्प से हुआ है अतः इञ् के अभाव में औत्सर्गिक अण् भी हो जाये—ऐसा समझना भूल है। क्योंकि यहां **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) अधिकार के कारण 'वा' की प्राप्ति हुई है। यह विकल्पाधिकार प्रत्यय के अभाव में वाक्य आदि के लिये है न कि प्रत्ययों के विकल्पार्थ। जहां प्रत्यय का विकल्प अभीष्ट होता है वहां सूत्रकार नये सिरे से 'वा' या 'अन्यतरस्याम्' आदि का प्रयोग करते हैं। यथा— **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९), **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** (११०१) इत्यादि। यहां यह भी ध्यातव्य है कि आगे आने वाले सूत्रों के अर्थ करते समय इस अधिकृत 'वा' का बार बार उल्लेख नहीं किया जायेगा, अनुक्त होने पर भी विद्यार्थियों को यह स्वयं समझ लेना होगा।

२. **सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः।**
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः॥

साहित्य में क्वचित् 'दाशरथि' के स्थान पर अण्प्रत्ययान्त 'दाशरथ' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—

त्यजस्व कोपं कुलकीर्तिनाशनं भजस्व धर्मं कुलकीर्तिवर्धनम्।
प्रसीद जीवेम सबान्धवा वयं प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥

(बृहद्-हैमवृत्ति ६.१.३१ में उद्धृत)

परन्तु ऐसे स्थानों पर 'दाशरथ' का विग्रह 'दशरथस्यापत्यं दाशरथः' ऐसा नहीं करना चाहिये क्योंकि तब इञ् ही निर्बाध प्राप्त होता है अण् नहीं। अतः इन स्थलों पर 'दशरथस्यायं दाशरथः' इस प्रकार का विग्रह कर **तस्येदम्** (११०९) से शैषिक अण् समझना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१५) **बाह्वादिभ्यश्च** ।४।१।९६।।

बाहविः । औडुलोमिः ।।

अर्थः—कृतसन्धिकार्य बाहु आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में तद्धितसंज्ञक इञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—बाह्वादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । इञ् ।१।१। (**अत इञ्** सूत्र से)। **तस्यापत्यम्** सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । बाहुशब्द आदिर्येषान्ते बाह्वादयः, तेभ्यः = बाह्वादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । बाहु आदि एक गण है ।[1] अर्थः—(बाह्वादिभ्यः) बाहु-आदिगणपठित (तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से (अपत्यम् इत्यर्थे) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (इञ्) इञ् प्रत्यय होता है ।

इस सूत्र से इञ् का विधान अनदन्त शब्दों के लिये तथा कहीं कहीं बाधकों का बाध करने के लिये किया गया है । उदाहरण यथा—

बाहोरपत्यं बाहविः (बाहुनामक व्यक्ति की सन्तान)। यहां 'बाहु ङस्' इस षष्ठ्यन्त सुँबन्त से अपत्य अर्थ में प्रकृत **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्र से इञ् प्रत्यय, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक् एवम् **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण कर **एचोऽयवायावः** (२२) द्वारा ओकार को अव् आदेश करने से—बाहव् + इ = बाहवि । अब विभक्ति ला कर 'बाहविः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि बाहुशब्द अदन्त न होकर उदन्त था इसलिये **अत इञ्** (१०१४) से इञ् प्राप्त न था अतः प्रकृतसूत्र से इञ् का विधान करना पड़ा है ।

इसीप्रकार—उडुलोम्नोऽपत्यम् औडुलोमिः (उडुलोमन्[2] नामक व्यक्ति की

---

१. बाह्वादिगण यथा—
बाहु । उपबाहु । उपवाकु । विवाकु (निवाकु) । शिवाकु । वटाकु । उपविन्दु । वृक (वृकला) । वृषली । चूडा । मूषिका । कुशला । बलाका । भगला । छगला । ध्रुवका । धुवका । सुमित्रा । दुर्मित्रा । पुष्करसद् (अनुहरत) । देवशर्मन् । अग्निशर्मन् । कुनामन् । सुनामन् । पञ्चन् । सप्तन् । अष्टन् । **अमितौजसः सलोपश्च** (गणसूत्रम्) । उदञ्चु । शिरस् । शराविन् (माषशराविन्) । मरीचिन् । क्षेमवृद्धिन् । शृङ्खलातोदिन् । खरनादिन् । नगरमर्दिन् । प्राकारमर्दिन् । लोमन् । अजीगर्त्त । कृष्ण । सलक (सत्यक) । युधिष्ठिर । अर्जुन । साम्ब । गद । प्रद्युम्न । राम । **उदङ्कः संज्ञायाम्** (गणसूत्रम्) । **सम्भूयोऽम्भसोः सलोपश्च** (गणसूत्रम्) । भद्रशर्मन् । सुधावत् । आकृतिगणोऽयम् ।।

२. उडूनीव = नक्षत्राणीव लोमानि यस्य स उडुलोमा । व्युत्पत्तिमात्रप्रदर्शनमेतत् । कस्यचित्सञ्ज्ञेयम् ।

सन्तति)। उडुलोमन् शब्द बाह्वादिगण में पढ़ा गया है।[1] अतः अपत्यार्थ में 'उडुलोमन् ङस्' इस षष्ठ्यन्त सुँबन्त से प्रकृत **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्रद्वारा इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **नस्तद्धिते** (६१६) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'औडुलोमिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि उडुलोमन् के अदन्त न होने से इञ् प्राप्त न था अतः गण में इस का पाठ किया गया है।

बाह्वादिगण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) ऊर्ध्वलोम्नोऽपत्यम् और्ध्वलोमिः।
(२) सुमित्राया अपत्यम् सौमित्रिः (लक्ष्मणः)।[2]
(३) पुष्करसदोऽपत्यं पौष्करसादिः।[3]
(४) युधिष्ठिरस्यापत्यं यौधिष्ठिरिः।[4]
(५) अर्जुनस्यापत्यम् आर्जुनिः।
(६) कृष्णस्यापत्यं कार्ष्णिः।
(७) सत्यकस्यापत्यं सात्यकिः।
(८) प्रद्युम्नस्यापत्यम् प्राद्युम्निः।
(९) देवशर्मणोऽपत्यं दैवशर्मिः।
(१०) पञ्चानामपत्यं पाञ्चिः।
(११) सप्तानामपत्यं साप्तिः।
(१२) अष्टानामपत्यम् आष्टिः।

अब 'उडुलोम्नोऽपत्यानि' इस विग्रह में बहुवचन में इञ् के अपवाद 'अ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७१) लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः॥

उडुलोमाः॥

---

१. वस्तुतः बाह्वादिगण में लोमन् शब्द ही पढ़ा गया है। परन्तु केवल लोमन्शब्द का अपत्ययोग सम्भव नहीं अतः तदन्तविधि से उडुलोमन्, शरलोमन्, ऊर्ध्वलोमन् आदि शब्दों का ग्रहण किया जाता है।

२. **तमाह्वयत सौमित्रिरगर्जच्च भयङ्करम्।** (भट्टि० १७.३१)

३. **अनुशतिकादीनाञ्च** (१०६५) इत्युभयपदवृद्धिः। व्याकरणस्य कस्यचिदाचार्योऽयम्। स्मृतश्चायमस्मिन् वार्त्तिके—
चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्। (वा० १४)

४. युधिष्ठिर और अर्जुन कुरुवंशीय एवं कृष्ण, प्रद्युम्न और सत्यक वृष्णि(यदु)-वंशीय हैं अतः इन से अपत्यार्थ में **ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** (१०१८) सूत्रद्वारा अण् प्राप्त था, उस के बाध के लिये इन का यहां बाह्वादिगण में पाठ किया गया है।

अपत्य

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१५) **बाह्वादिभ्यश्च** ।४।१।९६॥

बाहविः । औडुलोमिः ॥

अर्थः—कृतसन्धिकार्य बाहु आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में तद्धितसंज्ञक इञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—बाह्वादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । इञ् ।१।१। (**अत इञ्** सूत्र से) । **तस्यापत्यम्** सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । बाहुशब्द आदिर्येषान्ते बाह्वादयः, तेभ्यः=बाह्वादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । बाहु आदि एक गण है ।[1] अर्थः—(बाह्वादिभ्यः) बाहु-आदिगणपठित (तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से (अपत्यम् इत्यर्थे) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (इञ्) इञ् प्रत्यय होता है ।

इस सूत्र से इञ् का विधान अनदन्त शब्दों के लिये तथा कहीं कहीं बाधकों का बाध करने के लिये किया गया है । उदाहरण यथा—

बाहोरपत्यं बाहविः (बाहुनामक व्यक्ति की सन्तान) । यहां 'बाहु ङस्' इस षष्ठ्यन्त सुँबन्त से अपत्य अर्थ में प्रकृत **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्र से इञ् प्रत्यय, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक् एवम् **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण कर **एचोऽयवायावः** (२२) द्वारा ओकार को अव् आदेश करने से—बाहव् इ=बाहवि । अब विभक्ति ला कर 'बाहविः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि बाहुशब्द अदन्त न होकर उदन्त था इसलिये **अत इञ्** (१०१४) से इञ् प्राप्त न था अतः प्रकृतसूत्र से इञ् का विधान करना पड़ा है ।

इसीप्रकार—उडुलोम्नोऽपत्यम् औडुलोमिः (उडुलोमन्[2] नामक व्यक्ति की

---

१. बाह्वादिगण यथा—
बाहु । उपबाहु । उपवाकु । विवाकु (निवाकु) । शिवाकु । वटाकु । उपविन्दु । वृक (वृकला) । वृषली । चूडा । मूषिका । कुशला । बलाका । भगला । छगला । ध्रुवका । धुवका । सुमित्रा । दुर्मित्रा । पुष्करसद् (अनुहरत) । देवशर्मन् । अग्निशर्मन् । कुनामन् । सुनामन् । पञ्चन् । सप्तन् । अष्टन् । **अमितौजसः सलोपश्च** (गणसूत्रम्) । उदञ्चु । शिरस् । शराविन् (माषशराविन्) । मरीचिन् । क्षेमवृद्धिन् । शृङ्खलातोदिन् । खरनादिन् । नगरमर्दिन् । प्राकारमर्दिन् । लोमन् । अजीगर्त्त । कृष्ण । सलक (सत्यक) । युधिष्ठिर । अर्जुन । साम्ब । गद । प्रद्युम्न । राम । **उदङ्कः संज्ञायाम्** (गणसूत्रम्) । **सम्भूयोऽम्भसोः सलोपश्च** (गणसूत्रम्) । भद्रशर्मन् । सुधावत् । आकृतिगणोऽयम् ॥

२. उडूनीव=नक्षत्राणीव लोमानि यस्य स उडुलोमा । व्युत्पत्तिमात्रप्रदर्शनमेतत् । कस्यचित्सञ्ज्ञेयम् ।

सन्तति)। उडुलोमन् शब्द बाह्वादिगण में पढ़ा गया है।[1] अतः अपत्यार्थ में 'उडुलोमन् ङस्' इस षष्ठ्यन्त सुँबन्त से प्रकृत **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्रद्वारा इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **नस्तद्धिते** (६१६) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'औडुलोमिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि उडुलोमन् के अदन्त न होने से इञ् प्राप्त न था अतः गण में इस का पाठ किया गया है।

बाह्वादिगण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) ऊर्ध्वलोम्नोऽपत्यम् और्ध्वलोमिः।
(२) सुमित्राया अपत्यम् सौमित्रिः (लक्ष्मणः)।[2]
(३) पुष्करसदोऽपत्यं पौष्करसादिः।[3]
(४) युधिष्ठिरस्यापत्यं यौधिष्ठिरिः।[4]
(५) अर्जुनस्यापत्यम् आर्जुनिः।
(६) कृष्णस्यापत्यं कार्ष्णिः।
(७) सत्यकस्यापत्यं सात्यकिः।
(८) प्रद्युम्नस्यापत्यम् प्राद्युम्निः।
(९) देवशर्मणोऽपत्यं दैवशर्मिः।
(१०) पञ्चानामपत्यं पाञ्चिः।
(११) सप्तानामपत्यं साप्तिः।
(१२) अष्टानामपत्यम् आष्टिः।

अब 'उडुलोम्नोऽपत्यानि' इस विग्रह में बहुवचन में इञ् के अपवाद 'अ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७१) **लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः ॥**

उडुलोमाः ॥

---

१. वस्तुतः बाह्वादिगण में लोमन् शब्द ही पढ़ा गया है। परन्तु केवल लोमन्शब्द का अपत्ययोग सम्भव नहीं अतः तदन्तविधि से उडुलोमन्, शरलोमन्, ऊर्ध्वलोमन् आदि शब्दों का ग्रहण किया जाता है।

२. **तमाह्वयत सौमित्रिरगर्जच्च भयङ्करम्।** (भट्टि० १७.३१)

३. **अनुशतिकादीनाञ्च** (१०६५) इत्युभयपदवृद्धिः। व्याकरणस्य कस्यचिदाचार्योऽयम्। स्मृतश्चायमस्मिन् वार्त्तिके—
चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्। (वा० १४)

४. युधिष्ठिर और अर्जुन कुरुवंशीय एवं कृष्ण, प्रद्युम्न और सत्यक वृष्णि(यदु)-वंशीय हैं अतः इन से अपत्यार्थ में **ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** (१०१८) सूत्रद्वारा अण् प्राप्त था, उस के बाध के लिये इन का यहां बाह्वादिगण में पाठ किया गया है।

अर्थः—लोमन् से अपत्यार्थ के बहुत्व में तद्धितसंज्ञक 'अ' प्रत्यय कहना चाहिये ।

व्याख्या—लोम्नः ।५।१। अपत्येषु ।७।३। बहुषु ।७।३। अकारः ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। अर्थः—(लोम्नः) लोमन् शब्द से (अपत्येषु) अपत्यार्थ के (बहुषु) बहुत्व में (अकारः) 'अ' प्रत्यय (वक्तव्यः) कहना चाहिये । केवल लोमन्शब्द का अपत्यार्थ में प्रयोग सम्भव नहीं अतः तदन्त अर्थात् लोमन्शब्दान्तों से ही प्रत्यय किया जायेगा । यह **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) द्वारा प्राप्त इञ् का अपवाद है । उदाहरण यथा—

उडुलोम्नोऽपत्यानि उडुलोमाः (उडुलोमन् की सन्तानें) । यहां 'उडुलोमन् ङस्' से अपत्यों के बहुत्व की विवक्षा में **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) द्वारा प्राप्त इञ् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः** (वा० ७१) वार्त्तिक से 'अ' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् एवं **नस्तद्धिते** (६१६) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप करने से—उडुलोम्+अ='उडुलोम' यह अदन्त शब्द बना । अब **एकदेशविकृत-मनन्यवत्** न्याय के अनुसार प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् (अस्) विभक्ति ला कर पूर्वसवर्णदीर्घ (१२६) तथा सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'उडुलोमाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि 'अ' प्रत्यय न तो कित् है और न ही जित् वा णित्, अतः उस के परे रहते आदिवृद्धि नहीं होती ।

उडुलोमन् से अपत्यार्थ में प्रत्यय हो कर रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	औडुलोमिः	औडुलोमी	उडुलोमाः
द्वितीया	औडुलोमिम्	,,	उडुलोमान्
तृतीया	औडुलोमिना	औडुलोमिभ्याम्	उडुलोमैः
चतुर्थी	औडुलोमये	,,	उडुलोमेभ्यः
पञ्चमी	औडुलोमेः	,,	,,
षष्ठी	,,	औडुलोम्योः	उडुलोमानाम्
सप्तमी	औडुलोमौ	,,	उडुलोमेषु
सम्बोधन	हे औडुलोमे!	हे औडुलोमी!	हे उडुलोमाः!

एकवचन और द्विवचन में इञ्प्रत्ययान्त होने से औडुलोमिशब्द की रूपमाला एवं प्रक्रिया हरिशब्दवत् होती है, परन्तु बहुवचन में 'अ' प्रत्ययान्त होने से उडुलोमशब्द की रूपमाला एवं प्रक्रिया रामशब्दवत् होती है । इसीप्रकार शरलोमन्, ऊर्ध्वलोमन् प्रभृति शब्दों से अपत्यार्थ में प्रत्यय करने पर प्रक्रिया जाननी चाहिये ।

[**लघु०**] आकृतिगणोऽयम् ।।

अर्थः—यह बाह्वादि आकृतिगण है ।

व्याख्या—आकृत्या गण्यत इत्याकृतिगणः । अर्थात् जिन शब्दों से इञ्प्रत्यय तो किया गया देखा जाये परन्तु उन से इञ् का किसी सूत्र या वार्त्तिक से विधान न

देखा जाता हो तो उन शब्दों को भी बाह्वादिगण के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।[1] यथा—इन्द्रशर्मणोऽपत्यम् ऐन्द्रशर्मिः । शूरस्यापत्यं शौरिः (शूरसेन की सन्तान, वसुदेव या श्रीकृष्ण[2]) ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा गोत्रापत्य तथा अनन्तरापत्य दोनों में अञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(१०१६)

अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ।४।१।१०४।।

ये त्वत्रानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे । विदस्य गोत्रं बैदः । बैदौ । बिदाः । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । पौत्रौ । पौत्राः । एवं दौहित्रादयः ।।

अर्थः—बिदादिगणपठित शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अञ् प्रत्यय होता है परन्तु इन में जो शब्द ऋषिवाचक नहीं उन से अनन्तरापत्य अर्थ में ही प्रत्यय समझना चाहिये ।

व्याख्या—अनृषि इति लुप्तपञ्चमीबहुवचनान्तं पदम् । आनन्तर्ये ।७।१। (चातुर्वर्ण्यादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थे ष्यञ्) । बिदादिभ्यः ।५।३। अञ् ।१।१। गोत्रे ।७।१। (**गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्यापत्यम्** इत्यादि पूर्वतः आ रहे हैं । समासः—न ऋषिः=अनृषिः, तेभ्यः= अनृषिभ्यः, नञ्तत्पुरुषः । बिदशब्द आदिर्येषान्ते बिदादयः, तेभ्यः=बिदादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अनन्तरमेव आनन्तर्यम् (अपत्यम्); तस्मिन्=आनन्तर्ये । अर्थः—(बिदादिभ्यः) बिद आदि षष्ठयन्त समर्थ प्रातिपदिकों से (गोत्रे अपत्ये) गोत्रापत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अञ्) अञ् प्रत्यय होता है परन्तु (अनृषि=अनृषिभ्यः) इन में जो ऋषिवाचक नहीं उन से (आनन्तर्ये=अनन्तरापत्ये) अनन्तरापत्य अर्थ में ही प्रत्यय होता है । दूसरी पीढ़ी अर्थात् पुत्र ही अनन्तरापत्य होता है यह पीछे स्पष्ट कर चुके हैं ।

बिदादि एक गण है ।[3] इस में कुछ ऋषियों के नाम और साथ ही पुत्र, दुहितृ

---

१. **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) इतिसूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेनास्य गणस्याकृतिगणत्वं व्यज्यते । अत आकृतिगणोऽयमिति वचनं सूत्रोक्तचकारस्यैव व्याख्यानम् । उक्तं च—

सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके ।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम् ।।

२. **तत्राविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः** (भागवत० १०.३२.२) ।
अस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः (माघ० ८.६४) ।

३. बिदादिगण यथा—
बिद । उर्व । कश्यप । कुशिक । भरद्वाज । उपमन्यु । किलात (किलालप) ।

आदि कुछ ऐसे प्रातिपदिक भी पढ़े गये हैं जो ऋषिवाचक नहीं। प्रकृतसूत्र से बिदादिगणपठित ऋषिवाचकों से गोत्रापत्य अर्थ में तथा अन्यों (अनृषिवाचकों) से अनन्तरापत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय का विधान किया जाता है। अण् और अञ् प्रत्ययों से रूप तो एक जैसे बनते हैं पर स्वर का अन्तर पड़ता है यह पीछे बताया जा चुका है। सूत्र के उदाहरण यथा—

बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः (बिदनामक ऋषि की पौत्र आदि सन्तति)। 'बिद' एक ऋषि का नाम है अतः 'बिद ङस्' से गोत्रापत्य अर्थ में प्रकृत **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** (१०१६) सूत्रद्वारा अञ् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'बैदः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। द्विवचन में—बैदौ। बहुवचन में **यञञोश्च** (१००९) द्वारा अञ् प्रत्यय का लुक् हो कर पुनः पूर्वावस्था को प्राप्त 'बिद' से बहुवचन में जस् ला कर विभक्तिकार्य करने से 'बिदाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह द्वितीया आदि विभक्तियों के बहुवचनों में समझ लेना चाहिये। गोत्रप्रत्ययान्त 'बिद' की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	बैदः	बैदौ	बिदाः
द्वितीया	बैदम्	,,	बिदान्
तृतीया	बैदेन	बैदाभ्याम्	बिदैः
चतुर्थी	बैदाय	,,	बिदेभ्यः
पञ्चमी	बैदात्	,,	,,
षष्ठी	बैदस्य	बैदयोः	बिदानाम्
सप्तमी	बैदे	,,	बिदेषु
सम्बोधन	हे बैद!	हे बैदौ!	हे बिदाः!

इसी तरह—

(१) कश्यपस्य गोत्रापत्यं काश्यपः। काश्यपौ। कश्यपाः।

(२) कुशिकस्य गोत्रापत्यं कौशिकः। कौशिकौ। कुशिकाः।

(३) भरद्वाजस्य गोत्रापत्यं भारद्वाजः। भारद्वाजौ। भरद्वाजाः।

किन्दर्भ। विश्वानर। ऋष्टिषेण। ऋतभाग। हर्यश्व। प्रियक। आपस्तम्ब। कूचवार। शरद्वत्। शुनक। धेनु। गोपवन। शिग्रु। बिन्दु। भाजन। अश्वावतान। श्यामाक। श्यमाक (श्यामक)। श्यापर्ण। हरित। किन्दास। बह्यस्क। अर्कलूष। बध्योष (बध्योग)। विष्णुवृद्ध। प्रतिबोध। रथन्तर। रथीतर। गविष्ठिर। निषाद। मठर। मृद (मृदु)। पुनर्भू। पुत्र। दुहितृ। ननान्दृ। **परस्त्री परशुं च** (गणसूत्रम्)। सृदाकु। पृदाकु। शबर। सम्बक। शाबली। श्यायक। अलस॥

अण्

(४) शुनकस्य गोत्रापत्यं शौनकः । शौनकौ । शुनकाः ।
(५) उपमन्योर्गोत्रापत्यम् औपमन्यवः । औपमन्यवौ । उपमन्यवः ।
(६) उर्वस्य गोत्रापत्यम् और्वः । और्वौ । उर्वाः । इत्यादि ।

बाह्वादियों के आकृतिगण होने के कारण उन में 'बिद' का पाठ मान लेने से अनन्तरापत्य अर्थ में बिद से ऋष्यण् (१०१८) को बाध कर **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) द्वारा इञ् प्रत्यय हो जाता है । बिदस्यानन्तरापत्यं बैदिः । बैदी । बैदयः । बहुवचन में इञ् के लोप का विधान नहीं है ।

ऋषिभिन्न बिदादियों का अनन्तरापत्य में उदाहरण यथा—

पुत्रस्यानन्तरापत्यं पौत्रः (पुत्र की सन्तान अर्थात् पोता) । पुत्रशब्द बिदादियों में पढ़ा गया है और यह ऋषिवाचक भी नहीं । अतः 'पुत्र ङस्' से अनन्तरापत्य अर्थ में प्रकृत **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** (१०१६) सूत्रद्वारा अञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'पौत्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—दुहितुरनन्तरापत्यं दौहित्रः (लड़की की सन्तान अर्थात् धेवता) । 'दुहितृ ङस्' से अनन्तरापत्य अर्थ में प्रकृतसूत्र से अञ्, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **इको यणचि** (१५) से ऋकार को रेफ आदेश कर विभक्ति लाने से 'दौहित्रः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ननान्दुरनन्तरापत्यं नानान्द्रः (ननन्द का पुत्र) । 'ननान्दृ ङस्' से पूर्ववत् अनन्तरापत्य में अञ्, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा ऋवर्ण को रेफ आदेश कर 'नानान्द्रः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पौत्रः, पौत्रौ, पौत्राः । दौहित्रः, दौहित्रौ, दौहित्राः । नानान्द्रः, नानान्द्रौ, नानान्द्राः । यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि इन के बहुवचन में अञ् का लुक् नहीं होता, कारण कि **यञञोश्च** (१००९) सूत्र गोत्र में विहित अञ् का ही लुक् विधान करता है अनन्तरापत्य में होने वाले का नहीं ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा इञ् आदि के अपवाद अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (१०१७) शिवादिभ्योऽण् ।४।१।११२।।

अपत्ये । शैवः । गाङ्गः ।।

अर्थः—अपत्य अर्थ में शिव आदि प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञ अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शिवादिभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । शिवशब्द आदिर्येषान्ते शिवादयः, तेभ्यः = शिवादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । **तस्यापत्यम्** (१००४) से 'तस्य' के अनुवर्त्तन के कारण षष्ठ्यन्त से ही प्रत्यय का विधान होता है । अर्थः—(अपत्ये) अपत्य अर्थ में (शिवादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः) शिव आदि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय

होता है । यहां 'गोत्रे' का अनुवर्त्तन नहीं होता अतः अपत्यसामान्य में ही प्रत्यय का विधान समझना चाहिये ।

शिवादि एक गण है ।[1] शिवादियों से इञ् आदि के अपवाद अण् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । उदाहरण यथा—

शिवस्यापत्यं शैवः (शिव की सन्तान) । 'शिव ङस्' से अपत्यार्थ में **अत इञ्** (१०१४) द्वारा प्राप्त इञ् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **शिवादिभ्योऽण्** (१०१७) सूत्र से अण् प्रत्यय, अनुबन्ध णकार का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शैवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में शैवशब्द से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् (ई) हो कर भसंज्ञक अकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने से 'शैवी' प्रयोग बनेगा ।

गङ्गाया अपत्यं गाङ्गः (गङ्गा की सन्तान, भीष्म) । यहां 'गङ्गा ङस्' से **शिवादिभ्योऽण्** (१०१७) इस प्रकृतसूत्रद्वारा अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक आकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'गाङ्गः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

इसीप्रकार—

१. ककुत्स्थस्यापत्यं काकुत्स्थः (ककुत्स्थ की पुत्र पौत्रादि सन्तान) ।

२. यस्कस्यापत्यं यास्कः ।

३. हेहयस्यापत्यं हैहयः ।

४. ऋष्टिषेणस्यापत्यम् आर्ष्टिषेणः ।

---

१. शिवादिगण यथा—

शिव । प्रोष्ठ । प्रौष्ठिक । चण्ड । जम्भ । मुनि । सन्धि । भूरि । दण्ड । कुठार । ककुभ् (ककुभा) । अनभिम्लान । ककुत्स्थ । कोहित । कहोड । रोध । खञ्जन । कोहड । पिष्ट । हेहय । कहूय । कपिञ्जल । परिल । वतण्ड । तृणकर्ण । क्षीरह्रद । जलह्रद । परिषिक । जटिलिक । गोफिलिक । बधिरिका । मञ्जीरक । वृष्णिक । रेख । आलेखन । विश्रवण । रवण । वर्त्तनाक्ष । पिटक । पिटाक । तृक्षाक । नभाक । ऊर्णनाभ । जरत्कारु । उत्क्षिपा । रोहितिक । आर्यश्वेत । सुपिष्ठ । खर्जूरकर्ण । मसूरकर्ण । तूणकर्ण । मयूरकर्ण । खडरक । तक्षन् । ऋष्टिषेण । गङ्गा । विपाशा । यस्क । लह्य । द्रुघ । अयःस्थूण । भलन्दन । विरूपाक्ष । भूमि । इला । सपत्नी । **द्व्यचो नद्याः** (गणसूत्रम्) । **त्रिवेणी त्रिवणं च** (गणसूत्रम्) । कह्वय । वडाक । [इस गण का पाठ बहुत भ्रष्ट हो चुका है] ।

२. इस अर्थ में 'गाङ्गेयः' (**शुभ्रादिभ्यश्च** ४.१.१२३ इति ढक्) और 'गाङ्गायनिः' (**तिकादिभ्यः फिञ्** ४.१.१५४ इति फिञ्) प्रयोग भी बनते हैं । जैसाकि कहा है—

शुभ्रादित्वेन गाङ्गेयो गाङ्गश्चापि शिवाद्यणि ।
गाङ्गायनिस्तिकादित्वादिति गङ्गा त्रिरूपिणी ॥

अण्

५. मयूरकर्णस्यापत्यं मायूरकर्णः ।
६. विरूपाक्षस्यापत्यं वैरूपाक्षः ।
७. इलाया अपत्यम् ऐलः (इला का पुत्र, पुरूरवाः) ।
८. सपत्न्या अपत्यं सापत्नः (सौत का पुत्र) ।[1]
९. भूमेरपत्यं भौमः (भूमि का पुत्र, मङ्गलग्रह) ।
१०. त्रिवेण्या अपत्यं त्रैवणः ।[2]
११. जरत्कारोरपत्यं जारत्कारवः (जरत्कारु का पुत्र, आस्तीक) ।[3]
१२. विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणो रावणो वा (विश्रवस् का पुत्र, रावण) ।[4]

अब पुनः अपत्यसामान्य में अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम् (**१०१८**)

ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ।४।१।११४।।

(ऋषिभ्योऽन्धकेभ्यो वृष्णिभ्यः कुरुभ्यश्चापत्येऽण् तद्धितः प्रत्ययः स्यात्) । ऋषिभ्यः—वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः । कुरुभ्यः —नाकुलः । साहदेवः ।।

अर्थः—ऋषिवाचकों से तथा अन्धक वृष्णि और कुरु इन तीन वंशों में उत्पन्न व्यक्तिवाचकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—ऋषि-अन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। (**शिवादिभ्योऽण्** सूत्र से) । **तस्यापत्यम्** का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । ऋषयश्च अन्धकाश्च वृष्णयश्च कुरवश्च ऋष्यन्धकवृष्णिकुरवः, तेभ्यः=ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । 'ऋषि' से यहां मन्त्रद्रष्टा ऋषियों तथा अन्धक, वृष्णि (यदुकुलोत्पन्न) और कुरु शब्दों से इन तीन वंशों में उत्पन्न व्यक्तियों का ग्रहण अभीष्ट है । अर्थः—(ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः) ऋषिवाचकों से तथा अन्धक, वृष्णि और कुरु इन तीन वंशों में उत्पन्न व्यक्तिवाचकों से (च) भी (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । यह सूत्र **अत इञ्** (१०१४) द्वारा प्राप्त इञ् प्रत्यय का अपवाद है । क्रमशः उदाहरण यथा—

---

१. आदिवृद्धि होकर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है ।
२. शिवाद्यन्तर्गत **त्रिवेणी त्रिवणं च** इस गणसूत्र से त्रिवेणी को त्रिवण सर्वादेश हो जाता है ।
३. **ओर्गुणः** (१००५) से उकार को ओकार गुण होकर अवादेश हो जाता है ।
४. न्यासकार का कथन है कि अपत्यार्थक अण् प्रत्यय के परे रहते 'विश्रवस्' इस प्रकृति के स्थान पर 'विश्रवण' अथवा 'रवण' सर्वादेश हो जाते हैं । इस का विशेष विवेचन व्याख्याकार के सुप्रसिद्ध शोधग्रन्थ **न्यासपर्यालोचन** में (२.३२) पर देखें । यह ग्रन्थ **भैमी-प्रकाशन** से प्रकाशित हो चुका है ।

अपत्य

(१) ऋषिवाचकों से—

वसिष्ठस्यापत्यं वासिष्ठः, विश्वामित्रस्यापत्यं वैश्वामित्रः । यहां वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम हैं अतः इन दोनों षष्ठ्यन्त सुँबन्तों से प्रकृत **ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** (१०१८) सूत्रद्वारा अपत्यसामान्य में अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

(२) अन्धकवंशीयों से—

श्वफल्कस्यापत्यं श्वाफल्कः (श्वफल्क की सन्तान) । श्वफल्क अन्धकवंशीय है अतः 'श्वफल्क ङस्' से अपत्य अर्थ में **ऋष्यन्धक०** (१०१८) सूत्र से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्वाफल्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार—रन्धसस्यापत्यं रान्धसः ।

(३) वृष्णिवंशीयों[1] से—

वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः (वसुदेव की सन्तान, श्रीकृष्ण) । वसुदेव का वंश वृष्णि-वंश है अतः प्रकृतसूत्रद्वारा 'वसुदेव ङस्' से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदि-वृद्धि, एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वासुदेवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार—अनिरुद्धस्यापत्यम् आनिरुद्धः । अनिरुद्ध भगवान् कृष्ण के पौत्र तथा प्रद्युम्न के पुत्र थे अतः यह भी वृष्णिवंशीय है ।

शूरस्यापत्यं शौरिः । शूर (शूरसेन) यद्यपि वृष्णिवंशीय है तथापि बाह्वादिगण के आकृतिगण होने से उस गण में इस का पाठ मान लेने से **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्रद्वारा इञ् ही होता है, अण् नहीं ।

(४) कुरुवंशीयों से—

नकुलस्यापत्यं नाकुलः (नकुल की सन्तान) । सहदेवस्यापत्यं साहदेवः । नकुल और सहदेव पाण्डवों के अन्तर्गत होने से सुप्रसिद्ध कुरुवंशीय हैं अतः प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् रूप सिद्ध हो जाते हैं । इसीप्रकार—धृतराष्ट्रस्यापत्यानि धार्त-राष्ट्राः । **निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन** (गीता १.३६) ।

अर्जुन और युधिष्ठिर शब्दों का पाठ बाह्वादिगण में आया है अतः **बाह्वा-दिभ्यश्च** (१०१५) द्वारा इञ् प्रत्यय ही होता है अण् नहीं । अर्जुनस्यापत्यम् आर्जुनिः । युधिष्ठिरस्यापत्यं यौधिष्ठिरिः ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अपत्य अर्थ में अण्विधान के साथ-साथ एक विशेष कार्य का भी विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१९)

मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ।४।१।११५।।

---

१. वृष्णिनामक सुप्रसिद्ध क्षत्रिय यदुकुल में उत्पन्न हुए । इन के वंश में ही श्रीकृष्ण का जन्म हुआ ।

संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्यादण्प्रत्ययश्च (अपत्ये)। द्वैमातुरः। षाण्मातुरः। साम्मातुरः। भाद्रमातुरः॥

अर्थः—सङ्ख्यापूर्व, सम्पूर्व तथा भद्रपूर्व मातृशब्द को अपत्य अर्थ में ह्रस्व उकार अन्तादेश हो और इस से परे तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय भी हो।

व्याख्या—मातुः।६।१। उत्।१।१। संख्या-सम्-भद्रपूर्वायाः।६।१। अण्।१।१। (**शिवादिभ्योऽण्** सूत्र से)। **तस्यापत्यम्** का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। संख्या च सम् च भद्रश्च संख्यासम्भद्राः, संख्यासम्भद्राः पूर्वे यस्याः सा संख्यासम्भद्रपूर्वा, तस्याः=संख्यासम्भद्रपूर्वायाः। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। अर्थः -(संख्या-सम्-भद्रपूर्वायाः) संख्यावाचक शब्द, 'सम्' शब्द या 'भद्र' शब्द जिस के पूर्व में हो ऐसे (मातुः) मातृशब्द के स्थान पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश हो जाता है तथा इस से परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय भी हो जाता है (अपत्ये) अपत्य अर्थ में।

अलोऽन्त्यपरिभाषा से मातृशब्द के अन्त्य ऋवर्ण के स्थान पर 'उ' आदेश होगा। **उरण्रपरः** (२९) से रपर हो कर 'उर्' बन जायेगा। इस प्रकार 'मातृ' का 'मातुर्' हो जायेगा। उदाहरण यथा—

द्वैमातुरः (दो माताओं की सन्तान)[1]। 'द्वयोर्मात्रोरपत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थक तद्धित (अण्) प्रत्यय की विवक्षा में सर्वप्रथम **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा 'द्वि ओस्+मातृ ओस्' इस अलौकिकविग्रह में तत्पुरुष (द्विगु) समास हो कर सुँब्लुक्, प्रथमानिर्दिष्ट होने से संख्यावाचक की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने से 'द्विमातृ' हुआ। अब इसे षष्ठ्यन्त बना कर अर्थात् 'द्विमातृ ओस्' से अपत्य अर्थ में **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय तथा मातृशब्द के अन्त्य अल् ऋवर्ण को उकार आदेश, रपर, सुँब्लुक् तथा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि अच्-इकार को ऐकार वृद्धि कर— द्वैमातुर्+अ=द्वैमातुर। विभक्ति लाने से 'द्वैमातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

संख्यापूर्व मातृशब्द का दूसरा सुप्रसिद्ध उदाहरण यथा—

षाण्मातुरः (छः माताओं की सन्तान, कार्त्तिकेय)। 'षण्णाम् मातॄणामपत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थक तद्धित (अण्) प्रत्यय की विवक्षा में सर्वप्रथम 'षष् आम्+मातृ आम्' इस अलौकिकविग्रह में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा

---

१ जिस की दो माताएं (एक अपनी तथा दूसरी विमाता) हों उसे 'द्वैमातुर' कहते हैं। गणेशजी और जरासन्ध को भी द्वैमातुर कहा जाता है—द्वैमातुरो जरासन्धवारणाननयोः पुमान् इति व्याख्यासुधायां भानुजिदीक्षितः। गणेशजी को दुर्गा और चामुण्डा दो माताओं ने पाला था (देखिये स्कन्दपुराण)। जरासन्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि वह आधा एक माता के गर्भ से और आधा दूसरी माता के गर्भ से पैदा होकर जरानामक एक पिशाची से सन्धित किया गया था।

द्विगुतत्पुरुष समास हो कर सुँब्लुक्, संख्यावाचक की उपसर्जनसञ्ज्ञा और उस का पूर्व-निपात करने से—'षष् + मातृ'। अब अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति को मान कर पदत्व के कारण पदान्त षकार को **झलां जशोऽन्ते** (६७) से डकार एवं **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से डकार को अनुनासिक णकार करने से 'षण्मातृ' बना। इसे षष्ठीबहुवचनान्त बना कर इस से अपत्य अर्थ में **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय तथा मातृशब्द के ऋवर्ण को उकार आदेश, रपर, सुँब्लुक् और अण् के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'षाण्मातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सम्पूर्वक मातृशब्द का उदाहरण यथा—

सम्मातुरपत्यं साम्मातुरः (भली माता का पुत्र)। समीचीना माता सम्माता। यहां 'सम्' और 'मातृ सुँ' का **कु-गति-प्रादयः** (९४९) से नित्य प्रादिसमास हो जाता है। पुनः षष्ठचन्त 'सम्मातृ ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) सूत्र से अण् प्रत्यय, मातृ के ऋकार को उकार आदेश, रपर, सुँब्लुक् और आदिवृद्धि करने से 'साम्मातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

भद्रपूर्व मातृशब्द का उदाहरण यथा—

भद्रमातुरपत्यं भाद्रमातुरः (भली माता का पुत्र)। भद्रा चासौ माता भद्रमाता। यहां 'भद्रा सुँ + मातृ सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्र से तत्पुरुषसमास हो कर सुँब्लुक् तथा **पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) सूत्र से पुंवद्भाव करने से 'भद्रमातृ' शब्द बन जाता है। अब 'भद्रमातृ ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) से अण् प्रत्यय, ऋवर्ण को उर् आदेश, सुँब्लुक् तथा अन्त में **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'भाद्रमातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र उर् आदेश के लिये ही बनाया गया है, अण् प्रत्यय तो **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) अधिकार के कारण **तस्यापत्यम्** (१००४) से ही सिद्ध था।

अब अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२०) **स्त्रीभ्यो ढक्** ।४।१।१२०॥

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् (अपत्ये)। वैनतेयः॥

अर्थः—स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक ढक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—स्त्रीभ्यः।५।३। ढक्।१।१। अपत्ये।७।१। (**तस्यापत्यम्** से)। **प्रत्ययः परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'स्त्रीभ्यः' यहां 'स्त्री' शब्द से टाप्, ङीप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण अभीष्ट है। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** परिभाषा से तदन्तविधि हो कर 'स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः' ऐसा उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(स्त्रीभ्यः = स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः) स्त्रीप्रत्ययान्त षष्ठचन्तों से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है।

ढक् में अन्त्य ककार इत् है । प्रत्यय के कित्त्व के कारण **किति च** (१००१) सूत्रद्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जाती है । उदाहरण यथा—

विनताया अपत्यं वैनतेयः (विनता का पुत्र, गरुड़) । विनताशब्द टाप्प्रत्ययान्त है अतः 'विनता ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत **स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०) सूत्र से ढक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—विनता+ढ । अब **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से 'ढ' प्रत्यय के आदि ढकार को एय् आदेश हो कर—विनता+एय् अ='विनता+एय' इस स्थिति में **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक आकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वैनतेयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

सुपर्ण्या अपत्यं सौपर्णेयः[१] (सुपर्णी की सन्तान, गरुड़) ।

युवतेरपत्यं यौवतेयः (जवान स्त्री की सन्तति) ।

द्रौपद्या अपत्यं द्रौपदेयः (द्रौपदी की सन्तान) ।

सरमाया अपत्यं सारमेयः (सरमा=देवशुनी की सन्तति) ।

कुन्त्या अपत्यं कौन्तेयः (कुन्ती की सन्तान) ।

वासवदत्ताया अपत्यं वासवदत्तेयः (वासवदत्ता की सन्तति) ।

सुमित्राया अपत्यं सौमित्रिः । यहां **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्र से इञ् प्रत्यय होता है । सुमित्राशब्द बाह्वादियों में साक्षात् पढ़ा गया है । सपत्न्या अपत्यं सापत्नः । यहां **शिवादिभ्योऽण्** (१०१७) सूत्र से अण् प्रत्यय होता है । पृथाया अपत्यं पार्थः । यहां भी अपत्य अर्थ में शिवादित्वाद् अण् प्रत्यय समझना चाहिये ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा ढक् प्रत्यय का अपवाद दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२१) कन्यायाः कनीन च ।४।१।११६।।

चादण् । कानीनो व्यासः कर्णश्च ।।

अर्थः—अपत्य अर्थ में कन्याशब्द के स्थान पर कनीन आदेश तथा प्रकृति से परे तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय भी हो ।

व्याख्या—कन्यायाः ।६।१। कनीन इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। (**शिवादिभ्योऽण्** सूत्र से) । **तस्यापत्यम्** सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं ।

---

१. कुछ वैयाकरण 'सुपर्णी' के स्थान पर 'सुपर्णा' शब्द का यहां प्रयोग मानते हैं । उन के मतानुसार 'सुपर्णाया अपत्यं सौपर्णेयः' ऐसा विग्रह होगा (देखें हैमबृहद्वृत्ति ६.१.६७) । [शोभनानि पर्णानि अस्या यद्वा सुपर्णो गरुडः सोऽस्त्यस्या इत्यर्थे अर्शआदित्वादचि गौरादित्वान्ङीषि सुपर्णीति । केचित्तु सुपर्णशब्दस्य गौरादौ पाठाभावाट्टापि 'सुपर्णा' इत्याहुः ।]

अर्थः—(अपत्ये) अपत्य अर्थ में (कन्यायाः) कन्याशब्द के स्थान पर (कनीन) 'कनीन' आदेश (च) तथा प्रकृति से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय भी होता है। अनेकाल् होने से कनीन आदेश समग्र कन्याशब्द के स्थान पर होता है (४५)। उदाहरण यथा—

कन्याया अपत्यं कानीनः (अविवाहिता का पुत्र, कर्ण या व्यास)[1]। 'कन्या ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत **कन्यायाः कनीन च** (१०२१) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय तथा कन्याशब्द के स्थान पर 'कनीन' यह सर्वादेश हो जाता है—कनीन ङस्+अ। अब तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँब्लुक् (७२१), आदिवृद्धि (९३८) तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'कानीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र **स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०) द्वारा प्राप्त ढक् प्रत्यय का अपवाद है, कन्या को कनीन आदेश इस में विशेष कहा गया है।

अब अपत्यार्थ में यत् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२२)

राज-श्वशुराद् यत् ।४।१।१३७।।

अर्थः—राजन् और श्वशुर प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—राजश्वशुरात् ।५।१। यत् ।१।१। **तस्यापत्यम्** की अनुवृत्ति आ रही है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। राजा च श्वशुरश्च राजश्वशुरम्, तस्मात्=राजश्वशुरात्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(अपत्ये) अपत्य अर्थ में (राजश्वशुरात्) राजन् और श्वशुर इन षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है।

राजन्शब्द से अपत्यार्थ में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय तथा श्वशुरशब्द से **अत इञ्** (१०१४) सूत्रद्वारा इञ् प्रत्यय प्राप्त था उन का यह अपवाद है। यत् प्रत्यय में तकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र अवशिष्ट रहता है। तकार अनुबन्ध **तित् स्वरितम्** (६.१.१७९) द्वारा स्वरितस्वर के लिये जोड़ा गया है। ध्यान रहे कि यत् के परे रहते आदिवृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं होता।

राजन्शब्द से अपत्यार्थ में यत् प्रत्यय के किये जाने पर भी इस में जाति अर्थ की विशेषता का अग्रिमवार्त्तिक से प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] वा०—(७२) **राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्** ।।

अर्थः—राजन्शब्द से जाति के वाच्य होने पर ही यत् प्रत्यय कहना चाहिये।

---

१. व्यास की उत्पत्ति महाभारत आदिपर्व अध्याय (६३) में तथा कर्ण की उत्पत्ति उसी पर्व के अध्याय (१११) में देखें।

व्याख्या—राज्ञः ।५।१। जातौ ।७।१। एव इत्यव्ययपदम् । इति इत्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। यह वार्त्तिक **राजश्वशुराद्यत्** (१०२२) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये । अर्थ सरल है । तात्पर्य यह है कि राजन्‌शब्द से यत् प्रत्यय अपत्यार्थ में तभी होगा जब प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से जाति (क्षत्रियजाति) की प्रतीति होती हो ।

अब प्रकृत सूत्र के उदाहरण में उपयोगी एक प्रक्रियासम्बन्धी सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०२३) ये चाऽभावकर्मणोः**।६।४।१६८।।

यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यात्, न तु भावकर्मणोः । राजन्यः । श्वशुर्यः । जातावेवेति किम् ?—

अर्थः—यकारादि तद्धित के परे रहते 'अन्' प्रकृतिभाव को प्राप्त हो परन्तु यदि तद्धित प्रत्यय भाव या कर्म अर्थ में हुआ हो तो यह प्रकृतिभाव **न** हो ।

व्याख्या—ये ।७।१। (यकारादकार उच्चारणार्थः) । च इत्यव्ययपदम् । अभावकर्मणोः ।७।२। अन् ।१।१। (**अन्** सूत्र से) । तद्धिते ।७।१। (**आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति** सूत्र से) । प्रकृत्या ।३।१। (**प्रकृत्यैकाच्** सूत्र से) । भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोः= भावकर्मणोः । न भावकर्मणोः=अभावकर्मणोः, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः । यह सूत्र **अङ्गस्य** (६.४.१) अधिकार के अन्तर्गत अष्टाध्यायी में पढ़ा गया है । अतः अङ्ग के कारण 'प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है क्योंकि प्रत्यय के परे न रहते अङ्ग का होना सम्भव नहीं । 'ये' को 'प्रत्यये' का विशेषण मान तदादिविधि करने से 'यकारादौ प्रत्यये' बन जाता है । अर्थः—(ये=यकारादौ तद्धिते प्रत्यये) यकारादि तद्धित प्रत्यय के परे रहते (अन्) 'अन्' यह अक्षरसमुदाय (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् इस में परिवर्त्तन नहीं होता, वह वैसे का वैसा रहता है परन्तु यह प्रकृतिभाव (अभावकर्मणोः) भाव या कर्म अर्थ में हुए तद्धित के परे रहते नहीं होता । उदाहरण यथा—

राज्ञोऽपत्यं जातिः—राजन्यः (क्षत्रिय राजा की क्षत्रिया स्वभार्या में उत्पन्न सन्तान, क्षत्रिय जाति का पुरुष) । 'राजन् ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में क्षत्रियजाति की वाच्यता में **राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्** (वा० ७२) इस वार्त्तिक की सहायता से **राजश्वशुराद्यत्** (१०२२) सूत्रद्वारा यत् तद्धितप्रत्यय हो कर तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—राजन्+य । अब **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा हो जाने पर **नस्तद्धिते** (६१६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अन् का लोप प्राप्त होता है परन्तु प्रकृत **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) सूत्र से 'अन्' के प्रकृतिभाव को प्राप्त होने से लोप नहीं होता । तब स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'राजन्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

---

१. क्षत्रियात् क्षत्रियायां स्वभार्यायामुत्पन्नो राजन्य इति धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम् । **मूर्धा-**

श्वशुरशब्द से अपत्यार्थ में यत् का उदाहरण यथा—

श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः (ससुर का पुत्र, साला या देवर)। यहां 'श्वशुर ङस्' से अपत्यार्थ में **राजश्वशुराद्यत्** (१०२२) सूत्र से यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्वशुर्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **श्वशुर्यौ देवरश्यालौ** इत्यमरः।

भाव और कर्म अर्थों में यदि यकारादि तद्धित प्रत्यय हुआ हो तो अन् को प्रकृतिभाव न होगा। यथा—राज्ञः कर्म भावो वा राज्यम्। यहां भाव और कर्म अर्थों में पुरोहितादिगणान्तर्गत होने से **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३) सूत्रद्वारा 'राजन् ङस्' से यक् प्रत्यय, अनुबन्धककार का लोप एवं सुँब्लुक् करने से—'राजन्+य' इस स्थिति में **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप हो जाता है, प्रकृतसूत्र से प्रकृतिभाव नहीं होता—राज्+य=राज्यम्।

जातावेवेति किम्?

पूर्ववार्त्तिक (वा० ७२) से जाति अर्थ में ही राजन्शब्द से यत् प्रत्यय का विधान कहा गया है। यदि ऐसा न हो कर केवल अपत्य अर्थ ही विवक्षित होगा तो यत् की बजाय औत्सर्गिक अण् प्रत्यय हो कर भिन्न रूप बनेगा। इस के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२४) अन् ।६।४।१६७।।

अन् प्रकृत्या स्यादणि परे। राजनः ।।

अर्थः—अण् प्रत्यय परे होने पर 'अन्' प्रकृतिभाव से अवस्थित रहे।

व्याख्या—अन् ।१।१। अणि ।७।१। (**इनण्यनपत्ये** सूत्र से)। प्रकृत्या ।३।१। (**प्रकृत्यैकाच्** सूत्र से)। अर्थः—(अणि) अण् प्रत्यय परे हो तो (अन्) अन्। (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है। यह **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा—

राज्ञोऽपत्यं राजनः (राजा की सन्तान जो क्षत्रियजाति की नहीं)[1]। यहां 'राजन् ङस्' से केवल अपत्य अर्थ में (जाति में नहीं) **तस्यापत्यम्** (१००४) द्वारा औत्सर्गिक अण् प्रत्यय ला कर सुँब्लुक् करने से 'राजन्+अ' इस अवस्था में **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा प्राप्त टिलोप का बाध कर प्रकृत **अन्** (१०२४) सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है—राजन। अब विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर रुँत्व-विसर्ग करने से 'राजनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब अपत्यार्थ में 'घ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

भिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्—इत्यमरः। राजन्यशब्दस्य प्रयोगो यथा—**राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने** (रघु० ४.८७)।

राजन्यरुधिराम्भोधिकृतत्रिषवणो मुनिः।

प्राप्तः परशुरामोऽयं न विद्मः किं करिष्यति ।। (अनर्घराघव ४.१७)

१. क्षत्रियाच्छूद्रायां वा तदन्यस्यां वा अनूढायामुत्पन्न इत्यर्थः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२५) **क्षत्राद् घः** ।४।१।१३८॥

क्षत्रियः । जातावित्येव । क्षात्रिरन्यत्र ॥

अर्थः—क्षत्र प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'घ' प्रत्यय हो । यह प्रत्यय भी जाति अर्थ में ही समझना चाहिये ।

व्याख्या—क्षत्रात् ।५।१। घः ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** की अनुवृत्ति आ रही है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(क्षत्रात्) षष्ठ्यन्त 'क्षत्र' प्रातिपदिक से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (घः) 'घ' प्रत्यय होता है । यह प्रत्यय भी पूर्ववत् जाति की वाच्यता में ही प्रवृत्त होता है । उदाहरण यथा—

क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः (क्षत्र[1] की सन्तति, क्षत्रियजाति का व्यक्ति) । यहां षष्ठ्यन्त क्षत्र प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में जाति की वाच्यता में **क्षत्राद् घः** (१०२५) सूत्र से तद्धितसंज्ञक 'घ' प्रत्यय, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से 'घ' के आदिवर्ण घ् को इय् आदेश हो कर भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'क्षत्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यदि केवल अपत्यमात्र अर्थ ही विवक्षित होगा जाति की विवक्षा न होगी तो **अत इञ्** (१०१४) से इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'क्षात्रिः' प्रयोग बनेगा । क्षत्रिय से शूद्रा आदि में उत्पन्न सन्तति 'क्षात्रि' कहाती है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अपत्यार्थ में ठक् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२६) **रेवत्यादिभ्यष्ठक्** ।४।१।१४६॥

अर्थः—रेवती आदि प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—रेवत्यादिभ्यः ।५।३। ठक् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । रेवतीशब्द आदिर्येषान्ते रेवत्यादयः, तेभ्यः=रेवत्यादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(रेवत्यादिभ्यः) रेवती आदि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

रेवत्यादि एक गण है ।[2] ठक् में ककार इत् है । अतः ठक् के परे रहते **किति च**

---

१. क्षत्रिय जाति के व्यक्ति को क्षत्र कहते हैं—
क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः । (रघु० २.५३)
असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा । (शाकुन्तल १.२१)

२. रेवत्यादिगण यथा—
रेवती । अश्वपाली । मणिपाली । द्वारपाली । वृकवञ्चिन् । वृकग्राह । कर्णग्राह । दण्डग्राह । कुक्कुटाक्ष । वृकबन्धु । चामरग्राह । ककुदाक्ष ॥

अपत्ये ठक् [ठ् → इक]

(१००१) द्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जायेगी। ठक् में ठकारोत्तर अकार भी उच्चारणार्थ है।[1] सूत्र का उदाहरण यथा -

रेवत्या अपत्यं रैवतिकः (रेवती का पुत्र)। 'रेवती ङस्' से अपत्य अर्थ में **स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०) से प्राप्त ढक् प्रत्यय का बाध कर **रेवत्यादिभ्यष्ठक्** (१०२६) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् तथा ठक् के अनुबन्धों का लोप करने पर—रेवती + ठ्। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०२७**) **ठस्येकः** ।७।३।५०॥

अङ्गात् परस्य ठस्येकादेशः स्यात्। रैवतिकः ॥

अर्थः—अङ्ग से परे ठ् को 'इक' आदेश हो।

व्याख्या—ठस्य ।६।१। इकः ।१।१। अङ्गात् ।५।१। (**अङ्गस्य** इस अधिकृत का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है)। अर्थः—(अङ्गात्) अङ्ग से परे (ठस्य) ठ् के स्थान पर (इकः) 'इक' आदेश हो जाता है। 'इक' आदेश अदन्त है।[2]

'रेवती + ठ्' यहां 'रेवती' अङ्ग है। इस अङ्ग से परे ठ् को प्रकृत **ठस्येकः** (१०२७) सूत्र से अदन्त 'इक' आदेश हो कर 'रेवती + इक' हुआ। ठक् कित् था अतः स्थानिवद्भाव से 'इक' आदेश भी कित् हुआ। इस कित् को निमित्त मान कर **किति च** (१००१) सूत्र से अङ्ग के आदि अच् एकार को ऐकार वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से रेवती के भसंज्ञक ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'रैवतिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. इस का विशेष विवेचन अग्रिमसूत्र की टिप्पण में देखें।

२. यहां महाभाष्य में दो पक्ष माने गये हैं। (१) वर्णपक्ष और (२) संघातपक्ष। वर्णपक्ष के अनुसार ठक् आदि प्रत्ययों में ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है, प्रत्यय केवल 'ठ्' वर्ण ही है। संघातपक्ष के अनुसार ठक् आदि प्रत्ययों में 'ठ' इस प्रकार सस्वर प्रत्यय माना जाता है। इन दोनों पक्षों में **ठस्येकः** (१०२७) द्वारा 'इक' आदेश हो जाता है। वर्णपक्ष में केवल ठ् को तथा संघातपक्ष में 'ठ' इस सस्वर समुदाय को इक आदेश किया जाता है। **ठस्येकः** (१०२७) के 'ठस्य' पद की भी वैसी ही व्याख्या की जाती है जैसे प्रत्यय का स्वरूप अभिमत होता है। वर्णपक्ष में ठस्य के ठकारोत्तर अकार को उच्चारणार्थ तथा संघातपक्ष में इसे प्रत्यय का अंश समझा जाता है। वर्णपक्ष में 'अङ्गात्' ग्रहण के कारण पठिता, पठितुम् आदि में ठ् को इक आदेश नहीं होता क्योंकि वह धात्ववयव होने से अङ्ग से परे नहीं है। संघातपक्ष में—**कणेष्ठः** (उणादि० १०३) कण्ठः, इत्यादियों में **उणादयो बहुलम्** (८४८) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण 'ठ' को इक आदेश नहीं होता।

गौरव और लाघव की दृष्टि से देखा जाये तो वर्णपक्ष ही लघु रहता है अतः कौमुदीकार ने इसी पक्ष का आश्रयण किया है।

इसीप्रकार—
अश्वपाल्या अपत्यम् आश्वपालिकः (अश्वपाली की सन्तान)।
द्वारपाल्या अपत्यं दौवारपालिकः[1] (द्वारपाली की सन्तान)।
कुक्कुटाक्षस्यापत्यं कौक्कुटाक्षिकः (कुक्कुटाक्ष की सन्तान)।
दण्डग्राहस्यापत्यं दाण्डग्राहिकः (दण्डग्राह की सन्तान)।

रेवती, अश्वपाली, द्वारपाली आदि से प्राप्त ढक् (१०२०) का तथा दण्डग्राह, कुक्कुटाक्ष आदि से प्राप्त इञ् (१०१४) प्रत्यय का यह अपवाद है।

अब यहां से आगे तद्राज-प्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ होता है—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०२८**)

जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् ।४।१।१६६।।

जनपदक्षत्रियवाचकाच्छब्दादञ् स्यादपत्ये। पाञ्चालः ।।

अर्थः—जनपदविशेष का वाचक शब्द यदि उस नाम वाले क्षत्रियविशेष का भी वाचक हो तो उस से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—जनपदशब्दात् ।५।१। क्षत्रियात् ।५।१। अञ् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** की अनुवृत्ति आ रही है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। जनपदवाचकः शब्दो जनपदशब्दः, तस्मात्=जनपदशब्दात्, शाकपार्थिवादित्वाद् मध्यमपदलोपितत्पुरुषः। अर्थः—(जनपदशब्दात् क्षत्रियात्) देश-वाचक शब्द जब उसी नामवाले क्षत्रिय का भी वाचक हो तो उस से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अञ्) अञ् प्रत्यय होता है।[2] अञ् में ञकार इत् है, 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है। ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि तथा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

'पञ्चाल' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) पञ्चालदेश (देश अर्थ में पञ्चाल आदि शब्द बहुवचनान्त होते हैं), (२) एक क्षत्रियविशेष नृप। इस प्रकार 'पञ्चालस्यापत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थ में 'पञ्चाल ङस्' से प्रकृत **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्रद्वारा अञ् प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्राति-पदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाञ्चालः' (पञ्चाल का पुत्र) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3] इसी प्रकार—

---

१. यहां **द्वारादीनां च** (७.३.४) सूत्र से वकार से पूर्व औकार का आगम हो जाता है।

२. जनपदवाची सन् यः क्षत्रियवाची ततोऽपत्ये अञ्। यद्यपि पञ्चालादयो जनपदे बहुवचनान्ताः, क्षत्रिये तु एकवचनान्ताः, तथापि प्रातिपदिकस्योभयवाचित्वमक्षत-मेवेति बोध्यम्।

३. स्त्री-अपत्य की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर 'पाञ्चाली' (पञ्चाल की पुत्री) बनेगा।

विदेहा जनपदः, विदेहो नाम क्षत्रियः। विदेहस्यापत्यं वैदेहः। स्त्रीत्व-विवक्षा में टिड्ढाणञ्० (१२५१) से ङीप् होकर—'वैदेही' (विदेह की पुत्री)।

इक्ष्वाकवो जनपदः, इक्ष्वाकुर्नाम क्षत्रियः। इक्ष्वाकोरपत्यम् ऐक्ष्वाकः[1] (इक्ष्वाकु का पुत्र)।

केकया जनपदः, केकयो नाम क्षत्रियः, केकयस्यापत्यं कैकेयः।[2] स्त्रीत्वविवक्षायां ङीपि—कैकेयी।

अब 'देश का राजा' इस अर्थ में भी अपत्यार्थ की तरह प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७३)

क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात् तस्य राजन्यपत्यवत्॥

पञ्चालानां राजा पाञ्चालः॥

अर्थः—क्षत्रियवाचक शब्द के समान जो जनपदवाचक शब्द, उस जनपदवाचक षष्ठयन्त से राजा अर्थ में अपत्यार्थ के समान तद्धित प्रत्यय हो।

व्याख्या—क्षत्रियसमानशब्दात्।५।१। जनपदात्।५।१। तस्य।५।१। (षष्ठयन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। राजनि।७।१। अपत्यवत् इत्यव्ययपदम्। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। क्षत्रियवचन एव शब्द उपचारेण क्षत्रिय इत्युक्तः, एवं जनपदवाचकशब्दो जनपद इति। क्षत्रियेण (क्षत्रियवाचकशब्देन) समानः शब्दो यस्य स तथोक्तः, तस्मात्=क्षत्रियसमानशब्दात्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(क्षत्रियसमानशब्दात्) क्षत्रियवाचकशब्द के समान (जनपदात्) जो जनपदवाची शब्द उस (तस्य=षष्ठयन्तात्) षष्ठयन्त से (राजनि) राजा अर्थ में (अपत्यवत्) अपत्यार्थ की तरह तद्धित प्रत्यय होता है।[3]

---

१. यहां इक्ष्वाकु+अञ्, इक्ष्वाकु+अ, आदिवृद्धि हो कर 'ऐक्ष्वाकु+अ' इस स्थिति में **दाण्डिनायन०** (६.४.१७४) सूत्र से टि (उ) के लोप के निपातन से 'ऐक्ष्वाकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

२. केकय+अञ्, केकय+अ, आदिवृद्धि होकर—कैकय+अ। अब **केकय-मित्रयु-प्रलयानां यादेरियः** (७.३.२) सूत्र से 'य' के स्थान पर 'इय आदेश हो जाता है—कैक इय+अ=कैकेय+अ। अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने पर 'कैकेयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

३. **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से आरम्भ होने वाले अञ् आदि प्रत्ययों की आगे **ते तद्राजाः** (१०३०) सूत्रद्वारा तद्राजसंज्ञा की जायेगी। टि, घि, घु की तरह एकमात्रिक छोटी संज्ञा न कर इन की 'तद्राज' इतनी बड़ी संज्ञा करना विशेष प्रयोजन के लिये है। 'तेषां राजानस्तद्राजाः' इस अन्वर्थ व्युत्पत्ति से यह सिद्ध होता है कि ये प्रत्यय जनपदवाची शब्दों से 'उन का राजा' अर्थ में भी होते हैं। प्रकृत वार्त्तिक का यही आधार समझना चाहिये। कहा भी है—**सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके।**

तात्पर्य यह है कि जो जनपदवाची शब्द उसी नाम वाले क्षत्रिय का भी वाचक हो तो उस से राजा अर्थ में अपत्यार्थ की तरह प्रत्यय होता है अर्थात् ऐसे शब्द से वही प्रत्यय हुआ करता है जो उस से अपत्यार्थ में होता है। दूसरे शब्दों में 'पञ्चालस्या-पत्यम्' इस विग्रह में जो प्रत्यय होता है वही प्रत्यय 'पञ्चालानां राजा' इस विग्रह में भी होता है।

पञ्चालानां राजा पाञ्चालः (पञ्चालदेश का राजा)। यहां पञ्चालशब्द जनपदवाची है और यह उसी नाम के क्षत्रिय का भी वाचक है अतः 'पञ्चाल आम्' इस षष्ठ्यन्त से राजा अर्थ में प्रकृत **क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) वार्त्तिक से अपत्यार्थवत् **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्रद्वारा प्रतिपादित तद्धितसंज्ञक अञ् प्रत्यय करने पर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पाञ्चालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—विदेहानां (जनपदानां) राजा वैदेहः। केकयानां (जनपदानां) राजा कैकेयः। इन की सिद्धि पूर्वोक्त अपत्यार्थप्रक्रिया की तरह समझनी चाहिये।

अब 'पूरु' शब्द से अपत्य अर्थ में तद्राज अण् प्रत्यय का विधान करते है—

[लघु०] वा०—(७४) पूरोरण् वक्तव्यः ॥

पौरवः ॥

अर्थः—पूरुशब्द से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—पूरोः ।५।१। अण् ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। **तस्यापत्यम्** का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (पूरोः) पूरु प्रातिपदिक से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय (वक्तव्यः) कहना चाहिये। उदाहरण यथा—

पूरोरपत्यं पौरवः (पूरु की सन्तान)। 'पूरु ङस्' से अपत्य अर्थ में **पूरोरण् वक्तव्यः** (वा० ७४) वार्त्तिक से अण् तद्धितप्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण तथा अन्त में **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश कर विभक्ति लाने से 'पौरवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

पूरुशब्द केवल क्षत्रियवाची है जनपदवाची नहीं, अतः पूर्वोक्त वार्त्तिक (वा० ७३) से राजा अर्थ में यह प्रत्यय नहीं होता। अपत्यार्थ में प्राग्दीव्यतीय अण् तो सामान्यतः प्राप्त था ही, इस के लिये यहां विशेष विधान क्यों किया गया है ? इस का उत्तर यह है कि **ते तद्राजाः** (१०३०) सूत्रद्वारा इस की तद्राजसंज्ञा हो सके इसलिये

---

१. **कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।**
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥ (शाकुन्तल १.२७)

अपत्य डयण्

इस का यहां पुनर्विधान किया गया है । तद्राजसंज्ञा के कारण बहुवचन में 'पूरव:' बनेगा 'पौरवा:' नहीं ।[1] इस का स्पष्टीकरण आगे **तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्** (१०३१) सूत्र पर देखें ।

अब पाण्डुशब्द से तद्राज ड्यण् (य) प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७५) पाण्डोर्ड्यण् ॥

पाण्ड्य: ॥

अर्थ:—पाण्डुशब्द से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक ड्यण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—पाण्डो: ।५।१। ड्यण् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है) । **प्रत्यय:, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिता:** इत्यादि पूर्वत: अधिकृत हैं । अर्थ:—(पाण्डो:) षष्ठ्यन्त पाण्डुशब्द से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धित:) तद्धितसंज्ञक (ड्यण्) ड्यण् प्रत्यय होता है । यह वार्तिक **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) के प्रसङ्ग में महाभाष्य में पढ़ा गया है अत: जनपदक्षत्रियवाची पाण्डु शब्द का ग्रहण होगा । युधिष्ठिर के पिता पाण्डु का अथवा श्वेतवर्णवाची पाण्डुशब्द का ग्रहण न होगा । युधिष्ठिर का पिता पाण्डुदेश का राजा न था किन्तु कुरुदेश का राजा था ।

ड्यण्प्रत्यय में **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा डकार तथा **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा णकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'य' मात्र शेष रहता है । इस का डित्करण **टे:** (२४२) सूत्रद्वारा टिलोपार्थ है । णित्करण 'पाण्ड्या भार्या यस्य स पाण्ड्याभार्य:' आदि में **स्त्रिया: पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा प्राप्त पुंवद्भाव को **वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्याऽरक्तविकारे** (६.३.३८[2]) से रोकने के लिये है । उदाहरण यथा—

पाण्डोरपत्यं पाण्ड्य: (पाण्डु की सन्तान) । यहां 'पाण्डु ङस्' से अपत्यार्थ में **पाण्डोर्ड्यण्** (वा० ७५) वार्तिक से ड्यण् प्रत्यय, डकार और णकार अनुबन्धों का लोप तथा अन्तर्वर्त्ती सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'पाण्डु+य' हुआ । अब **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्ति:** न्याय के अनुसार **तद्धितेष्वचामादे:** (९३८) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि तथा ड्यण् के डित् होने से **टे:** (२४२) सूत्रद्वारा पाण्डुशब्द की टि (उकार) का लोप कर विभक्ति लाने से 'पाण्ड्य:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'पाण्डूनां (जनपदानां) राजा' इस अर्थ में भी **क्षत्रियसमानशब्दात् जनपदात्तस्य**

---

१. जैसाकि महाभाष्य के व्याख्याता आचार्य कैयट प्रदीप में लिखते हैं—
सिद्धे प्राग्दीव्यतेऽणि तद्राजसंज्ञार्थमिदम् । पूरुशब्दो न जनपदवाची । अन्यथा द्व्यञ्मगध० (४.१.१६८) इत्यण: सिद्धत्वाद् वचनमनर्थकं स्यात् ।

२. अर्थ:—जब किसी शब्द के अन्त में रक्तार्थक या विकारार्थक से भिन्न अन्य कोई वृद्धिनिमित्तक तद्धित प्रत्यय किया गया हो तो उस स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता । यथा—स्रौघ्नीभार्य: ।

राजन्यपत्यवत् (वा० ७३) द्वारा **पाण्डोर्डचण्** (वा० ७५) वार्त्तिक से अपत्यवत् ड्यण् प्रत्यय हो कर 'पाण्ड्यः' (पाण्डुदेश का राजा) प्रयोग बनेगा।[1]

युधिष्ठिर के पितृवाचक 'पाण्डु' शब्द से अपत्यार्थ में प्राग्दीव्यतीय औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होकर सुँब्लुक्, **ओर्गुणः** (१००५) से गुण तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से अवादेश करने से 'पाण्डवः' प्रयोग सिद्ध होता है।[2]

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'ण्य' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२९) **कुरु-नादिभ्यो ण्यः** ।४।१।१७०॥

कौरव्यः। नैषध्यः॥

अर्थः—कुरुशब्द या नकारादिशब्द जब जनपद और क्षत्रिय दोनों के वाचक हों तो उन से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'ण्य' प्रत्यय हो।

व्याख्या—कुरु-नादिभ्यः ।५।३। ण्यः ।१।१। जनपदशब्देभ्यः ।५।३। क्षत्रियेभ्यः ।५।३। (**जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा)। **तस्यापत्यम्** सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। न् (नकारः) आदिर्येषान्ते नादयः, बहुव्रीहिसमासः। कुरुश्च नादयश्च कुरुनादयः, तेभ्यः=कुरुनादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(कुरुनादिभ्यः) कुरुशब्द या नकारादिशब्द यदि (जनपदशब्देभ्यः) जनपदवाची और साथ ही (क्षत्रियेभ्यः) क्षत्रिय-वाची भी हों तो उन षष्ठ्यन्तों से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ण्यः) 'ण्य' प्रत्यय हो जाता है।

'ण्य' का णकार **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है। आदिवृद्धि करने के लिये प्रत्यय को णित् किया गया है। कुरुशब्द से **द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्** (४.१.१६८) सूत्रद्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का तथा नकारादियों से **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) से प्राप्त अञ्प्रत्यय का यह अपवाद है।

कुरुशब्द से यथा—

कुरोरपत्यं कौरव्यः (कुरु की सन्तान)। कुरुशब्द जनपदविशेष का तथा क्षत्रिय-विशेष का भी वाचक है अतः अपत्य अर्थ में 'कुरु ङस्' से प्रकृतसूत्र **कुरुनादिभ्यो ण्यः** (१०२९) से तद्धितसञ्ज्ञक ण्यप्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) से उकार को ओकार गुण और अन्त में **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से यकारादि प्रत्यय के परे रहते ओकार को अव् आदेश कर विभक्ति लाने से 'कौरव्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

---

१. **दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।**
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ (रघु० ४.४९)

२. **माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।** (गीता १.१५)

३. **कौरव्यवंशदावेऽस्मिन् क एष शलभायते।** (वेणीसंहार १.१९)

कुरूणां (जनपदानां) राजा कौरव्यः (कुरुदेश का राजा)। इस अर्थ में भी **क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) इस वार्त्तिक से अपत्यार्थ की तरह 'ण्य' प्रत्यय हो कर उपर्युक्तप्रकार से रूप सिद्ध होगा।

नकारादिशब्दों से यथा—

निषधस्यापत्यं नैषध्यः (निषध की सन्तान)। निषधशब्द भी जनपदविशेष और क्षत्रियविशेष दोनों का वाचक है। अतः 'निषध ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृतसूत्र **कुरु-नादिभ्यो ण्यः** (१०२९) से तद्धित ण्यप्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि और अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'नैषध्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

निषधानां (जनपदानां) राजा नैषध्यः (निषधदेश का राजा)। इस अर्थ में भी **क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) वार्त्तिक से अपत्यार्थ की तरह ण्यप्रत्यय होकर उपर्युक्तप्रकारेण रूप सिद्ध होगा।

'नैषध' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है।[1] वहां 'दाशरथः' की तरह 'निषधानां जनपदानाम् अयम्' इस प्रकार शैषिक अण् प्रत्यय के द्वारा उपपत्ति समझनी चाहिये।

अब यहां एक अत्यन्त उपयोगी सूत्र जो लघुसिद्धान्तकौमुदी में व्याख्यात होने से छूट गया है निर्दिष्ट किया जा रहा है—

द्व्यञ्मगध-कलिङ्ग-सूरमसादण् ।४।१।१६८।।

अर्थः—दो अच् वाले प्रातिपदिकों एवं मगध, कलिङ्ग और सूरमस प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय होता है परन्तु ये प्रातिपदिक जनपद-क्षत्रिय-वाची होने चाहियें।

दो अचों वाले प्रातिपदिकों से यथा—

अङ्गस्यापत्यम् आङ्गः। अङ्गशब्द दो अचों वाला जनपदक्षत्रियवाची है अतः 'अङ्ग ङस्' से प्रकृतसूत्रद्वारा अण्प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि और अन्त्य अकार का लोप हो जाता है। 'अङ्गानां जनपदानां राजा' इस अर्थ में भी **क्षत्रियसमानशब्दात्०** (वा० ७३) इस पूर्वोक्त वार्त्तिकद्वारा अपत्यवत् अण् प्रत्यय हो कर यही 'आङ्गः' रूप बनेगा। इसीप्रकार—वङ्गस्यापत्यम्, वङ्गानां जनपदानां राजा वेति वाङ्गः। सुह्मस्या-पत्यम्, सुह्मानां जनपदानां राजा वेति सौह्मः। इत्यादि।

मगध आदि शब्दों से यथा—

मगधस्यापत्यं मगधानां जनपदानां राजा वेति मागधः।

---

१. **धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारै-**
र्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया
यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ।। (नैषध० ३.११६)

तद्राज [अञ्, अण्, इञ्, ण्य]

कलिङ्गस्यापत्यं कलिङ्गानां जनपदानां राजा वेति कालिङ्गः ।

सूरमसस्यापत्यं सूरमसानां जनपदानां राजा वेति सौरमसः ।

यह सूत्र **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्रद्वारा प्राप्त अञ्प्रत्यय का अपवाद है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा इन अञ् आदि प्रत्ययों की तद्राजसञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(१०३०) ते तद्राजाः ।४।१।१७२।।**

अञादयस्तद्राजसञ्ज्ञाः स्युः ।।

अर्थः—**जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्** (१०२८) आदि पूर्वोक्त सूत्रों से विहित अञ् आदि प्रत्यय तद्राजसञ्ज्ञक हों ।

व्याख्या—ते ।१।३। तद्राजाः ।१।३। अर्थः—(ते) वे प्रत्यय (तद्राजाः) तद्राज-सञ्ज्ञक होते हैं । 'ते' शब्द 'तद्' सर्वनाम के प्रथमा का बहुवचन है । तद्सर्वनाम सदा पूर्व का परामर्श कराया करता है अतः 'ते' से पूर्वनिर्दिष्ट **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से लेकर विहित अञ् आदि प्रत्ययों का ग्रहण होगा । इस ग्रन्थ में अञ्, अण्, इञ् और ण्य ये चार प्रत्यय तद्राजसञ्ज्ञक कहे गये हैं । अष्टाध्यायी तथा काशिका आदि में इन से अतिरिक्त कुछ अन्य तद्राजप्रत्ययों का भी उल्लेख पाया जाता है ।[1]

अब तद्राजसञ्ज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०३१)**

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।२।४।६२।।

बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । इक्ष्वाकवः । पञ्चालाः । इत्यादि ।।

अर्थः—बहुवचन में तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् हो जाता है, परन्तु वह बहुत्व तद्राज के अर्थद्वारा ही किया गया होना चाहिये । किञ्च स्त्रीलिङ्ग में यह लुक् प्रवृत्त नहीं होता ।

व्याख्या—तद्राजस्य ।६।१। बहुषु ।७।३। तेन ।३।१। एव इत्यव्ययपदम् । अस्त्रियाम् ।७।१। लुक् ।१।१। (**ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः** सूत्र से) । समासः—न स्त्री अस्त्री, तस्याम् = अस्त्रियाम्, नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(बहुषु) बहुवचन में वर्त्तमान (तद्राजस्य) तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का (लुक्) लुक् हो जाता है (तेन एव) परन्तु वह बहुत्व तद्राज के द्वारा ही उत्पन्न हुआ हो । किञ्च (अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में तद्राज प्रत्यय का लुक् नहीं होता । उदाहरण यथा—

पञ्चालस्य अपत्यानि, पञ्चालानां जनपदानां राजानो वेति पञ्चालाः (पञ्चाल की सन्तानें, अथवा पञ्चाल देश के राजा लोग) । यहां 'पञ्चाल ङस्' से अपत्य अर्थ में या 'पञ्चाल आम्' से राजा अर्थ में पूर्वोक्तप्रकारेण **जनपदशब्दात्**

---

१. इन प्रत्ययों की तद्राजसंज्ञा इसलिये की गई है क्योंकि ये प्रत्यय उन उन जनपदों के राजा के भी बोधक हैं ।

क्षत्रियादञ् (१०२८) सूत्र से अञ् प्रत्यय कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि और भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने से 'पाञ्चाल' यह तद्धितान्त शब्द निष्पन्न होता है। इस शब्द के अन्त में अञ् प्रत्यय की **ते तद्राजाः** (१०३०) से तद्राजसंज्ञा है। अब प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में इस पाञ्चालशब्द से जस् प्रत्यय ला कर 'पाञ्चाल+जस्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र **तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्** (१०३१) से तद्राजप्रत्यय का लुक् हो कर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्याय के अनुसार अञ्प्रत्ययनिमित्तक आदिवृद्धि आदि कार्यों के भी हट जाने से शुद्ध 'पञ्चाल' शब्द रह जाता है—पञ्चाल+जस्। पुनः **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से पूर्वसवर्ण-दीर्घ होकर पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पञ्चालाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार शस् आदि बहुवचनप्रत्ययों में भी तद्राजप्रत्यय का लुक् समझना चाहिये।

यह सूत्र केवल बहुवचन में ही प्रवृत्त होता है एकवचन और द्विवचन में नहीं। पाञ्चालशब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	पाञ्चालः	पाञ्चालौ	पञ्चालाः
द्वितीया	पाञ्चालम्	"	पञ्चालान्
तृतीया	पाञ्चालेन	पाञ्चालाभ्याम्	पञ्चालैः
चतुर्थी	पाञ्चालाय	"	पञ्चालेभ्यः
पञ्चमी	पाञ्चालात्	"	"
षष्ठी	पाञ्चालस्य	पाञ्चालयोः	पञ्चालानाम्
सप्तमी	पाञ्चाले	"	पञ्चालेषु
सम्बोधन	हे पाञ्चाल !	हे पाञ्चालौ !	हे पञ्चालाः !

इसीप्रकार—

(१) पौरवः, पौरवौ, पुरवः आदि।
(२) वैदेहः, वैदेहौ, विदेहाः आदि।
(३) कैकेयः, कैकेयौ, केकयाः आदि।
(४) कौरव्यः, कौरव्यौ, कुरवः आदि।
(५) नैषध्यः, नैषध्यौ, निषधाः आदि।
(६) आङ्गः, आङ्गौ, अङ्गाः आदि।
(७) वाङ्गः, वाङ्गौ, वङ्गाः आदि।
(८) पाण्ड्यः, पाण्ड्यौ, पाण्डवः आदि।
(९) सौह्मः, सौह्मौ, सुह्माः आदि।
(१०) मागधाः, मागधौ, मगधाः आदि।
(११) कालिङ्गः, कालिङ्गौ, कलिङ्गाः आदि।

(१२) सौरमसः, सौरमसौ, सूरमसाः आदि ।[1]

इक्ष्वाकोरपत्यानि, इक्ष्वाकूणां जनपदानां राजानो वेति इक्ष्वाकवः (इक्ष्वाकु की सन्तानें अथवा इक्ष्वाकु देश के राजा लोग)। इक्ष्वाकुशब्द क्षत्रियविशेष तथा जनपदविशेष दोनों का वाचक है। अतः षष्ठ्यन्त इक्ष्वाकुशब्द से **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से अपत्य या राजा अर्थ में अञ् तद्धितप्रत्यय ला कर सुँब्लुक् तथा आदिवृद्धि करने से 'ऐक्ष्वाकु+अ' हुआ। अब **दाण्डिनायन-हास्तिनायन-आथर्वणिक०** (६.४.१७४) सूत्र में निपातन के कारण टि का लोप कर देने से 'ऐक्ष्वाक्+अ=ऐक्ष्वाक' बन जाता है। ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकौ, इक्ष्वाकवः [बहुवचन में प्रकृत **तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्** (१०३१) सूत्रद्वारा तद्राजसंज्ञक अञ्प्रत्यय का लुक् हो कर शुद्ध 'इक्ष्वाकु' शब्द रह जाता है। तब बहुवचन में शम्भुशब्दवत् सुँबन्त-प्रक्रिया (**जसि च** १६८ से गुण, अवादेश तथा रुँत्वविसर्ग) करने से 'इक्ष्वाकवः' बनता है]।[2]

तेनैवेति किम् ? प्रियपाञ्चालाः ।

तद्राजप्रत्यय का लुक् तभी होता है जब तद्राजप्रत्यय के अर्थ का ही बहुत्व विवक्षित हो। यदि बहुत्व किसी अन्य का विवक्षित होगा तो यह लुक् न होगा। यथा—प्रियः पाञ्चालो येषां ते प्रियपाञ्चालाः। यहां अन्यपदप्रधानबहुव्रीहिसमास में अन्यपद के बहुत्व को बतलाने के लिये ही बहुवचन का प्रयोग हुआ है, तद्राजसंज्ञक अञ्प्रत्यय के द्वारा तो एकत्व का ही बोध हो रहा है, अतः तद्राजप्रत्यय का लुक् नहीं होता। यदि तद्राज का लुक् हो जाता तो 'प्रियपञ्चालाः' ऐसा अनिष्ट रूप बनता।

अस्त्रियाम्— स्त्रीलिङ्ग में तद्राजप्रत्यय का लुक् नहीं होता। पाञ्चाली, पाञ्चाल्यौ, पाञ्चाल्यः। स्त्रीलिङ्ग में अञ्प्रत्ययान्त 'पाञ्चाल' शब्द से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाञ्चाल्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब कम्बोजशब्द से सब वचनों में तद्राजप्रत्यय का लुक् विधान करते हैं—

---

१. प्रश्न—**कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलम्** (वेणीसंहार १.२५), **तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे** (रघु० ४.४९) इत्यादि स्थलों पर बहुवचन में 'कौरव्याः' और 'पाण्ड्याः' में तद्राजप्रत्यय का लुक् हो कर 'कुरवः' और 'पाण्डवः' बनना चाहिये था, ऐसा क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—कौरव्ये पाण्ड्ये वा साधवः इस प्रकार के विग्रह में यहां **तत्र साधुः** (११३५) से यत् प्रत्यय हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप तथा **आपत्यस्य च तद्धितेनाति** (६.४.१५१) से यकार का लोप करने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध करने चाहियें। अन्यथा ये प्रयोग अशुद्ध ही होंगे।

२. **इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ।** (रघु० १.७२)
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् । (रघु० ३.७०)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३२) **कम्बोजाल्लुक्** ।४।१।१७३।।

अस्मात् तद्राजस्य लुक् स्यात् । कम्बोजः । कम्बोजौ ।।

अर्थः—कम्बोजशब्द से परे तद्राजप्रत्यय का लुक् हो ।

व्याख्या—कम्बोजात् ।५।१। लुक् ।१।१। तद्राजस्य ।६।१। (**ते तद्राजाः** सूत्र से विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर के) । अर्थः—(कम्बोजात्) कम्बोजशब्द से परे (तद्राजस्य) तद्राजप्रत्यय का (लुक्) लुक् हो जाता है ।

पूर्वसूत्र से तद्राज का बहुवचन में लुक् प्राप्त था परन्तु इस सूत्र से एकवचन और द्विवचन में भी लुक् हो जायेगा ।

कम्बोजशब्द भी जनपदक्षत्त्रियवाची है, अतः **जनपदशब्दात् क्षत्त्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से अपत्यार्थ में अञ्प्रत्यय और राजा अर्थ में भी **क्षत्त्रियसमान-शब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) वार्त्तिक से अपत्यवत् वही प्रत्यय हो जाता है । उस अञ्प्रत्यय की **ते तद्राजाः** (१०३०) से तद्राजसंज्ञा हो कर प्रकृत **कम्बोजाल्लुक्** (१०३२) सूत्र से उस का सब वचनों में लुक् हो जाता है । कम्बोजस्यापत्यं कम्बोजानां जनपदानां राजा वा कम्बोजः । कम्बोजस्यापत्ये कम्बोजानां जनपदानां राजानौ वा कम्बोजौ । कम्बोजस्यापत्यानि कम्बोजानां जनपदानां राजानो वा कम्बोजाः ।

अब इसी सूत्र के कार्यक्षेत्र को बढ़ाते हुए अग्रिमवार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(७६) **कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्** ।।

चोलः । शकः । केरलः । यवनः ।।

अर्थः—कम्बोज आदि शब्दों से तद्राजप्रत्यय का लुक् कहना चाहिये ।

व्याख्या—पूर्वसूत्र में केवल कम्बोजशब्द से ही तद्राजप्रत्यय का लुक् कहा गया था । परन्तु इस वार्त्तिक से कम्बोज की तरह कुछ अन्य प्रसिद्ध शब्दों से भी तद्राज के लुक् का विधान किया जाता है । यथा -

(१) चोलस्यापत्यं चोलानां जनपदानां राजा वा चोलः । चोलौ । चोलाः ।

(२) शकस्यापत्यं शकानां जनपदानां राजा वा शकः । शकौ । शकाः ।

(३) केरलस्यापत्यं केरलानां जनपदानां राजा वा केरलः । केरलौ । केरलाः ।

(४) यवनस्यापत्यं यवनानां जनपदानां राजा वा यवनः । यवनौ । यवनाः ।

चोल, शक, केरल और यवन शब्द जनपदक्षत्त्रियवाची हैं । अतः चोल और शक शब्दों से **द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्** (४.१.१६८) से अण् प्रत्यय तथा केरल और यवन शब्दों से **जनपदशब्दात् क्षत्त्रियादञ्** (१०२८) से अञ् प्रत्यय होता है । राजा अर्थ में भी **क्षत्त्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) वार्त्तिक से अपत्यार्थवत् वही प्रत्यय हो जाता है । प्रकृत **कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्** (वा० ७६) वार्त्तिक से उन तद्राजप्रत्ययों का सब वचनों में लुक् हो कर उपर्युक्त रूप सिद्ध होते हैं ।

रघु और यदु शब्दों का लक्षणा से क्रमशः राघवों और यादवों में प्रयोग होता है। अतएव **रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्** (रघु० १.६), **निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चित्** (माघ० ३.३६) आदि प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं। इन में तद्राज-प्रत्यय तथा उस के लुक् की कल्पना करना अनुचित है क्योंकि रघु और यदु शब्द जनपदवाची नहीं केवल क्षत्रियवाची हैं।

अभ्यास [२]

(१) निम्नस्थ तद्धितान्त रूपों की विग्रह दर्शाते हुए ससूत्र सिद्धि करें—
१. पौष्करसादिः। २. श्वाफल्कः। ३. सौपर्णेयः। ४. गार्ग्यः। ५. औडुलोमिः। ६. कानीनः। ७. नैषध्यः। ८. वासुदेवः। ९. औपगवः। १०. षाण्मातुरः। ११. बैदः। १२. वैनतेयः। १३. स्त्रैणः। १४. शैवः। १५. वासिष्ठः। १६. ऐक्ष्वाकः। १७. पाञ्चालः। १८. बाहविः। १९. राजन्यः। २०. दाक्षिः। २१. भाद्रमातुरः। २२. पौत्रः। २३. कम्बोजः। २४. वैश्वामित्रः। २५. वत्साः। २६. दैत्यः।

(२) निम्नस्थ विग्रहों में उत्पन्न होने वाले तद्धितान्त प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. केकयानां राजा। २. अश्वपतेरपत्यम्। ३. पाण्डोरपत्यम्। ४. रेवत्या अपत्यम्। ५. दुहितुरपत्यम्। ६. श्वशुरस्यापत्यम्। ७. दशरथस्यापत्यम्। ८. राज्ञोऽपत्यम्। ९. युवतेरपत्यम्। १० इक्ष्वाकोरपत्यानि। ११. द्वयोर्मात्रोरपत्यम्। १२. पुंसोऽपत्यम्। १३. कुरूणां राजा। १४. उडुलोम्नोऽपत्यानि। १५. उत्सस्यापत्यम्।

(३) पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करें—
१. राजन्यः—राजनः। २. क्षत्रियः—क्षात्रिः। ३. नैषध्यः—नैषधः। ४. दाशरथिः—दाशरथः। ५. पाञ्चालः—पञ्चालाः। ६. गार्गिः—गार्ग्यः। ७. गार्ग्यः—गार्ग्यायणः। ८. **यञञोश्च**—**यञिञोश्च**।

(४) अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य और युवापत्य इन तीनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए निम्नस्थ शब्दों का तीनों प्रकार के अपत्यप्रत्ययों में रूप निरूपण करें—
उपगु, विनता, अश्वपति, दशरथ, वत्स, गर्ग, शिव, बाहु, उडुलोमन्, दक्ष।

(५) जनपदक्षत्रियवाची शब्दों का क्या अभिप्राय है? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(६) 'तद्राज' किसे कहते हैं? इतनी बड़ी संज्ञा करने का क्या प्रयोजन? इस के कोई से पाञ्च उदाहरण दीजिये।

(७) **ठस्येकः** सूत्र पर भाष्योक्त वर्णपक्ष तथा संघातपक्ष का विवेचन करें।

(८) प्रत्यय के आदि में स्थित फ्, ढ्, ख्, छ्, घ् वर्णों के स्थान पर क्या-क्या आदेश होते हैं ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(९) निम्नस्थ तद्धितान्तों की सब विभक्तियों में रूपमाला लिखें—
गार्ग्य, औडुलोमि, पाञ्चाल, कौरव्य, मागध, बैद ।

(१०) अधोनिर्दिष्ट सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् । २. जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् । ३. मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः । ४. स्त्रीपुंसाभ्यां० । ५. एको गोत्रे । ६. ऋष्यन्धकवृष्णि० । ७. अनृष्यानन्तर्ये० । ८. गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् । ९. ये चाऽभावकर्मणोः । १०. अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् । ११. द्व्यच्मगध० । १२. तस्यापत्यम् । १३. बाह्वादिभ्यश्च । १४. स्त्रीभ्यो ढक् । १५. ओर्गुणः । १६. कन्यायाः कनीन च । १७. अन् । १८. अत इञ् । १९. क्षत्राद् घः । २०. कुरुनादिभ्यो ण्यः ।

(११) निम्नस्थ वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य० । २. लोम्नोऽपत्येषु० । ३. राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् । ४. कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । ५. पूरोरण् वक्तव्यः ।

(१२) अधोलिखित प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—
[क] सुमित्राया अपत्यम्—यहां ढक् क्यों नहीं होता ?
[ख] 'प्रियगार्ग्याः' में **यञञोश्च** की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?
[ग] 'गार्ग्यायणः' में दो प्रत्यय कैसे हो जाते हैं ?
[घ] कार्ष्णिः, प्राद्युम्निः, शौरिः—इन में वृष्ण्यण् क्यों नहीं होता ?
[ङ] **अत इञ्** में तपरकरण का क्या प्रयोजन है ?
[च] स्त्रीलिङ्ग के बहुवचन में तद्राज का लुक् होता है या नहीं ?
[छ] **पाण्डोर्डयण्** में 'पाण्डु' शब्द से किस का ग्रहण होता है ?
[ज[**ये चाभावकर्मणोः** में 'अभावकर्मणोः' क्यों कहा गया है ?
[झ] 'यौधिष्ठिरिः' में कुरु-अण् क्यों नहीं होता ?
[ञ] डयण् में अनुबन्धद्वय का क्या प्रयोजन है ?
[ट] गाङ्गः, गाङ्गेयः, गाङ्गायनिः —इन में कौन सा रूप ठीक है ?
[ठ] 'स्त्रिया अपत्यम्' इस विग्रह में **स्त्रीभ्यो ढक्** क्यों नहीं होता ?
[ड] पुत्र की गोत्रसंज्ञा क्यों नहीं होती ?

[लघु०] इत्यपत्याधिकारः ॥

(यहां पर अपत्यप्रकरण का विवेचन समाप्त होता है ।)

———:०:———

अथ रक्ताद्यर्थकाः

अब रक्ताद्यर्थकप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में 'रक्त' अर्थात् 'रङ्गा हुआ' आदि अर्थों में तद्धितप्रत्ययों का विधान किया गया है अतः इस प्रकरण का नाम रक्ताद्यर्थक रख दिया गया है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३३) **तेन रक्तं रागात्** ।४।२।१।।

अण् स्यात्। रज्यतेऽनेनेति रागः। कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्॥

अर्थः—तृतीयान्त रङ्गवाचकशब्द से 'रङ्गा हुआ' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। ('कषायेण रक्तम्' इत्यादि में 'कषायेण' आदि का अनुकरण 'तेन' शब्द से किया गया है। यहां इस अनुकरण से परे पञ्चमी का छान्दस लुक् समझना चाहिये)। रक्तम् ।१।१। रागात् ।५।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। रज्यतेऽनेनेति रागः—यह रागशब्द की व्युत्पत्ति मूल में दर्शाई गई है। जिस द्रव्य से रङ्गा जाये उसे 'राग' कहते हैं। यथा—नील, पीत, कषाय आदि रञ्जकद्रव्य 'राग' हैं। **रञ्जँ रागे** (रङ्गना, भ्वा० उभय०) धातु से करण में घञ् प्रत्यय, **घञि च भावकरणयोः** (८५३) से नकार का लोप, **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से जकार को कुत्वेन गकार तथा प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि करने से 'रागः' पद निष्पन्न होता है। अन्वयः—तेन रागात् रक्तम् (इत्यर्थे[1]) अण् तद्धितः प्रत्ययः। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त (रागात्) रञ्जन का साधन जो द्रव्य तद्वाचक प्रातिपदिक से (रक्तमित्यर्थे) 'रङ्गा हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

कषायेण रक्तं वस्त्रं[2] काषायम् (गेरुए रंग से रङ्गा हुआ वस्त्र आदि)। यहां 'कषाय टा' इस राग (रङ्ग) वाचक तृतीयान्त सुँबन्त से 'रङ्गा हुआ' इस अर्थ में **तेन रक्तं रागात्** (१०३३) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक-

---

१. अर्थविधायक तद्धितसूत्रों में 'इत्यर्थे' का प्रायः अध्याहार कर लिया जाता है। यथा—**तस्यापत्यम्** (१००४), अपत्यमित्यर्थे। **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४), युक्त इत्यर्थे। कई लोग अर्थप्रतिपादक शब्द को अनुकरण मान कर उस से परे सप्तमी का सौत्र लुक् मानते हैं। उन की पद्धति **तस्यापत्यम्** (१००४) सूत्र पर दर्शा चुके हैं।

२. 'वस्त्रम्' लगाना आवश्यक नहीं। यह विशेष्य को जतलाने के लिये ही लगाया गया है। इस के स्थान पर अन्य यथेच्छ कोई सा विशेष्य लगाया जा सकता है। यथा—माञ्जिष्ठः पटः। माञ्जिष्ठी पताका।

सञ्ज्ञा (११७) तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयो:** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक् करने से 'कषाय+अ' हुआ। अब **तद्धितेष्वचामादे:** (९३८) से आदि-वृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर—काषाय्+अ= 'काषाय' शब्द निष्पन्न होता है। विशेष्य (वस्त्रम्) के अनुसार नपुंसकलिङ्ग में विभक्ति और वचन लाने से 'काषायम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसीप्रकार—

कुङ्कुमेन रक्तं कौङ्कुमं वस्त्रम् (केसरी रङ्ग से रङ्गा हुआ वस्त्र)।

कुसुम्भेन रक्तं कौसुम्भं वस्त्रम् (कुसुम्भपुष्प से रङ्गा गया वस्त्र)।

मञ्जिष्ठया रक्तं माञ्जिष्ठं वस्त्रम् (मजीठ से रङ्गा वस्त्र)।[2]

स्त्रीलिङ्ग में काषाय आदि अण्प्रत्ययान्त शब्दों से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप हो जाता है—माञ्जिष्ठी पताका।

सूत्र में यदि 'रागात्' न कहते तो 'देवदत्तेन रक्तं दैवदत्तं वस्त्रम्' इस प्रकार कर्तृतृतीयान्त देवदत्त शब्द से भी 'रङ्गा हुआ' अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर अनिष्ट रूप बन जाता।

नोट—क्वचित् उपचार (सादृश्य) के कारण भी ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। यथा—काषायौ गर्दभस्य कर्णौ। हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ। यहां पर 'काषायाविव काषायौ, हारिद्राविव हारिद्रौ' इस प्रकार सादृश्यमूलक प्रयोग समझने चाहियें।[3]

'नक्षत्र से युक्त काल' इस अर्थ में अब तद्धित प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०३४**) **नक्षत्रेण युक्तः कालः ।४।२।३।।**

अण् स्यात् ।।

अर्थः—नक्षत्रवाचक तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'युक्त' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो यदि वह 'युक्त' काल हो तो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन रक्तं रागात्** सूत्र से। यहां तृतीयान्त के अनुकरण

---

१. इस का साहित्यगत प्रयोग यथा—

यो निस्सृतोऽपि न च निःसृतकामरागः
काषायमुद्वहति यो न च निष्कषायः।
पात्रं बिभर्त्यथ गुणैर्न च पात्रभूतो
लिङ्गं वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षुः ।। (सौन्दरनन्द ७.४८)

२. **माञ्जिष्ठं वसनमिवाम्बु निर्बभासे।** (किरात० ८.८६)

३. **मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठिकम्** (उत्तररामचरित ४.२०) के इस पाठ में 'माञ्जिष्ठिकम्' में ठक् प्रत्यय किया गया है जो व्याकरणसम्मत नहीं। यहां 'माञ्जिष्ठकम्' पाठ होना चाहिये। 'माञ्जिष्ठ' बना कर स्वार्थे कन् समझना चाहिये।

से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । नक्षत्रेण ।५।१। (यहां 'पुष्येण युक्तः' इत्यादियों में 'पुष्येण' आदि का अनुकरण 'नक्षत्रेण से किया गया है । इस से परे भी पूर्ववत् पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । युक्तः ।१।१। कालः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** के अधिकार से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त (नक्षत्रेण = नक्षत्रवाचिनः) नक्षत्रवाची प्रातिपदिक से ('युक्तः कालः' इत्यर्थे) युक्त = सम्बद्ध काल अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

भारतीय ज्योतिश्शास्त्र में अश्विनी आदि २७ नक्षत्र (तारामण्डल) प्रसिद्ध हैं।[1] यहां नक्षत्रशब्द से नक्षत्रयुक्त चन्द्र का ग्रहण होता है, केवल नक्षत्रों का नहीं । क्योंकि काल को केवल नक्षत्रों के साथ युक्त या सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता ।[2] उदाहरण यथा—

---

१. चन्द्रमा आकाश में जिस मार्ग से होता हुआ पृथ्वी की २७ या २८ दिनों में परिक्रमा पूरी करता है उस पथ में ताराओं के अनेक समूह पड़ते हैं उन्हें नक्षत्र कहते हैं । इन ताराओं के जिस जिस समूह से जैसी जैसी आकृति का भान होता है उस उस समूह का भी प्रायः वैसा वैसा नाम रख लिया गया है । यथा घोड़ों की आकृति के समान प्रतीत होने वाले ताराओं का पुञ्ज 'अश्विनी' कहाता है । हरिण (मृग) के सिर के समान आकृतिवाला 'मृगशिरा' आदि । ये नक्षत्र न तो हमारे सौरजगत् के अन्तर्गत हैं और न ही हमारे सूर्य की परिक्रमा करते हैं । ये नक्षत्र हमारी पृथ्वी, चन्द्र वा सूर्य से अरबों मील दूर हैं । खगोल में चन्द्रमा का भ्रमणपथ यद्यपि इन ताराओं के बीच में नहीं है तथापि इन ताराओं के पुञ्ज के समीप से हो कर गया हुआ सा प्रतीत होता है, बस इसी प्रतीति से चन्द्रमा के सम्पूर्ण भ्रमणपथ को इन २७ नक्षत्रों में विभक्त कर देते हैं ।

२. यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन नक्षत्रों के साथ काल कैसे युक्त हो सकता है ? काल सर्वव्यापक है । वह इन नक्षत्रों के साथ सदा से युक्त है ही । युक्तता या सम्बद्धता तो उस में पाई जा सकती है जिस का कभी पृथग्भाव भी हो । यहां तो ऐसी कोई बात ही नहीं । इस का समाधान यह है कि सामीप्यसम्बन्ध से चन्द्रमा नक्षत्रों के साथ युक्त या वियुक्त होता रहता है । प्रतिदिन चन्द्रमा पूर्व-दिन के नक्षत्र से कुछ दूर हट कर दूसरे नये नक्षत्र के निकट आ जाता है । यही क्रम मास भर चलता रहता है । इसप्रकार यहां सूत्र में 'नक्षत्र' शब्द से नक्षत्रयुक्त चन्द्र का ग्रहण होने से उस के साथ काल युक्त या वियुक्त होता रहता है, कोई दोष नहीं आता । अतः 'पौषमहः' का अर्थ होता है—पुष्यनक्षत्र से युक्त जो चन्द्र, उस चन्द्रवाला दिन है अर्थात् इस दिन के समय चन्द्रमा पुष्यनक्षत्र से युक्त है । इसीप्रकार—पौषी रात्रिः अर्थात् इस रात्रि के समय चन्द्रमा पुष्यनक्षत्र से युक्त है । इस तरह काल की नक्षत्रों के साथ युक्तता या वियुक्तता समझी जाती है ।

मघया युक्तं माघमहः (मघानक्षत्र से युक्त चन्द्र वाला दिन अर्थात् इस दिन के समय चन्द्रमा मघानक्षत्र से युक्त है)। यहां अहः (दिन) यह काल मघानक्षत्र से युक्त है। अतः 'मघा टा' इस तृतीयान्त नक्षत्रवाची प्रातिपदिक से **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४) इस प्रकृतसूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् (७२१), आदिवृद्धि (६३८) तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप करने से 'माघ' शब्द निष्पन्न होता है। अब कालवाची विशेष्य 'अहः' के अनुसार नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा का एकवचन लाने से 'माघम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र के सुप्रसिद्ध उदाहरण 'पौषमहः' में यकारलोप करने के लिये अग्रिम-वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा० —(७७)

तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि यलोप इति वाच्यम्।

पुष्येण युक्तं पौषमहः॥

अर्थः—नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय परे हो तो तिष्य और पुष्य शब्दों के यकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—तिष्यपुष्ययोः।६।२। नक्षत्राऽणि।७।१। यलोपः।१।१। इति इत्यव्ययपदम्। वाच्यम्।१।१। नक्षत्रस्य अण् नक्षत्राण्, तस्मिन् =नक्षत्राऽणि, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। यस्य (यकारस्य) लोपः यलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(नक्षत्राऽणि) नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय परे हो तो (तिष्यपुष्ययोः) तिष्य और पुष्य शब्दों के (यलोपः) यकार का लोप हो जाता है (इति) ऐसा (वाच्यम्) कहना चाहिये।

तिष्यशब्द के यकार का **सूर्य-तिष्याऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः** (६.४.१४९)[1] सूत्र से प्रत्येक तद्धित प्रत्यय में लोप प्राप्त था, अब इस से नियम किया जाता है कि नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय में ही लोप हो अन्यत्र न हो। पुष्यशब्द के यकार का लोप

---

१. इस सूत्र का सरलार्थ है—ईकार या तद्धित परे हो तो भसंज्ञक अङ्ग की उपधा के यकार का लोप हो जाता है, यदि यह यकार सूर्य, तिष्य, अगस्त्य या मत्स्य शब्दों का अवयव हो तो।

परन्तु कात्यायन ने इस सूत्र का तीन वार्त्तिकों में विषयविभाजन कर दिया है। १. **सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च** (वा० १०४)। २. **मत्स्यस्य ङ्याम्** (वा० ११२)। ३. **तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्** (वा० ७७)। अत एव नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में लिखा है—

नक्षत्रगामिन्यणि तिष्यपुष्ययो-
श्छे ङ्यां च लोपोऽयमगस्त्यसूर्ययोः।
ङ्यामेव मत्स्यस्य भवेदितीरणाद्
व्यनाशि सूत्रं प्रविभज्य वार्त्तिके॥ (उपजातिवृत्तम्)

किसी सूत्र से प्राप्त न था अतः उस का इस से अपूर्व विधान समझना चाहिये ।

उदाहरण यथा—

पुष्येण युक्तं पौषम् अहः (ऐसा दिन जिस में चन्द्रमा पुष्यनक्षत्र से युक्त है) । यहां पुष्यनक्षत्र से 'अहः' (दिन) इस काल को युक्त कहा गया है अतः 'पुष्य टा' इस तृतीयान्त नक्षत्रवाचक प्रातिपदिक से **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४) सूत्रद्वारा तद्धित-संज्ञक अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक्, अण् प्रत्यय के णित्त्व के कारण आदिवृद्धि तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'पौष्य्+अ' हुआ । अब नक्षत्राण् के परे रहते प्रकृत **तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि यलोप इति वाच्यम्** (वा० ७७) वार्त्तिक से यकार का लोप करने से 'पौष' शब्द निष्पन्न हुआ । विशेष्य 'अहः' के अनुसार नपुंसक के एकवचन में विभक्तिकार्य करने पर 'पौषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार —पुष्येण युक्ता पौषी रात्रिः । यहां 'पौष' रूप बनाने के बाद स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'पौषी' रूप बनता है ।

तिष्येण युक्तं तैषम् अहः । तैषी रात्रिः । तिष्य और पुष्य दोनों समानार्थक हैं ।

कृत्तिकाभिर्युक्तं कार्त्तिकम् अहः । माघेन युक्तं माघम् अहः । माघी रात्रिः ।

नक्षत्रेण युक्तः कालः (१०३४) सूत्र में 'कालः' इसलिये कहा गया है कि 'पुष्येण युक्तः शशी' इत्यादि में अण् न हो जाये ।

नक्षत्रेणेति किम् ? चन्द्रेण युक्ता रात्रिः । यहां काल का चन्द्र के साथ योग है, नक्षत्र के साथ नहीं । अतः अण् नहीं होता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा नक्षत्रसम्बन्धी अण् के लुप् का विधान करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०३५) लुबविशेषे ।४।२।४।।**

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते । अद्य पुष्यः ।।

अर्थः—पूर्वसूत्र (१०३४) से विहित अण् प्रत्यय का लुप् हो यदि साठ-घड़ी वाले[1] काल अर्थात् अहोरात्र का अवान्तरभेद व्यक्त न हो रहा हो ।

---

१. आधुनिक २४ मिनट के समय को ज्योतिश्शास्त्र में 'घटी' 'घटिका' या 'दण्ड' कहा जाता है । ६० घटियों या दण्डों का एक अहोरात्र (दिन+रात) होता है । जैसा कि कहा है—

गुर्वक्षरैः खेन्दुमितैरसुस्तैः
षड्भिः पलं तैर्घटिका खषड्भिः ।
स्याद्वा घटीषष्टिरहः.........।। (सि० शि०)

अर्थात् १० गुरु-अक्षरों के उच्चारणकाल को प्राण, छः प्राणों को पल, ६० पलों को दण्ड या घटिका और ६० घटिकाओं का एक अहोरात्र होता है ।

व्याख्या—लुप् ।१।१। अविशेषे ।७।१। अणः ।६।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से आकर षष्ठयन्ततया विपरिणत हो जाता है) । अर्थः (अविशेषे) काल का विशेष-भेद गम्य न हो तो (अणः) पूर्वसूत्रद्वारा विहित नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय का (लुप्) लुप हो जाता है । ध्यान रहे कि **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** (१८९) द्वारा प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक्, श्लु और लुप् संज्ञाएं की गई हैं ।

यहां 'काल' से चौबीस घण्टों अथवा साठ घटिकाओं (घड़ी) वाले अहोरात्ररूप काल का ग्रहण अभिप्रेत है । क्योंकि चन्द्रमा प्रायः इतने समय तक एक नक्षत्र से युक्त रहता है । इस अहोरात्ररूप काल के अवान्तर भेद हैं— रात्रिः, दिनम्, प्रातः, सायम् आदि । 'अद्य' आदि शब्दों से काल के विशेष या अवान्तर भेद का कुछ पता नहीं चलता, केवल अहोरात्ररूप सामान्य काल का ही पता चलता है । ऐसी अवस्था में जब काल का अवान्तरभेद गम्य न हो केवल उसका सामान्यतः निर्देश ही हो तो पूर्वसूत्र (१०३४) से विहित नक्षत्र-अण् प्रत्यय का लुप् (अदर्शन) हो जाता है, केवल प्रकृति ही शेष रह जाती है । तब उस में लिङ्ग और वचन, भी प्रकृतिवत् होते हैं (१०६१) ।

उदाहरण यथा—

अद्य पुष्यः (आज पुष्यनक्षत्र से युक्त जो चन्द्र, तत्सम्बद्ध काल है) । पुष्येण युक्तः पुष्यः कालोऽद्य वर्त्तते इति भावः । यहां काल का निर्देश सामान्यतः 'अद्य' से किया गया है, उस का विशेष अर्थात् अवान्तरभेद दिन, रात, प्रातः, सायम् आदि कुछ नहीं बताया गया ।[1] अतः 'पुष्य टा' से परे **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय लाने पर सुँब्लुक् (७२१) कर अण् प्रत्यय का भी प्रकृत **लुबविशेषे** (१०३५) सूत्र से लुप् हो जाता है—पुष्य । पुनः **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) द्वारा अण् को निमित्त मान कर **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि की प्राप्ति होती है परन्तु उस का **न लुमताङ्गस्य** (१९१) से निषेध हो जाता है । अब **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** (१०६१) सूत्रद्वारा पुष्यशब्द से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन करने से 'पुष्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अद्य कृत्तिकाः । अद्य मघा । **मूलेनावहेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् ।** इत्यादि ।

विशेष अर्थात् काल के अवान्तरभेद का कथन होने पर नक्षत्र-अण् का लुप् नहीं होता । यथा—पौषमहः, पौषी रात्रिः । यहां 'अहः' और 'रात्रिः' के कथन से काल का विशेष बताया गया है अतः प्रत्यय का लुप् नहीं हुआ ।

---

१. अद्य पुष्य इत्युक्ते न ह्यो न श्व इति कालविशेषे गम्येऽपि लुब्भवत्येव । यतो नक्षत्रेण युक्तस्य कालस्यैवात्र अविशेषिता गृह्यते । नक्षत्रेण युक्तः कालः पुनः षष्टिदण्डात्मकरूप एव । अद्य पुष्य इत्युक्ते तथाविधस्य कालस्य न हि विशेषिता प्रतिपादिता भवति अतो नास्ति कश्चिद् दोष इति । काशिकायामिदं स्पष्टतर-मुक्तम्—**यावान् कालो नक्षत्रेण युज्यतेऽहोरात्ररूपस्तस्याविशेषे लुब्भवतीति ।**

अण् , इयत् , इय

अब 'देखा गया साम' इस अर्थ में प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१०३६) दृष्टं साम ।४।२।७।।

'तेन' इत्येव । वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम ।।

अर्थः—'देखा गया साम' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से तद्धित-संज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन रक्तं रागात्** सूत्र से । तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । दृष्टम् ।१।१। साम ।१।१। इत्यर्थे इत्यध्याहार्यम् । अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (दृष्टं साम) 'देखा गया साम' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

वैदिक मन्त्रविशेष को 'सामन्' कहते हैं—**गीतिषु सामाख्या** (मीमांसा० २.१.३६) । यहां प्रत्यय तो 'दृष्ट' अर्थ में होता है परन्तु वह दृष्ट 'सामन्' होना चाहिये । ऋषियों द्वारा मन्त्रों का विशेष मनन ही मन्त्रों का दृष्टत्व समझना चाहिये । वसिष्ठ ने जिन मन्त्रों का विशेष मनन कर ज्ञान प्राप्त किया वे मन्त्र 'वासिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध हुए । उदाहरण यथा—

वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम (वसिष्ठऋषिद्वारा देखा गया साम) । यहां 'वसिष्ठ टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'देखा गया साम' इस अर्थ में **दृष्टं साम** (१०३६) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, तद्धितान्तसमुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्राति-पदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर 'वासिष्ठम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—विश्वामित्रेण दृष्टं वैश्वामित्रं साम । क्रुञ्चेन दृष्टं क्रौञ्चं साम ।

इसी अर्थ में अग्रिमसूत्रद्वारा ड्यत् और ड्य प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३७) वामदेवाड् ड्यड्-ड्यौ ।४।२।८।।

वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम् ।।

अर्थः—'देखा गया साम' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ 'वामदेव' प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक ड्यत् और ड्य प्रत्यय हों ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन रक्तं रागात्** सूत्र से । तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । वामदेवात् ।५।१। ड्यड्-ड्यौ ।१।२। **दृष्टं साम** का पिछले सूत्र से अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । ड्यत् च ड्यश्च ड्यड्ड्यौ, इतरेतर-

द्वन्द्वः । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ (वामदेवात्) 'वामदेव' प्रातिपदिक से (दृष्टं साम इत्यर्थे) 'देखा गया साम' इस अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक ड्यड्-ड्यौ) ड्यत् और ड्य प्रत्यय होते हैं।

यह सूत्र सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। ड्यत् और ड्य दोनों के आदि डकार की **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा तथा ड्यत् के तकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञा हो जाती है। इत्सञ्ज्ञकों का लोप कर दोनों का 'य' ही शेष रहता है। रूपसिद्धि दोनों की एक समान होती है परन्तु स्वर में अन्तर पड़ता है। ड्यत् के तित् होने से **तित्स्वरितम्** (६.१.१७९) द्वारा वह स्वरित परन्तु ड्यप्रत्यय प्रत्ययस्वर से उदात्त रहेगा।

ड्यत् और ड्य दोनों डित् हैं अतः इन के परे रहते **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप हो जायेगा। उदाहरण यथा—

वामदेवेन दृष्टं वामदेव्यं साम (वामदेव से देखा गया साम)। यहां 'वामदेव टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से **वामदेवाड् ड्यड्-ड्यौ** (१०३७) सूत्रद्वारा 'दृष्टं साम' इस अर्थ में ड्यत् अथवा ड्य प्रत्यय हुआ। प्रत्यय के अनुबन्धों का लोप, सुँब्लुक् एवं **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा भसंज्ञक टि (अ) का भी लोप कर विशेष्य (सामन्) के अनुसार विभक्ति लाने से नपुंसक के प्रथमैकवचन में 'वामदेव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

अब 'वस्त्र आदि से परिवृत (लिपटा हुआ) रथ' इस अर्थ में तद्धित का विधान करते हैं—

---

१. यदि ड्यत् और ड्य प्रत्ययों को डित् न कर केवल 'यत्' और 'य' प्रत्यय ही रहने देते तो भी उन प्रत्ययों के यकारादि होने के कारण **यचि भम्** (१६५) द्वारा उन से पूर्व की भसंज्ञा हो जाती और इस तरह **यस्येति च** (२३६) से अन्त्य अकार का लोप हो कर 'वामदेव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता तो पुनः टिलोप के लिये इन को डित् क्यों किया गया है? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है। इस का उत्तर यह है कि इन प्रत्ययों को टिलोप के लिये ही डित् नहीं किया गया अपितु **ययतोश्चातदर्थे** (६.२.१५६) इस अन्तोदात्तविधायक स्वरसूत्र में 'य' और 'यत्' प्रत्ययों के ग्रहण में इन प्रत्ययों का ग्रहण न हो जाये इसलिये इन को डित् किया गया है। अतः 'न वामदेव्यम् अवामदेव्यम्' इस नञ्तत्पुरुषसमास में नञ् का स्वर ही लगेगा **ययतोश्चातदर्थे** (६.२.१५६) से उत्तरपद को अन्तोदात्त न होगा। यही बात महाभाष्य में एक कारिकाद्वारा कही गई है—

सिद्धे यस्येतिलोपेन किमर्थं य-यतौ डितौ।
ग्रहणं माऽतदर्थे भूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे॥ (महाभाष्य ४.२.९)

इस कारिका के पूर्वार्ध में शङ्का तथा उत्तरार्ध में उस का उपर्युक्त समाधान दिया गया है।

ढका हुआ / लिपटा हुआ

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०३८) परिवृतो रथः ।४।२।९।।**

अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः ।।

अर्थः– तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'परिवृत=लिपटा हुआ=ढका हुआ' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय होता है परन्तु वह परिवृत वस्तु 'रथ' होनी चाहिये ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन रक्तं रागात्** सूत्र से । यहां तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । परिवृतः ।१।१। रथः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से लब्ध हो जाता है) । प्रत्ययः, **परश्च**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (परिवृतो रथः इत्यर्थे) 'लिपटा हुआ=ढका हुआ रथ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । तात्पर्य यह है कि अण् प्रत्यय तो 'परिवृत' अर्थ में होता है परन्तु वह परिवृत वस्तु रथ होनी चाहिये दूसरी नहीं ।[1] उदाहरण यथा—

वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः (वस्त्र से ढका या आच्छादित रथ) । यहां 'वस्त्र टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'परिवृत' अर्थ में **परिवृतो रथः** (१०३८) इस प्रकृत-सूत्र से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर णकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अन्त्य अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'वास्त्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

कम्बलेन परिवृतः काम्बलो रथः ।[2]

दुकूलेन परिवृतो दौकूलो रथः ।

चर्मणा परिवृतश्चार्मणो रथः ।[3]

यहां वस्त्र, कम्बल, चर्मन् आदि आच्छादन वस्तुओं से ही प्रत्यय अभीष्ट है । 'छात्रैः परिवृतो रथः, पुत्रैः परिवृतो रथः' इत्यादियों में छात्र आदि शब्दों से प्रत्यय नहीं होता ।

यदि सूत्र में 'रथः' न कहते तो 'वस्त्रेण परिवृतः कायः' इत्यादियों में भी प्रत्यय हो जाता जो अनिष्ट था ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'निकाल कर रखा हुआ' इस अर्थ में तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं ।

---

१. इस तरह तद्धितार्थ में रथ का समावेश नहीं होता उस का पृथक् उल्लेख करना पड़ता है । जैसे – वास्त्रो रथः । चार्मणो रथः । काम्बलो रथः । इत्यादि ।

२. **रथे काम्बलवास्त्राद्याः कम्बलादिभिरावृते**—इत्यमरः ।

३. 'चार्मन्+अ' इत्यत्र **नस्तद्धिते** (९१९) इति नान्तस्य भस्य टेर्लोपे प्राप्ते **अन्** (१०२४) इति प्रकृतिभावः ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३९) **तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः** ।४।२।१३।।

(पात्रविशेषवाचिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः उद्धृतमित्यर्थे तद्धितोऽण् प्रत्ययः स्यात्) । शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः ।।

अर्थः—'निकाल कर रखा हुआ' इस अर्थ में पात्रविशेषवाचक सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्र ।५।३। ('तत्र' यह सप्तम्यन्तों का अनुकरण है । इस से परे पञ्चमी के बहुवचन का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । उद्धृतम् ।१।१। अमत्रेभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अमत्रशब्द पात्रवाचक है (**पात्राऽमत्रे तु भाजनम्** इति हैमे) । बहुवचननिर्देश के कारण शराव आदि पात्रविशेषवाचकों का ग्रहण किया जाता है । अर्थः=(तत्र=सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त (अमत्रेभ्यः) पात्रविशेषवाची प्रातिपदिकों से (उद्धृतम् इत्यर्थे) 'निकाल कर रखा गया' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः (शराव में निकाल कर रखा गया भात) । मिट्टी के प्याले को 'शराव' कहते हैं । 'शराव ङि' इस सप्तम्यन्त पात्रविशेषवाची प्रातिपदिक से 'निकाल कर रखा हुआ' इस अर्थ में प्रकृत **तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः** (१०३९) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय ला कर पूर्ववत् सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप करने से—शाराव्+अ='शाराव' । पुनः विशेष्य (ओदनः) के अनुसार पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन में 'शारावः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

---

१. जिस से कोई वस्तु निकाली या पृथक् की जाती है उस की **ध्रुवमपायेऽपादानम्** (८९९) से अपादानसंज्ञा होती है और **अपादाने पञ्चमी** (९००) से उस में पञ्चमी का विधान हुआ करता है । यथा—कूपादुद्धृत्य वारि पिबति । तो इस तरह यहां शराव से निकाले जाने के कारण उस में पञ्चमी विभक्ति आनी चाहिये थी—शरावात् । भला इस में सप्तमी ला कर 'शरावे' कैसे कहा जा रहा है ? इस का उत्तर यह है कि यहां उद्धृतशब्द में उद्पूर्वक धृञ् धातु का अर्थ केवल निकालना ही नहीं अपितु 'निकाल कर रखना' अर्थ अभिप्रेत है । 'रखना' क्रिया का आधार 'शराव' है अतः उस की अधिकरणसंज्ञा होकर उस में सप्तमी विभक्ति लाई जाती है । 'शरावे उद्धृत ओदनः' का तात्पर्य यह है कि भात किसी अन्य स्थाली आदि पात्र से निकाल कर शराव में रखा गया है । अत एव हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

अत्रोद्धरतिरुद्धरणपूर्वके निधाने वर्त्तते, तेन सप्तमी समर्था विभक्तिर्न नोपपद्यते (पदमञ्जरी ४.२.१३) ।

शेखरकार ने भी यही कहा है—

इसीप्रकार—

कर्परे उद्धृतं कार्परं दधि ।

स्थाल्यां स्थाले वा उद्धृतं स्थालं व्यञ्जनम् ।

मल्लिकायामुद्धृतो माल्लिकः संयावः ।

खर्परे उद्धृतः खार्पर ओदनः ।

शराव, कर्पर, स्थाली, मल्लिका, खर्पर आदि शब्द पात्रविशेषों के वाचक हैं।

अमत्रेभ्य इति किम् ? पाणौ उद्धृत ओदनः । यहां पाणिशब्द हाथ का वाचक है पात्र का नहीं अतः प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय नहीं होता ।

अब 'उस में संस्कृत' इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४०) **संस्कृतं भक्षाः ।४।२।१५॥**

सप्तम्यन्तादण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे, भक्षाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भ्राष्ट्रा यवाः ।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संस्कृत' (संस्कार किया गया) अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो परन्तु वह संस्कृत पदार्थ भक्ष अर्थात् खाने की वस्तु होना चाहिये ।

व्याख्या—संस्कृतम् ।१।१। भक्षाः ।१।३। तत्र ।५।१। (**तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः** सूत्र से । सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । भक्ष्यन्ते इति भक्षाः, कर्मणि घञ् । 'संस्कृतम्' में एकवचन, सामान्याभिप्राय से तथा 'भक्षाः' में बहुवचन 'यवाः' 'अपूपाः' आदि को दृष्टि में रख कर किया गया है । अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (संस्कृतमित्यर्थे) 'संस्कार किया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है परन्तु वह संस्कृत पदार्थ (भक्षाः) खाने योग्य वस्तु हो ।[1]

भाव यह है कि जो द्रव्य संस्कृत किया गया हो यदि वह भक्षणीय वस्तु हो तो जिस पात्र में उस का संस्कार किया गया हो उस पात्रवाचक सप्तम्यन्त शब्द से 'संस्कृत' अर्थ में तद्धित अण् प्रत्यय हो ।

किसी वस्तु को पाक आदि या अन्य किसी प्रक्रिया से खाने-चबाने के योग्य

निधाननिरूपिताधिकरणत्वेन सप्तमी ।

काशिकाकार ने 'उद्धृतम्' का अर्थ **भुक्तोच्छिष्टम्** किया है । तब 'शाराव ओदनः' का अर्थ होगा 'खाने से बचा ओदन शराव में धरा है' । पुरुषोत्तमदेव ने भी भाषावृत्ति में इस का अर्थ **भुक्तोत्सृष्टम्** किया है ।

१. खरविशदम् अभ्यवहार्यं भक्षम् इति काशिकाकारः । दन्तैर्भक्ष्यं भक्षमाहुरिति नारायणभट्टः ।

अस्य देवता

बनाना उसे संस्कृत करना यहां अभीष्ट है।[1] जैसे यव (जौ) आदि को भ्राष्ट्र (भट्ठी) में भूनना आदि उसे 'संस्कृत' करना है। सूत्र का उदाहरण यथा—

भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भक्षा भ्राष्ट्रा यवाः (भट्ठी में भून कर संस्कृत किये खाने योग्य जौ)। यहां 'भ्राष्ट्र सुँप्' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) इस अर्थ में प्रकृतसूत्र से अण् तद्धित प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, पर्जन्यवल्लक्षण-प्रवृत्तिन्याय से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्य (यवाः) के अनुसार प्रथमा के बहुवचन में विभक्तिकार्य करने से 'भ्राष्ट्राः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—कलशे संस्कृता भक्षाः कालशा अपूपाः। कुम्भे संस्कृता भक्षाः कौम्भा यवाः। इत्यादि।

भक्षा इति किम्? पुष्पपुटे संस्कृतो मालागुणः। पुष्पपुट में गूंथा हुआ माला का तागा खाने का पदार्थ नहीं अतः पुष्पपुट से अण् हो कर 'पौष्पपुटः' न बनेगा।

अब **'साऽस्य देवता'** के अर्थ में तद्धितप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४१) साऽस्य देवता ।४।२।२३॥

(देवताविशेषवाचिनः प्रथमान्तात्समर्थात् प्रातिपदिकाद् अस्येत्यर्थे तद्धितोऽण् प्रत्ययः स्यात्)। इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः। पाशुपतम्। बार्हस्पत्यम्॥

अर्थः—देवताविशेषवाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सा ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'सा' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। अस्य ।६।१। देवता ।५।१। (यहां भी पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(सा=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (देवता=देवताविशेषवाचिनः) देवताविशेषवाची समर्थ प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

यज्ञ आदि में जिस के उद्देश्य से हविः आदि प्रदान की जाती है या मन्त्र में जिस की स्तुति या जिस का प्रतिपादन किया जाता है वह यहां 'देवता' अभिप्रेत है। सूत्र का उदाहरण यथा—

इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः (इन्द्र जिसका देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां 'इन्द्र सुँ' इस देवताविशेषवाची प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में प्रकृत **साऽस्य देवता** (१०४१) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि और भसञ्ज्ञक अन्त्य अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'ऐन्द्र'

---

१. सतो गुणाधानं संस्कार इति काशिकाकारादयः। भोजनादिरूपोपयोगफला क्रिया संस्कारो न तु गुणाधानमेवेति नागेशः।

उपास्य देवता

धन्

निष्पन्न होता है। अब इस से विशेष्यानुसार लिङ्ग लगेगा। हविष्शब्द नपुंसकलिङ्ग और मन्त्रशब्द पुंलिङ्ग है अतः विभक्ति ला कर प्रथमैकवचन में 'ऐन्द्रं हविः' तथा 'ऐन्द्रो मन्त्रः' बनेगा। स्त्रीलिङ्ग में ऐन्द्रशब्द से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् हो कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा लोप करने पर 'ऐन्द्री' प्रयोग बनेगा। ऐन्द्री दिक् (इन्द्र जिसका देवता है ऐसी दिशा अर्थात् पूर्वदिशा)।

पशुपतिर्देवताऽस्येति पाशुपतम् (पशुपति अर्थात् शिव जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां 'पशुपति सुँ' इस देवताविशेषवाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में प्रकृत **साऽस्य देवता** (१०४१) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय प्राप्त था। परन्तु पत्युत्तरपद होने के कारण **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र से उस का बाध हो कर 'ण्य' प्रत्यय प्राप्त हुआ। पुनः इस का भी बाध कर **अश्वपत्यादिभ्यश्च** (९९८) सूत्र से दुबारा अण् प्रत्यय हो जाता है—पशुपति सुँ + अण्। अब प्रत्यय के णकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाशुपतम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

बृहस्पतिर्देवताऽस्येति बार्हस्पत्यम् (बृहस्पति जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां प्रथमान्त 'बृहस्पति' प्रातिपदिक से 'अस्य' अर्थ में प्रकृत **साऽस्य देवता** (१०४१) सूत्रद्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय हो जाता है। तब अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'बार्हस्पत्यम' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—प्रजापतिर्देवताऽस्येति प्राजापत्यम् (प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। ध्यान रहे कि बृहस्पति और प्रजापति शब्द अश्व-पत्यादिगण में पढ़े नहीं गये अतः इन में **अश्वपत्यादिभ्यश्च** (९९८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय नहीं होता।

सूत्र में देवताविशेषवाची से इसलिये कहा है कि 'कन्या देवताऽस्य' इत्यादियों में कन्याशब्द से प्रत्यय न हो जाये।

अब देवताविशेषवाची 'शुक्र' प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय के अपवाद घन् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४२) **शुक्राद् घन्** ।४।२।२५॥

शुक्रियम् ॥

अर्थः—देवताविशेषवाचक प्रथमान्त समर्थ 'शुक्र' प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) अर्थ में तद्धितसंज्ञक घन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शुक्रात् ।५।१। घन् ।१।१। **साऽस्य देवता** (१०४१) इस पूरे सूत्र का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं ही। अर्थः—(सा= प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (देवता=देवताविशेष-वाचिनः) देवताविशेषवाची (शुक्रात्) 'शुक्र' प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (घन्) घन् प्रत्यय होता है। घन् में नकार अनुबन्ध

प्रारम्भ देव

टॺण्

ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६.१.१६१) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। तद्धित होने के कारण **लशक्वतद्धिते** (१३६) से प्रत्यय के आदि घकार की इत्संज्ञा नहीं होती। यह सूत्र **साऽस्य देवता** (१०४१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

शुक्रो देवताऽस्येति शुक्रियम् (शुक्र जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां 'शुक्र सुँ' से 'अस्य' अर्थ में **सास्य देवता** (१०४१) से अण् प्रत्यय प्राप्त था परन्तु प्रकृत **शुक्राद् घन्** (१०४२) सूत्र से उस का बाध हो कर घन् प्रत्यय हो जाता है—शुक्र सुँ + घन् = शुक्र सुँ + घ। अब तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः**(७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् होकर **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से प्रत्यय के आदि घ् को इय् आदेश करने से 'शुक्र इय् अ = शुक्र इय' बना। पुनः **यस्येति च** (२३६) सूत्र से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शुक्रियम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के पुंलिङ्ग होने पर—शुक्रियोऽध्यायः।

अब देवतावाचक सोमशब्द से टॺण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४३) सोमाट्टॺण् ।४।२।२९॥

सौम्यम् ॥

अर्थः—देवताविशेष के वाचक प्रथमान्त समर्थ 'सोम' प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक टॺण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सोमात् ।५।१। टॺण् ।१।१। **साऽस्य देवता** (१०४१) इस पूरे सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं ही। अर्थः—(सा = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ (देवता = देवताविशेषवाचिनः) देवताविशेषवाचक (सोमात्) 'सोम' प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (टॺण्) टॺण् प्रत्यय हो।

टॺण् के टकार की **चुटू** (१२९) सूत्र से तथा णकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। इतों का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है। टकार अनुबन्ध **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय के लिये तथा णकार अनुबन्ध **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। यह सूत्र भी **साऽस्य देवता** (१०४१) सूत्रद्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

सोमो देवताऽस्येति सौम्यम् (सोम जिस का देवता है ऐसी हविः या सूक्त)। 'सोम सुँ' इस प्रथमान्त से **साऽस्य देवता** (१०४१) द्वारा 'अस्य' अर्थ में प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **सोमाट्टॺण्** (१०४३) सूत्र से टॺण् (य) प्रत्यय हो जाता है। अब सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक, अन्त्य अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'सौम्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सौम्यं हविः, सौम्यं सूक्तम्, सौम्यो मन्त्रः। स्त्रीलिङ्ग में—सौमी ऋक्। **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीपि भस्याकारस्य लोपे **हलस्तद्धितस्य** (१२५३) इति यकारलोपे च कृते रूपं सिध्यति।

अब देवताऽण् के अपवाद यत् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४४) **वाय्वृतुपित्रुषसो यत्** ।४।२।३०।।

वायव्यम् । ऋतव्यम् ।।

अर्थः—देवताविशेषवाचक प्रथमान्त समर्थ—वायु, ऋतु, पितृ और उषस् प्रातिपदिकों से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—वायु-ऋतु-पितृ-उषसः ।५।१। यत् ।१।१। **साऽस्य देवता** (१०४१) इस पूरे सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात् तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(सा=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ (देवता=देवतावाचिनः) देवताविशेषवाची (वायु-ऋतु-पितृ-उषसः) वायु, ऋतु, पितृ और उषस् प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है।

यत् का तकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध **यतोऽनावः** (६.१.२०७)[1] द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। सूत्रोदाहरण यथा—

वायुर्देवताऽस्येति वायव्यं हविः (वायु जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां प्रथमान्त समर्थ 'वायु सुँ' से 'इस का' अर्थ में **साऽस्य देवता** (१०४१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **वाय्वृतुपित्रुषसो यत्** (१०४४) सूत्र से तद्धित-संज्ञक यत् प्रत्यय हो कर सुँप् का लुक् करने से—वायु+य। अब **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा, **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) सूत्रद्वारा ओकार को अव् आदेश कर विभक्तिकार्य करने से 'वायव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

ऋतुर्देवताऽस्येति ऋतव्यं हविः (ऋतु जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां 'ऋतु सुँ' से 'अस्य' के अर्थ में पूर्ववत् यत् प्रत्यय, सुँब्लुक्, गुण और अव् आदेश कर विभक्ति लाने से 'ऋतव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पितृशब्द से यत् करने पर अग्रिमसूत्र की प्रवृत्ति होती है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४५) **रीङ् ऋतः** ।७।४।२७।।

अकृद्यकारे, असार्वधातुके यकारे, च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङा-देशः। यस्येति च (२३६)—पित्र्यम्। उषस्यम् ।।

अर्थः—अकृत् का यकार, असार्वधातुक का यकार, अथवा च्विँ प्रत्यय—इन में से कोई एक परे हो तो ऋदन्त अङ्ग के स्थान पर रीङ् आदेश हो जाता है।

---

१. अर्थः—यत्प्रत्ययान्तस्य द्व्यच आदिरुदात्तो भवति न चेन्नौशब्दात् परो भवति। **तित् स्वरितम्** (६.१.१७९) इत्यस्यापवादः। चेयम्। जेयम्। कण्ठ्यम्। ओष्ठ्यम्। अनाव इति किम्? नाव्यम्। द्व्यच इत्येव—ललाट्यम्।

का भाई, का पिता

व्याख्या—रीङ् ।१।१। ऋतः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अकृत्सार्वधातुकयोः ।६।२। (**अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** सूत्र से)। यि ।७।१। (**अयङ् यि क्ङिति** सूत्र से)। च्वौ ।७।१। (**च्वौ च** सूत्र से)। 'ऋतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा। समासः—कृत् च सार्वधातुकं च कृत्सार्वधातुके, न कृत्सार्वधातुके अकृत्सार्वधातुके, तयोः=अकृत्सार्वधातुकयोः, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अकृत्सार्वधातुकयोः) जो न तो कृत् प्रत्यय का अवयव है और न सार्वधातुक का ऐसे (यि) यकार के परे रहते अथवा (च्वौ) च्विँ-प्रत्यय के परे रहते (ऋतः=ऋदन्तस्य) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (रीङ्) रीङ् आदेश हो जाता है।

रीङ् आदेश का ङकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'री' मात्र शेष रहता है। ङित् होने से यह आदेश **ङिच्च** (४६) सूत्रद्वारा ऋदन्त अङ्ग के अन्त्य अल् अर्थात् ऋकार के स्थान पर होता है। उदाहरण यथा—

पितरो देवता अस्येति पित्र्यम् (पितर जिस के देवता हैं ऐसी हविः आदि)। 'पितृ जस्' इस प्रथमान्त देवताविशेषवाची से 'अस्य' (इस का) अर्थ में **साऽस्य देवता** (१०४१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय के अपवाद **वाय्वृतुपित्रुषसो यत्** (१०४४) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् करने से 'पितृ+य' बना। अब यहां यकार न तो कृत्प्रत्यय का अवयव है और न ही सार्वधातुक का, अतः इस के परे रहते **रीङ् ऋतः** (१०४५) द्वारा तकारोत्तर ऋकार को रीङ् आदेश करने पर—पित् री+य=पित्री+य। पुनः यहां **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा हो कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है—पित्र्य। विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने पर 'पित्र्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उषो देवताऽस्येति उषस्यम् (उषस् जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। 'उषस् सुँ' इस प्रथमान्त से पूर्ववत् यत् प्रत्यय ला कर सुँब्लुक् करने से 'उषस्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि भसञ्ज्ञा के द्वारा पदसंज्ञा के बाधित हो जाने से उषस् के सकार को रुँ आदेश नहीं होता।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा कुछ शब्दों का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४६)

पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः ।४।२।३५।।

एते निपात्यन्ते। पितुर्भ्राता पितृव्यः। मातुर्भ्राता मातुलः। मातुः पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः।।

अर्थः—पितृव्य (चाचा), मातुल (मामा), मातामह (नाना) और पितामह (दादा)—ये चार शब्द निपातित किये जाते हैं।

व्याख्या—पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः ।१।३। बने बनाये शब्दों को प्रक्रिया दर्शाए विना सूत्रों में पढ़ देना निपातन कहाता है। इन में प्रकृति, समर्थ-

व्यत्, डुलच्, डामहच्,

बिभक्ति, प्रत्यय, प्रत्ययार्थ तथा अनुबन्ध आदि की स्वयं कल्पना करनी पड़ती है। तथाहि—

पितुर्भ्राता पितृव्यः (पिता का भाई अर्थात् चाचा)। यहां 'पितृ ङस्' से 'भ्राता' अर्थ में व्यत् प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये। सुँब्लुक् होकर विभक्ति लाने से 'पितृव्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मातुर्भ्राता मातुलः (माता का भाई अर्थात् मामा)। यहां 'मातृ ङस्' से 'भ्राता' अर्थ में डुलच् प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये। डुलच् का 'उल' मात्र शेष रहता है। सुँब्लुक् हो कर प्रत्यय के डित्त्व के कारण उस के परे रहते **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक टि (ऋ) का लोप कर विभक्ति लाने से 'मातुलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

मातुः पिता मातामहः (माता का पिता अर्थात् नाना)। यहां 'मातृ ङस्' से 'पिता' अर्थ में डामहच् प्रत्यय का निपातन हुआ है। अनुबन्धों का लोप होकर 'आमह' मात्र शेष रहता है। सुँब्लुक् हो कर प्रत्यय के डित्त्व के कारण उस के परे रहने **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक टि (ऋ) का लोप कर विभक्ति लाने से 'मातामहः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पितुः पिता पितामहः (पिता का पिता अर्थात् दादा)। यहां भी पूर्ववत् 'पितृ ङस्' से 'पिता' अर्थ में डामहच् (आमह) प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये। सुँब्लुक् हो कर **टेः** (२४२) से टि का लोप हो जायेगा।[2]

नोट—मातुर्माता अथवा पितुर्माता—इस अर्थ में भी यही डामहच् प्रत्यय होता है। परन्तु **मातरि षिच्च** (वा०) वार्त्तिकद्वारा उसे षित् अतिदेश किया जाता है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में षित्वात् **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्रद्वारा ङीष् हो कर 'मातामही, पितामही' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। कुछ लोग मातामह और पितामह शब्दों का गौरादिगण में पाठ मान कर भी ङीष् का विधान किया करते हैं।

अब 'तस्य समूहः' इस अर्थ में तद्धितप्रत्ययों का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०४७) तस्य समूहः ।४।२।३६॥**

काकानां समूहः काकम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'समूह' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी का

---

१. महाभाष्य में वार्त्तिकद्वारा कहा भी है—
पितृमातृभ्यां भ्रातरि व्यड्-डुलचौ (वा०)।

२. महाभाष्य में वार्तिकद्वारा कहा भी गया है—
मातृ-पितृभ्यां पितरि डामहच् (वा०)।

सौत्र लुक् हुआ है) । समूहः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

तात्पर्य यह है कि जिस का समूह कहना अभीष्ट हो उस से परे अण् प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा –

काकानां समूहः काकम् (कौओं का समूह या टोला) । यहां 'काक आम्' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में प्रकृत **तस्य समूहः** (१०४७) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय, णकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक्, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आकार को भी वृद्धि आकार (९३८) और अन्त में **यस्येति च** (२३६) सूत्र से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'काकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि समूह प्रत्ययान्त तद्धितान्तों का लोक में नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होता है ।

इसीप्रकार —

वकानां समूहो वाकम् (बगुलों का समूह) ।

वृकाणां समूहो वार्कम् (भेड़ियों का समूह) ।

नोट — स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम् (स्त्रियों का समूह), पुंसां समूहः पौंस्नम् (पुरुषों का समूह) — इन में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्र से औत्सर्गिक अण् के अपवाद क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय ही होते हैं । इन की सिद्धि पीछे दर्शाई जा चुकी है ।

अब समूह अर्थ में कुछ अन्य सूत्रों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४८) भिक्षादिभ्योऽण् ।४।२।३७।।

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । इह—

अर्थः—भिक्षा आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—भिक्षादिभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। **तस्य समूहः** (१०४७) इस पूरे सूत्र का यहां अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । भिक्षा (भिक्षाशब्दः) आदिर्येषान्ते भिक्षादयः, तेभ्यः = भिक्षादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः— (तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (भिक्षादिभ्यः) भिक्षा आदि समर्थ प्रातिपदिकों से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

भिक्षादि एक गण है।[1] भिक्षादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में पूर्वसूत्रद्वारा

---

१. भिक्षादिगण यथा—
भिक्षा । गर्भिणी । क्षेत्र । करीष । अङ्गार । चर्मिन् । धर्मिन् । चर्मन् । धर्मन् । सहस्र । युवति । पदाति । पद्धति । अथर्वन् (अर्वन्) । दक्षिण (दक्षिणा) । भूत । विषय । श्रोत्र ।।

प्राप्त होने वाले अण् प्रत्यय को बाध कर ठक् आदि वक्ष्यमाण प्रत्यय प्राप्त होते थे अतः इस सूत्र से उन के बाधनार्थ पुनः अण् का विधान किया गया है । उदाहरण यथा—

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् (भिक्षाओं का समूह या ढेर) । यहां 'भिक्षा आम्' इस षष्ठयन्त प्रातिपदिक से समूह अर्थ में प्रकृत **भिक्षादिभ्योऽण्** (१०४८) सूत्र से अण् प्रत्यय, अनुबन्ध णकार का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से अन्त्य आकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'भैक्षम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1] भिक्षा अचित्त (चित्त-हीन) वस्तु है अतः **अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्रद्वारा समूह अर्थ में इस से ठक् प्रत्यय प्राप्त होता था । यहां उस का बाध कर पुनः अण् प्रत्यय का विधान किया गया है ।

गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् (गर्भवती स्त्रियों का समूह) । गर्भिणीशब्द अनुदात्तादि है[2] अतः समूह अर्थ में सामान्यप्राप्त अण् का बाध कर **अनुदात्तादेरञ्** (४.२.४३) सूत्र से अञ् प्रत्यय प्राप्त था । परन्तु भिक्षादिगण में पाठ के कारण अञ् के अपवाद **भिक्षादिभ्योऽण्** (१०४८) से पुनः अण् प्रत्यय हो जाता है—गर्भिणी आम्+अण् । प्रत्यय के अनुबन्ध णकार का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (आम्) का भी लुक् कर देने पर—गर्भिणी+अ । अब यहां अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(७८) भस्याढे तद्धिते ॥

इति पुंवद्भावे कृते—

अर्थः—'ढ' से भिन्न अन्य किसी तद्धित प्रत्यय के परे रहते भसञ्ज्ञक अङ्ग के स्थान पर पुंवद्भाव हो जाता है । **इति पुंवद्भावे कृते**—इस वार्त्तिक से पुंवद्भाव किये जाने पर (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है) ।

व्याख्या—भस्य ।६।१। अढे ।७।१। तद्धिते ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । यह वार्त्तिक महाभाष्य में पुंवद्भावप्रकरणस्थ **तसिलादिष्वाकृत्वसुँचः** (६.३.३४) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः इस का विषय भी पुंवद्भाव करना समझा जायेगा । न ढः—अढः, तस्मिन्=अढे, नञ्तत्पुरुषसमासः । ढभिन्ने इत्यर्थः । अर्थः—(अढे=ढभिन्ने) 'ढ' से भिन्न (तद्धिते) अन्य कोई तद्धित प्रत्यय परे हो तो (भस्य अङ्गस्य) भसंज्ञक अङ्ग के स्थान पर (पुंवत्) पुंवद्भाव हो जाता है ।

'गर्भिणी+अ' यहां ढभिन्न तद्धित प्रत्यय अण् परे है और इस के परे रहते **यचि भम्** (१६५) द्वारा पूर्व अङ्ग की भसंज्ञा भी है । अतः **भस्याढे तद्धिते** (वा० ७८)

---

१. **भैक्षं भिक्षाकदम्बकम्** इत्यमरः ।

२. गर्भशब्दान्मत्वर्थीये इनप्रत्यये कृते **प्रत्ययः, परश्च, आद्युदात्तश्चेति** इकारस्य उदात्तत्वे **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) इति शिष्टस्यानुदात्तत्वे गर्भिन्शब्दोऽनुदात्तादिः । ततो नान्तलक्षणे ङीपि तस्य **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) इत्यनुदात्तत्वे गर्भिणीशब्दोऽप्यनुदात्तादिरेव । (बालमनोरमा)

इस प्रकृतवार्त्तिक से 'गर्भिणी' इस भसंज्ञक अङ्ग के स्थान पर 'गर्भिन्' यह पुंवद्भाव हो कर 'गर्भिन् + अ' हुआ। अब यहां **नस्तद्धिते** (६१६) सूत्र से टि (इन्) का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से इस का निषेध करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४६) **इनण्यनपत्ये ।६।४।१६४॥**

अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात्। तेन नस्तद्धिते (६१६) इति टिलोपो न। युवतीनां समूहः—यौवनम् ॥

अर्थः—अपत्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थों में विहित अण् प्रत्यय परे हो तो 'इन्' प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् उस में परिवर्त्तन नहीं होता। **तेन**—इस सूत्र के कारण **नस्तद्धिते** (६१६) द्वारा टि (इन्) का लोप नहीं होता।

व्याख्या—इन् ।१।१। अणि ।७।१। अनपत्ये ।७।१। प्रकृत्या ।३।१। (**प्रकृत्यैकाच्** सूत्र से)। न अपत्यम् अनपत्यम्, तस्मिन् अनपत्ये, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अनपत्ये) अपत्यभिन्न अर्थ में विहित (अणि) अण् प्रत्यय के परे रहते (इन्) 'इन्' यह (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से अवस्थित रहता है।

यदि अपत्यार्थ में विहित अण् प्रत्यय परे होगा तो 'इन्' को प्रकृतिभाव न होगा, तब **नस्तद्धिते** (६१६) से उस का लोप हो जायेगा। यथा—मेधाविनोऽपत्यं मैधावः। यहां **तस्यापत्यम्** (१००४) से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय किया गया है अतः इस के परे रहते टि (इन्) का लोप हो जाता है, प्रकृतिभाव नहीं होता।

गर्भिन् + अ। यहां अण् प्रत्यय समूह अर्थ में हुआ है अपत्य अर्थ में नहीं, अतः **इनण्यनपत्ये** (१०४६) सूत्रद्वारा 'इन्' को प्रकृतिभाव हो जाता है, टि का लोप नहीं होता। **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) से आदिवृद्धि तथा **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'गार्भिणम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

'युवति' शब्द भी भिक्षादिगण में पढ़ा गया है। युवन् शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **यूनस्तिः** (१२७६) सूत्रद्वारा 'ति' प्रत्यय करने पर पदान्त नकार का लोप हो कर 'युवति' शब्द निष्पन्न होता है। यह अनुदात्तादि[2] है। अतः समूह अर्थ में **अनुदात्तादेरञ्** (४.२.४३) सूत्रद्वारा इस से अञ् प्रत्यय प्राप्त होता है। इस पर उसे बाध कर **भिक्षादिभ्योऽण्** (१०४८) सूत्र से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **भस्याढे तद्धिते** (वा० ७८) से

---

१. यहां यह बात विशेषतः ध्यातव्य है कि भिक्षादिगण में यदि गर्भिणीशब्द का पाठ न करते तो अनुदात्तादि होने के कारण **अनुदात्तादेरञ्** (४.२.४३) सूत्र से अञ् प्रत्यय हो कर पुंवद्भाव करने पर टि का लोप हो जाता। इस तरह 'गार्भम्' ऐसा अनिष्ट रूप बनता। किञ्च तब **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१६१) सूत्र से अनिष्ट आद्युदात्तस्वर भी प्रसक्त होता जब कि हमें अन्तोदात्तस्वर अभीष्ट है।

२. कनिन् **युवृषि-तक्षि०** (उणा० १५४) इत्यौणादिकसूत्रेण कनिन्प्रत्ययान्तो युवन्शब्दो नित्स्वरेण आद्युदात्तः। ततः स्त्रियां **यूनस्तिः** (१२७६) इति तिप्रत्ययस्य प्रत्ययस्वरेणोदात्तत्वे सतिशिष्टस्वरेण युवतिशब्दस्य अनुदात्तादित्वमवसेयम्।

सामूह   तल्

पुंवद्भाव हो जाता है—युवन् + अ । अब **नस्तद्धिते** (९१९) से प्राप्त टिलोप का बाध कर **अन्** (१०२४) सूत्र से अन् को प्रकृतिभाव, आदिवृद्धि तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने पर 'यौवनम्' (युवतीनां समूहः, युवतियों का समूह) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

शतृँप्रत्ययान्त 'युवत्' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने से 'युवती' शब्द बनता है । यह अनुदात्तादि है ।[2] 'युवती आम्' से समूह अर्थ में **अनुदात्तादेरञ्** (४.२.४३) सूत्रद्वारा अञ्प्रत्यय, सुँब्लुक्, **भस्याढे तद्धिते** (वा० ७८) से पुंवद्भाव, तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'यौवतम्' (युवतीजनों का समूह) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । युवतीनां समूहो यौवतम् ।

भिक्षादियों से समूहार्थक अण् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

पदातीनां समूहः पादातम् (पैदलों का समूह) ।

करीषाणां समूहः कारीषम् (सूखे गोबरों का ढेर) ।

दक्षिणानां समूहो दाक्षिणम् (दक्षिणाओं का समूह) ।

सहस्राणां समूहः साहस्रम् (हजारों का समूह) ।

अब समूह अर्थ में तल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५०) **ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल्** ।४।२।४२।।

तलन्तं स्त्रियाम् । ग्रामता । जनता । बन्धुता ।।

अर्थः—ग्राम, जन और बन्धु इन षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तल् प्रत्यय हो । **तलन्तं स्त्रियाम्**—तल्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।

व्याख्या—ग्राम-जन-बन्धुभ्यः ।५।३। तल् ।१।१। **तस्य समूहः** (१०४७) का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । ग्रामश्च जनश्च बन्धुश्च ग्रामजनबन्धवः, तेभ्यः = ग्रामजनबन्धुभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वः ।

---

१. गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान, धातुवृत्तिकार सायण, सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित आदि को यही रूप अभीष्ट है । परन्तु काशिकाकार आदि यहां 'यौवतम्' रूप बनाते हैं । वे यहां भिक्षादित्वात् अण्प्रत्यय करने के बाद गण में पाठ के सामर्थ्य से पुंवद्भाव का अभाव मानते हैं । अमरकोषकार ने भी इसी रूप का अनुमोदन किया है—**गणिकादेस्तु गाणिक्यं गार्भिणं यौवतं गणे** । अनेक कवियों ने भी यहां 'यौवत' शब्द का प्रयोग किया है । तथाहि—

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम् ।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ।। (नैषध २.४१)
मनुष्यनारीजनतोऽपि यौवतं दिवौकसां श्रेष्ठतमं वदन्ति ।। (रामचरित २.३)
अहो विबुधयौवतं वहसि तन्वि पृथ्वीगता ।। (गीतगोविन्द १०)

२. प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तोऽयं युवच्छब्दः । तत उगिल्लक्षणङीपः पुंवत्त्वेन निवृत्तौ अनुदात्तादिरेवायम् ।

अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त समर्थ (ग्राम-जन-बन्धुभ्यः) ग्राम, जन और बन्धु प्रातिपदिकों से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तल्) तल् प्रत्यय होता है। तल् प्रत्यय में लकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'त' मात्र शेष रहता है। उदाहरण यथा—

ग्रामाणां समूहो ग्रामता (गांवों का समूह)। यहां 'ग्राम आम्' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में प्रकृत **ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल्** (१०५०) सूत्रद्वारा तल्प्रत्यय, लकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुप् (आम्) का लुक् करने पर 'ग्रामत' हुआ। 'ग्रामत' शब्द तलन्त है, तल्प्रत्ययान्त शब्द **तलन्तः** (लिङ्गानुशासन १७) इस लिङ्गानुशासनीयसूत्र के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। अतः यहां भी स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) सूत्र से टाप् प्रत्यय हो अनुबन्ध टकार पकार का लोप कर सवर्णदीर्घ करने से—ग्रामता। अब प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर उस के अपृक्त सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिँस्यपृक्तं हल्** (१७९) से लोप करने पर 'ग्रामता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

जनानां समूहः—जनता (लोगों का समूह)। यहां पर भी पूर्ववत् षष्ठीबहुवचनान्त जनशब्द से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, स्त्रीत्व के कारण टाप् तथा अन्त में सवर्णदीर्घ कर विभक्तिकार्य करने से 'जनता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। आजकल हिन्दीभाषा में भी इसी अर्थ में 'जनता' शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

बन्धूनां समूहो बन्धुता (बन्धुओं का समूह)। यहां भी पूर्ववत् तल् प्रत्यय हो कर टाप् प्रत्यय हो जाता है।

अब अग्रिमवार्त्तिकद्वारा दो अन्य शब्दों से भी समूह अर्थ में तल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७९) **गज-सहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्** ॥

गजता। सहायता ॥

अर्थः—गज और सहाय इन षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से भी समूह अर्थ में तद्धित तल् प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—गजसहायाभ्याम् ।५।२। च इत्यव्ययपदम्। इति इत्यव्ययपदम्। वक्तव्यम् ।१।१। यह वार्त्तिक पूर्वोक्तसूत्र (१०५०) पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझा जायेगा। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्ताभ्याम्) षष्ठ्यन्त (गजसहायाभ्याम्) गज और सहाय प्रातिपदिकों से (च) भी (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में तद्धितसंज्ञक (तल्) तल् प्रत्यय हो (इति वक्तव्यम्) ऐसा कहना चाहिये। उदाहरण यथा—

गजानां समूहो गजता (हाथियों का समूह या झुण्ड)। यहां 'गज आम्' से समूह अर्थ में **गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्** (वा० ७९) इस प्रकृत वार्त्तिक से तल् प्रत्यय,

सुँब्लुक् तथा **तलन्तः** (लिङ्गानुशासन १७) के अनुसार स्त्रीत्व में टाप्-सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'गजता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सहायानां समूहः सहायता (सहायकों का समूह)। यहां भी 'सहाय आम्' से पूर्ववत् तल् प्रत्यय हो कर टाप्, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य हो जाता है ।

अब अग्रिम वार्त्तिकद्वारा अहन् शब्द से समूह अर्थ में 'ख' प्रत्यय का विधान करते हैं -

[लघु०] वा० -(८०) **अह्नः खः क्रतौ ॥**

अहीनः ॥

अर्थः—यज्ञ के विषय में वर्तमान षष्ठ्यन्त अहन् प्रातिपदिक से समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'ख' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अह्नः ।५।१। खः ।१।१। क्रतौ ।७।१। प्रकरणतः **तस्य समूहः** (१०४७) का अनुवर्त्तन होता है । अर्थः—(क्रतौ) यज्ञ के विषय में वर्तमान (तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (अह्नः) अहन् प्रातिपदिक से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (खः) 'ख' प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

अह्नां समूहः—अहीनः (सुत्याओं का समूहरूप एक यज्ञविशेष[1])। यहां यज्ञविषय में वर्त्तमान 'अहन् आम्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से समूह अर्थ में प्रकृत **अह्नः खः क्रतौ** (वा० ८०) वार्तिक से 'ख' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से प्रत्यय के आदि ख् को ईन् आदेश करने पर—अहन् ईन् अ = अहन् + ईन । अब **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५)[2] इस नियम का अनुसरण करते

---

१. 'अहीन' एक यज्ञविशेष का नाम है जो कुछ दिनों में समापनीय होता है । इस के द्विरात्र आदि भेद होते हैं । इस यज्ञ में प्रतिदिन सुत्या अर्थात् सोमलता का कर्त्तन करना पड़ता है । 'अह्नां समूहः' इस विग्रह में अहन्शब्द दिन का वाचक नहीं अपितु दिन में होने वाले कर्म सुत्या का वाचक है, जैसाकि माधवीयधातुवृत्ति में **ओहाक् त्यागे** (जुहो० परस्मै०) धातु पर कहा है—**अत्र अहः शब्दोऽहर्मितकर्म-वचनः** । लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है — **क्रतौ वर्त्तमानाद् अहन्शब्दात् समूहे ख इत्यर्थः । एवं च सुत्यासमूहे रूढोऽहीनशब्दः ।** इस यज्ञ को कराने वाले ऋत्विजों के लिये मनुस्मृति में प्रायश्चित का विधान किया गया है—

> **व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।**
> **अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥** (मनु० ११.१९८)

नायमभिचाराहीनयोर्यजमानस्य विधिः । कस्य तर्हि ? ऋत्विजाम् ।

(मेधातिथिव्याख्या)

२. **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५) । अर्थः—ट अथवा ख प्रत्यय के परे होने पर ही 'अहन्' की टि का लोप हो ।

समूह

हुए **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर विभक्तिकार्य करने से—अह् + ईन = 'अहीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब समूह अर्थ में ठक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५१)

अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक् ।४।२।४६।।

अर्थः—अचित्त = चित्तविहीन अर्थात् अप्राणिवाचक प्रातिपदिकों से एवं हस्तिन् और धेनु इन दो प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अचित्त-हस्ति-धेनोः ।५।१। ठक् ।१।१। **तस्य समूहः** (१०४७) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अविद्यमानं चित्तं येषां ते = अचित्ताः, नञ्बहुव्रीहिसमासः । अचेतनाः = अप्राणिवाचका इत्यर्थः । अचित्ताश्च हस्ती च धेनुश्च एषां समाहारः—अचित्तहस्तिधेनु, तस्मात् = अचित्तहस्तिधेनोः, समाहारद्वन्द्वेऽपि पुंस्त्वं सौत्रम् । 'अचित्त' से अचेतन वस्तुओं के वाचक प्रातिपदिकों का ग्रहण अभीष्ट है । हस्तिन् और धेनु दोनों का स्वरूपग्रहण ही इष्ट है । अचेतन न होने के कारण इन का पृथक् उल्लेख किया गया है । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (अचित्त-हस्ति-धेनोः) अचेतनवाचक प्रातिपदिकों एवं हस्तिन् और धेनु इन प्रातिपदिकों से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है ।

ठक् का ककार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, अकार उच्चारणार्थ है 'ठ्' मात्र अवशिष्ट रहता है । कित् करने का फल **किति च** (१००१) द्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि करना है ।

इस सूत्र के कई उदाहरणों में अग्रिमसूत्र की प्रवृत्ति होती है अतः उसी सूत्र पर इस के उदाहरण दर्शाए जायेंगे ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५२) **इसुसुक्तान्तात् कः ।७।३।५१।।**

इस्-उस्-उक्-तान्तात् परस्य ठस्य कः । साक्तुकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् ।।

अर्थः—इस्, उस्, उक्प्रत्याहार और त्—ये जिस के अन्त में हों ऐसे अङ्ग से परे 'ठ्' को 'क' आदेश हो ।

व्याख्या—इस्-उस्-उक्-तान्तात् ।५।१। कः ।१।१। ठस्य ।६।१। (**ठस्येकः** सूत्र से) । अङ्गात् ।५।१। (**अङ्गस्य** इस अधिकार का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है) । समासः—इस् च उस् च उक् च तश्च इसुसुक्ताः, इसुसुक्ता अन्ताः (अन्तावयवाः) यस्य स इसुसुक्तान्तः, तस्मात् = इसुसुक्तान्तात् । द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः । तकारादकार उच्चारणार्थः, उक् प्रत्याहारः । शेषाणां स्वरूपग्रहणम् । अर्थः—(इसुसुक्तान्तात्) इस्, उस्, उक्प्रत्याहार तथा त् ये जिस के अन्त में हों ऐसे (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ठस्य) 'ठ्' के स्थान पर (कः) 'क' आदेश हो जाता है ।

यह सूत्र ठस्येकः (१०२७) द्वारा प्राप्त इकादेश का अपवाद है।

सर्पिष्, धनुष् आदि शब्दों में षत्व के असिद्ध होने से इस्, उस् जानने चाहियें।[1] उक् प्रत्याहार में उ, ऋ, लृ ये तीन वर्ण आते हैं। त्-अन्त वाले शब्द उदश्वित्, शकृत्, यकृत् आदि समझने चाहियें।

पूर्वसूत्र के प्रसङ्ग में उगन्त से परे ठकार को क आदेश यथा—सक्तूनां समूहः साक्तुकम् (सत्तुओं का समूह)। सक्तुशब्द अचित्त अर्थात् अचेतन वस्तु का वाचक है। अतः 'सक्तु आम्' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में **अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्र-द्वारा तद्धित ठक् प्रत्यय हो कर सुँप् (आम्) का लुक् हो जाने मे 'सक्तु+ठ्' हुआ। सक्तुशब्द उगन्त है अतः **ठस्येकः** (१०२७) द्वारा प्राप्त इकादेश का बाध कर **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) सूत्र से 'ठ्' को 'क' आदेश तथा **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'साक्तुकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

हस्तिनां समूहो हास्तिकम् (हाथियों का समूह या झुण्ड)। 'हस्तिन आम्' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय हो कर ककार अनुबन्ध का लोप, तथा तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँप् (आम्) का लुक् करने से 'हस्तिन्+ठ्' हुआ। हस्तिन्शब्द इस्-उस्-उक्-तान्त नहीं अतः ठकार को प्रकृतसूत्र से कादेश नहीं होता। **ठस्येकः** (१०२७) सूत्र से ठकार को इकादेश कर **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि और **नस्तद्धिते** (९१९) से टि (इन्) का लोप करने से—हास्त्+इक=हास्तिक। विभक्ति ला कर प्रथमैकवचन में 'हास्तिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

धेनूनां समूहो धैनुकम् (गौओं का समूह)। 'धेनु आम्' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय हो कर सुँप् (आम्) का

---

१. ध्यान रहे कि इस्, उस् यहां प्रतिपदोक्त ही लेने हैं लाक्षणिक नहीं। सर्पिष्, धनुष् आदि में इस् उस् औणादिक प्रत्ययों द्वारा प्रसूत होने से प्रतिपदोक्त हैं। आशिष्, उष् आदि में ये लाक्षणिक हैं इसलिये उन का ग्रहण नहीं होता (आशिषा चरतीति आशिषिकः, उषा चरतीति औषिकः)।

इस्, उस् के उदाहरण यथा—

सर्पिः पण्यमस्य सार्पिष्कः। यहां 'सर्पिष् सुँ' से **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय किया जाता है। सुँब्लुक् हो कर 'ठ्' को 'क' आदेश होता है, इक आदेश नहीं। 'क' के परे रहते **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, षकार के असिद्ध होने से सकार को रुँत्व-विसर्ग तथा **इणः षः** (९८१) से विसर्ग को षकार आदेश हो कर रूप निष्पन्न होता है।

धनुः प्रहरणमस्य। धानुष्कः। यहां 'धनुष् सुँ' से **प्रहरणम्** (११२७) सूत्रद्वारा ठक प्रत्यय किया जाता है। सुँब्लुक् हो कर 'ठ्' को 'क' आदेश, आदिवृद्धि तथा पूर्ववत् विसर्ग को **इणः षः** (९८१) से षत्व हो जाता है।

ऽगणग / प्रान

लुक् कर देने से 'धेनु+ठ्' हुआ । धेनुशब्द उगन्त है अतः **ठस्येकः** (१०२७) द्वारा प्राप्त इकादेश का बाध कर **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) सूत्र से 'ठ्' को 'क' आदेश तथा **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'धैनुकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

पूर्वसूत्र के अचित्तवाचकों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

अपूपानां समूह आपूपिकम् (पूओं का समूह या ढेर) ।

शष्कुलीनां समूहः शाष्कुलिकम् (कचौड़ियों का समूह) ।

अपूप और शष्कुलि दोनों अचित्त अर्थात् अचेतनवाचक हैं अतः **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्रद्वारा समूह अर्थ में ठक् हो कर ठकार को इक आदेश हो जाता है ।

समूह अर्थ में तद्धितविधायक एक अन्य सूत्र भी यहां उल्लेखनीय है —

अनुदात्तादेरञ् ।४।२।४३।।

अर्थः—जिस प्रातिपदिक का पहला अच् अनुदात्त हो उस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से समूह अर्थ में अञ् तद्धित प्रत्यय हो । उदाहरण यथा—

कपोतानां समूहः कापोतम् (कबूतरों का समूह) ।

मयूराणां समूहो मायूरम् (मोरों का समूह) ।

तित्तिरीणां समूहस्तैत्तिरम् (तीतरों का समूह) ।

कपोत आदि शब्द अनुदात्तादि हैं अतः समूह अर्थ में इन से अञ् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि हो जाती है ।

अब 'तदधीते' और 'तद्वेद' अर्थों में तद्धितप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५३) तदधीते तद्वेद ।४।२।५८।।

अर्थः—'उसे पढ़ता है' या 'उसे जानता है' इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तद् ।५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अधीते इति लँटि क्रियापदम् । तद् ।५।१। (पूर्ववत् पञ्चमी का लुक्) ।[1] वेद इति लँटि क्रियापदम् । अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध) ।

---

१. जब 'अधीते' या 'वेद' के अर्थ में द्वितीयान्त से ही प्रत्यय करना अभीष्ट है तो वह एक बार के 'तद्' ग्रहण से भी सिद्ध हो सकता है—तदधीते वेद । तो पुनः सूत्र में दो बार के 'तद्' ग्रहण का क्या प्रयोजन ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का उत्तर यह है कि यदि 'तद्' शब्द एक बार ग्रहण करते तो द्वितीयान्त से दोनों अर्थों के समुच्चय में ही प्रत्यय हो सकता पृथक् पृथक् अर्थ में नहीं । अर्थात् तब यदि कोई पढ़ता और उसे जानता भी तभी प्रत्यय होता । जो केवल पढ़ता पर जानता नहीं अथवा जो केवल जानता पर पढ़ता नहीं उस में प्रत्यय न हो सकता । अब दो बार 'तद्' के ग्रहण से दो वाक्य बन जाते हैं—तदधीते, तद्वेद । इस से दोनों अर्थों में पृथक् पृथक् रूप से प्रत्यय सिद्ध हो जाता है । जैसाकि न्यासकार ने

प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः —(तद् =द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अधीते इत्यर्थे) 'पढ़ता है' इस अर्थ में अथवा (तद् =द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (वेद इत्यर्थे) 'जानता है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह है कि जिसे पढ़ता है या जिसे जानता है उस कर्मीभूत से प्रत्यय हो कर पढ़ने वाले या जानने वाले का बोध होता है। उदाहरण यथा—

छन्दोऽधीते वेद वा छान्दसः (जो छन्दःशास्त्र को पढ़ता या जानता है)। यहां 'छन्दस् अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'पढ़ने वाला' या 'जानने वाला' इन अर्थों में **तदधीते तद्वेद** (१०५३) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय हो जाता है—छन्दस् अम्+अ। अब समुदाय के तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् एवं **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि अच् अकार को वृद्धि (आ) कर विभक्ति लाने से 'छान्दसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार— निरुक्तमधीते वेत्ति[1] वा नैरुक्तः (निरुक्तग्रन्थ को पढ़ने वाला या जानने वाला)। निमित्तान्यधीते वेद वा नैमित्तः (शकुनशास्त्रों को पढ़ने वाला या जानने वाला)। निगमान् अधीते वेद वा नैगमः (वेदमन्त्रों को पढ़ने वाला या जानने वाला)। उत्पातान्[2] अधीते वेद वा औत्पातः (उत्पातों का अध्येता या वेत्ता)।

अब ग्रन्थकार प्रकृतसूत्र पर 'वैयाकरणः' उदाहरण प्रदर्शित करने के लिये उस में लगने वाले प्रधान प्रक्रियासूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१०५४)

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ।७।३।३॥

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः, किन्तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमाद् ऐचावागमौ स्तः। व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः॥

अर्थः—पदान्त यकार एवं पदान्त वकार से पर वर्ण के स्थान पर वृद्धि नहीं होती किन्तु उन यकार वकार से पूर्व क्रमशः ऐच् (ऐ, औ) वर्णों का आगम हो जाता है (यकार से पूर्व ऐकार का तथा वकार से पूर्व औकार का आगम होता है)।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। य्वाभ्याम् ।५।२। पदान्ताभ्याम् ।५।२। पूर्वौ ।१।२।

कहा है—**यदि 'तदधीते वेद' इत्येव उच्येत, प्रत्ययार्थद्वयस्य द्वितीयासमर्थे समुच्चयो विज्ञायेत। ततश्च यस्त्वधीते वेत्ति च तत्रैव स्यात्। यस्त्वधीते केवलं न वेत्ति, वेत्ति वा केवलं नाधीते तत्र न स्यात्। द्विस्तद्ग्रहणे तु वाक्यभेदाद् अधीयाने विदुषि च प्रत्येकं प्रत्ययः सिध्यति तदर्थं द्विस्तद्ग्रहणम्।**

१. विग्रह में 'वेद' या 'वेत्ति' कोई सा रूप रखा जा सकता है। दोनों विद् धातु के लँट् के समानार्थक रूप हैं।

२. प्राणिनां शुभाशुभसूचको भूतविकार उत्पात इत्युच्यते।

तु इत्यव्ययपदम् । ताभ्याम् ।५।२। ऐच् ।१।१। वृद्धिः ।१।१। (**मृजेर्वृद्धिः** सूत्र से) । समासः—य् च वश्च य्वौ, ताभ्याम् = य्वाभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । वकारादकार उच्चारणार्थः । अन्वयः—पदान्ताभ्यां य्वाभ्यां (परस्य) न वृद्धिः, तु (किन्तु) ताभ्यां (य्वाभ्याम्) पूर्वौ ऐच् ।[1] अर्थः—(पदान्ताभ्याम्) पदान्त (य्वाभ्याम्) य् व् से परे (वृद्धिर्न) वृद्धि नहीं होती (तु) किन्तु (ताभ्याम्) उन य् व् वर्णों से (पूर्वौ) पूर्व (ऐच्) ऐ, औ वर्ण आ जाते हैं । यथासंख्यपरिभाषा से पदान्त यकार से पूर्व ऐकार का तथा पदान्त वकार से पूर्व औकार का आगम हो जायेगा ।

जब पूर्व में वि, सु, नि में से कोई उपसर्ग या निपात जुड़ा हुआ हो और उस में यण्सन्धि भी की गई हो तो वहां यकार और वकार पदान्त होते हैं । कारणकि अव्यय होने के कारण इन के आगे आये सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हुआ करता है । प्रत्ययलक्षण का आश्रय कर सुँबन्तत्वेन इन की पदसंज्ञा (१४) हुआ करती है । व्याकरण (वि+आकरण), व्यसन (वि+असन), न्याय (नि+आय), न्यास (नि+आस), स्वश्व (सु+अश्व) इत्यादियों में यण्सन्धिजन्य यकार वकार पदान्त हैं अतः इन में ही प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति सम्भव हो सकती है ।

सूत्र का उदाहरण यथा—

व्याकरणमधीते वेत्ति वा वैयाकरणः (व्याकरण का अध्येता या ज्ञाता) । यहां 'व्याकरण अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से **तदधीते तद्वेद** (१०५३) सूत्रद्वारा 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन अर्थों में तद्धित अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा (११७) तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् हो जाता है—व्याकरण+अ । अब **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) द्वारा अङ्ग के आदि अच् आकार के स्थान पर **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से वृद्धि प्राप्त होती है । इस पर प्रकृत **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) सूत्रद्वारा पदान्त यकार से परे उस वृद्धि का निषेध हो जाता है और इस के साथ ही उस यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) वर्ण का आगम भी हो जाता है—व् ऐ याकरण+अ = वैयाकरण+अ । पुनः अण् तद्धित के परे रहते **यस्येति च** (२३६) में भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वैयाकरणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रकृतसूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

व्यसने भवं वैयसनम् (व्यसन में होने वाला) । यहां 'व्यसन ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङि) का लुक् हो जाता है—व्यसन+अ । अब यहां **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा पदान्त यकार से परे अकार को वृद्धि (आ) प्राप्त होती है । इस पर प्रकृत **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) सूत्र से उस का निषेध हो कर यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) का आगम हो जाता है—व् ऐ यसन+अ = वैयसन+अ । पुनः अण् तद्धित के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वैयसनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

---

१. 'पूर्वौ' इत्यनेन सम्बन्धाद् 'ऐचौ' इति प्राप्ते एकवचनं सौत्रमिति हरदत्तः ।

न्यायमधीते वेद वा नैयायिकः (न्यायशास्त्र का अध्येता या ज्ञाता)। यहां 'न्याय अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से **तदधीते तद्वेद** (१०५३) के अर्थों में उक्थादियों में पाठ के कारण **क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्** (४.२.५६) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय ला कर सुँप् (अम्) का लुक् करने से —न्याय + ठ्। अब **किति च** (१००१) से प्राप्त ठग्निमित्तक वृद्धि का **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) से निषेध हो कर पदान्त यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) का आगम भी हो जाता है— न् ऐ याय + ठ् = नैयाय + ठ्। पुनः **ठस्येकः** (१०२७) से 'ठ्' को 'इक' आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'नैयायिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी-तरह—न्यासमधीते वेत्ति वा नैयासिकः (न्यासग्रन्थ का अध्येता वा ज्ञाता)।

स्वश्वस्यापत्यं सौवश्वः (सुन्दर घोड़े की सन्तति)। शोभनोऽश्वः स्वश्वः, प्रादिसमासः। 'स्वश्व ङस्' से **तस्यापत्यम्** (१००४) के अर्थ में शिवादित्वात् **शिवादिभ्योऽण्** (१०१७) से अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङस्) का लुक् करने से —स्वश्व + अ। अब पदान्त वकार से परे प्राप्त अण्निमित्तक वृद्धि का **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) से निषेध हो कर पदान्त वकार से पूर्व ऐच् (औ) का आगम भी हो जाता है— स् औ वश्व + अ = सौवश्व + अ। पुनः **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सौवश्वः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

व्याघ्रस्यापत्यं वैयाघ्रिः (व्याघ्र की सन्तति)। यहां 'व्याघ्र ङस्' से अपत्यार्थ में **अत इञ्** (१०१४) से इञ् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङस्) का लुक् करने से 'व्याघ्र + इ' हुआ। अब यहां पदान्त यकार से परे **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय के अनुसार आकार को भी **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) द्वारा वृद्धि प्राप्त होती है। इस पर **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है और साथ ही पदान्त यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) का आगम भी हो जाता है—व् ऐ याघ्र + इ = वैयाघ्र + इ। पुनः **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वैयाघ्रिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सूत्र में 'पदान्ताभ्याम्' कहने से —एति (गच्छति) इति यन् (शतृँप्रत्ययान्तः),[2]

---

१. काशिकाकारेण न य्वाभ्यामिति सूत्रव्याख्याने स्वश्वस्यापत्यं सौवश्व इत्युक्तम्। न्यासकारेण जिनेन्द्रबुद्धिना पदमञ्जरीकारेण हरदत्तेन च शिवादित्वादण् इति तत्र स्पष्टं व्याख्यायि। परमन्ये नैवं मन्यन्ते। हेमचन्द्रेण स्वोपज्ञबृहद्वृत्तौ (७.४.५) स्वश्वस्यापत्यं सौवश्विः, स्वश्वस्यायं सौवश्व इति व्याख्यातम्। बालमनोरमा-कारेणाप्यत्र स्वश्वस्यापत्यं सौवश्विरित्युक्तम्। एतैर् अपत्येऽर्थे **अत इञ्** (१०१४) इति इञ्प्रत्ययः स्वीकृतः।

२. **इण् गतौ** (अदा० परस्मै०) इत्यस्माल्लँटः शतरि, शपि, अदादित्वात् तल्लुकि **इणो यण्** (५७८) इति यणि 'यत्' इति शत्रन्तः शब्दो निष्पद्यते। यन्, यन्तौ, यन्त इत्येवं तस्य रूपमाला बोध्या।

यत इमे छात्राः—याताः । शैषिक अण् के परे रहते यहां अपदान्त यकार से पूर्व ऐच् का आगम नहीं होता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा **तदधीते तद्वेद** के अर्थों में वुन् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०५५) क्रमादिभ्यो वुन् ।४।२।६०॥**

क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ क्रम आदि प्रातिपदिकों से 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन पूर्वोक्त अर्थों में तद्धितसंज्ञक 'वुन्' प्रत्यय हो।

व्याख्या—क्रमादिभ्यः ।५।३। वुन् ।१।१। **तदधीते तद्वेद** (१०५३) का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—क्रम-शब्द आदिर्येषान्ते क्रमादयः, तेभ्यः=क्रमादिभ्यः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(तद्=द्वितीयान्तेभ्यः) द्वितीयान्त (क्रमादिभ्यः) क्रम आदि प्रातिपदिकों से ('अधीते' इत्यर्थे, 'वेद' इत्यर्थे वा) 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वुन्) वुन् प्रत्यय होता है।

वुन् के नकार की **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत् संज्ञा हो जाती है। 'वु' मात्र शेष रहता है। 'वु' को **युवोरनाकौ** (७८५) से 'अक' आदेश हो जाता है। प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्रद्वारा पद को आद्युदात्त करना है। इस प्रत्यय के परे रहते आदिवृद्धि की प्रसक्ति नहीं होती। उदाहरण यथा—

क्रमम् अधीते वेत्ति वा क्रमकः (वैदिक क्रमपाठ को पढ़ने या जानने वाला)। यहां 'क्रम अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन अर्थों में प्रकृत **क्रमादिभ्यो वुन्** (१०५५) सूत्रद्वारा वुन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **युवोरनाकौ** (७८५) से 'वु' को 'अक' आदेश करने पर– क्रम+अक। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अन्त्य अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'क्रमकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

क्रमादिगण में कुल पाञ्च शब्द गिनाये गये है—

क्रम । पद । शिक्षा । मीमांसा । सामन् ।

पदमधीते वेत्ति वा पदकः (वैदिक पदपाठ को पढ़ने या जानने वाला)। यहां भी पूर्ववत् वुन् प्रत्यय, अक आदेश, सुँब्लुक् तथा अन्त्य अकार का लोप हो जाता है।

शिक्षामधीते वेद वा शिक्षकः (शिक्षाग्रन्थ को पढ़ने या जानने वाला)। यहां भी पूर्ववत् वुन् प्रत्यय, अक आदेश, सुँब्लुक् तथा अन्त में आकार का लोप हो जाता है।

मीमांसामधीते वेद वा मीमांसकः (मीमांसाशास्त्र को पढ़ने या जानने वाला)। इस की प्रक्रिया पूर्वोक्त 'शिक्षकः' की तरह जानें।

सामानि अधीते वेद वा सामकः (साममन्त्रों को पढ़ने या जानने वाला)। यहां 'सामन्+अक' में **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा टि (अन्) का लोप विशेष है।

इन के अतिरिक्त कुछ अन्य सूत्रों वा वार्त्तिकोंद्वारा भी **तदधीते तद्वेद** (१०५३) के अर्थ में कई अन्य प्रत्यय विधान किये गये हैं। कुछ प्रसिद्ध प्रयोग यथा—

१. इतिहासमधीते वेत्ति वा ऐतिहासिकः (ठक्) ।
२ पुराणान्यधीते वेत्ति वा पौराणिकः (ठक्) ।
३. यज्ञमधीते वेत्ति वा याज्ञिकः (ठक्) ।
४. संहितामधीते वेत्ति वा सांहितिकः (ठक्) ।
५. आयुर्वेदमधीते वेत्ति वा आयुर्वैदिकः (ठक्) ।[1]
६. पाणिनीयमधीते वेत्ति वा पाणिनीयः ।[2]
इन के लिये काशिकावृत्ति का अवलोकन करें ।

अभ्यास [३]

(१) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्त रूप ससूत्र सिद्ध करें—
१. वायुर्देवताऽस्य । २. न्यायमधीते वेद वा । ३. स्त्रीणां समूहः । ४. चर्मणा परिवृतः । ५. पदातीनां समूहः । ६. शिक्षामधीते वेत्ति वा । ७. धेनूनां समूहः । ८. पितरो देवता अस्य । ९. जनानां समूहः । १०. हस्तिनां समूहः । ११. मातुर्भ्राता । १२. कषायेण रक्तम् । १३. वामदेवेन दृष्टं साम । १४. भ्राष्ट्रेषु संस्कृता यवाः । १५. इन्द्रो देवताऽस्य । १६. पशुपतिर्देवताऽस्य । १७. शुक्रो देवताऽस्य । १८. युवतीनां समूहः । १९. शरावे उद्धृतः । २०. अपूपानां समूहः ।

(२) विग्रह दर्शाते हुए अधोलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. नैयासिकः । २. मीमांसकः । ३. गार्भिणम् । ४. वैयाकरणः । ५. बार्हस्पत्यम् । ६. शुक्रियम् । ७. मातामही । ८. साक्तुकम् । ९. सहायता । १०. ग्रामता । ११. अद्य पुष्यः । १२. अहीनः । १३. काकम् । १४. उषस्यम् । १५. सौम्यम् । १६. क्रमकः । १७. यौवतम् । १८. वास्त्रः । १९. पौषमहः । २०. नैरुक्तः ।

(३) अधोनिर्दिष्ट सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् । २. लुबविशेषे । ३. इसुसुक्तान्तात्कः । ४. न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्० । ५. तदधीते तद्वेद । ६. इनण्यनपत्ये । ७. तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः । ८. नक्षत्रेण युक्तः कालः । ९. संस्कृतं भक्षाः । १०. तेन रक्तं रागात् । ११. साऽस्य देवता । १२. वाय्वृतुपित्रुषसो यत् । १३. रीङ् ऋतः ।

(४) निम्नस्थ वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

---

१. यहां उभयपदवृद्धि की गई है । परन्तु गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान तथा आचार्य हेमचन्द्र यहां उत्तरपद में वृद्धि नहीं मानते । उन के अनुसार 'आयुर्वैदिकः' रूप ही बनता है ।

२. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं शास्त्रम् । **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छः । ततोऽध्येतृ-वेदितृप्रत्ययस्य अणः **प्रोक्ताल्लुक्** (४.२.६३) इति लुक् ।

१. भस्याढे तद्धिते । २. अह्नः खः क्रतौ । ३. तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि यलोप इति वाच्यम् । ४. गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् ।

(५) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—

[क] **तदधीते तद्वेद** में तद्‌शब्द का दो बार ग्रहण क्यों किया गया है ?

[ख] **तेन रक्तं रागात्** में 'रागात्' का ग्रहण क्यों किया गया है ?

[ग] ड्यत् और ड्य प्रत्ययों को डित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[घ] 'शरावे उद्‌धृतः' यहां अपादान में पञ्चमी क्यों न हो ?

[ङ] भक्ष्य और भक्ष में क्या अन्तर है ?

[च] उषस्यम् में सकार को रुँत्व क्यों नहीं होता ?

(६) **पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः** सूत्र में किस किस कार्य का निपातन किया गया है ?

(७) अधोनिर्दिष्टों पर व्याकरणसम्बन्धी टिप्पण लिखें—

[क] नक्षत्र से युक्त काल ।

[ख] युवतीनां समूहः—(यौवनम्, यौवतम्) ।

[ग] षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषः ।

[घ] अद्य पुष्यम्, पौषमहः ।

[ङ] काषायौ गर्दभस्य कर्णौ ।

[च] तल्प्रत्ययान्तों का लिङ्ग ।

[छ] समूहार्थकतद्धितान्तों का लिङ्ग ।

[ज] अश्वोवासश्च माञ्जिष्ठिकम् ।

[झ] हिन्दी 'सहायता' Versus संस्कृत 'सहायता' ।

[लघु०] इति रक्ताद्यर्थकाः ॥

(यहां रक्तादि अर्थों वाले तद्धितप्रत्ययों का विवेचन समाप्त हुआ ।)

——:०:——

अथ चातुरर्थिकाः

अब यहां से आगे चातुरर्थिकप्रकरण प्रारम्भ होता है । चतुर्णाम् अर्थानां समाहारः—चतुरर्थी, तत्र भवाश्चातुरर्थिकाः ।[1] इस प्रकरण में चार अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया गया है अतः यह चातुरर्थिकप्रकरण है । वे चार अर्थ ये हैं—(१) इस में है—ऐसा देश । (२) उस ने बनाया या बसाया—ऐसा नगर । (३) उस का निवास

१. अध्यात्मादित्वात् (वा० ८६) ठञ् । चतुर्षु अर्थेषु भवा इति तद्धितार्थे द्विगौ तु **द्विगोर्लुगनपत्ये (४.१.८८)** इति ठञो लुक् स्यात् । नागेशभट्टास्तु चतुर्णां सूत्रणामर्थाः —चतुरर्थाः, तत्र भवाश्चातुरर्थिका इत्येवमाहुः ।

—ऐसा देश । (४) उस से जो दूर नहीं—ऐसा देश । अब आगे क्रमशः इन अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया जायेगा । प्रथम अर्थ में यथा—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(१०५६)

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ।४।२।६६।।

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे—औदुम्बरो देशः ।।

अर्थः—'वह इस में है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रकृतिप्रत्यय-समुदायात्मक शब्द देश का नाम हो तो ।

व्याख्या—तद् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण तद्शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । अस्मिन् ।७।१। अस्ति इति तिङन्तम्पदम् । इति इत्यव्यय-पदम् । देशे ।७।१। तन्नाम्नि ।७।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । समासः—तत् (प्रत्ययान्तं रूपम्) नाम यस्य तत् तन्नाम, तस्मिन् = तन्नाम्नि, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(तत् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अस्मिन् अस्ति इत्यर्थे) 'वह इस में है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है यदि (तन्नाम्नि) वह प्रत्ययान्त शब्द (इति) किसी प्रसिद्ध (देशे) देश का नाम हो तो ।[1]

यह सूत्र आगे आने वाले मतुँप् प्रत्यय (११८५) का अपवाद है । उदाहरण यथा—

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे—औदुम्बरो देशः (उदुम्बर अर्थात् गूलर के पेड़ जिस देश में हैं तन्नामक वह देश) ।[2] 'उदुम्बर+जस्' इस प्रथमान्त समर्थ से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में प्रकृत **तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि** (१०५६) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय, अनुबन्ध णकार का लोप तथा तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (जस्) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—उदुम्बर+अ । अब **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'औदुम्बरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यह स्थानविशेष की सञ्ज्ञा है । इसीप्रकार—

---

१. यहां 'देश' से साधारणतया स्थानमात्र अर्थ अभिप्रेत है । अतः यथासम्भव प्रदेश, नगर, ग्राम, जनपद आदि सब का यथोचित ग्रहण हो जाता है । किञ्च सूत्र में 'अस्ति' पदगत एकवचन को भी यहां अविवक्षित समझना चाहिये । इस से द्विव-चनान्तों एवं बहुवचनान्तों के ग्रहण में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । इसी-प्रकार—**तेन निर्वृत्तम्** (१०५७), **तस्य निवासः** (१०५८) आदि में भी समझ लेना चाहिये ।

२. यह किसी प्राचीन प्रसिद्ध प्रदेश का नाम है । प्रत्येक स्थान जहां उदुम्बर होंगे, औदुम्बर नहीं कहायेगा । इसीप्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिये ।

बसाया बनाया अण्

बल्वजाः[1] सन्त्यस्मिन् देशे—बाल्वजो देशः ।

पर्वताः सन्त्यस्मिन् देशे—पार्वतो देशः ।

यह सूत्र कुछ योगरूढ शब्दों की सिद्धि के लिये ही बनाया गया है । आधुनिक संकेतों में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । सूत्र में 'इति' शब्द के ग्रहण का यही रहस्य है ।

अब दूसरे चातुरर्थिक प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५७) **तेन निर्वृत्तम्** ।४।२।६७।।

कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी ।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'बनाया गया या बसाया गया' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रत्ययान्त शब्द देश का नाम हो तो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । निर्वृत्तम् ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से लब्ध) । 'इति देशे तन्नाम्नि' इन पदों की पूर्वसूत्र (१०५३) से अनुवृत्ति आ रही है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । 'निर्वृत्तम्' शब्द निर्पूर्वक **वृतुँ वर्त्तने** (भ्वा० आत्मने०) धातु से क्तप्रत्यय करने पर सिद्ध हुआ है । यहां वृतुँ धातु अन्तर्भावितण्यर्थ प्रयुक्त की गई है अतः सकर्मक हो जाने से इस से कर्म में क्त का प्रयोग समझना चाहिये । इस प्रकार 'निर्वृत्त' का अर्थ 'बना हुआ' न हो कर 'बनाया गया' हो जाता है । निर्वृत्तम्=निर्वर्त्तितम् इत्यर्थः । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (निर्वृत्तम्=निर्वर्त्तितम् इत्यर्थे) 'बनाया गया—बसाया गया' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है यदि (तन्नाम्नि) वह तद्धितान्त शब्द (इति देशे) किसी प्रसिद्ध देश=स्थान का नाम हो तो । उदाहरण यथा—

कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी (कुशाम्ब राजा से बनाई या बसाई गई नगरी) ।[2] यहां 'कुशाम्ब टा' इस तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'बनाई या बसाई गई'

---

१. बल्वजाः=तृणविशेषाः । यैं रज्जुमेखलादयो निर्मीयन्ते । उक्तञ्च मनुना—**मुञ्जाऽलाभे तु कर्त्तव्याः कुशाश्मन्तक-बल्वजैः** (मनु० २.४३) । । महाभाष्येऽपि—**एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थः, तत्समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति** (महाभाष्य (१.२.४५) ।

२. कौशाम्बी भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त प्राचीन नगरी है । इस का उल्लेख वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड अध्याय (३२) में किया गया है । महर्षि विश्वामित्र के साथ जब राम और लक्ष्मण मिथिला को जा रहे थे तब विश्वामित्र ने उन से पार्श्वस्थ नगरों का वर्णन किया था । विश्वामित्र कहते हैं—"कुशनामक एक ब्रह्मपुत्र थे । उन के कुशाम्ब, कुशनाभ आदि चार पुत्र थे । इन चारों ने एक-एक नगर बसाया था । कुशाम्ब ने कौशाम्बी नगरी बसाई ।" बाद के इतिहास में

अर्थ में प्रकृत **तेन निर्वृत्तम्** (१०५७) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय ला कर सुँब्लुक्, आदि-वृद्धि और भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'कौशाम्ब' बना। अब नगरी विशेष्य के अनुसार स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसञ्ज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कौशाम्बी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार– सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा (एक हजार सुवर्ण-मुद्राओं या व्यक्तियों से बनाई गई खाई)।

अब तीसरे चातुरर्थिक प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०५८) तस्य निवासः ।४।२।६८।।**

शिबीनां निवासो देशः शैबः ।।

अर्थः – षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'उस का निवास' इस अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। निवासः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से)। 'इति देशे तन्नाम्नि' पदों की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। रहने के स्थान को निवास कहते हैं, निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (निवास इत्यर्थे) निवास अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है यदि (तन्नाम्नि) वह प्रत्ययान्त शब्द (इति देशे) किसी प्रसिद्ध देश का नाम हो तो।

उदाहरण यथा—

शिबीनां निवासः शैबो देशः (शिबिनामक क्षत्रियों का निवास स्थान देश)। यहां 'शिबि आम्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से निवास अर्थ में प्रकृत **तस्य निवासः** (१०५८) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (आम्) का लुक् एवम् आदिवृद्धि करने पर 'शैबि+अ' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शैबः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

उदिष्टानां निवासो देश औदिष्टः (काशिकायाम्)।

ऋजुनावां[1] निवासो देश आर्जुनावः (काशिकायाम्)।

अब चौथे चातुरर्थिक प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०५९) अदूरभवश्च ।४।२।६९।।**

विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम् ।।

भी उदयन आदि राजाओं का इस नगरी से सम्बन्ध रहा है। आजकल प्रयाग (इलाहाबाद) से तीस मील उत्तरपश्चिम की ओर कोसम नाम का एक ग्राम अवस्थित है। शायद इस के आस पास कहीं कौशाम्बी नगरी स्थित रही होगी।

१. ऋज्वी नौर्यस्य स ऋजुनौः, तेषाम्=ऋजुनावाम्।

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'निकट होने वाला' अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो जाता है यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो ।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (**तस्य निवासः** सूत्र से । षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमीविभक्ति का सौत्र लुक् हुआ है) । अदूरभवः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से) । 'इति देशे तन्नाम्नि' पदों की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । भवतीति भवः, अदूरे (निकटे) भवः—अदूरभवः, निपातनात्सप्तमी-तत्पुरुषः । अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (अदूरभव इत्यर्थे) 'उसके निकट होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है यदि (तन्नाम्नि) वह प्रत्ययान्त शब्द (इति देशे) किसी प्रसिद्ध देश=स्थान का नाम हो तो । उदाहरण यथा—

विदिशाया अदूरभवं वैदिशं नगरम् (विदिशा[1] के निकट कोई प्राचीन नगर) । यहां 'विदिशा ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'निकट स्थित' अर्थ में प्रकृत **अदूर-भवश्च** (१०५९) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक आकार का लोप कर विशेष्य (नगरम्) के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में **अतोऽम्** (२३४) द्वारा सुँ को अम् और **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'वैदिशम्' (नगरम्) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

हिमवतोऽदूरभवं हैमवतम् (काशिका) ।

पम्पायाः (सरसः) अदूरभवानि पाम्पानि वनानि (भाषावृत्तौ) ।[2]

टिप्पणी—सूत्रे चकारः पूर्वेषां त्रयाणामर्थानामिह सन्निधानार्थः । तेनोत्तरत्र **ओरञ्** (४.२.७०) इत्यादिषु सूत्रेषु चत्वारोऽप्यर्थाः सम्बध्यन्ते ।

अब जनपद के वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्यय के लुप् (अदर्शन) का विधान करते हैं —

---

१. विदिशा नगरी प्राचीन काल में दशार्णदेश की राजधानी थी, जैसा कि कालिदास ने मेघदूत (श्लोक २४) में लिखा है—
तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम् ।
मालवदेश की एक नदी का नाम भी विदिशा है ।

२. इस का प्रयोग यथा—
नन्दनानि मुनीन्द्राणां रमणानि वनौकसाम् ।
वनानि भेजतुर्वीरौ ततः पाम्पानि राघवौ ॥ (भट्टि० ६.७३)
कुछ लोग 'पम्पा' का वरणादिगण में पाठ मानते हैं । उनके मतानुसार चातुरर्थिक प्रत्यय का **वरणादिभ्यश्च** (१०६२) सूत्रद्वारा लुप् हो कर **लुपि युक्तवद् व्यक्ति-वचने** (१०६१) से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन लाने से 'पम्पा वनानि' बनेगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६०) **जनपदे लुप्** ।४।२।८०।।

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप् ।।

अर्थः—जनपद वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् हो जाता है ।

व्याख्या—जनपदे ।७।१। लुप् ।१।१। चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य—यह प्रकरण तः प्राप्त हो जाता है । अर्थः—(जनपदे) जनपद के वाच्य होने पर (चातुरर्थिकस्य) पूर्वोक्त चार अर्थों में विहित प्रत्यय का (लुप्) लुप् हो जाता है ।

ग्रामाणां समूहो जनपदः (काशिका) । ग्रामों के समूह को जनपद कहते हैं । पिछले चार सूत्रों (१०५६—१०५९) के द्वारा चार अर्थों में देश के वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्ययों का विधान किया गया है । देश के कई भेद हैं—ग्राम, नगर, नगरी, जनपद, परिखा, वन आदि । देश का भेदविशेष जनपद (ग्रामसमूह) वाच्य हो तो पूर्व-विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् (लोप) हो जायेगा । लुप् भी प्रत्यय के अदर्शन की ही संज्ञा है [देखें—**प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** (१८९)] । प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी प्रत्यय का अर्थ तो रहेगा ही । कहा भी है—**यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी ।**

उदाहरण यथा—

पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः (पञ्चाल क्षत्रियों का निवास जन-पद) । 'पञ्चाल आम्' इस षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'निवास' अर्थ में **तस्य निवासः** (१०५८) सूत्रद्वारा जनपद की वाच्यता में अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (आम्) का लुक् हो जाता है—पञ्चाल+अ । अब जनपद की वाच्यता होने के कारण प्रकृत **जनपदे लुप्** (१०६०) सूत्र से चातुरर्थिक प्रत्यय अण् का भी लुप् हो जाता है । इस तरह 'पञ्चाल' मूलप्रकृति रह जाता है ।[1] जनपद विशेष्य के अनुसार इस से भी तद्वत् लिङ्ग और वचन प्राप्त होते हैं । परन्तु अग्रिमसूत्र **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** (१०६१) से प्रकृति के अनुसार लिङ्ग और वचन हो जाते हैं । प्रकृति (पञ्चाल) का लिङ्ग पुंलिङ्ग और वचन बहुवचन था अतः यहां पर भी उस के अनुसार पुंलिङ्ग में बहुवचन लाने से 'पञ्चालाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—

कुरूणां निवासो जनपदः—कुरवः ।[2]
अङ्गानां निवासो जनपदः—अङ्गाः ।
वङ्गानां निवासो जनपदः—वङ्गाः ।
कलिङ्गानां निवासो जनपदः—कलिङ्गाः ।

मगधानां निवासो जनपदः—मगधाः ।
सुह्मानां निवासो जनपदः—सुह्माः ।
पुण्ड्राणां निवासो जनपदः—पुण्ड्राः ।
मत्स्यानां निवासो जनपदः—मत्स्याः ।

अब लुप्प्रत्ययान्तों से प्रकृति के समान लिङ्ग और वचन का विधान करते हैं—

---

१. ध्यान रहे कि यदि लुप् हुए प्रत्यय को मान कर अङ्ग के आदि अच् को **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा वृद्धि करने की ठानेंगे तो न **लुमताङ्गस्य** (१९१) सूत्र से उस का निषेध हो जायेगा ।

२. **श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।**
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ।। (किरात० १.१)

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(१०६१)

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ।१।२।५१।।

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । वङ्गाः । कलिङ्गाः ।।

अर्थः—प्रत्यय का लुप् होने पर (अवशिष्ट शब्द से) प्रकृति के समान ही लिङ्ग और वचन होते हैं ।

व्याख्या—लुपि ।७।१। युक्तवद् इत्यव्ययपदम् । व्यक्तिवचने ।१।२। समासः—व्यक्तिश्च वचनं च व्यक्तिवचने, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(लुपि) प्रत्यय का लुप् होने पर (युक्तवद्) प्रकृति की तरह (व्यक्तिवचने) लिङ्ग और वचन होते हैं । सूत्र में 'युक्त' का अर्थ प्रकृति तथा 'व्यक्ति' का अर्थ लिङ्ग है । ये पूर्वाचार्यों की संज्ञाएं हैं ।

तात्पर्य यह है कि जिस शब्द से विधान किये प्रत्यय का लुप् किया जाता है लुप् करने के बाद अवशिष्ट उस शब्द से लिङ्ग और वचन विशेष्य के अनुसार नहीं लगाने चाहियें अपितु उस प्रकृति (जिस से लुप्यमान प्रत्यय विधान किया गया था) के अनुसार लिङ्ग और वचन लगाने चाहियें । यथा—पञ्चालाः जनपदः । यहां पञ्चाल-शब्द से निवास अर्थ में अण् प्रत्यय किया गया था, उस का **जनपदे लुप्** (१०६०) से लुप् हो गया तो 'पञ्चाल' शब्द अवशिष्ट रहा । अब यह पञ्चालशब्द यद्यपि 'जनपदः' का विशेषण है तथापि इस से विशेष्यानुसार लिङ्ग-वचन नहीं होते किन्तु प्रकृति के अनुसार ही लिङ्ग-वचन होते हैं । जिस से प्रत्यय विधान किया जाता है उसे प्रकृति कहते हैं—**प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः** । यहां चातुरर्थिक अण् प्रत्यय पञ्चालशब्द से विधान किया गया था अतः 'पञ्चाल' प्रकृति है । उस प्रकृति का लिङ्ग पुंलिङ्ग और वचन बहुवचन है अतः यहां अवशिष्ट पञ्चालशब्द से भी पुंलिङ्ग का बहुवचन हो कर 'पञ्चालाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार—अङ्गाः, वङ्गाः, कुरवः, कलिङ्गाः आदि में जानना चाहिये । इन सब का विग्रह और सिद्धि पूर्वसूत्र पर दिखा चुके हैं ।

यद्यपि पञ्चालाः, अङ्गाः, वङ्गाः, कुरवः आदियों में केवल वचन को प्रकृतिवत् करने से भी कार्य सिद्ध हो जाता है क्योंकि लिङ्ग तो विशेष्य (जनपदः) का भी पुंलिङ्ग ही है अतः विशेष्यानुसार लिङ्ग मान लेने पर भी कोई दोष नहीं आ सकता, तथापि जहां प्रकृति का लिङ्ग विशेष्य के लिङ्ग से भिन्न होता है वहां लिङ्ग का अतिदेश करना परम आवश्यक होता है । यथा—कटुबदर्या अदूरभवो ग्रामः कटुबदरी ग्रामः । यहां कटुबदरीशब्द से **अदूरभवश्च** (१०५९) सूत्रद्वारा विहित चातुरर्थिक अण् प्रत्यय का वक्ष्यमाण **वरणादिभ्यश्च** (१०६२) सूत्र से लुप् हो जाता है । इस प्रकार 'कटुबदरी' शब्द ही अवशिष्ट रहता है । अब इस का लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत् होता है, विशेष्य (ग्रामः) के अनुसार नहीं । प्रकृति का लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और वचन एकवचन था अतः अवशिष्ट 'कटुबदरी' शब्द का भी लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और वचन एकवचन होगा ।

'लुपि' इति किम् ? लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत् तभी होते हैं जब प्रत्यय का लुप् हुआ हो । लुक् आदि होने पर लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत नहीं होते वरन् विशेष्य-वत् ही होते हैं । यथा—

लवणेन संसृष्टः—लवणः सूपः, लवणौ सूपौ, लवणाः सूपाः ।

लवणेन संसृष्टा—लवणा यवागूः, लवणे यवाग्वौ, लवणाः यवाग्वः ।

लवणेन संसृष्टम्—लवणं शाकम्, लवणे शाके, लवणानि शाकानि ।

यहां तृतीयान्त लवणप्रातिपदिक से **संसृष्टे** (११२१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय हो कर **लवणाल्लुक्** (४.४.२४) सूत्र से उस का लुक् हो जाता है । यहां प्रत्यय का लुक् हुआ है लुप् नहीं, अतः लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत् न हो कर विशेष्य के अनुसार होते हैं जैसाकि उदाहरणोंद्वारा स्पष्ट है ।

अब जनपद के वाच्य न होने पर भी कुछ शब्दों से चातुरर्थिक प्रत्यय के लुप् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६२) वरणादिभ्यश्च ।४।२।८१।।

(वरणादिभ्यश्च चातुरर्थिकस्य लुप् स्यात्) । अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः ।।

अर्थः—वरणा आदि शब्दों से परे चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् हो । **अजनपदार्थ आरम्भः**—जनपदभिन्न वाच्य के लिये यह सूत्र बनाया गया है ।

व्याख्या—वरणादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । चातुरर्थिकस्य ।६।१। (प्रकरणतः लब्ध) । लुप् ।१।१। (**जनपदे लुप्** सूत्र से) । समासः—वरणाशब्द आदिर्ये-षान्ते वरणादयः, तेभ्यः=वरणादिभ्यः ।[1] तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(वरणादिभ्यः) वरणा आदि शब्दों से परे (चातुरर्थिकस्य) चातुरर्थिक प्रत्यय का (लुप्) लुप् हो जाता है ।

जनपदे लुप् (१०६०) सूत्र से जनपद की वाच्यता में चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् कहा गया है । यहां पुनः अजनपद (नगर, ग्राम आदि) की वाच्यता में भी वरणादि शब्दों से परे उस के लुप् का विधान कर रहे हैं । उदाहरण यथा—

---

१. केषाञ्चिन्मते गणस्यास्यादौ वरणशब्दो वर्त्तते । वरणो वृक्षविशेषः । वरणादिगणो यथा—

वरणाः (वरण इति काशिका) । गोदौ । शृङ्गी । शाल्मली । शुण्डी । शयाण्डी । पर्णी । ताम्रपर्णी । आलिङ्ग्यायन । जानपदी (जालपदी) । जम्बू । पुष्कर । चम्पा । पम्पा । वल्गु । उज्जयिनी । गया । मथुरा । तक्षशिला । उरसा (उरशा) । गोमती । वलभी । कटुबदरी । शिरीषाः । काञ्ची । सदाण्वी । वणिकि । वणिक । आकृतिगणोऽयम् । (सूत्रे चकारोऽनुक्त-समुच्चयार्थः । तेनास्य गणस्याकृतिगणत्वं व्यज्यत इति काशिकाकारः) ।

वरणानाम् अदूरभवं नगरं वरणाः (वरणानदी के निकटवर्त्ती कोई प्राचीन नगर)। वरणा काशी के निकट उत्तरदिशा में स्थित एक नदी है।[1] इस का आदरार्थ या अवयवबाहुल्य के कारण बहुवचनान्त प्रयोग प्रसिद्ध है। यहां 'वरणा आम्' से अदूर-भव अर्थ में **अदूरभवश्च** (१०५९) सूत्रद्वारा चातुरर्थिक अण् प्रत्यय करने पर तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा कर **सुँपो धातु०** (७२१) से सुँप् (आम्) का लुक् हो जाता है—वरणा+अ। पुनः प्रकृत-सूत्र **वरणादिभ्यश्च** (१०६२) द्वारा चातुरर्थिक अण् का लुप् हो कर **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** (१०६१) से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन (स्त्रीलिङ्ग का बहुवचन) करने से 'वरणाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

गोदौ नाम ह्रदौ। गोदयोरदूरभवो ग्रामो गोदौ।

कटुबदर्या अदूरभवो ग्रामः कटुबदरी।

शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः।

तक्षशिलाया अदूरभवा भूमिः तक्षशिला (प्रक्रियासर्वस्वे)।

अब चातुरर्थिक प्रकरण में ड्मतुँप् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् **(१०६३)**

कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुँप् ।४।२।८६।

अर्थः—कुमुद, नड और वेतस इन तीन सुँबन्त प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त अर्थों में तद्धितसंज्ञक ड्मतुँप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—कुमुद-नड-वेतसेभ्यः।५।३। ड्मतुँप्।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। कुमुदाश्च नडाश्च वेतसाश्च कुमुद-नड-वेतसाः, तेभ्यः=कुमुद-नड-वेतसेभ्यः। इतरेतरद्वन्द्वः। यह प्रत्यय यद्यपि चातुरर्थिक है तथापि मत्वर्थ अर्थात् 'वह इस में है ऐसा देश' इस एक अर्थविशेष में ही इष्ट है। **न पदान्तद्विर्वचन०** (१.१.५७) सूत्र के भाष्य तथा प्रदीप में इस का स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थः—(कुमुद-नड-वेतसेभ्यः) कुमुद, नड और वेतस इन प्रथमान्त प्राति-पदिकों से (तदस्मिन्नस्तीति देशे) 'वह इस में है ऐसा देश' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ड्मतुँप्) ड्मतुँप् प्रत्यय होता है।

ड्मतुँप् प्रत्यय के डकार की चुटू (१२९) द्वारा, पकार की **हलन्त्यम्** (१) द्वारा तथा उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्रद्वारा इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है, 'मत्' मात्र शेष रहता है। डित्त्वसामर्थ्यात् **टेः** (२४२) सूत्र से टि का लोप करने के लिये इसे डित् किया गया है। पकार अनुबन्ध अनुदात्तस्वर के लिये तथा उकार अनुबन्ध उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया है।

इस सूत्र के उदाहरणों में वक्ष्यमाण दो सूत्रों का उपयोग होता है अतः इस के उदाहरण उन सूत्रों पर दिये जायेंगे।

---

१. वरणा नाम नदी काश्या उत्तरतः प्रसिद्धा। अवयवाभिप्रायं पूजार्थं वा बहुवचनम् —इति बालमनोरमा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६४) **झयः** ।८।२।१०।।

झयन्ताद् मतोर्मस्य वः । कुमुद्वान् । नड्वान् ।।

अर्थः—झय्प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण से परे मतुँ के मकार के स्थान पर 'व्' आदेश हो ।

व्याख्या—झयः ।५।१। मतोः ।६।१। वः ।१।१। (**मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** सूत्र से । वकारादकार उच्चारणार्थः) । यहां मतुँप्रत्ययाक्षिप्त 'प्रातिपदिकात्' का अध्याहार कर 'झयः' को उस का विशेषण बना कर विशेषण से तदन्तविधि कर ली जाती है—झयन्तात् प्रातिपदिकात् । झय् एक प्रत्याहार है जिस में वर्गपञ्चम वर्णों को छोड़ कर अन्य सब वर्गीय वर्ण आ जाते हैं । अर्थः—(झयः=झयन्तात् प्रातिपदिकात्) झय् प्रत्याहार जिस के अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक से परे (मतोः) मतुँ के स्थान पर (वः) 'व्' आदेश हो जाता है ।

झयन्त से परे मतुँ के स्थान पर होने वाला यह आदेश **आदेः परस्य** (७२) परिभाषाद्वारा मतुँ के आदि वर्ण अर्थात् मकार के स्थान पर ही होता है । किञ्च आदिश्यमान यह वकार, विधीयमान होने से सवर्णों का ग्राहक (११) नहीं होता अतः अनुनासिक मकार के स्थान पर भी निरनुनासिक वकार ही आदिष्ट होता है ।

कुछ उदाहरण यथा—

अग्निचित्+मत्=अग्निचित्+वत्=अग्निचित्वान् (ग्रामः) ।

उदश्वित्+मत्=उदश्वित्+वत्=उदश्वित्वान् (घोषः) ।

विद्युत्+मत्=विद्युत्+वत्=विद्युत्वान् (बलाहकः) ।

मरुत्+मत्=मरुत्+वत्=मरुत्वान् (इन्द्रः) ।[1]

दृषद्+मत्=दृषद्+वत्=दृषद्वान् (देशः) ।

पूर्वसूत्रस्थ प्रकृत उदाहरण यथा—

कुमुदाः सन्त्यस्मिन् देशे इति कुमुद्वान् देशः (कुमुद अर्थात् श्वेतकमल जिस में हैं ऐसा तन्नामक देश) । यहां 'कुमुद जस्' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय (१०५६) का बाध कर **कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुँप्** (१०६३) सूत्रद्वारा ड्मतुँप् तद्धित ला उस के अनुबन्धों का लोप कर सुँप् (जस्) का भी लुक् कर देने से 'कुमुद+मत्' हुआ । अब ड्मतुँप् के डित्त्वसामर्थ्य से, भसंज्ञा न होते हुए भी **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि (दकारोत्तर अकार) का लोप हो कर 'कुमुद्+मत्' इस स्थिति में प्रकृत **झयः** (१०६४) सूत्र से दकार झय् से परे मतुँ के मकार को वकार आदेश हो जाता है—कुमुद्+वत्=कुमुद्वत् । पुनः विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम, अनुबन्धलोप,

---

१. इन उदाहरणों में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय किया गया है । **तसौ मत्वर्थे** (११८६) सूत्रद्वारा तकारान्तों की भसंज्ञा हो जाने से पदत्व के अभाव के कारण **झलां जशोऽन्ते** (६७) से तकार को जश्त्वेन दकार नहीं होता ।

हल्ङ्यादिद्वारा सुँलोप तथा अन्त में तकार का भी संयोगान्तलोप करने से 'कुमुद्वान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **कुमुद्वान् कुमुदप्राये** इत्यमरः।[1]

इसीप्रकार—नडाः सन्त्यस्मिन्निति नड्वान् देशः (नडतृण जिस में हैं ऐसा तन्नामक देश)। यहां भी पूर्वोक्तप्रकारेण नडशब्द से ड्मतुँप् प्रत्यय हो कर टि का लोप और मतुँ के मकार को वकार हो जाता है।[2]

अब तीसरे उदाहरण 'वेतस्वान्' प्रयोग की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६५)

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः।८।२।६॥

मवर्णावर्णान्ताद् मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात् परस्य मतोर्मस्य वः। वेतस्वान् ॥

अर्थः—मकारान्त, अवर्णान्त, मकारोपध तथा अवर्णोपध—इन चार प्रकार के प्रातिपदिकों से परे मतुँ के मकार को वकार आदेश हो जाता है परन्तु यवादिगणपठित प्रातिपदिकों से परे नहीं होता।

व्याख्या—मात् ।५।१। उपधायाः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। मतोः ।६।१। वः ।१।१। (वकारादकार उच्चारणार्थः)। अयवादिभ्यः ।५।३। समासः—म् च अश्च[3] मम्, तस्मात्=मात्, समाहारद्वन्द्वः। मतुँप्रत्ययाक्षिप्तप्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः। एतेन मकारान्ताद् अवर्णान्ताच्च प्रातिपदिकादिति लभ्यते। माद् इत्यावर्त्तते। एतच्चोपधाविशेषणम्, तेन मकारोपधाद् अवर्णोपधाच्च प्रातिपदिकादित्यपि लभ्यते। न यवादिभ्यः—अयवादिभ्यः, नञ्तत्पुरुषः। सूत्र में 'च' ग्रहण के कारण यहां वाक्यभेद हो जाता है। मात् परस्य मतोर्वो भवतीत्येकं वाक्यम्। उपधायाश्च मात् परस्य मतोर्वो भवतीत्यपरं वाक्यम्। अर्थः—(मात्=मकारान्ताद् अवर्णान्ताच्च प्रातिपदिकात्) मकारान्त और अवर्णान्त प्रातिपदिक से परे (च) तथा (उपधाया मात्—मकारोपधादवर्णोपधाच्च प्रातिपदिकात्) मकारोपध और अवर्णोपध प्रातिपदिक से परे (मतोः) मतुँ के स्थान पर (वः) 'व्' आदेश हो जाता है परन्तु यह कार्य (अयवादिभ्यः) यवादियों से परे नहीं होता।

---

१. **अथोल्लसद्भिर्नयनैर्मुनीनामयं कुमुद्वानजनि प्रदेशः**। (अनर्घराघव २.८४)

२. यहां मकार को किस सूत्र से वकार किया जाये इस में मतभेद है। कुछ वैयाकरण झय् (ड्) से परे मतुँ के मकार को **झयः** (१०६४) सूत्रद्वारा वकार आदेश का विधान मानते हैं। परन्तु अन्य लोग **झयः** (८.२.१०) सूत्र को त्रिपाद्यां परत्वेन असिद्ध मान कर अकारोपध होने के कारण वक्ष्यमाण **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (८.२.६) सूत्र से ही वत्व का विधान करते हैं। विशेषजिज्ञासु तत्त्वबोधिनी तथा शेखरद्वय का अवलोकन करें।

३. 'अ' से अवर्णमात्र का ग्रहण अभीष्ट है। इस से दीर्घअवर्णान्तों से भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है। इसीप्रकार दीर्घ-अवर्णोपधों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

आदेः परस्य (७२) परिभाषा के अनुसार यह वकारादेश मतुँ के मकार के स्थान पर ही किया जाता है । उदाहरण यथा—

(१) **मकारान्त प्रातिपदिकों से—**

किम् + मतुँप् = किम् + मत् = किम् + वत् = किंवान् ।

शम् + मतुँप् = शम् + मत् = शम् + वत् = शंवान् ।

(२) **अवर्णान्त प्रातिपदिकों से—**

गुण + मतुँप् = गुण + मत् = गुण + वत् = गुणवान् ।

वृक्ष + मतुँप् = वृक्ष + मत् = वृक्ष + वत् = वृक्षवान् ।

माला + मतुँप् = माला + मत् = माला + वत् = मालावान् ।

विद्या + मतुँप् = विद्या + मत् = विद्या + वत् = विद्यावान् ।[1]

(३) **उपधा में मकार वाले प्रातिपदिकों से—**

शमी + मतुँप् = शमी + मत् = शमी + वत् = शमीवान् ।

लक्ष्मी + मतुँप् = लक्ष्मी + मत् = लक्ष्मी + वत् = लक्ष्मीवान् ।

(४) **उपधा में अकार वाले प्रातिपदिकों से—**

पयस् + मतुँप् = पयस् + मत् = पयस् + वत् = पयस्वान् ।

यशस् + मतुँप् = यशस् + मत् = यशस् + वत् = यशस्वान् ।

भास् + मतुँप् = भास् + मत् = भास् + वत् = भास्वान् ।[2]

(५) **यवादिगणपठित शब्दों[3] से परे वत्व नहीं होता ।** यथा —

यव + मतुँप् = यव + मत् = यवमान् ।[4]

भूमि + मतुँप् = भूमि + मत् = भूमिमान् ।[5]

---

१. 'विद्वान्' शब्द इस श्रेणी में नहीं आता क्योंकि वहां मतुँप् प्रत्यय नहीं किया गया । वहां शतृँ के स्थान पर वसुँ आदेश हुआ है [देखें **विदेः शतुर्वसुँः** (८३३) सूत्र की व्याख्या] ।

२. **तसौ मत्वर्थे** (११८६) सूत्रद्वारा मत्वर्थ प्रत्यय के परे रहते तकारान्त और सकारान्त भसञ्ज्ञक होते हैं । अतः यहां भसंज्ञा हो जाने से पदत्वाभाव के कारण सकार को रुँत्व नहीं होता ।

३. यवादिगण यथा—
यव । दल्मि । ऊर्मि । भूमि । कृमि । क्रुञ्चा । वशा । द्राक्षा । ध्राक्षा । वृक्षा । वेशा । ध्रजि । ध्वजि । सञ्जि । वजि । व्रजि । शञ्जि । निजि । सिजि । सिञ्जि । हरित् । ककुद् । गरुत् । इक्षु । मधु । द्रुम । मण्ड । धूम । आकृतिगणोऽयम् ॥
[इस गण में 'धूम' शब्द विशेष विचारणीय है, क्योंकि न्यायवैशेषिकग्रन्थों में 'धूमवान्, धूमवत्त्वात्' इत्यादि शब्दों का प्रयोग बाहुल्येन प्राप्त होता है । गणरत्नमहोदधि में इस का उल्लेख नहीं पाया जाता । आचार्य हेमचन्द्र ने भी इस का उल्लेख नहीं किया । परन्तु काशिका में इस का पाठ स्पष्ट आया है । अतः काशिका के मतानुसार 'धूमवान्' आदियों में वत्व अशुद्ध है ।]

४. अवर्णान्त होने से वत्व प्राप्त था । यवादिपाठ के कारण रुक गया ।

५. मकारोपध होने से वत्व प्राप्त था । यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ ।

गरुत् + मतुँप् = गरुत् + मत् = गरुत्मान् ।[1]
कृमि + मतुँप् = कृमि + मत् = कृमिमान् ।[2]
ऊर्मि + मतुँप् = ऊर्मि + मत् = ऊर्मिमान् ।
ककुद् + मतुँप् = ककुद् + मत् = ककुद्मान् ।[3]

अब प्रकृतप्रकरणोपयोगी उदाहरण यथा—

वेतसाः सन्त्यस्मिन् इति वेतस्वान् देशः (वेतस अर्थात् बेंत जिस में हों ऐसा तन्नामक देश)। यहां 'वेतस जस्' से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में **कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुँप्** (१०६३) सूत्र से ड्मतुँप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् एवं प्रत्यय के डित्वसामर्थ्य से भसंज्ञा के बिना भी टि का लोप करने पर—वेतस् + मतुँ। पुनः अकारोपध होने से **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) सूत्रद्वारा मतुँ के मकार को वकार आदेश करने से 'वेतस्वत्'[4] बना। अब इस से पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से प्रथमा के एकवचन में 'वेतस्वान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[5] स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२५०) से ङीप् प्रत्यय हो जायेगा—वेतस्वती।

अब इसी अर्थ में ड्वलच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६६) नड-शादाड् ड्वलच् ।४।२।८७॥

नड्वलः। शाड्वलः॥

अर्थः—नड और शाद इन सुँबन्त प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त चारों अर्थों में तद्धित-सञ्ज्ञक ड्वलच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—नड-शादात् ।५।१। ड्वलच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। पूर्वोक्त चारों अर्थों का भी अनुवर्त्तन हो रहा है। नडश्च शादश्च नडशादम्, तस्मात् = नडशादात्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(नडशादात्) नड और शाद इन सुँबन्त प्रातिपदिकों से (चातुर्थिकः) चातुर्थिक (ड्वलच्) ड्वलच् (तद्धितः) तद्धित प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय यद्यपि चातुर्थिक है, इस का पूर्वोक्त चारों अर्थों के साथ सम्बन्ध करना चाहिये तथापि प्रसिद्धिवशात् केवल 'अस्मिन्नस्तीति देशे' इस अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

ड्वलच् के डकार और चकार अनुबन्ध हैं। इन का लोप हो कर 'वल' मात्र शेष रहता है। प्रत्यय का डित्करण टिलोपार्थ तथा चित्करण अन्तोदात्तस्वरार्थ किया गया है। उदाहरण यथा—

---

१. **झयः** (१०६४) से वत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ।
२. मकारोपध होने से वत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ। इसीप्रकार 'ऊर्मिमान्' में भी जानना चाहिये।
३. **झयः** (१०६४) से वत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ।
४. अत्र अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् सकारस्य रुँत्वं नेति शब्देन्दुशेखरे नागेशः।
५. **कुमुद्वान् कुमुदप्राये वेतस्वान् बहुवेतसे** इत्यमरः।

नडाः सन्त्यस्मिन्निति नड्वलो देशः (नडतृण जिस में हैं ऐसा तन्नामक प्रदेश)। 'नड जस्' से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में **नडशादाड् ड्वलच्** (१०६६) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ड्वलच् प्रत्यय; अनुबन्धलोप तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (जस्) का लुक् करने पर 'नड+वल' हुआ। अब प्रत्यय के डित्करण के सामर्थ्य से भसंज्ञा के विना भी **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि (डकारोत्तर अकार) का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'नड्वलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] पीछे इसी अर्थ में **कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुँप्** (१०६३) सूत्रद्वारा ड्मतुँप् प्रत्यय करने पर 'नड्वान्' प्रयोग भी सिद्ध किया जा चुका है। अमरकोष में कहा भी है—**नडप्राये नड्वान् नड्वल इत्यपि।**

शादाः सन्त्यस्मिन्निति शाद्वलो देशः (हरी घास वाला प्रदेश)। यहां भी पूर्वोक्तप्रकारेण 'शाद जस्' से ड्वलच् प्रत्यय, सुँब्लुक्, टिलोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'शाद्वलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] **शाद्वलश्शादहरिते** इत्यमरः।

अब चातुरर्थिक वलच् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६७) शिखाया वलच् ।४।२।८८॥

शिखावलम् ॥

अर्थः—'शिखा' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से पूर्वोक्त चार अर्थों में तद्धितसंज्ञक वलच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शिखायाः ।५।१। वलच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। पूर्वोक्त चतुरर्थों का भी यहां अनुवर्त्तन होता है। अर्थः—(शिखायाः) 'शिखा' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से पूर्वोक्त चार अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वलच्) वलच् प्रत्यय होता है।

वलच् का 'वल' मात्र शेष रहता है। चित्करण अन्तोदात्तस्वर के लिये किया गया है। प्रत्यय के डित् न होने से टि का लोप नहीं होता। उदाहरण यथा—

शिखाः सन्त्यस्मिन्निति शिखावलं नाम नगरम् (शिखाओं वाला तन्नामक नगर)। यहां 'शिखा जस्' से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में **शिखाया वलच्** (१०६७) इस प्रकृतसूत्र से वलच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा विभक्तिकार्य करने पर नपुंसक के प्रथमैकवचन में 'शिखावलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। काशिकाकार के अनुसार यह किसी प्राचीन नगर का नाम है।[3]

नोट—पाणिनि ने मत्वर्थीयप्रकरण में **दन्तशिखात् संज्ञायाम्** (५.२.११३) सूत्र-द्वारा वलच् प्रत्यय कर इसे आगे भी दुबारा सिद्ध किया है, उसे अदेशार्थ अर्थात् देश-भिन्न अर्थ में विधानार्थ मानना चाहिये।

---

१. कुछ लोग मारवाड़ के वर्त्तमान नाडौल नगर को प्राचीन नड्वल समझते हैं।

२. **ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्।** (रघु० २.१७)

३. श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल सोननदी पर स्थित सिहावलनगर (रीवा रियासत) के ही प्राचीन शिखावलनगर होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।

अभ्यास (४)

(१) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक उत्तर दीजिये—

[क] 'वरणा नगरम्' यहां वहुवचन का प्रयोग क्यों किया जाता है ?

[ख] ड्मतुँप् प्रत्यय को डित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[ग] **अदूरभवश्च** में 'च' के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

[घ] मरुत्वान् में जश्त्वेन दकार क्यों नहीं होता ?

[ङ] जनपद में चातुरर्थिक का लुक् न कर लुप् क्यों किया है ?

[च] निर्वृत्तम् में वृत् धातु को अन्तर्भावितण्यर्थ क्यों मानते हैं ?

(२) 'चातुरर्थिक' इस नामकरण पर टिप्पण करें।

(३) 'युक्तवद् व्यक्तिवचने' का अभिप्राय अपने शब्दों में स्पष्ट करें।

(४) चातुरर्थिकप्रकरण के मुख्य चार अर्थों का सोदाहरण परिचय दें।

(५) शिखाशब्द से वलच् प्रत्यय का दो बार विधान अष्टाध्यायी में क्यों किया गया है ?

(६) जनपद किसे कहते हैं ? इस की वाच्यता में चातुरर्थिक प्रत्यय की क्या स्थिति होती है ? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(७) **मादुपधायाश्च०** द्वारा मकार के स्थान पर होने वाला वकार अनुनासिक क्यों नहीं होता ?

(८) नड्वान् में **झयः** द्वारा वत्व करने में कौन सा दोष प्रसक्त होता है ?

(९) मतुँ को विधान किया जाने वाला वकार आदेश उस के अन्त्य अल् को क्यों नहीं होता ?

(१०) कुरवः, अङ्गाः, वङ्गाः आदि में चातुरर्थिक प्रत्यय के लुप् हो जाने पर प्रत्ययलक्षणद्वारा आदिवृद्धि क्यों नहीं होती।

(११) वकारादेश की दृष्टि से शुद्धाशुद्ध प्रयोगों का विवेचन करें—
ककुद्मन्तः। धूमवान्। गरुद्वान्। गीर्मान्। पितृवान्। आचार्यवान्। द्रुमवान्। मधुवान्। लक्ष्मीमान्। ऊर्मिवान्।

(१२) निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि करें।
१. औदुम्बरः। २. कौशाम्बी। ३. शैबः। ४. वैदिशम्। ५. पञ्चालाः। ६. वरणाः। ७. नड्वान्। ८. वेतस्वान्। ९. नड्वलः। १०. शाद्वलः। ११. शिखावलम्।

(१३) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि। २. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः। ३. लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने। ४. तेन निर्वृत्तम्। ५. अदूरभवश्च। ६. जनपदे लुप्। ७. कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुँप्।

[लघु०] इति चातुरर्थिकाः॥

(यहां चातुरर्थिक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है।)

——:०:——

अथ शैषिकाः

अब यहां से आगे शैषिक प्रत्ययों का विवेचन प्रारम्भ होता है। **शेषे** (१०६८) के अधिकार में विहित प्रत्यय 'शैषिक' कहाते हैं—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रं विधिसूत्रं च[1] **(१०६८) शेषे ।४।२।९१।।**

अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः । दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम् । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । तस्य विकारः (१११०) इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः ।।

अर्थः—अपत्य अर्थ से लेकर **चतुरर्थी** (चातुरर्थिकप्रकरण) तक के पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न जो अर्थ वह 'शेष' हुआ । उस शेष अर्थ में सुँबन्त प्रातिपदिक से अण् आदि तद्धित प्रत्यय हों । किञ्च **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र से पूर्व तक 'शेषे' का अधिकार समझना चाहिये ।

व्याख्या—शेषे ।७।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(शेषे) शेष अर्थ में सुँबन्त प्रातिपदिक से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो ।

जो बाकी बच जाता है उसे 'शेष' कहते हैं । यहां तद्धितप्रकरण में जो अर्थ इस सूत्र से पहले कह चुके हैं उनसे भिन्न बाकी बचे अर्थ 'शेष' होंगे । दूसरे शब्दों में अपत्य अर्थ से लेकर चातुरर्थिकों की समाप्ति तक जो जो अर्थ कहे जा चुके हैं उन से भिन्न अन्य जो कोई अर्थ होगा उसे शेष कहा जायेगा । उस शेष अर्थ में अण् प्रत्यय अथवा उस का अपवाद यथाप्राप्त प्रत्यय प्रवृत्त होगा[2] । उदाहरण यथा—

चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् (चक्षुरिन्द्रिय से जो ग्रहण किया जाता है अर्थात् रूप आदि) । यहां 'चक्षुष् टा' से 'तेन गृह्यते' (उस से ग्रहण किया जाता है) इस अर्थ में प्रकृत **शेषे** (१०६८) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्राति-पदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (टा) का लुक् एवम् आदिवृद्धि करने से—चाक्षुष्+अ='चाक्षुष' बना । अब विशेष्य के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुँ को अम् (२३४) तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'चाक्षुषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'तेन गृह्यते' यह अर्थ पीछे कहा नहीं गया अतः यह शेष है इसलिये यहां **शेषे** (१०६८) सूत्र की प्रवृत्ति हुई है ।

---

१. इस के विधिसूत्र होने से 'चाक्षुषम्' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं और अधि-कारसूत्र होने से आगे नियत अवधि तक अनुवर्त्तन होता है ।

२. इस का यह अभिप्राय नहीं कि हम पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न जिस किसी अर्थ में चाहें इस सूत्र से अण् प्रत्यय विधान कर दें । यह सूत्र तो केवल शिष्टप्रयोगों के साधुत्वप्रतिपादन के लिये ही बनाया गया है । अपने नये मनघड़न्त प्रयोगों की सिद्धि इस सूत्र से नहीं होती ।

श्रवणेन गृह्यते श्रावणः शब्दः (श्रवण इन्द्रिय से जो ग्रहण किया जाता है अर्थात् शब्द)। यहां 'श्रवण टा' से 'तेन गृह्यते' इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्रावणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उपनिषद्भिः प्रतिपाद्यते औपनिषदः पुरुषः (उपनिषदों से प्रतिपादित किया जाने वाला अर्थात् पुरुष=आत्मा)। यहां 'उपनिषद् भिस्' से 'तैः प्रतिपाद्यते' इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् एवम् आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'औपनिषदः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः (पत्थर पर पीसे गये सत्तू)। यहां 'दृषद् ङि' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'तत्र पिष्टम्' (उस पर पीसा गया) इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य करने से 'दार्षदाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

चतुर्भिः (अश्वैः पुरुषैर्वा) उह्यते चातुरं शकटम् (चार घोड़ों या चार व्यक्तियों से खींचा जाने वाला छकड़ा)। यहां 'चतुर् भिस्' से 'तैरुह्यते' (उन से खींचा जाता है) इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य करने से 'चातुरम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः (चतुर्दशी में दिखाई देने वाला राक्षस)। यहां 'चतुर्दशी ङि' से 'तत्र दृश्यते' (उसमें दिखाई देता है) इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'चातुर्दशम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त सब अर्थ शैषिक हैं क्योंकि वे पूर्वोक्त अपत्यादि अर्थों से भिन्न हैं।

शैषिक अर्थों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) अश्वैरुह्यते—आश्वो रथः। (काशिका)

(२) उलूखले क्षुण्णः—औलूखलो यावकः। (काशिका)

(३) कुणपम् (शवम्) अत्ति—कौणपः। (प्रक्रियासर्वस्व)

(४) स्मृतिभिरुपदिष्टः—स्मार्त्तो धर्मः।

(५) ब्रह्म जानाति—ब्राह्मणः [**अन्** (१०२४) इति प्रकृतिभावः]।

(६) वितरणेन (दानेन) लङ्घ्यते—वैतरणी नदी।

(७) चक्षुषोर्गोचरः—चाक्षुषो विषयः।

(८) श्रुतौ विहितम्—श्रौतं कर्म।

लक्षण अर्थात् विधिसूत्र के साथ साथ यह अधिकारसूत्र भी है। अधिकारसूत्रों की नियत अवधि तक अग्रिमसूत्रों में अनुवृत्ति हुआ करती है। इस अधिकार की अवधि **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र से पूर्व तक है। यहां से आगे **तस्य विकारः** (१११०) से पूर्व तक जो प्रत्यय विधान किये जायें वे शेष अर्थात् पूर्वोक्त अपत्य आदि अर्थों से भिन्न अर्थों में ही हों उन पूर्वोक्त अर्थों में नहीं। यद्यपि इस प्रकरण में **तत्र**

जातः (१०८७), **तत्र भवः** (१०९२), **तत आगतः** (१०९८), **तेन प्रोक्तम्** (११०८), **तस्येदम्** (११०९) इत्यादि अर्थनिर्देश पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न ही हैं अतः पूर्वोक्तों से उन की व्यावृत्ति के लिये **शेषे** (१०६८) का अधिकार कुछ अनुपयुक्त सा प्रतीत होता है तथापि इस प्रकरण में कहे गये **तस्येदम्** (११०९) सूत्र में 'उस का यह' इस प्रकार जो अर्थनिर्देश किया गया है वह अत्यन्त सामान्य है, उस में अनेक पूर्वोक्त अर्थों का भी समावेश हो सकता है। यथा—'उस का यह' इस में 'उस का यह अपत्य' 'उस का यह समूह' 'उस का यह निवास' इस प्रकार अनेक पूर्वोक्त विशिष्ट अर्थ भी संगृहीत हो सकते हैं। अतः उन सब की निवृत्ति के लिये यहां **शेषे** (१०६८) का अधिकार चलाया गया है। इस तरह यहां विद्यार्थियों को इतना ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकरण के निर्दिष्ट अर्थों में पूर्वोक्त अपत्य, समूह आदि अर्थों का समावेश नहीं होता। यहां का **तस्येदम्** (११०९) केवल सामान्यतः 'उस का यह' इस अर्थ का ही निर्देश करता है उस के विशेष भेद अपत्य, समूह, निवास आदि का नहीं। किञ्च इस अधिकार को चलाने के अन्य भी अनेक प्रयोजन व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

विशेष वक्तव्य—शैषिक प्रत्ययों की प्रवृत्ति में एक बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। वह यह है कि जब एक बार कोई शैषिक प्रत्यय हो चुकता है तो वहां उस शैषिकप्रत्ययान्त शब्द से दुबारा उसी रूप वाला (सरूप) शैषिक प्रत्यय नहीं होता, प्रथम किये प्रत्यय से विरूप शैषिक ही प्रवृत्त हो सकता है। यथा—शालायां भवः शालीयः (घटः), यहां शालाशब्द से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से शैषिक 'छ' प्रत्यय करने से 'शालीय' शब्द सिद्ध किया गया है। अब यदि शालीये (घटे) भवम् (उदकम्) को तद्धितवृत्ति के द्वारा कहना होगा तो **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में वह शैषिक प्रत्यय (छ) दुबारा न होगा चाहे उस की प्राप्ति भी क्यों न हो। बल्कि उस का विरूप सामान्यतः प्राप्त अण् शैषिक प्रत्यय ही किया जायेगा—शालीये भवं शालीयम् उदकम्। शालीयशब्द से अण् प्रत्यय हुआ है। इसी-प्रकार अहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रः। यहां **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) से शैषिक अण् प्रत्यय हुआ है। अब पुनः 'आहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रीयः' दुबारा अण् न होगा, **वृद्धाच्छः** (१०७७) से 'छ' प्रत्यय ही होगा। अभियुक्तों (शिष्ट-जनों) ने कहा भी है—

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते॥

अर्थात् शैषिक प्रत्ययान्त से पुनः उसी रूप वाला शैषिक प्रत्यय नहीं हुआ करता। इसी तरह मतुँबर्थीय प्रत्ययान्त से पुनः उसी रूप वाला मतुँबर्थीय प्रत्यय भी नहीं होता[1]। किञ्च इच्छा अर्थ में हुए सन्प्रत्ययान्त से दुबारा इच्छा अर्थ में सन्

१. यथा—धनमस्यास्तीति धनवान्। यहां धनप्रातिपदिक से मतुँप् प्रत्यय कर उस के मकार को वकार आदेश करने से 'धनवत्' शब्द बना है। अब इस से धन-वानस्यास्तीति इस विग्रह में पुनः मतुँप् प्रत्यय नहीं होगा। कारण कि दोनों

घ (इये), ख (ईन)

प्रत्यय करना अभीष्ट नहीं है ।[1]

अब अग्रिमसूत्रद्वारा दो शैषिक प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६६)

राष्ट्राऽवारपाराद् घ-खौ ।४।२।६२॥

आभ्यां क्रमाद् घ-खौ स्तः शेषे। राष्ट्रे जातादिः—राष्ट्रियः। अवारपारीणः ॥

अर्थः—शेष अर्थ में राष्ट्र और अवारपार इन सुँबन्त प्रातिपदिकों से क्रमशः तद्धितसञ्ज्ञक 'घ' और 'ख' प्रत्यय हों ।

व्याख्या—राष्ट्राऽवारपारात् ।५।१। घ-खौ ।१।२। शेषे ।७।१। (अधिकृत किया गया है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—राष्ट्रञ्च अवारपारञ्च राष्ट्रावारपारम्, तस्मात् = राष्ट्रावारपारात् । समाहारद्वन्द्वः । घश्च खश्च घखौ । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(राष्ट्रावारपारात्) राष्ट्र और अवारपार इन सुँबन्त प्रातिपदिकों से (शेषे) शेषे अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (घखौ) घ और ख प्रत्यय होते हैं। यथासंख्यपरिभाषा से राष्ट्र प्रातिपदिक से 'घ' एवम् अवारपार प्रातिपदिक से 'ख' तद्धितप्रत्यय हो जायेगा ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि इस शैषिकप्रकरण में कहीं तो केवल प्रकृति और प्रत्यय कहे गये हैं, अर्थ नहीं । यथा यहां **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६६) सूत्र में प्रकृति और प्रत्यय तो बताये गये हैं परन्तु अर्थ नहीं । और कहीं केवल अर्थ बताया गया है प्रकृतिविशेष और प्रत्यय नहीं । यथा—**तत्र भवः** (१०६२), **तत्र जातः** (१०८७), **तत आगतः** (१०६८) आदि सूत्रों में अर्थ तो बताया गया है परन्तु प्रकृति-विशेष और प्रत्यय नहीं । अतः यहां दोनों प्रकार के सूत्रों को मिलाकर एकवाक्यता करने से ही प्रकृति, प्रत्यय और अर्थ का सम्यक् बोध होता है । यथा—**तत्र जातः** (१०८७) इस अर्थविधायक सूत्र को **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६६) सूत्र के साथ मिला कर इस प्रकार एकवाक्यता हो जाती है—सप्तम्यन्त राष्ट्र एवम् अवारपार प्रातिपदिकों से 'जातः' (पैदा हुआ) इस अर्थ में क्रमशः तद्धितसंज्ञक घ और ख प्रत्यय

मतुँबर्थीय प्रत्यय समानरूप हैं । यदि मतुँबर्थीय विरूप प्रत्यय होता तो प्रवृत्त हो जाता । यथा—दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी । यहां दण्डप्रातिपदिक से **अत इनिँ-ठनौ** (११९१) सूत्रद्वारा मत्वर्थीय इनिँ प्रत्यय करने से 'दण्डिन्' शब्द बना है । अब इस से दण्डिनोऽस्याः सन्तीति दण्डिमती शाला इस प्रकार पुनः मतुँप् प्रत्यय हो जाता है । कारण स्पष्ट है कि पहले हुए मत्वर्थीय इनिँ प्रत्यय से यह मतुँप् प्रत्यय स्पष्टतः विरूप है ।

१. यथा—कर्तुमिच्छतीति चिकीर्षति । यहां कृ धातु से इच्छार्थक सन् प्रत्यय कर 'चिकीर्ष' बनाया गया है । अब इस से दुबारा सन् प्रत्यय न होगा । चिकीर्षितु-मिच्छति, यह वाक्य ही रहेगा ।

हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यसूत्रों में भी समझ लेना चाहिये[1]। आगे चल कर मूल में ग्रन्थकार स्वयं यही भाव व्यक्त करेंगे।

प्रकृतसूत्र के उदाहरण यथा—

राष्ट्रे भवो जातो वा राष्ट्रियः (राष्ट्र में होने वाला या पैदा हुआ)।[2] यहां 'राष्ट्र ङि' इस सप्तम्यन्त से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि के अर्थों में प्रकृतसूत्र **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६६) द्वारा 'घ' तद्धितप्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से 'घ' प्रत्यय के आदि घ् वर्ण को इय् आदेश और **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'राष्ट्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

आधुनिक हिन्दी की देखादेखी 'राष्ट्रीय' इस प्रकार दीर्घ-ईकारघटित प्रयोग संस्कृतभाषा में अशुद्ध मानना चाहिये।

अवारं च पारं च अवारपारम्, समाहारद्वन्द्वः। अवारपारे भवो जातो वा अवारपारीणः (इस पार और उस पार अर्थात् दोनों पारों में होने वाला या पैदा हुआ)। यहां 'अवारपार ङि' इस सप्तम्यन्त से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि अर्थों में प्रकृत **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६६) सूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि ख् वर्ण को ईन् आदेश, भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप एवं नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'अवारपारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अवारपारविषयक एक वार्तिक का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(८१)

अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्॥

अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः॥

---

१. इसका यह तात्पर्य नहीं कि **तत्र जातः** (१०८७) आदि सूत्र स्वयं कुछ नहीं कर सकते। वे अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण हैं, क्योंकि वहां 'तत्र' आदि के द्वारा सामान्यतः प्रकृति का एवं **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) से सामान्यतः प्रत्यय का विधान है ही। **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६६) आदि सूत्र ही उन की अपेक्षा करते हैं पर वे इन की नहीं। अन्यथा अर्थविधायक सूत्रों पर दिये गये अपवाद-मुक्त उदाहरण उपपन्न न हो सकेंगे।

२. यह अर्थनिर्देश निदर्शनार्थ है। इन अर्थों के अतिरिक्त अन्य शैषिक अर्थों की भी यथासम्भव स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये। यथा—राष्ट्राद् आगतं राष्ट्रियम्, राष्ट्रस्येदं राष्ट्रियम्, राष्ट्रे सम्भवतीति राष्ट्रियम्, राष्ट्रे प्रायेण भवतीति राष्ट्रियम्; राष्ट्रं निवासोऽस्य राष्ट्रियः; राष्ट्रं भक्तिरस्य राष्ट्रियः (देशभक्त) इत्यादि। संस्कृतनाटकों की उक्तियों में राजा के श्याल (पत्नी के भाई) के लिये 'राष्ट्रिय' शब्द रूढ है। **राजश्यालस्तु राष्ट्रियः**—इत्यमरः।

अर्थः —विगृहीत और विपरीत अवारपारशब्द से भी 'ख' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये ।

व्याख्या—अवारपारात् ।५।१। विगृहीतात् ।५।१। विपरीतात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । इति इत्यव्ययपदम् । वक्तव्यम् ।१।१। खः ।१।१। (पूर्वसूत्र से लब्ध) । अर्थः—(विगृहीतात्) विगृहीत और (विपरीतात्) विपरीत (अवारपारात् च अपि) अवारपार शब्द से भी (खः) 'ख' प्रत्यय हो (इति वक्तव्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

'अवारपार' शब्द समस्त है । अवार और पार शब्दों के द्वन्द्वसमास से इस की उत्पत्ति होती है । पीछे समस्त अवारपार शब्द से 'ख' प्रत्यय का विधान किया गया था । यहां विगृहीत=असमस्त=पृथक् पृथक् अवार और पार दोनों शब्दों से भी उस का विधान किया गया है । किञ्च अवारपार शब्द का क्रम विपरीत अर्थात् उलट देने से जो पारावार शब्द बनता है उस मे भी 'ख' प्रत्यय हो जाता है ।

विगृहीत का उदाहरण यथा—

अवारे भवो जातो वा अवारीणः (इस आर वाले तट में होने वाला या पैदा हुआ आदि) । यहां 'अवार ङि' इस सप्तम्यन्त से प्रकृत **अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्** (वा० ८१) इस वार्त्तिक की सहायता से **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६६) सूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण ख् को ईन् आदेश, भसञ्ज्ञक अकार का लोप एवं नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'अवारीणः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पारे भवो जातो वा पारीणः (पार अर्थात् परले तट पर होने वाला या पैदा हुआ) । यहां 'पार ङि' से पूर्ववत् 'ख' प्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रत्यय के आदि वर्ण खकार को ईन् आदेश, भसंज्ञक अकार का लोप तथा नकार को णकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'पारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

विपरीत अवारपार अर्थात् पारावारशब्द से यथा—

पारावारे भवो जातो वा पारावारीणः (पार और अवार दोनों स्थानों में होने वाला या पैदा हुआ) । यहां 'पारावार ङि' से प्रकृत वार्त्तिक की सहायता से **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६६) सूत्रद्वारा ख प्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रत्यय के आदि वर्ण ख् को ईन् आदेश, भसंज्ञक अकार का लोप तथा नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'पारावारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

तो इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि अवारपार, अवार, पार और पारावार इन चारों शब्दों से शैषिक अर्थों में 'ख' प्रत्यय हो जाता है ।[1]

---

१. इन चार शब्दों से गामी (भविष्य में जाने वाला) अर्थ में भी 'ख' प्रत्यय का विधान भगवान् पाणिनि ने **अवारपारात्यन्तानुकामं गामी** (५.२.११) सूत्र में किया है । यथा—पारं गामी पारीणः, अवारं गामी अवारीणः, पारावारं गामी पारावारीणः, अवारपारं गामी अवारपारीणः । रूप शैषिक-प्रत्ययान्तों की तरह होते हुए भी अर्थ में भेद रहता है ।

य, खञ् (कन्)

[लघु०] इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्टयुटयुलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते । तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ॥

अर्थः—इस शैषिकप्रकरण में 'घ' से ले कर ट्यु-ट्युल् (१०८६) प्रत्ययों तक जितने प्रत्यय विधान किये गये हैं वे विशेष विशेष प्रकृतियां (प्रातिपदिकों) से ही कहे गये हैं। इन के 'जातः' आदि अर्थविशेष तथा समर्थविभक्तियां (जिन से इन प्रत्ययों का विधान है) आगे **तत्र जातः** (१०८७) आदि सूत्रों में कही जायेंगी।

व्याख्या—इस गद्यांश का विस्तृत विवेचन पीछे **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६६) सूत्र पर किया जा चुका है वहीं यहां ध्यातव्य है।

अब 'ग्राम' प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में सामान्य प्रत्ययों का निर्देश करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७०) **ग्रामाद् य-खञौ** ।४।२।९३॥

ग्राम्यः । ग्रामीणः ॥

अर्थः—'ग्राम' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से **तत्र जातः** (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में 'य' और 'खञ्' तद्धित प्रत्यय हों।

व्याख्या—ग्रामात् ।५।१। य-खञौ ।१।२। शेषे ।७।१। (अधिकृत है)। **प्रत्ययः परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—यश्च खञ् च य-खञौ इतरेतरद्वन्द्वः। खञ् में अकार अनुबन्ध है। अर्थः—(ग्रामात्) सुँबन्त 'ग्राम' प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (य-खञौ) 'य' और 'खञ्' प्रत्यय हो जाते हैं। 'य' का उदाहरण यथा —

ग्रामे जातो भवो वा ग्राम्यः (ग्राम में पैदा हुआ या ग्राम में होने वाला)। यहां 'ग्राम ङि' से 'जातः' या 'भवः' आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **ग्रामाद् यखञौ** (१०७०) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो कर सुँप् (ङि) का लुक् एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ग्राम्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] इसीतरह—ग्रामाद् आगतो ग्राम्यः, ग्रामस्येदं ग्राम्यम् इत्यादि अन्य शैषिक अर्थों में भी इस की प्रवृत्ति जाननी चाहिये।

ग्रामे जातो भवो वा ग्रामीणः (ग्राम में पैदा हुआ या ग्राम में होने वाला)। यहां पर भी पूर्ववत् 'ग्राम ङि' से शैषिक अर्थों में प्रकृत **ग्रामाद् य-खञौ** (१०७०) सूत्र से खञ् प्रत्यय, ञकार का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण खकार को ईन् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अन्त्य अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ग्रामीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह अन्य शैषिक अर्थों में भी समझना चाहिये। यथा—ग्रामाद् आगतो ग्रामीणः, ग्रामस्येदं ग्रामीणं वस्त्रम् इत्यादि।[2]

---

१. **तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि।**
अल्पव्ययेन सुन्दरि! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति॥ (वृत्तरत्नाकर १.११)

२. 'ग्राम्या भार्या यस्य' यहां बहुव्रीहिसमास में **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्**

ढका (९५)

ग्रामशब्द का कत्त्र्यादिगण में भी पाठ आता है अतः शैषिक अर्थों में इस से **कत्त्र्यादिभ्यो ढकञ्** (४.२.९४) द्वारा ढकञ् प्रत्यय भी हो जाता है—ग्रामे जातो भवो वा ग्रामेयकः ।

अब नद्यादिगणपठित शब्दों से शैषिक अर्थों में ढक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०७१) नद्यादिभ्यो ढक् ।४।२।९६।।**

नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।।

अर्थः—नदी-आदिगणपठित सुँबन्त प्रातिपदिकों से 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ढक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—नद्यादिभ्यः ।५।३। ढक् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—नदी (नदी-शब्दः)[1] आदिर्येषां ते नद्यादयः, तेभ्यः = नद्यादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अर्थः—(नद्यादिभ्यः) नदीआदिगणपठित सुँबन्त प्रातिपदिकों से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है ।

नद्यादि एक गण है ।[2] ढक् में ककार इत् है । यह अनुबन्ध **किति च** (१००१) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

नद्यां जातं भवं वा नादेयम् (नदी में पैदा हुआ या नदी में होने वाला) । यहां 'नदी ङि' से 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१) सूत्र से

समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु (९६९) सूत्र से ग्राम्याशब्द को पुंवद्भाव से 'ग्राम्य' हो कर 'ग्राम्यभार्यः' बनेगा । परन्तु 'ग्रामीणा भार्या यस्य स ग्रामीणा-भार्यः' यहां पुंवद्भाव का **वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे** (६.३.३८) से निषेध हो जायेगा । इसी पुंवद्भाव के निषेध के लिये ही खञ् में वृद्धिनिमित्तक ञकार अनुबन्ध जोड़ा गया है जिस से वह वृद्धिनिमित्त प्रत्यय बन सके, अन्यथा ग्रामशब्द में जहां पहले से ही आदिवृद्धि विद्यमान है, आदिवृद्धि करने के लिये ञकार अनुबन्ध जोड़ने का कुछ प्रयोजन नहीं । एतद्विषयक एक टिप्पण **पाण्डोर्ड्यण्** (वा० ७४) वार्त्तिक पर लिख चुके हैं वह यहां पर पुनरपि ध्यातव्य है ।

१. यहां 'नदी' से नदीसञ्ज्ञकों का ग्रहण अभीष्ट नहीं अन्यथा गणपठित मही आदि शब्दों का पाठ व्यर्थ हो जायेगा ।

२. नद्यादिगण यथा—
नदी । मही । वाराणसी । श्रावस्ती । कौशाम्बी । वनकौशाम्बी (नवकौशाम्बी इति काशिकायाम्) । काशपरी (काशफरी इति का.) । खादिरी । पूर्वनगरी । पूर् । वन । गिरि । पाठा (पावा इति का.) । माया (मावा इति का.) । शाल्वा (साल्वा इति का.) । दार्वा । दाल्वा । सेतकी (वासेनकी इति का.) । **वडवाया वृषे** (गण-सूत्रम्) । शरावती (शब्दकौस्तुभे एव नान्यत्र) ।।

तद्धित ढक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण ढकार को एय् आदेश, **किति च** (१००१) से अङ्ग के आदि अच् नकारोत्तर अकार को आकार वृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक ईकार का लोप कर विशेष्यानुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्ति-कार्य करने से 'नादेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'नद्या इदम् नादेयं जलम्' इत्यादि अन्य शैषिक अर्थों में भी समझ लेना चाहिये।

मह्यां जातं भवं वा माहेयम् (पृथ्वी में पैदा हुआ या पृथ्वी पर होने वाला)। यहां 'मही ङि' से पूर्ववत् ढक् प्रत्यय, सुँब्लुक्, ढ् को एय् आदेश, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अन्त्य ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'माहेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

वाराणस्यां जातं भवं वा वाराणसेयम् (वाराणसी अर्थात् काशी में पैदा हुआ या काशी में होने वाला)। यहां 'वाराणसी ङि' से पूर्ववत् ढक् प्रत्यय हो कर 'वाराण-सेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

वने जाता भवा वा वानेयाः पादपाः।

कौशाम्ब्यां जातो भवो वा कौशाम्बेयो जनः।

पुरि जातो भवो वा पौरेयः। अथवा—पूर्निवासोऽस्य पौरेयः।

गिरौ जातं भवं वा गैरेयम् (गेरू)।

अब दक्षिणा आदि प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में त्यक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७२)

दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक् ।४।२।९७।।

दाक्षिणात्यः। पाश्चात्यः। पौरस्त्यः।।

अर्थः—दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् इन अव्ययों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः ।५।१। त्यक् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—दक्षिणा च पश्चात् च पुरश्च दक्षिणापश्चात्पुरः, तस्मात्=दक्षिणापश्चात्पुरसः, समाहारद्वन्द्वः। यहां पश्चात् और पुरस् अव्ययों के साहचर्य के कारण 'दक्षिणा' भी आच्-प्रत्ययान्त अव्यय ही लिया जाता है टाबन्त नहीं। 'दक्षिणा' अव्यय का विवेचन पीछे अव्ययप्रकरण के अन्तर्गत **तसिँलादयः प्राक् पाशपः** शीर्षक की व्याख्या के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणा, यद्वा दक्षिणा दिग् दक्षिणा। अर्थः—(दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः) दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् अव्ययों से (शेषे) 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (त्यक्) त्यक् प्रत्यय हो जाता है।

त्यक् में ककार अनुबन्ध **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

दक्षिणा जातो भवो वा दाक्षिणात्यः (दक्षिणदिशा में उत्पन्न हुआ या दक्षिणदिशा में होने वाला) । यहां 'दक्षिणा' अव्यय से **तत्र जातः** (१०८७) या **तत्र भवः** (१०६२) आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक्** (१०७२) सूत्रद्वारा त्यक् तद्धित-प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप तथा **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'दाक्षिणात्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **तद्धितप्रिया दाक्षिणात्याः**—(महाभाष्य पस्पशा.) ।

पश्चाज्जातो भवो वा पाश्चात्त्यः (पीछे या पश्चिमदिशा में पैदा हुआ या होने वाला) । यहां भी पूर्ववत् 'पश्चात्' अव्यय से शैषिक अर्थों में त्यक् तद्धितप्रत्यय हो कर आदिवृद्धि करने से 'पाश्चात्त्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

पुरो जातो भवो वा पौरस्त्यः (पहले या पूर्व में पैदा हुआ या होने वाला) । यहां भी पूर्ववत् पुरस् अव्यय से त्यक् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि करने से 'पौरस्त्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

अब दिव् आदि प्रातिपदिकों से शैषिक यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७३)

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ।४।२।१००॥

दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ॥

अर्थः—दिव्, प्राञ्च्, अपाञ्च्, उदञ्च् और प्रत्यञ्च्—इन पाञ्च सुँबन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—द्यु-प्राग्-अपाग्-उदक्-प्रतीचः ।५।१। यत् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—द्यौश्च प्राङ् च अपाङ् च उदङ् च प्रत्यङ् च द्युप्रागपागुदक्प्रत्यक्, तस्मात्=द्युप्रागपागुदक्प्रतीचः, समाहारद्वन्द्वः । समास में दिव् शब्द के वकार को **दिव उत्** (२६५) सूत्र से उकार आदेश हो गया है । अर्थः—(द्युप्रागपागुदक्प्रतीचः) दिव्, प्राञ्च्, अपाञ्च्, उदञ्च् और प्रत्यञ्च्—इन पाञ्च सुँबन्त प्रातिपदिकों से (शेष) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है । यत् में तकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है । अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

---

१. यहां 'पश्चात्' के पदान्त तकार को जश्त्वेन दकार हो कर **खरि च** (७४) से पुनः चर्त्वेन तकार हो जाता है । किसी सूत्र से तकार के लोप की प्राप्ति नहीं होती अतः द्वितकारघटित 'पाश्चात्त्यः' ही लिखना उचित है, 'पाश्चात्यः' नहीं ।

२. यहां पर पुरस् के पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग हो कर **विसर्जनीयस्य सः** (९६) से पुनः सकार आदेश हो जाता है ।

दिवि (स्वर्गे) जातं भवं वा दिव्यम् (स्वर्ग में पैदा हुआ या होने वाला)। यहां 'दिव् ङि' से **तत्र जातः** (१०८७) या **तत्र भवः** (१०९२) आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्** (१०७३) सूत्र से यत् तद्धितप्रत्यय हो कर सुँप् (ङि) का लुक् एवं विभक्तिकार्य करने से 'दिव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्राचि जातं भवं वा प्राच्यम् (पूर्वदिशा या पूर्वदेश में पैदा हुआ या होने वाला)। 'प्र' पूर्वक अञ्च् धातु से **ऋत्विग्दधृक्०** (३०१) सूत्रद्वारा क्विँन् प्रत्यय हो कर उस का सर्वापहार लोप करने से 'प्र अञ्च्' हुआ। अब 'प्र अञ्च् ङि' इस सप्तम्यन्त से **तत्र जातः** (१०८७) या **तत्र भवः** (१०९२) आदि शैषिक अर्थों में **द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्** (१०७३) इस प्रकृतसूत्र से यत् तद्धितप्रत्यय हो जाता है। तब प्रातिपदिकत्वात् सुँब्लुक् हो कर प्रत्ययलक्षणद्वारा क्विँन् प्रत्यय को मान उस के कित्व के कारण **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) से नकार का लोप करने से 'प्र अच्+य' हुआ। पुनः **अचः** (३३५) सूत्र से 'अच् के आदि अकार का लोप तथा **चौ** (३३६) से पूर्व अण् को दीर्घ करने पर—'प्राच्य'। विभक्ति लाने से 'प्राच्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अपाचि जातं भवं वा अपाच्यम् (दक्षिणदिशा[1] या दक्षिणदेश में पैदा हुआ या वहां होने वाला)। यहां 'अप' पूर्वक अञ्च् धातु से पूर्ववत् क्विँन् हो कर यत् तद्धितप्रत्यय हो जाता है।

उदीचि जातं भवं वा उदीच्यम् (उत्तरदिशा या उत्तरदेश में पैदा हुआ या वहां होने वाला)। यहां 'उद्'पूर्वक अञ्च् धातु से क्विँन्, उस का सर्वापहारलोप, तब 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में यत् तद्धितप्रत्यय, सुँब्लुक्, अञ्च् की उपधा नकार का लोप तथा **उद ईत्** (**३३७**) से 'अच्' के अकार को ईकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'उदीच्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्रतीचि जातं भवं वा प्रतीच्यम् (पश्चिमदिशा या पश्चिमदेश में पैदा हुआ या वहां होने वाला)। यहां 'प्रति' पूर्वक अञ्च् धातु से पूर्ववत् क्विँन् हो जाता है। पुनः शैषिक अर्थों में यत् प्रत्यय, सुँब्लुक्, अञ्च् की उपधा नकार का लोप, **अचः** (३३५) से अकारलोप तथा **चौ** (३३६) से दीर्घ हो कर 'प्रतीच्य' इस स्थिति में विभक्तिकार्य करने से 'प्रतीच्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—प्राक् आदि शब्द अव्यय और अनव्यय के भेद से दो प्रकार के हुआ करते हैं। जब इन से अस्तातिँ (५.३.२७) प्रत्यय कर उस का लुक् (५.३.३०) किया जाता है तब ये **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसंज्ञक होते हैं। अन्यथा उपर्युक्तप्रकारेण अनव्यय रहते हैं। प्रकृतसूत्र (१०७३) में किसी विशेष का उल्लेख न होने से दोनों का ही ग्रहण हो जाता है। परन्तु जब अस्तातिँप्रत्ययान्त ये अव्यय काल के वाचक होते हैं तब परत्व के कारण इन से **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्टयुटयुलौ तुँट् च** (१०८६) सूत्रद्वारा ट्यु और ट्युल् प्रत्यय ही होते हैं, यत्

१. **प्राच्यपाचीप्रतीच्यस्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमाः। उत्तरा दिगुदीची स्यात्** —इत्यमरः।

नहीं। यथा—प्राक् (पूर्वजन्मनि) भवाः प्राक्तनाः। जैसाकि कालिदास का प्रयोग है—**संस्काराः प्राक्तना इव** (रघु० १.२०)।

अब अव्ययों से शैषिक अर्थों में त्यप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७४) **अव्ययात् त्यप्** ।४।२।१०३।।

अर्थः—अव्यय से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अव्ययात् ।५।१। त्यप् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(अव्ययात्) अव्यय प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (त्यप्) त्यप् प्रत्यय हो जाता है। त्यप् में पकार अनुबन्ध है।

हमें प्रत्येक अव्यय से त्यप् करना अभीष्ट नहीं, अन्यथा 'उपरिष्टाद् भव औपरिष्टः' इत्यादि में दोष आयेगा। अतः वार्त्तिककार उन अव्ययों का परिगणन करते हैं—

[लघु०] वा०—(८२) **अमेह-क्व-तसिँ-त्रेभ्य एव** ।।

अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। तत्रत्यः ।।

अर्थः—अमा, इह, क्व, तसिँप्रत्ययान्त तथा त्रप्रत्ययान्त अव्ययों से ही शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यप् प्रत्यय हो, अन्य अव्ययों से नहीं।

व्याख्या—अमा-इह-क्व-तसिँ-त्रेभ्यः ।५।३। एव इत्यव्ययपदम्। त्यप् ।१।१। (**अव्ययात्त्यप्** सूत्र से)। अर्थः—(अमा-इह-क्व-तसिँ-त्रेभ्यः) अमा, इह, क्व, तसिँ और **त्र**—इन अव्ययों से (एव) ही शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (त्यप्) त्यप् प्रत्यय होता है, अन्य अव्ययों से नहीं।

'अमा' यह अव्यय 'सह' (साथ) के अर्थ में या समीप अर्थ में प्रयुक्त होता है[1]। अमा भवः—अमात्यः (साथ या समीप में होने वाला अर्थात् मन्त्री। मन्त्री मन्त्रणा के लिये प्रायः राजा के साथ या समीप रहा करता है)। यहां 'अमा' अव्यय से प्रकृत **अमेहक्वतसिँत्रेभ्य एव** (वा० ८२) वार्त्तिक की सहायता से **अव्ययात्त्यप्** (१०७४) सूत्रद्वारा त्यप् तद्धितप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप और विभक्तिकार्य करने से 'अमात्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इह (यहां) शब्द की **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) सूत्र से अव्ययसंज्ञा है। इह भव इह जातो वा इहत्यः (यहां होने वाला या यहां पैदा हुआ)। यहां 'इह' अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में पूर्ववत् त्यप् प्रत्यय हो जाता है।

क्व (कहां) शब्द की **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसंज्ञा है अतः

---

१. **अमा सह समीपे च** इत्यमरः। न्यासपदमञ्जर्योः स्वरादिरयमित्युक्तम्।

पूर्ववत् शैषिक अर्थों में त्यप् प्रत्यय हो जाता है। क्व भवो जातो वा क्वत्यः (कहां होने वाला या कहां पैदा हुआ)। **क्वत्येयं तव दुर्मतिः** (भट्टि० ६.१२७)।

तसिँ प्रत्यय है। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** परिभाषा के अनुसार तसिँप्रत्ययान्त अव्ययों से शैषिक अर्थों में प्रकृतवार्त्तिक से त्यप् होगा। यथा—तत आगतः—ततस्त्यः (उस से आया हुआ)।[1] इसी प्रकार—यत आगतो यतस्त्यः (जिस से आया हुआ)। कुत आगतः कुतस्त्यः (कहां से आया हुआ)। अत आगतः—अतस्त्यः (इस से आया हुआ) इत्यादि।

'त्र' भी प्रत्यय है। त्रप्रत्ययान्त अव्ययों से शैषिक अर्थों में त्यप् होगा। यथा—तत्र भवः तत्रत्यः (वहां पर होने वाला)। अत्र भवः—अत्रत्यः (यहां पर होने वाला)। यत्र भवो यत्रत्यः (जहां पर होने वाला)। कुत्र भवः कुत्रत्यः (कहां होने वाला)। सर्वत्र भवः सर्वत्रत्यः (सब जगह होने वाला)।

'अमा' को छोड़ अन्य सब का विवेचन और सिद्धि आगे प्राग्दिशीयप्रकरण में देखें। इन की **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो कर पुनः त्यप् हो जाता है।

वार्त्तिक में परिगणन कर देने से इन अव्ययों के अतिरिक्त अन्य अव्ययों से शैषिक अर्थों में त्यप् न होगा। यथा—उपरिष्टाद् भव औपरिष्टः। यहां 'उपरिष्टात्' अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवम् **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा० ८५) से टि (आत्) का लोप करने से 'औपरिष्टः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार—उत्तराहि[2] भव औत्तराहः (उत्तरदिशा में होने वाला), पुरस्ताद्भवः पौरस्तः (सामने होने वाला), परस्ताद्भवः पारस्तः (परे होने वाला) इत्यादि।

काशिका में यह परिगणन इस प्रकार श्लोकबद्ध किया गया है—

अमेह-क्व-तसि-त्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात् स्मृतः।
निनिर्भ्यां ध्रुवगत्योश्च प्रवेशो नियमे तथा॥[3]

अब इस विषय में एक अन्य वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

---

१. **निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा।**
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः॥ (किरात० १.२७)

२. उत्तरशब्द से अस्तातिँ वाले अर्थ में **उत्तराच्च** (५.३.३८) सूत्रद्वारा 'आहि' प्रत्यय करने पर 'उत्तराहि' अव्यय निष्पन्न होता है। उत्तराहि=उत्तरा दिक्, उत्तरस्यां दिशि वेत्यर्थः।

३. योऽव्ययात् त्यब्विधिरुक्तः सोऽमादिभ्य एव स्मृत इत्यर्थः। उत्तरार्धं **त्यब्नेर्ध्रुवे, निसो गते** इति वार्त्तिकद्वयं संगृह्णाति। प्रथमं वार्त्तिकमनुपदं व्याख्यास्यते। द्वितीयं सिद्धान्तकौमुद्यां द्रष्टव्यम्।

त्यप्

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३) **त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्** ।।

नित्यः ।।

अर्थः—नियत अर्थात् सर्वकालवर्त्ती वस्तु वाच्य हो तो 'नि' अव्यय से परे शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—त्यप् ।१।१। नेः ।५।१। ध्रुवे ।७।१। इति इत्यव्ययपदम् । वक्तव्यम् ।१।१। अव्ययात् ।५।१। (**अव्ययात्त्यप्** से) । **शेषे, तद्धिताः**—ये अधिकृत हैं । सर्वकालवर्त्ती पदार्थ को यहां ध्रुव कहा गया है । अर्थः—(ध्रुवे) ध्रुव अर्थात् सर्वकालवर्त्ती पदार्थ वाच्य हो तो (नेः, अव्ययात्) 'नि' अव्यय से परे (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (त्यप्) त्यप् प्रत्यय हो (इति वक्तव्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

नि' का पाठ प्रादियों में किया गया है अतः **प्रादयः** (५४) सूत्र से इस की निपातसञ्ज्ञा हो कर **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है । पूर्व-परिगणन (वा० ८२) से यहां त्यप् प्राप्त न था अतः प्रकृतवार्त्तिक से उस का विधान किया गया है । उदाहरण यथा —

नि = नियतम् = सर्वकालेषु भवो नित्यः (सब कालों में अर्थात् हमेशा रहने वाला) । यहां 'नि' अव्यय से **त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्** (वा० ८३) इस प्रकृतवार्त्तिक से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में त्यप् प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'नित्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

अब वृद्धसंज्ञकों से 'छ' प्रत्यय का विधान करने के लिये पहले वृद्धसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—(१०७५)

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ।१।१।७२।।

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद् वृद्धसञ्ज्ञं स्यात् ।।

अर्थः—जिस समुदाय के अचों में पहला अच् वृद्धिसंज्ञक हो तो वह शब्दस्वरूप वृद्धसञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—वृद्धिः ।१।१। यस्य ।६।१। अचाम् ।६।३। आदिः ।१।१। तद् ।१।१। वृद्धम् ।१।१। 'अचाम्' में जाति में सौत्रत्वाद् एकवचन के स्थान पर बहुवचन तथा निर्धारण में षष्ठी समझनी चाहिये । अर्थः—(यस्य) जिस समुदाय के (अचां मध्ये) कुल अचों में (आदिः) पहला अच् (वृद्धिः) वृद्धिसञ्ज्ञक हो तो (तत्) वह समुदाय-स्वरूप (वृद्धम्) वृद्धसञ्ज्ञक होता है ।

इस शास्त्र में **वृद्धिरादैच्** (३२) सूत्रद्वारा आ, ऐ, औ—इन तीन वर्णों की वृद्धिसञ्ज्ञा की गई है । जिस किसी शब्द में एक दो या इस से अधिक जितने अच्

---

१. **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।** (गीता २.२०)

(स्वर) हों यदि उन अचों में पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक (आ, ऐ, औ) हो तो उस सम्पूर्ण शब्द की 'वृद्ध' सञ्ज्ञा हो जाती है। यथा—'शाला' शब्द में दो अच् हैं, एक शकारोत्तर आकार और दूसरा लकारोत्तर आकार। इन में पहला अच् आकार वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः सम्पूर्ण 'शाला' शब्द की वृद्धसञ्ज्ञा हुई। 'औपगव' शब्द में चार अच् हैं—औ, पकारोत्तर अकार, गकारोत्तर अकार तथा वकारोत्तर अकार। इन चारों में पहला अच् औकार वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः सम्पूर्ण 'औपगव' शब्द वृद्धसञ्ज्ञक हुआ। इसीतरह 'ज्ञा' आदि एकाच् शब्दों में भी व्यपदेशिवद्भाव के आश्रयण से वृद्धसञ्ज्ञा की व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

सूत्र में 'वृद्धिः' के कथन से 'पर्वत' आदि शब्दों की वृद्धसंज्ञा नहीं होती, कारण कि यहां के अचों में आदि अकार है जो वृद्धिसञ्ज्ञक नहीं।

सूत्र में यदि 'अचाम्' न कहते तो 'जिस समुदाय का आदि वर्ण वृद्धिसंज्ञक हो उस की वृद्धसञ्ज्ञा हो' इस प्रकार अर्थ हो जाता। तब 'औपगव' आदि की तो वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती परन्तु शाला, माला आदि की न हो सकती क्योंकि इन का आदि वर्ण वृद्धिसंज्ञक नहीं है।

सूत्र में 'आदिः' ग्रहण के कारण 'सभासन्नयन' आदि शब्दों की वृद्धसंज्ञा नहीं होती क्योंकि यहां अचों में पहला अच् वृद्धिसंज्ञक नहीं, दूसरा अच् ही वृद्धिसंज्ञक है।

वृद्धसञ्ज्ञा करने का फल **वृद्धाच्छः** (१०७७) से 'छ' प्रत्यय का विधान करना है।

अब एक अन्य सूत्र में भी वृद्धसंज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१०७६) त्यदादीनि च ।१।१।७३॥

वृद्धसञ्ज्ञानि स्युः ॥

अर्थः—त्यद् आदि भी वृद्धसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—त्यदादीनि ।१।३। च इत्यव्ययपदम्। वृद्धानि ।१।३। (**वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा)। समासः—त्यद् (त्यद्शब्दः) आदिर्येषां ते त्यदादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। सर्वादिगण के अन्तर्गत त्यदादिगण पढ़ा गया है। त्यद्, तद्, यद्, एतद् इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतुँ, किम्—ये बारह शब्द त्यदादिगण में आते हैं। अर्थः—(त्यदादीनि) त्यद् आदि शब्द (च) भी (वृद्धानि) वृद्धसञ्ज्ञक होते हैं।

त्यद् आदि शब्दों में पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक नहीं है अतः पूर्वसूत्रद्वारा इन की वृद्धसञ्ज्ञा न हो सकती थी इसलिये यह नया सूत्र बनाया गया है।[1]

अब अग्रिमसूत्रद्वारा वृद्धसञ्ज्ञा का फल दर्शाते हैं—

---

१. एतद् और एक शब्दों की तो पूर्वसूत्र (१०७५) से वृद्धसञ्ज्ञा हो सकती थी परन्तु अन्य त्यदादियों की न होती थी। अब इस विधान से सब त्यदादियों की वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७७) **वृद्धाच्छः** ।४।२।११३।।

शालीयः । मालीयः । तदीयः ।।

अर्थ—वृद्धसञ्ज्ञक सुँबन्त प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'छ' प्रत्यय हो।

व्याख्या—वृद्धात् ।५।१। छः ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि भी पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(वृद्धात्) वृद्धसञ्ज्ञक सुँबन्त प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

शालायां जातो भवो वा शालीयः (घर में पैदा हुआ या घर में होने वाला)। शालाप्रातिपदिक में दो अच् हैं, पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१०७५) सूत्र से शालाशब्द की वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती है। अब 'शाला ङि' से **तत्र जातः** (१०८७) या **तत्र भवः** (१०९२) इत्यादि शैषिक अर्थों में प्रकृत **वृद्धाच्छः** (१०७७) सूत्र से छप्रत्यय हो कर सुँप् (ङि) का लुक् हो जाता है—शाला + छ। पुनः **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्र से छप्रत्यय के आदि वर्ण 'छ्' को 'ईय्' आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक लकारोत्तर आकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शालीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मालायां भवो मालीयः (माला में होने वाला, सूत तागा आदि)। मालाप्राति-पदिक का भी पहला अच् वृद्धिसंज्ञक है अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१०७५) सूत्रद्वारा मालाशब्द की वृद्धिसञ्ज्ञा हो जाती है। अब 'माला ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से तद्धित 'छ' प्रत्यय, सुँब्लुक्, छ् को ईय् आदेश तथा भसञ्ज्ञक अन्त्य आकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मालीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **तस्येदम्** (११०९) के अर्थ में—मालीयानीमानि कुसुमानि।

तस्यायं तदीयः (उस का यह)। **त्यदादीनि च** (१०७६) सूत्र से 'तद्' शब्द की वृद्धसञ्ज्ञा हो कर 'तद् ङस्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से छप्रत्यय, सुँब्लुक्, छ् को ईय् आदेश और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'तदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

नाटकस्येदं नाटकीयं कथावस्तु (नाटक की कहानी)।

बौद्धानामिदम् बौद्धीयं मतम्।

औपगवस्यायम् औपगवीयः।

कापटवस्यायं कापटवीयः।

आचार्यस्यायम् आचार्यीयो माणवकः।

त्यदादियों से यथा—

यदीयः । एतदीयः । इदमीयः । अदसीयः । एकीयः । द्वीयः । युष्मदीयः । अस्मदीयः । त्वदीयः ।[1] मदीयः । भवदीयः ।[2] किमीयः ।

अब अग्रिमवार्त्तिकद्वारा वृद्धसञ्ज्ञा का विकल्प विधान करते हैं —

[लघु०] वा०—(८४) **वा नामधेयस्य वृद्धसञ्ज्ञा वक्तव्या ॥**

देवदत्तीयः । दैवदत्तः ॥

अर्थः— नामवाचक शब्द की वृद्धसञ्ज्ञा विकल्प से कहनी चाहिये ।

व्याख्या— वा इत्यव्ययपदम् । नामधेयस्य ।६।१। वृद्धसञ्ज्ञा ।१।१। वक्तव्या ।१।१। नाम एव नामधेयम् । **भाग-रूप-नामभ्यो धेयः** (वा० ५.४.२५) इति स्वार्थे धेय-प्रत्ययः । अर्थः—(नामधेयस्य) नामवाचक शब्द की (वा) विकल्प से (वृद्धसञ्ज्ञा) वृद्धसञ्ज्ञा (वक्तव्या) कहनी चाहिये । उदाहरण यथा—

देवदत्तस्यायं देवदत्तीयो दैवदत्तो वा छात्रः (देवदत्त का यह, छात्र आदि) । यहां 'देवदत्त' किसी का नाम है अतः **वा नामधेयस्य वृद्धसञ्ज्ञा वक्तव्या** (वा० ८४) इस प्रकृत वार्त्तिक से इस की विकल्प से वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती है । अब **तस्येदम्** (११०६) इस शैषिक अर्थ की विवक्षा में वृद्धसञ्ज्ञा वाले पक्ष में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से छप्रत्यय, सुँब्लुक्, छ् को ईय् आदेश एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'देवदत्तीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । वृद्धसञ्ज्ञा के अभावपक्ष में **तस्येदम्** (११०६) द्वारा प्राग्दीव्यतीय अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि और **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'दैवदत्तः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—यज्ञदत्तस्यायं यज्ञदत्तीयो याज्ञदत्तो वा छात्रः । इत्यादि ।

अब गहादिगणपठित शब्दों से शैषिक अर्थों में छप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७८) **गहादिभ्यश्च ।४।२।१३७॥**

गहीयः ॥

अर्थः —गहआदिगणपठित सुँबन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'छ' प्रत्यय हो ।

---

१. त्वदीयः, मदीयः—प्रयोगों की सिद्धि आगे **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) सूत्र की व्याख्या में देखें ।

२. वस्तुतः **भवतष्ठक्छसौ** (४.२.११४) सूत्रद्वारा शैषिक अर्थों में 'भवत्' सर्वनाम से ठक् वा छस् तद्धितप्रत्यय किये जाते हैं । छस् प्रत्यय के सित् होने से **सिति च** (१.४.१६) द्वारा पदसञ्ज्ञा के कारण भवत् के तकार को **झलां जशोऽन्ते** (६७) सूत्र से जश्त्वेन दकार हो कर 'भवदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । परन्तु ठक् प्रत्यय करने पर आदिवृद्धि हो कर **इसुसुक्तान्तात् कः** (१०५२) से ठ् को 'क' आदेश करने से 'भावत्कः' प्रयोग बनता है । [जश्त्वेन पदान्तस्य तकारस्य दकारे कृतेऽपि **खरि च** (७४) इति चर्त्वम्] ।

व्याख्या—गहादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । छः ।१।१। (**वृद्धाच्छः** सूत्र से)। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। समासः—गहः (गहशब्दः) आदिर्येषान्ते गहादयः, तेभ्यः= गहादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(गहादिभ्यः) गह आदि सुँबन्त प्रातिपदिकों से परे (च) भी (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है। गहादि एक गण है।[1] उदाहरण यथा—

गहे भवो गहीयः (गुफा आदि गहन स्थान में होने वाला)।[2] यहां 'गह ङि' से प्रकृत **गहादिभ्यश्च** (१०७८) सूत्रद्वारा **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में 'छ' प्रत्यय, सुँब्लुक्, छ् को ईय् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'गहीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि गहशब्द का पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक न था अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्** वृद्धम् (१०७५) से इस की वृद्धसञ्ज्ञा न होने से 'छ' प्रत्यय प्राप्त न था।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

अन्तःस्थेषु भवः—अन्तःस्थीयः । समे भवः समादागतो वा समीयः । विषमे भवो

---

१. गहादिगण यथा—

गह । अन्तःस्थ । सम । विषम । **मध्य मध्यमं चाण् चरणे** (गणसूत्रम्) । उत्तम । अङ्ग । वङ्ग । मगध । पूर्वपक्ष । अपरपक्ष । अधमशाख । उत्तमशाख । एकशाख । समानशाख । समानग्राम । एकग्राम । एकवृक्ष । एकपलाश । इष्वग्र । इष्वनीक (इष्वनी का.) । अवस्यन्दन (अवस्कन्द का.) । कामप्रस्थ । खाडायन । काठेरणि । लावेरणि । सौमित्रि । शैशिरि । आसुत् । देवशर्मन् (दैवशर्मि) । श्रौति । आहिंसि । आमित्रि । व्याडि । बैजि (बैदजि का.) । आध्यश्वि । आनृशंसि । शौङ्गि । अग्निशर्मन् (आग्निशर्मि) । भौजि । वाराटकि (आराटकि का.) । वाल्मीकि (वाल्मिकि) । क्षेमवृद्धिन् (क्षैमवृद्धि) । आश्वत्थि । औद्ग्राहमानि (औद्-गाहमानि) । ऐक । विन्दवि । दन्ताग्र । हंस । तन्त्वग्र (तत्त्वग्र) । उत्तर । अन्तर (अनन्तर) । **मुखपार्श्वतसोर्लोपः** (गणसूत्रम्) । **जनपरयोः कुँक् च** (गणसूत्रम्) । **देवस्य च** (ग. सूत्रम्) । **स्वस्य च** (ग. सूत्रम्) । **वेणुकादिभ्यश्छण्** (ग. सूत्रम्) । आकृतिगणः ।। (इस गण में अनेक पाठभेद पाये जाते हैं) ।

२. 'गह' का अर्थ सम्यक्प्रकारेण ज्ञात नहीं हो सका। किसी प्राचीन कोष में इस का उल्लेख नहीं मिला। गणरत्नमहोदधिकार ने 'गहे ग्रामे भवो गहीयः' इस प्रकार लिखा है। आचार्य हेमचन्द्र 'गह' को एक देश मानते हैं। हरिनामामृतव्याकरण की बालतोषिणीटीका में 'गहः' का अर्थ 'घटः' किया गया है। आप्टे ने अपने बृहत्कोष में इस का अर्थ (Cave) (गुफा) किया है। श्रीशचन्द्रवसु ने भी अष्टाध्यायी की अंग्रेजीव्याख्या में इसी का अनुसरण किया है। साहित्य में इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

विषमादागतो वा विषमीयः । अङ्गेषु भवम् अङ्गीयम् । वङ्गेषु भवं वङ्गीयम् । मगधेषु भवम् मगधीयम् । एकग्रामीयम् । पूर्वपक्षस्येदं पूर्वपक्षीयम् । अपरपक्षीयम् । उत्तमीयम् । उत्तरीयम् । एकशाखीयम् । समानशाखीयम् । एकवृक्षीयम् । वाल्मीकेरिदं वाल्मीकीयं तपोवनम् ।[1] जनकीयः । परकीयः । स्वकीयः ।[2] अन्तरे भवम् अन्तरीयम्, न अन्तरीयं नान्तरीयम्, स्वार्थे कनि नान्तरीयकम् (अविनाभूतमित्यर्थः) ।[3]

गहादियों को आकृतिगण मानने से ---

मतुबर्थे भवम् मतुबर्थीयम् । मत्वर्थे भवम् मत्वर्थीयम् । घटस्येदं घटीयं जलम् । इत्यादि ।

अब युष्मद् और अस्मद् शब्दों से शैषिक अर्थों में खञ् आदि प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०७९**)

युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ।४।३।१।।

चाच्छः । पक्षेऽण् । युवयोर्युष्माकं वाऽयम्—युष्मदीयः । अस्मदीयः ।।

अर्थः – युष्मद् और अस्मद् इन सुँबन्त शब्दों से शैषिक अर्थों में खञ्, छ और अण् ये तीन तद्धित प्रत्यय हों ।

व्याख्या --युष्मदस्मदोः ।६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी) । अन्यतरस्याम् ।७।१। खञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । चकारेण **गर्त्तोत्तरपदाच्छः** (४.२.१३६) इति छः प्रत्ययः समुच्चीयते । महाविभाषयैव[4] वाक्ये सिद्धे अन्यतरस्यांग्रहणेन प्राग्दीव्यतीयः सामान्यप्राप्तोऽण् प्रत्ययोऽपि संगृह्यते । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,**

---

१. **तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।**
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ।। (रघु० १५.११)

२. गहादिगणान्तर्गत **जनपरयोः कुँक् च** इस गणसूत्र से छप्रत्यय के परे रहते 'जन' और 'पर' शब्दों को कुँक् का आगम हो जाता है । जनानामयम्, जनेभ्य आगतः, जनेषु भवो वा जनकीयः । परस्यायं परेषु भवो वा परकीयः । **स्वस्य च** इस गणसूत्र से 'छ' परे रहते स्वशब्द को भी कुँक् का आगम हो जाता है—स्वस्मिन् भवः, स्वस्मादागतः, स्वस्यायं वा स्वकीयः । आगमशास्त्र को अनित्य मान कर यह कुँक् क्वचित् नहीं भी होता—स्वीयः । **धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः** (हितोप० १.१०३) । [केचित् **स्वस्य च** इति गणसूत्रं प्रक्षिप्तं मन्यन्ते । ते स्वशब्दात् स्वार्थे कनि गहादेराकृतिगणत्वाच्छे 'स्वकीयम्' इति समर्थयन्ति । केवलात् स्वशब्दात्तु तेऽणं कृत्वा **द्वारादीनाञ्च** (७.३.४) इत्यैजागमं विधाय 'सौवम्' इति साधयन्ति । प्रयुक्तोऽयम्प्रयोगो **द्वारादीनाञ्चे**त्यत्र भाष्येऽपि] ।

३. अन्तरशब्दाद् गहादित्वाच्छे तदन्तेन नशब्दस्य समासे स्वार्थे कनि च कृते 'नान्तरीयकम्' इति ।

४. **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) इति तद्धितप्रकरणे महाविभाषा बोध्या ।

तद्धिताः ये भी पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः—(युष्मदस्मदोः=युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् सुँबन्त शब्दों से (शेषे) शैषिक अर्थों में तद्धितसंज्ञक (खञ्) खञ् (च) तथा (छः) छ प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाते हैं । पक्ष में सामान्यप्राप्त अण् तद्धितप्रत्यय भी हो जायेगा ।

युष्मद् और अस्मद् दो प्रकृतियां हैं, खञ् छ और अण् तीन प्रत्यय हैं अतः यथासंख्य नहीं होता । दोनों प्रकृतियों से तीनों प्रत्यय किये जायेंगे । उदाहरण यथा—

युवयोर्युष्माकं वाऽयं युष्मदीयः (तुम दोनों का अथवा तुम सब का यह) । यहां 'युष्मद् ओस्' या 'युष्मद् आम्' से **तस्येदम्** (११०६) इस शैषिक अर्थ में प्रकृत **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** (१०७६) सूत्रद्वारा छप्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण छ् को ईय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'युष्मदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—आवयोरस्माकं वाऽयम् अस्मदीयः (हम दोनों का अथवा हम सब का यह) । यहां 'अस्मद् ओस्' या 'अस्मद् आम्' से छप्रत्यय हुआ है ।

ध्यान रहे कि द्वित्व और बहुत्व में वर्त्तमान युष्मद् अस्मद् शब्दों के ही यहां छप्रत्यय में उदाहरण दिये गये हैं । एकत्व में वर्त्तमान युष्मद् अस्मद् के उदाहरण आगे **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) सूत्र पर दिये जायेंगे ।

खञ् और अण् प्रत्ययों के उदाहरणों में अग्रिम दो सूत्र प्रवृत्त होते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८०)

तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ।४।३।२।।

युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च परे । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । यौष्माकः । आस्माकः ।।

अर्थः—उस खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्यय के परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः युष्माक और अस्माक आदेश हों ।

व्याख्या—तस्मिन् ।७।१। अणि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । युष्माकास्माकौ ।१।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। (**युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** सूत्र से) । 'तस्मिन्' कथन से पूर्वोक्त खञ्प्रत्यय को निर्दिष्ट किया गया है । युष्माकश्च अस्माकश्च युष्माकास्माकौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(तस्मिन्) उस पूर्वोक्त खञ् प्रत्यय के परे होने पर (च) अथवा (अणि) अण् प्रत्यय के परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (युष्माकास्माकौ) युष्माक और अस्माक आदेश हो जाते हैं ।

यथासंख्यपरिभाषा से युष्मद् के स्थान पर युष्माक, एवम् अस्मद् के स्थान पर अस्माक आदेश होता है ।[1] किञ्च अनेकाल्परिभाषा (४५) से युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर ये सर्वादेश होते हैं ।

---

१. दो प्रत्ययों में दो आदेश होने पर भी यथासंख्य अभीष्ट नहीं । इस के लिये आकर-ग्रन्थों का अनुशीलन करें ।

इस सूत्र का **तवक-ममकावेकवचने** (१०८१) यह अग्रिमसूत्र अपवाद है अत: एकत्व की विवक्षा में उस सूत्र से युष्मद् अस्मद् शब्दों को क्रमश: तवक ममक आदेश हो जाते हैं अवशिष्ट द्वित्व और बहुत्व में ही प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

प्रकृतसूत्र के खञ् में उदाहरण यथा --

युवयोर्युष्माकं वाऽयं यौष्माकीण: (तुम दो का या तुम सब का यह) । यहां 'युष्मद् ओस्' या 'युष्मद् आम्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में **युष्मदस्मदो-रन्यतरस्यां खञ् च** (१०७९) सूत्र से तद्धित खञ् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा खञ् के परे रहते प्रकृत **तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ** (१०८०) सूत्र से युष्मद् के स्थान पर 'युष्माक' सर्वादेश करने पर 'युष्माक + ख' हुआ । अब **आयनेयीनीयिय: फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्रद्वारा प्रत्यय के आदि वर्ण 'ख्' को 'ईन्' आदेश, आदिवृद्धि (९३८), भसञ्ज्ञक अकार का लोप एवम् **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) सूत्र से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'यौष्माकीण:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार आवयोरस्माकं वाऽयम् आस्माकीन: (हम दो का या हम सब का यह) । यहां अस्मद् के स्थान पर 'अस्माक' सर्वादेश हुआ है ।

अण् प्रत्यय में उदाहरण यथा --

युवयोर्युष्माकं वाऽयं यौष्माक: (तुम दो का या तुम सब का यह) । यहां 'युष्मद् ओस्' या 'युष्मद् आम्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९) सूत्र से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ** (१०८०) सूत्रद्वारा युष्मद् को 'युष्माक' सर्वादेश करने पर 'युष्माक + अ' हुआ । अब **तद्धितेष्व-चामादे:** (९३८) से आदिवृद्धि और **यस्येति च** (२३६) से अन्त्य भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'यौष्माक:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार---आवयोरस्माकं वाऽयम् आस्माक: (हम दो का या हम सब का यह) । यहां अण् प्रत्यय के परे रहते अस्मद् के स्थान पर 'अस्माक' सर्वादेश हुआ है ।

अब एकत्वविशिष्ट युष्मद्-अस्मद् शब्दों के स्थान पर खञ् और अण् प्रत्ययों के परे रहते आदेशों का विधान करते हैं--

[लघु०] विधि-सूत्रम्---(१०८१) तवक-ममकावेकवचने ४।३।३।।

एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्त: खञि अणि च । ताव-कीन: । तावक: । मामकीन: । मामक: । छे तु---

अर्थ:---खञ् या अण् प्रत्यय के परे होने पर एकार्थवाची युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमश: तवक और ममक आदेश हों ।

व्याख्या---तवक-ममकौ ।१।२। एकवचने ।७।१। तस्मिन् ।७।१। अणि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । (**तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ** सूत्र से) । युष्मदस्मदो: ।६।२। (**युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** सूत्र से) । समास:---एकस्य वचनम् (उक्ति:) एकवचनम्, तस्मिन् = एकवचने । षष्ठीतत्पुरुष: । तवकश्च ममकश्च तवक-ममकौ । इतरेतरद्वन्द्व: । अर्थ:---(तस्मिन्) उस खञ् प्रत्यय (च) तथा (अणि) अण् प्रत्यय के परे होने पर (एक-

वचने = एकस्योक्तौ प्रयुक्तयोः[1]) एकसंख्या के कथन में प्रयुक्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (तवकममकौ) तवक और ममक आदेश हो जाते हैं। यहां पर भी यथासंख्यपरिभाषा से युष्मद् के स्थान पर 'तवक', और अस्मद् के स्थान पर 'ममक' आदेश होगा। किञ्च अनेकाल् होने से ये आदेश सर्वादेश होंगे। खञ् में उदाहरण यथा—

तवायं तावकीनः (तेरा यह)। यहां 'युष्मद् ङस्' से **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** (१०७९) सूत्रद्वारा **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में खञ् प्रत्यय, सुँब्लुक् एवं प्रकृत **तवकममकावेकवचने** (१०८१) सूत्र से युष्मद् शब्द के स्थान पर 'तवक' सर्वादेश हो कर 'तवक + ख' हुआ। अब **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण ख् को ईन् आदेश, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'तावकीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—ममायं मामकीनः (मेरा यह)। यहां 'अस्मद् ङस्' से पूर्वोक्तरीत्या खञ् प्रत्यय, सुँब्लुक् और प्रकृतसूत्रद्वारा अस्मद् के स्थान पर 'ममक' सर्वादेश हो कर 'ममक + ख' हुआ। अब प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मामकीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अण् में उदाहरण यथा—

तवायं तावकः (तेरा यह)। यहां 'युष्मद् ङस्' से **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९) सूत्र से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रकृत **तवकममकावेकवचने** (१०८१) से युष्मद् के स्थान पर 'तवक' सर्वादेश हो कर 'तवक + अ' हुआ। अब अण् के णित्त्व के कारण आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'तावकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—ममायं मामकः (मेरा यह)। यहां 'अस्मद् ङस्' से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, अस्मद् को ममक आदेश, आदिवृद्धि तथा यस्येतिचलोप हो जाता है।

---

१. एकवचन परे होने पर युष्मद्-अस्मद् को तवक-ममक आदेश हों—ऐसा अर्थ करने पर 'तावकीनः, मामकीनः' सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि 'युष्मद् ङस् + खञ्, अस्मद् ङस् + खञ्' इस अवस्था में सर्वप्रथम **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् का लुक् हो जाता है, तब **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) द्वारा प्रत्ययलक्षण भी नहीं हो सकता क्योंकि **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) सूत्र निषेध करेगा। अतः एकवचन परे न रहने से तवक-ममक आदेश नहीं हो सकेंगे। इसलिये सूत्रगत 'एकवचने' का अर्थ 'एकत्व को कहने में प्रयुक्त' ऐसा करने से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि प्रत्यय एकवचन का लुक् हो जाने पर भी युष्मद्-अस्मद् शब्द एकत्व को कहने में प्रयुक्त हैं ही। अतः तवक-ममक आदेश निर्बाध हो जाते हैं। काशिकायान्तु वचनात् प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधो न भवतीति अन्यदपि समाधानमुक्तम्।

छे तु—अब छ प्रत्यय के परे रहते एकत्ववाची युष्मद्-अस्मद् शब्दों के स्थान पर आदेश विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८२) **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** ।७।२।९८।।

मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये, उत्तरपदे च परतः । त्वदीयः । मदीयः । त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः ।।

अर्थः—प्रत्यय या उत्तरपद परे हो तो एकार्थ के वाचक युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मकारपर्यन्त भागों के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश हों ।

व्याख्या—प्रत्ययोत्तरपदयोः ।७।२। च इत्यव्ययपदम् । एकवचने ।७।१। त्वमौ ।१।२। (**त्वमावेकवचने** सूत्र से) । युष्मदस्मदोः ।६।२। (**युष्मदस्मदोरनादेशे** सूत्र से) । मपर्यन्तस्य ।६।१। (**मपर्यन्तस्य** यह अधिकृत है) । समासः—प्रत्ययश्च उत्तरपदं च प्रत्ययोत्तरपदे, तयोः=प्रत्ययोत्तरपदयोः, इतरेतरद्वन्द्वः । एकस्य वचनम् एकवचनम्, तस्मिन्=एकवचने, षष्ठीतत्पुरुषः । त्वश्च मश्च त्वमौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्रत्ययोत्तरपदयोः) प्रत्यय के परे होने पर या उत्तरपद के परे होने पर (एकवचने) एकार्थ की उक्ति में प्रयुक्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य=मपर्यन्तयोः) मकारपर्यन्त भागों के स्थान पर (त्वमौ) 'त्व' और 'म' आदेश हो जाते हैं ।

समास के चरम अर्थात् अन्तिम पद को 'उत्तरपद' कहते हैं । यथासंख्यपरिभाषा से युष्मद् शब्द को मपर्यन्त 'त्व' तथा अस्मद् शब्द को मपर्यन्त 'म' आदेश हो जायेगा । उदाहरण यथा—

तवायं त्वदीयः (तेरा यह) । यहां 'युष्मद् ङस्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** (१०७९) सूत्र से छ प्रत्यय हो कर सुँप् (ङस्) का लुक् (७२१) करने से 'युष्मद्+छ' हुआ । अब यहां युष्मद् शब्द एकार्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा इस से परे छप्रत्यय भी विद्यमान है अतः प्रकृत **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) सूत्र से युष्मद् शब्द को मकारपर्यन्त 'त्व' आदेश हो कर 'त्व अद्+छ'[1] इस स्थिति में **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एवम् **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण छकार को ईय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'त्वदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—ममायं मदीयः (मेरा यह, मुझ से सम्बन्ध रखने वाला) । यहां 'अस्मद् ङस्' से पूर्वोक्तरीत्या छप्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रकृतसूत्र से अस्मद् शब्द को मकारपर्यन्त 'म' आदेश, पररूप तथा छ् को ईय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'मदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

उत्तरपद परे होने के उदाहरण मूल में ही 'त्वत्पुत्रः' और 'मत्पुत्रः' दिये हुए हैं । तव पुत्रः—त्वत्पुत्रः, मम पुत्रः—मत्पुत्रः । यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा षष्ठीतत्पुरुषसमास किया गया है । 'युष्मद् ङस्+पुत्र सुँ' तथा 'अस्मद् ङस्+पुत्र सुँ' इस दशा में समास हो कर सुँब्लुक् (७२१) करने से 'युष्मद्+पुत्र' तथा 'अस्मद्+पुत्र' बना । अब

---

१. यहां विभक्ति परे न होने के कारण **शेषे लोपः** (३१३) से 'अद्' का लोप नहीं हो सकता ।

उत्तरपद (पुत्र) के परे रहते प्रकृत **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) सूत्र से युष्मद् को मकारपर्यन्त 'त्व' आदेश एवम् अस्मद् को मकारपर्यन्त 'म' आदेश हो कर **अतो गुणे** (२७४) से पररूप तथा **खरि च** (७४) से दकार को चर्त्वेन तकार करने पर 'त्वत्पुत्रः' तथा 'मत्पुत्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

प्रत्यय परे होने पर—

अतिशयेन त्वं त्वत्तरः (**द्विवचनविभज्योपपदे०** १२२२)।

अतिशयेन अहं मत्तरः (१२२२)।

त्वामात्मन इच्छति त्वद्यति (**सुँप आत्मनः क्यच्** ७२०)।

मामात्मन इच्छति मद्यति (७२०)।

त्वमिव आचरति त्वद्यते (**कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च** ३.१.११)।

अहमिव आचरति मद्यते (३.१.११)।

उत्तरपद परे होने पर—

तव धनं त्वद्धनम् (षष्ठीतत्पुरुषसमासः)।

मम धनं मद्धनम् (षष्ठीतत्पुरुषसमासः)।

त्वं नाथो यस्य स त्वन्नाथः (बहुव्रीहिसमासः)।

अहं नाथो यस्य स मन्नाथः (बहुव्रीहिसमासः)।

सूत्रार्थ में एकवचन अर्थात् एकार्थवाची युष्मद् अस्मद् को ही आदेश कहे गये हैं। इस से 'युवयोर्युष्माकं वाऽयम्—युष्मदीयः, आवयोरस्माकं वाऽयम्—अस्मदीयः' इत्यादियों में प्रत्यय परे होने पर भी त्व-म आदेश नहीं होते। इसीतरह—'युवयोर्युष्माकं वा पुत्रः—युष्मत्पुत्रः, आवयोरस्माकं वा पुत्रः—अस्मत्पुत्रः' इत्यादियों में उत्तरपद के परे रहते भी त्व-म आदेश नहीं होते।

युष्मद्-अस्मद् शब्दों से शैषिक अर्थों में खञ्, अण् और छ तीनों प्रत्ययों का **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९) सूत्र से विधान किया गया था। अब सब में रूप सिद्ध किये जा चुके हैं। इन की तालिका यथा—

खञ्प्रत्यये	अण्प्रत्यये	छप्रत्यये
एकवचने—	**एकवचने**—	**एकवचने**—
तवायं तावकीनः	तवायं तावकः	तवायं त्वदीयः
ममायं मामकीनः	ममायं मामकः	ममायं मदीयः
द्विवचने—	**द्विवचने**—	**द्विवचने**—
युवयोरयं यौष्माकीणः	युवयोरयं यौष्माकः	युवयोरयं युष्मदीयः
आवयोरयम् आस्माकीनः	आवयोरयम् आस्माकः	आवयोरयम् अस्मदीयः
बहुवचने—	**बहुवचने**—	**बहुवचने**—
युष्माकमयं यौष्माकीणः	युष्माकमयं यौष्माकः	युष्माकमयं युष्मदीयः
अस्माकमयम् आस्माकीनः	अस्माकमयम् आस्माकः	अस्माकमयम् अस्मदीयः

म, ठञ् (इक)

अब मध्यशब्द से शैषिक अर्थों में 'म' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८३) **मध्यान्मः ।४।३।८॥**

मध्यमः ॥

अर्थः—मध्यशब्द से शैषिक अर्थों में 'म' यह तद्धितसञ्ज्ञक प्रत्यय हो ।

व्याख्या—मध्यात् ।५।१। मः ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(मध्यात्) 'मध्य' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मः) 'म' प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा —

मध्ये भवो मध्यमः (मध्य में होने वाला) । यहां 'मध्य ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में प्रकृत **मध्यान्मः** (१०८३) सूत्र से 'म' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् एवं विभक्तिकार्य करने से 'मध्यमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब कालवाचकों से शैषिक अर्थों में ठञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८४) **कालाट्ठञ् ।४।३।११॥**

कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । कालिकम् । मासिकम् । सांवत्सरिकम् ॥

अर्थः—कालवाचक सुँबन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कालात् ।५।१। ठञ् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यहां 'काल' से केवल कालशब्द का ही ग्रहण नहीं होता अपितु उस के पर्यायों तथा मास, दिन, संवत्सर आदि उस के विशेष भेदों का भी ग्रहण हो जाता है ।[1] अर्थः—(कालात्) कालवाचक सुँबन्त प्रातिपदिकों से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है ।

ठञ् में ञकार अनुबन्ध है, अकार उच्चारणार्थ है । ञित्करण आदिवृद्धि के लिये है । 'ठ्' को **ठस्येकः** (१०२७) से 'इक' आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

---

१. इस का कारण **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्** (४.३.१६) सूत्र से सन्धिवेलादिगण में पठित त्रयोदशी, चतुर्दशी आदि शब्दों से अण् प्रत्यय का विधान करना है । क्योंकि वहां अण्प्रत्यय ठञ् के बाधनार्थ ही कहा गया है, अन्यथा वह तो **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) इस सामान्याधिकार से ही प्राप्त था । यदि **कालाट् ठञ्** (१०८४) सूत्र में केवल कालशब्द से ही ठञ् प्रत्यय करना अभीष्ट होता तो त्रयोदशी, चतुर्दशी आदि शब्दों से उस की प्राप्ति ही न होती, पुनः उस के बाध के लिये अण् का विधान क्यों करते ? अतः इस से प्रतीत होता है कि इस सूत्र में 'काल' के ग्रहण से केवल कालशब्द का ही नहीं अपितु उस के पर्यायों तथा विशेष-भेदों का भी ग्रहण होता है । विस्तार के लिये प्रौढमनोरमा आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों का अवलोकन करें ।

काले भवं जातं वा कालिकम् (समय पर होने वाला या समय पर उत्पन्न आदि)। यहां 'काल ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **कालाट्ठञ्** (१०८४) सूत्र से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से 'ठ्' को 'इक' आदेश, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कालिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

मासे भवं जातं वा मासिकम् (महीने में होने वाला या पैदा होने वाला)। यहां कालवाचक 'मास ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में पूर्ववत् ठञ्, सुँब्लुक्, ठ् को 'इक' आदेश, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मासिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

संवत्सरे भवं जातं वा सांवत्सरिकम् (वर्ष में होने वाला या वर्ष भर में पैदा होने वाला)। यहां कालवाचक संवत्सरशब्द से पूर्ववत् ठञ् प्रत्यय हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) समये भवो जातो वा सामयिको विचारः। सामयिकी चर्चा।[2]
(२) दिवसे भवं जातं वा दैवसिकं कर्म।
(३) दिने भवं जातं वा दैनिकं कृत्यम्।
(४) अर्धमासे भवं जातं वा अर्धमासिकं वेतनम्।
(५) शर्वर्यां भवं जातं वा शार्वरिकं तमः।[3]
(६) उषसि भवं जातं वा औषसिकं विहरणम्।[4]
(७) अह्नि भवं जातं वा आह्निकं कृत्यम्।[5]

---

१. अत एव तत्कालीनः, समकालीनः, समानकालीनः, उत्तरकालीनः, प्राक्कालीनः आदि प्रयोग अशुद्ध हैं। इन के स्थान पर तात्कालिकः, सामकालिकः, सामानकालिकः, औत्तरकालिकः, प्राक्कालिकः आदि का प्रयोग करना चाहिये।

२. **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति स्त्रियां ङीप्।

३. **नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये** (कुमार० ८.५८)। यहां कालिदास के 'शार्वर' प्रयोग को वैयाकरण अशुद्ध मानते हैं।

४. **आकुलश्चपलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौषसरागः** (किरात० ९.८)। यहां भारवि का 'औषस' प्रयोग वैयाकरणों को अनभिमत है।

५. 'अहन् ङि' से ठञ्, सुँब्लुक्, ठ् को इक आदेश एवम् आदिवृद्धि होकर 'आहन्+इक' इस अवस्था में **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५) इस नियम के कारण **नस्तद्धिते** (९१९) से टि का लोप नहीं होता। अब **अल्लोपोऽनः** (२४७) से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आह्निकम्' प्रयोग उपपन्न हो जाता है।

(८) प्रस्थाने (प्रस्थानकाले) भवं प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनम् ।
(९) पूर्वस्मिन् (पूर्वजन्मनि) भवा पौर्विकी जातिः ।[1]
(१०) पर्वणि भवः पार्विकः शर्वरीश्वरः ।[2]
(११) वर्षे भवा वार्षिकी परीक्षा ।

अब तद्धित प्रक्रिया में महोपयोगी एक वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(८५) **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः ॥**

सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः ॥

अर्थः— भसञ्ज्ञामात्र होते ही अव्ययों की टि का लोप हो ।

व्याख्या—अव्ययानाम् ।६।३। भमात्रे ।७।१। टिलोपः ।१।१। अर्थः—(भमात्रे) केवल भसञ्ज्ञा होते ही (अव्ययानाम्) अव्ययों की (टेर्लोपः) टि का लोप हो जाता है। यह वार्त्तिक **नस्तद्धिते** (६.४.१४४) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। जिसप्रकार **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र नकारान्त भसञ्ज्ञक टि का लोप करता है वैसा अव्ययों में नहीं होता। अव्ययों में तो टि चाहे नकारान्त हो या कोई अन्यवर्णान्त, केवल भसञ्ज्ञा होने मात्र से ही उस का लोप हो जाता है। यही यहां 'मात्र' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन है।[3] उदाहरण यथा—

---

१. **अद्रोहेण भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ।** (मनु० ४.१४८)
टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति ङीप् ।

२. **नस्तद्धिते** (९१९) इति टेर्लोपः । प्रयोगो यथा—
अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥
(नैषध० १.२१)

३. यह वार्त्तिक अनित्य है, क्योंकि जब इस से अव्ययों की भसञ्ज्ञक टि का लोप सिद्ध हो सकता था तो पुनः **बहिषष्टिलोपो यञ् च** (वा० ६८) वार्त्तिक में बहिस् अव्यय की टि के लोप का विधान क्यों किया ? इस से प्रतीत होता है कि क्वचित् इस की प्रवृत्ति नहीं भी होती। यथा—आराद् भव आरातीयः (समीप में होने वाला, पड़ौसी आदि)। यहां वृद्धसञ्ज्ञक आरात् अव्यय से **वृद्धाच्छः** (१०७७) सूत्रद्वारा छप्रत्यय हो कर छ् को ईय् हो जाता है। प्रकृतवार्त्तिक के अनित्य होने से टि का लोप नहीं होता। इसीप्रकार—शश्वद् भवः शाश्वतिकः शाश्वतो वा (६.४.१४४ सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्यात् ठञ् अण् चेत्युभौ प्रत्ययौ भवतः)। वस्तुतः महाभाष्य में यह वार्तिक **अव्ययानां च सायंप्रातिकाद्यर्थम्** इसप्रकार कुछेक प्रयोगों के साधुत्व के लिये ही पढ़ा गया है। अत एव काशिकाकार ने यहां स्पष्ट शब्दों में कहा भी है—**के पुनः सायम्प्रातिकादयः ? येषामव्ययानामविहितष्टिलोपः प्रयोगे च दृश्यते ते सायंप्रातिकप्रकारा ग्रहीतव्याः ।**

सायं च प्रातः च सायंप्रातः, द्वन्द्वसमासः। सायंप्रातर्भवः सायंप्रातिकः (साञ्झ सवेरे होने वाला)। यहां 'सायंप्रातर्' इस कालवाचक अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **कालाट् ठञ्** (१०८४) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, ठ् को **ठस्येकः** (१०२७) से 'इक' आदेश, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि एवं **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा हो प्रकृत **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा० ८५) वार्त्तिक से टि (अर्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'सायम्प्रातिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'पुनर्' अव्यय को **सर्वस्य द्वे** (८.१.१) के अधिकार में **नित्यवीप्सयोः** (८८६) सूत्र से वीप्सा अर्थ में द्वित्व हो कर 'पुनःपुनर्' निष्पन्न होता है। यह स्थानिवद्भाव से अव्यय है। पुनःपुनर्भवः पौनःपुनिकः (बार बार होने वाला)। यहां कालवाचक 'पुनःपुनर्' अव्यय से भव अर्थ में **कालाट् ठञ्** (१०८४) से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, ठ् को इक आदेश, आदिवृद्धि तथा '**अव्ययानां भमात्रे टिलोपः**' (वा० ८५) वार्त्तिक से भसञ्ज्ञक टि (अर्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'पौनःपुनिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इस वार्त्तिक के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) उपरिष्टाद् भव औपरिष्टः। **तत्र भवः** (१०९२) इत्यण्।

(२) पुरस्ताद् भवः पौरस्तः। **तत्र भवः** (१०९२) इत्यण्।

(३) परस्ताद् भवः पारस्तः। **तत्र भवः** (१०९२) इत्यण्।

(४) उत्तराहि भव औत्तराहः। **तत्र भवः** (१०९२) इत्यण्।

इन सब की सिद्धि पीछे **अमेह-क्व-तसिँ-त्रेभ्य एव** (वा० ८२) इस वार्त्तिक पर की जा चुकी है।

अब प्रावृष् (वर्षाऋतु) शब्द से 'एण्य' तद्धित का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०८५) प्रावृष एण्यः ।४।३।१७॥**

प्रावृषेण्यः ॥

अर्थः—कालवाचक प्रावृष् (वर्षाऋतु) सुँबन्त प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'एण्य' प्रत्यय हो।

---

१. **शङ्का**—'सायम्प्रातिकः' तथा 'पौनःपुनिकः' में सायम्प्रातर् तथा पुनःपुनर् दोनों कालवाचक अव्यय हैं। इन से तो ठञ् के अपवाद **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च** (१०८६) सूत्रद्वारा ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होने चाहियें थे, **कालाट् ठञ्** (१०८४) से ठञ् कैसे किया गया है ?

समाधान—भाष्यकार ने **नस्तद्धिते** (६.४.१४४) सूत्र के भाष्य में इन दोनों प्रयोगों का स्वयं साक्षात् प्रयोग किया है। इस से ज्ञापित होता है कि इन में ट्यु-ट्युल् प्रत्ययों की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः **कालाट् ठञ्** (१०८४) से ठञ् किया गया है।

व्याख्या—प्रावृषः ।५।१। एण्यः ।१।१। कालात् ।५।१। (**कालाट्ठञ्** सूत्र से)। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(कालात्=कालवाचिनः) कालवाचक (प्रावृषः) 'प्रावृष्' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (एण्यः) 'एण्य' प्रत्यय हो जाता है।

वर्षर्तुवाचक 'प्रावृष्' शब्द षकारान्त स्त्रीलिङ्ग है। इस की रूपमाला हलन्त-स्त्रीलिङ्गप्रकरणान्तर्गत 'त्विष्' शब्द के समान चलती है। वर्षर्तु का वाचक होने से प्रावृष्शब्द कालवाचक है। अतः सर्वप्रथम **कालाट् ठञ्** (१०८४) से शैषिक अर्थों में ठञ् प्रत्यय प्राप्त होता था पुनः उस का बाध कर **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्** (४.३.१६)[1] सूत्र से अण् प्राप्त हुआ। प्रकृत एण्य प्रत्यय उस अण् का भी अपवाद है। इस का भी **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में **प्रावृषष्ठप्** (१०८८) द्वारा वक्ष्यमाण ठप् प्रत्यय अपवाद कहेंगे।

प्रकृतसूत्र का उदाहरण यथा—

प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः (वर्षर्तु में होने वाला मेघ आदि)। यहां 'प्रावृष् ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में प्रकृत **प्रावृष एण्यः** (१०८५) सूत्रद्वारा एण्य[2] तद्धित-प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा विभक्ति कार्य करने से 'प्रावृषेण्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **प्रावृषेण्यो बलाहकः** इति काशिका।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८६)

सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च ।४।३।२३।।

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्यः, अव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्यु-ट्युलौ स्तस्तयोस्तुँट् च। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्ण-प्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते—प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। (अव्ययेभ्यः—) दोषातनम् ।।

अर्थः—कालवाचक सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे इन चार शब्दों से तथा काल-

---

१. **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्** (४.३.१६)। अर्थः—काल में वर्त्तमान सन्धिवेलादि-शब्दों, ऋतुवाचकों तथा नक्षत्रवाचकों से शैषिक अर्थों में अण् तद्धित प्रत्यय हो। उदाहरण यथा—सन्धिवेलायां भवं सान्धिवेलम्। ग्रीष्मे भवं ग्रैष्मम्। तिष्ये (तिष्यनक्षत्रयुक्ते काले) भवं तैषम्। **तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि** (वा० ७७) इति यलोपः।

२. **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) **अट्कुप्वाङ्**० (१३८) इत्येव सिद्धे प्रत्यये णकारोच्चारणं 'प्रावृषेण्' इत्यत्र णकारश्रवणार्थम्। अन्यथा **पदान्तस्य** (१३९) इति प्रतिषेधे नकारः श्रूयेत। तथाहि—प्रावृषेण्यम् आचष्टे प्रावृषेण्यति। ततो ण्यन्तात् क्विँपि, **णेरनिटि** (५२९) इति णेर्लोपे **लोपो व्योर्वलि** (४२९) इति यलोपे च कृते 'प्रावृषेण्' इति निष्पद्यते।

वाचक अव्ययों से तद्धितसञ्ज्ञक ट्यु और ट्युल् प्रत्यय हों तथा उन प्रत्ययों को तुँट् का आगम भी हो शैषिक अर्थों में ।

व्याख्या—सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यः ।५।३। ट्युट्युलौ ।१।२। तुँट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । कालेभ्यः ।५।३। (**कालाट् ठञ्** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा) । शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि भी पूर्ववत् अधिकृत हैं । समासः—सायं च चिरं च प्राह्णे च प्रगे च अव्ययानि च सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययानि, तेभ्यः=सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । ट्युश्च ट्युल् च ट्युट्युलौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(कालेभ्यः) कालवाचक (सायंचिरंप्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यः) सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे और अव्ययों से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (ट्यु-ट्युलौ) ट्यु और ट्युल् प्रत्यय हों (च) तथा इन प्रत्ययों का अवयव (तुँट्) तुँट् भी हो (शेषे) शैषिक अर्थों में ।

यहां सायम् आदि चार शब्दों को अव्यय नहीं समझना चाहिये अपितु साय, चिर, प्राह्ण और प्रग इस प्रकार चार अकारान्त शब्द मानने चाहियें । यदि सायम् आदि अव्ययों का ग्रहण अभीष्ट होता तो इन का पृथक् उल्लेख न होता, 'अव्ययेभ्यः' कथनमात्र से ही इन का ग्रहण हो जाता । प्रकृतसूत्र में इन चार शब्दों में प्रत्ययों के विधान के साथ साथ कुछ निपातनकार्य भी किये गये हैं । यथा—साय का सायम्, चिर का चिरम्, प्राह्ण का प्राह्णे तथा प्रग का प्रगे रूप बन जायेगा । दूसरे शब्दों में प्रत्ययविधान के साथ साथ साय और चिर शब्दों को मान्तत्व एवं प्राह्ण और प्रग शब्दों को एदन्तत्व का निपातन भी किया गया है ।

ट्यु और ट्युल् प्रत्ययों के आदि टकार की **चुटू** (१२९) सूत्र से एवं ट्युल् के अन्त्य लकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । अनुबन्धों का लोप करने पर 'यु' मात्र शेष रहता है । **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश हो जाता है । दोनों प्रत्ययों में रूप एक समान बनते हैं परन्तु स्वर में अन्तर पड़ता है इसीलिये दो प्रत्यय कहे गये हैं । इन प्रत्ययों के टित्त्व के कारण स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् हो जाता है । यथा—सायन्तनं कृत्यम्, सायन्तनी वेला ।

इन प्रत्ययों को तुँट् (त्) का आगम भी होता है । टित् होने से यह आगम **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) सूत्रद्वारा प्रत्यय का आद्य अवयव बनता है । परन्तु यह आगम यु को अन आदेश करने के बाद ही होता है ।[1] इस तरह आगम और प्रत्यय दोनों मिल कर 'त्+अन=तन' रूप बन जाता है ।

---

१. यदि यह आगम अन आदेश से पहले किया जाये तो 'दोषा+त्यु' इस अवस्था में यु को **युवोरनाकौ** (७८५) से अन आदेश न हो सकेगा, क्योंकि **युवोरनाकौ** (७८५) सूत्र के अङ्गाधिकारस्थ होने के कारण अङ्ग से परे ही 'यु, वु' को 'अन-अक' आदेश हो सकेंगे । यहां अङ्ग से परे तकार का व्यवधान पड़ने से अन आदेश सम्भव नहीं । अतः तुँट् का आगम यु को अन आदेश करने के बाद ही

'साय' का उदाहरण यथा—

साये भवः सायन्तनः (सायंकाल में होने वाला)। सप्तम्यन्त घञन्त सायशब्द[1] से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में **सायंचिरंप्राह्णेप्रगे०** (१०८६) इस प्रकृतसूत्र से ट्यु या ट्युल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, यु को अन आदेश (७८५), तुँट् का आगम तथा सायशब्द को मान्तत्व का निपातन हो **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा पदसंज्ञा के कारण मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण कर विभक्ति लाने से 'सायन्तनः, सायंतनः' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'चिर' का उदाहरण यथा—

चिरे भवः—चिरन्तनः (चिर अर्थात् प्राचीनकाल में होने वाला)। यहां भी पूर्ववत् 'चिर ङि' से ट्यु और ट्युल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, यु को अन आदेश, उसे तुँट् का आगम तथा चिर को निपातन से मकारान्तत्व हो कर पदकार्य हो जाते हैं। इसी अर्थ में एक वार्त्तिकद्वारा त्न प्रत्यय हो कर 'चिरत्नम्' प्रयोग भी बनता है।[2]

'प्राह्ण' शब्द[3] का उदाहरण यथा—

प्राह्णे भवो जातो वा प्राह्णेतनः (पूर्वाह्ण में होने वाला या पैदा हुआ)। काल-वाचक 'प्राह्ण ङि' से भव आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **सायंचिरंप्राह्णेप्रगे०** (१०८६) सूत्र से ट्यु या ट्युल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, यु को अन आदेश, उसे तुँट् का आगम तथा 'प्राह्ण' को एदन्तत्वनिपातन कर विभक्तिकार्य करने से 'प्राह्णेतनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[4]

करना चाहिये। **अनद्यतने लँङ्** (४२२) आदि सूत्रों में 'अनद्यतन' आदि पाणिनीय प्रयोग भी इस में ज्ञापक हैं।

१. **षो अन्तकर्मणि** (दिवा० परस्मै०) धातु से घञ् प्रत्यय ला कर **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम करने से 'साय' शब्द निष्पन्न होता है। यह सायंकाल के अर्थ में रूढ है। **दिनान्ते सायः**—इत्यमरः।

२. **चिर-परुत्-परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः** (वा०)। अर्थः—चिर, परुत् और परारि शब्दों से शैषिक अर्थों में 'त्न' तद्धितप्रत्यय कहना चाहिये। यथा—चिरत्नम् (चिर में होने वाला), परुत्नम् (पिछले वर्ष होने वाला), परारित्नम् (पिछले से पिछले वर्ष होने वाला)। **परुत्परार्यैषमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति** इत्यमरः।

३. प्राह्णशब्दे अहःशब्दस्तदवयवपरः। प्रथमं च तदहः प्राह्णः। **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) इति टच्, **अह्नोऽह्न एतेभ्यः** (५.४.८८) इत्यह्नादेशः, **अह्नोऽदन्तात्** (८.४.७) इति णत्वम्।

४. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि **घ-काल-तनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६) सूत्र से ही सप्तमी का अलुक् हो कर जब 'प्राह्णेतनः, प्रगेतनः' दोनों सिद्ध हो सकते हैं

'प्रग' शब्द का उदाहरण यथा—

प्रगे भवो जातो वा प्रगेतनः (प्रातःकाल में होने वाला या पैदा हुआ)। यहां 'प्रग ङि' से भव आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **सायंचिरंप्राह्णेप्रगे॰** (१०८६) सूत्र से ट्यु या ट्युल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, यु को अन आदेश, तुँट् का आगम तथा प्रग को एदन्तत्व निपातन करने से 'प्रगेतनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रगेतनो विहारः (प्रातःकाल की सैर, Morning Walk)।

कालवाचक अव्यय का उदाहरण यथा—

दोषा भवं दोषातनम् (रात्रि में होने वाला)। यहां रात्रिवाचक 'दोषा' अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में प्रकृत **सायंचिरंप्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यः॰** (१०८६) सूत्र से ट्यु या ट्युल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, यु को अन आदेश तथा उसे तुँट् का आगम कर विभक्ति लाने से 'दोषातनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) दिवा भवं दिवातनम् (दिन में होने वाला)।
(२) श्वो भवं श्वस्तनम् (आगामी कल में होने वाला)।[१]
(३) ह्यो भवं ह्यस्तनम् (गतकल में होने वाला)।
(४) अद्य भवम् अद्यतनम् (आज होने वाला)।
(५) पुरा भवम् पुरातनम् (पूर्वकाल में होने वाला)।
(६) सदा भवः सदातनः (हमेशा होने वाला)।
(७) सना भवः सनातनः (सदा होने वाला)।
(८) अधुना भवः—अधुनातनः (अब होने वाला)।

तो पुनः एदन्तत्वनिपातन का क्या प्रयोजन ? इस का उत्तर यह है कि यदि यहां एदन्तत्व का निपातन नहीं करेंगे तो निम्नस्थ दो दोष प्रसक्त होंगे—

(क) **घकालतनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६) सूत्र से वैकल्पिक अलुक् का विधान है अतः अलुक् के अभाव में 'प्राह्णतनः, प्रगतनः' इस प्रकार अनिष्ट रूप भी प्राप्त होंगे।

(ख) प्राह्णः सोढोऽस्य प्राह्णेतनः इत्यादि स्थलों में जहां सप्तमी नहीं होगी वहां एदन्तत्व कैसे आयेगा ?

अतः एदन्तत्व का निपातन करना ही युक्त है।

१. ऐषमस् (इस वर्ष), ह्यस् (बीता कल) और श्वस् (आने वाला कल) इन तीन अव्ययों से **ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम्** (४.२.१०४) सूत्रद्वारा शैषिक अर्थों में विकल्प से त्यप् प्रत्यय होता है—ऐषमस्त्यम्, ह्यस्त्यम्, श्वस्त्यम्। त्यप् के अभावपक्ष में ट्यु-ट्युल् प्रत्ययों की प्रवृत्ति होती है—ऐषमस्तनम्, ह्यस्तनम्, श्वस्तनम्।

(९) इदानीं भवः—इदानीन्तनः (अब होने वाला)।[1]
(१०) प्राग्भवः प्राक्तनः (पहले होने वाला)।
(११) प्रातर्भवः प्रातस्तनः (प्रातः होने वाला)।
(१२) ऐषमो भवम् ऐषमस्तनम् (इस वर्ष होने वाला)।

अब शैषिक प्रकरण के अर्थों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०८७) तत्र जातः ।४।३।२५।।**

सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः। स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः। उत्से जात औत्सः। राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः। अवारपारे जातः—अवारपारीणः। इत्यादि।।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में पूर्वोक्त अण् आदि तथा शैषिकप्रकरणोक्त घ आदि तद्धितप्रत्यय यथासम्भव हों।

व्याख्या—तत्र ।५।१। ('तत्र' यह सप्तम्यन्त का अनुकरण है। इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। जातः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (जात इत्यर्थे) 'उत्पन्न हुआ, पैदा हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। इस के **दित्यदित्यादित्य०**(९९९) और **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) आदि पूर्वोक्त तथा **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) आदि शैषिकप्रकरणोक्त अनेक अपवाद हैं। जहां जिस की प्राप्ति न्याय्य होगी वहां वह प्रत्यय हो जायेगा।

उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः (स्रुघ्न[2] में उत्पन्न हुआ)। यहां 'स्रुघ्न ङि' इस सप्तम्यन्त से 'जातः' (पैदा हुआ) इस अर्थ में प्रकृत **तत्र जातः** (१०८७) सूत्र से अण्

---

१. **गता वेदविद्या गतं धर्मशास्त्रं गतं रे गतं रे गतं न्यायसूत्रम्।
इदानीन्तनानां जनानां प्रवृत्तिः सुबन्ते तिङन्ते कदाचित् कृदन्ते।।**
(सुभाषित)

२. प्राचीन भारत में स्रुघ्न नाम का प्रसिद्ध नगर था। यह स्थान हस्तिनापुर से ४० मील की दूरी पर उत्तरदिशा में स्थित था। यहां से पाटलिपुत्र की दूरी कम से कम एक दिन की बताई जाती थी। यथा—**न हि देवदत्तः स्रुघ्ने सन्निधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रे सन्निधीयते। युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात्** (वेदान्तदर्शन २.१.१८ पर शाङ्करभाष्य)। विशेषजिज्ञासु इस के लिये डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री के **पतञ्जलिकालीन भारत** नामक ग्रन्थ के पृष्ठ (११८) का अवलोकन करें।

ठप्

प्रत्यय, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (ङि) का लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

उत्से जात औत्सः (उत्स अर्थात् झरने में पैदा हुआ मण्डूक आदि) । यहां 'उत्स ङि' इस सप्तम्यन्त से **तत्र जातः** (१०८७) सूत्र के अर्थ में अण् का बाध कर **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) द्वारा अञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'औत्सः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः (राष्ट्र में पैदा हुआ) । यहां सप्तम्यन्त राष्ट्रप्रातिपदिक से **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में अण् का बाध कर **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्र से घप्रत्यय, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से घ प्रत्यय के आदिवर्ण घकार को इय् आदेश एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'राष्ट्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अवारपारे जातः—अवारपारीणः (वार-पार में उत्पन्न हुआ) । यहां सप्तम्यन्त अवारपारप्रातिपदिक से **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में अण् का बाध कर **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्र से खप्रत्यय, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से खप्रत्यय के आदिवर्ण खकार को ईन् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'अवारपारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'औत्सः' आदि सब प्रयोगों की सिद्धि पीछे यथास्थान दिखा चुके हैं ।

ध्यान रहे कि शैषिकप्रकरण के अर्थ का निर्देश करने वाले **तत्र जातः** (१०८७) आदि सूत्र विधिसूत्र भी हैं। जब **तत्र जातः** (१०८७) आदि के अर्थ में किसी अन्य-सूत्र से कोई प्रत्यय प्राप्त नहीं होता तब इन सूत्रों से अण् प्रत्यय हो जाता है। यथा यहां 'स्रौघ्नः' में अन्य किसी सूत्र से कोई प्रत्यय प्राप्त न था तो अण् प्रत्यय हो गया है ।

अब **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में प्रावृष्प्रातिपदिक से ठप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८८) प्रावृषष्ठप् ।४।३।२६।।

एण्यापवादः । प्रावृषिकः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त प्रावृष् (वर्षाऋतु) प्रातिपदिक से 'जातः' (उत्पन्न हुआ) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रावृषः ।५।१। ठप् ।१।१। **तत्र जातः** (१०८७) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (प्रावृषः) प्रावृष् प्रातिपदिक से (जात इत्यर्थे) 'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठप्) ठप् प्रत्यय होता है ।

ठप् में पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) सूत्रद्वारा अनुदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। ठ् को **ठस्येकः** (१०२७) से इक आदेश हो जायेगा।

प्रावृष्शब्द से सब प्रकार के शैषिक अर्थों में **प्रावृष एण्यः** (१०८५) सूत्र से एण्यप्रत्यय प्राप्त होता था। यहां पुनः उस का अपवाद ठप् प्रत्यय विधान किया गया है। इस प्रकार 'जातः' अर्थ में प्रावृष्शब्द से ठप् तथा अन्य शैषिक अर्थों में एण्य प्रत्यय हो जायेगा। उदाहरण यथा —

प्रावृषि जातः प्रावृषिकः (वर्षाऋतु में पैदा हुआ)। 'प्रावृष् ङि' से **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में प्रकृत **प्रावृषष्ठप्** (१०८८) सूत्र से ठप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश कर विभक्ति लाने से 'प्रावृषिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब अन्य शैषिक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम—(१०८९) प्रायभवः ।४।३।३९।।

तत्रेत्येव। स्रुघ्ने प्रायेण=बाहुल्येन भवति—स्रौघ्नः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रायभवः' (प्रायः होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्रायभवः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **तत्र जातः** (१०८७) से 'तत्र' पद का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। प्रायेण (बाहुल्येन) भवतीति प्रायभवः, **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) इति तृतीयातत्पुरुष इति हरदत्तः। अर्थः—(तत्र= सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (प्रायभव इत्यर्थे) 'बहुधा होने वाला' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो।

अण् सामान्य प्रत्यय है, इस के पूर्वोक्त घ आदि अपवाद तो यथास्थान प्रवृत्त होंगे ही। उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने प्रायेण भवतीति स्रौघ्नः (स्रुघ्न में बहुधा होने वाला)। यहां 'स्रुघ्न ङि' से 'प्रायभवः' (बहुधा होने वाला) के अर्थ में प्रकृत **प्रायभवः** (१०८९) सूत्र से तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] इसीप्रकार—

मथुरायां प्रायभवो माथुरः।

राष्ट्रे प्रायभवो राष्ट्रियः (**राष्ट्रावारपाराद् घखौ** १०६९)।

---

१. 'प्राय'शब्द का अर्थ है— सम्पूर्ण से कुछ कम। हिन्दी में इसे 'बहुधा' शब्द से प्रकट किया जा सकता है। 'स्रौघ्नो देवदत्तः' का अभिप्राय यह है कि देवदत्त स्रुघ्न में सदा तो नहीं परन्तु उस से कुछ कम अर्थात् बहुधा हुआ करता है। अत एव काशिकावृत्ति में कहा है—**प्रायशब्दः साकल्यस्य किञ्चिन्न्यूनतामाह।**

महाभाष्य में इस सूत्र का खण्डन किया गया है क्योंकि इस का अर्थ **तत्र भवः** (१०९२) के ही अन्तर्गत हो सकता है। भट्टोजिदीक्षित ने इस के विरुद्ध प्रौढमनोरमा और शब्दकौस्तुभ में इस की आवश्यकता पर बल दिया है।

अब अन्य शैषिक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०९०**) **सम्भूते** ।४।३।४१।।

स्रुघ्ने सम्भवति—स्रौघ्नः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'सम्भूत' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सम्भूते ।७।१। तत्र ।५।१। (**तत्र जातः** सूत्र से)। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** के अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (सम्भूते) सम्भूत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। विशिष्ट स्थानों पर पूर्वोक्त अपवाद प्रत्यय ही प्रवृत्त होंगे। उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने सम्भवतीति स्रौघ्नः (स्रुघ्न में जिस के होने की सम्भावना है वह)। यहां 'स्रुघ्न ङि' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'सम्भूत' (सम्भव होना) अर्थ में प्रकृत **सम्भूते** (१०९०) सूत्रद्वारा अण् तद्धितप्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सम्पूर्वक भूधातु से **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) सूत्रद्वारा भाव में क्तप्रत्यय करने पर 'सम्भूत' शब्द निष्पन्न होता है। यहां 'सम्भूत' के दो अर्थ लिये जाते हैं—(१) सम्भावना, (२) प्रमाणानतिरेक अर्थात् आधेय का आधार के प्रमाण से अधिक न होना। सम्भावना में 'स्रौघ्नः' का अर्थ होगा—स्रुघ्न में जिस के होने की सम्भावना[1] है ऐसा व्यक्ति या पदार्थ। प्रमाणानतिरेक में 'स्रौघ्नः' का अर्थ होगा—स्रुघ्न में जो पूरा समा गया है अर्थात् जिस का प्रमाण स्रुघ्न से अधिक नहीं ऐसा सैन्यवर्ग आदि। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने प्रमाणानतिरेक अर्थ का एक सुन्दर उदाहरण दिया है—**पञ्जरेऽनतिरिक्तप्रमाणं पाञ्जरं पात्रम्** अर्थात् पिञ्जरे में पूरा समा जाने वाला पात्र।

---

१. जब सन्दिग्धज्ञान में एक ओर को अधिक झुकाव हो तो उसे सम्भावना कहते हैं। सन्दिग्धज्ञान या संशय में दो पक्ष हुआ करते हैं और दोनों पर बराबर का बल रहता है। यथा—अन्धेरे में लकड़ी के किसी खम्भे को देख कर हम यह निश्चय न कर सकें कि यह क्या है खम्भा है कि पुरुष ? तो यहां दोनों ज्ञान बराबर हैं। अब यदि कहें कि उस के खम्भा होने की सम्भावना है तो एक प्रकार से सन्दिग्धज्ञान के दो पक्षों में से एक की ओर अधिक झुकाव हुआ है इसी को सम्भावना कहते हैं। सम्भावना सन्देह से कुछ ऊपर और निश्चय से कुछ नीचे होती है। इस में न तो पूरा सन्देह और न ही पूरा निश्चय होता है।

अब सम्भूत अर्थ में 'कोश'प्रातिपदिक से ढञ् तद्धित का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६१) कोशाड् ढञ् ।४।३।४२।।

कौशेयं वस्त्रम् ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'कोश' प्रातिपदिक से सम्भूत अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ढञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कोशात् ।५।१। ढञ् ।१।१। तत्र ।५।१। (**तत्र जातः** सूत्र से)। सम्भूते ।७।१। (**सम्भूते** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (कोशात्) 'कोश'प्रातिपदिक से (सम्भूते) सम्भूत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ढञ्) ढञ् प्रत्यय हो जाता है ।

ढञ् में ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है । 'ढ' प्रत्यय के आदि वर्ण ढकार को **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्र से एय् आदेश हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

कोशे सम्भवति कौशेयं वस्त्रम् (कोश में सम्भव होने वाला अर्थात् रेशमी वस्त्र) ।[1] यहां 'कोश ङि' से सम्भूत अर्थ में प्रकृत **कोशाड् ढञ्** (१०६१) सूत्र से ढञ्

---

१. यहां का भाव ठीक प्रकार से समझने के लिये रेशम की उत्पत्ति का इतिहास समझना अत्यावश्यक है । रेशम एक विशेष प्रकार के कृमि (कीड़े) से उत्पन्न होता है । ये कीड़े अनेक प्रकार के होते हैं जैसे विलायती, मद्रासी, चीनी, अराकानी, आसामी आदि । चीनी कृमि का रेशम सब से अच्छा माना जाता है । ये कीड़े तितली की जाति के माने जाते हैं । अण्डा फूटने पर ये रेंगने लगते हैं। इस अवस्था में ये पत्तियां बहुत खाते हैं । शहतूत की पत्ती इन का सब से प्रिय भोजन है । ये बढ़ कर अपने चहुँ ओर एक कोश तैयार कर लेते हैं और उस कोश के भीतर ये कीड़े एक विशेष प्रकार के तन्तु निकाला करते हैं जिन को रेशम कहते हैं । कोश के भीतर रहने की अवधि जब पूरी हो जाती है तब कीड़ा रेशमयुक्त कोश को काट कर उड़ जाता है । यदि ऐसा हो जाये तो रेशम कट जाने से किसी काम का नहीं रहता । इसलिये कृमि को पालने वाले नियत अवधि से कुछ पूर्व ही कृमि-सहित कोशों को गरम पानी में डाल देते हैं इस से कृमि मर जाते हैं । एक कोश से प्रायः दो तीन सौ गज लम्बा रेशम का तन्तु प्राप्त होता है । यह है रेशम की उत्पत्ति का संक्षिप्त इतिहास ।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'कोशे सम्भूतम् कौशेयं वस्त्रम्' यह कैसे कहा जा सकता है ? कोश में तो रेशम होता है वस्त्र नहीं । भगवान् भाष्यकार ने यह सब विचार कर कोशशब्द से विकार अर्थ में ही ढञ् प्रत्यय करने को कहा है, क्योंकि रेशमीवस्त्र कोश का विकार ही हो सकता है । अतः 'कोशस्य विकारः कौशेयम्' ऐसा समुचित विग्रह भाष्य में दिखाया गया है । तब **तस्य विकारः** (१११०) के अधिकार में **एण्या ढञ्** (४.३.१५७) सूत्र के अनन्तर **कोशाच्च** इस

प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, ढ् को एय्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो जाता है—कौश् एय् अ = कौशेय। अब विशेष्य (वस्त्रम्) के अनुसार विभक्ति लाने से 'कौशेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कौशेयशब्द रेशमीवस्त्र के अर्थ में रूढ है। रूढशब्दों की यथाकथञ्चित् व्युत्पत्ति वा सिद्धि करनी ही अभीष्ट होती है। इस में अव्याप्ति-अतिव्याप्ति आदि दोषों की कल्पना करना उचित नहीं होता।

अब शैषिकप्रकरणस्थ एक अन्य सुप्रसिद्ध अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९२) **तत्र भवः** ।४।३।५३।।

स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः । औत्सः । राष्ट्रियः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत्र ।५।१। (यहां सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। भवः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। भवतीति भवः, पचादेराकृतिगणत्वादच्प्रत्ययः। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्राति-पदिक से (भव इत्यर्थे) 'होनेवाला' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

यहां 'भवः' से 'होने वाला, पाया जाने वाला' अर्थ ही अभिप्रेत है, 'पैदा होने वाला' नहीं, अन्यथा **तत्र जातः** (१०८७) सूत्र व्यर्थ हो जायेगा।

अण् सामान्य प्रत्यय है, यथासम्भव अपवादप्रत्ययों से इस का बाध होगा।

उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः (स्रुघ्न में होने वाला)। यहां 'स्रुघ्न ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में अण् तद्धित हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उत्से भव औत्सः (उत्स अर्थात् झरने में होने वाला)। यहां 'उत्स ङि' से **तत्र**

प्रकार का सूत्र बनाया जायेगा। यहां **सम्भूते** (१०९०) के अधिकार में इसे नहीं पढ़ा जायेगा।

परन्तु इस के विपरीत प्राचीन वृत्तिकारों का मन्तव्य है कि सूत्रकार भगवान् पाणिनि ने साङ्ख्यशास्त्र के सत्कार्यवाद (प्रत्येक कार्य अपने कारण में अव्यक्तरूप से अवस्थित रहता है—यह सांख्यशास्त्र का प्रसिद्ध सिद्धान्त है) का आश्रय ले कर ही ऐसा कहा है। रेशमीवस्त्र भी अव्यक्तरूप से अपने कारण तन्तु या कोश में रहता ही है। अतः 'कोशे सम्भूतं कौशेयं वस्त्रम्' ऐसा कहा जा सकता है। प्रक्रियासर्वस्वकार ने यहां अतीवोपयुक्त एक श्लोक लिखा है—

कारणे कार्यसद्भावपक्षात् सम्भूततोच्यते।
विकारे वाच्यमेण्या ढञ् कोशाच्चेत्याह भाष्यकृत् ।।

भवः (१०९२) के अर्थ में प्राप्त अण् का बाध कर **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) सूत्र से अञ् प्रत्यय करने पर पूर्ववत् 'औत्सः' रूप सिद्ध हो जाता है।

राष्ट्रे भवो राष्ट्रियः (राष्ट्र में होने वाला)। यहां पर 'राष्ट्र ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्र से 'घ' प्रत्यय, 'घ्' को इय् आदेश (१०१३) तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'राष्ट्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

(१) ग्रामे भवो ग्राम्यो ग्रामीणो वा [**ग्रामाद् यखञौ** (१०७०)]।
(२) नद्यां भवं नादेयं जलम् [**नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१)]।
(३) पश्चाद्भवः पाश्चात्यः [**दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्** (१०७२)]।
(४) स्त्रीषु भवः स्त्रैणः [**स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३)]।
(५) पुंसु भवः पौंस्नः [**स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३)]।
(६) बहिर्भवो बाह्यः [**बहिषष्टिलोपो यञ् च** (वा० ६८)]।
(७) मध्ये भवो मध्यमः [**मध्यान्मः** (१०८३)]।
(८) प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः [**प्रावृष एण्यः** (१०८५)]।
(९) चिरे भवश्चिरन्तनः [**सायंचिरं०** (१०८६)]।
(१०) काले भवः कालिकः [**कालाट्ठञ्** (१०८४)]।

अब **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९३) दिगादिभ्यो यत् ।४।३।५४॥

दिश्यम्। वर्ग्यम्॥

अर्थः—दिश् आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—दिगादिभ्यः ।५।३। यत् ।१।१। **तत्र भवः** (१०९२) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। दिक् (दिश्शब्दः) आदिर्येषान्ते दिगादयः, तेभ्यः = दिगादिभ्यः। तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त (दिगादिभ्यः) दिश् आदि प्रातिपदिकों से (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है।

दिश् आदि एक गण है।[1] यत् प्रत्यय में तकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है। यह सूत्र सामान्यप्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

---

१. दिगादिगण यथा—
दिश्। वर्ग। पूग। गण। पक्ष। धाय्य (धाय्या का.)। मित्र। मेधा। अन्तर। पथिन्। रहस्। अलीक। उखा। साक्षिन्। देश। आदि। अन्त। मुख। जघन। मेघ। यूथ। उदकात्संज्ञायाम् (ग. सूत्रम्)। न्याय। वंश। वेश (विश का.)। काल। आकाश। अनुवंश। अप्॥

दिशि भवं दिश्यम् (दिशा में होने वाला)। यहां 'दिश् ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **दिगादिभ्यो यत्** (१०९३) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर विभक्तिकार्य करने से 'दिश्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

वर्गे भवं वर्ग्यम् (समूह में होने वाला)। यहां सप्तम्यन्त 'वर्ग' प्रातिपदिक से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में **दिगादिभ्यो यत्** (१०९३) इस प्रकृतसूत्र से यत् तद्धित प्रत्यय हो कर **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने पर 'वर्ग्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः** (शिक्षा-सूत्र ६.१०)।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) आदौ भवः—आद्यः।
(२) अन्ते भवः—अन्त्यः।
(३) वंशे भवः—वंश्यः।[1]
(४) यूथे भवः—यूथ्यः।
(५) पक्षे भवः—पक्ष्यः।
(६) गणे भवः—गण्यः।
(७) अन्तरे भवः—अन्तर्यः।
(८) रहसि भवम्—रहस्यम्।
(९) वने भवः—वन्यः।[2]
(१०) आकाशे भवः—आकाश्यः शब्दः।

अब शरीरावयववाची शब्दों से भी भव अर्थ में इसी यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९४) **शरीरावयवाच्च** ।४।३।५५॥

दन्त्यम्। कण्ठ्यम्॥

अर्थः—शरीर के अवयववाचक सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से भी 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शरीरावयवात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। **तत्र भवः** (१०९२) का

---

१. राज्ञो वंश्यः—राजवंश्यः। षष्ठीतत्पुरुषः। राजवंशशब्दात्तु **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छप्रत्यये राजवंशीय इति।

२. यद्यपि अद्यत्वे दिगादियों में वनशब्द का पाठ नहीं देखा जाता तथापि इस से भव अर्थ में यत् प्रत्यय बहुत प्रसिद्ध है। **वन्यान् विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्** (रघु० २.८) इत्यादि अनेक प्रयोग संस्कृतसाहित्य में देखे जाते हैं। नारायणभट्ट ने अपने प्रक्रिया-सर्वस्वग्रन्थ में **दिगादियदन्येभ्योऽपि दृश्यत इति स्वामी** इस प्रकार किसी स्वामी का उल्लेख कर के 'वने भवं वन्यम्, बीज्यम्' ये दो उदाहरण दिये हैं। पुरुषोत्तमदेव ने भी अपनी भाषावृत्ति में इसी सूत्र पर 'वन्यम्' उदाहरण लिखा है। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधिग्रन्थ में दिगादिगण में वनशब्द का भी उल्लेख किया है।

अनुवर्त्तन होता है। यत् ।१।१। **दिगादिभ्यो यत्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववतः अधिकृत हैं। शरीरस्य अवयवः शरीरावयवः, तस्मात् = शरीरावयवात्। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अर्थः—(शरीरावयवात्) शरीर के अवयववाची (तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से (च) भी (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है।

यह सूत्र भी **तत्र भवः** (१०९२) द्वारा सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

दन्तेषु भवं दन्त्यम् (दान्तों में होने वाला मल आदि कुछ भी)। दन्त शरीर का अवयव हैं अतः 'दन्त सुप्' इस सप्तम्यन्त से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में प्रकृत **शरीरावयवाच्च** (१०९४) सूत्र से यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दन्त्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कण्ठे भवं कण्ठ्यम् (कण्ठ में होने वाला)। यहां 'कण्ठ ङि' से यत् प्रत्यय किया गया है। सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् होती है।

इसीप्रकार—

(१) कर्णे भवम्—कर्ण्यम् (कान में होने वाला)।
(२) ओष्ठे भवम्—ओष्ठ्यम् (ओष्ठ में होने वाला)।
(३) उरसि भवम्—उरस्यम् (छाती में होने वाला)।
(४) मुखे भवम्—मुख्यम् (मुख में होने वाला)।
(५) जघने भवम्—जघन्यम्[1] (जघन में होने वाला)।
(६) तालुनि भवम्—तालव्यम्[2] (तालु में होने वाला)।
(७) मूर्धनि भवम्—मूर्धन्यम्[3] (मूर्धा में होने वाला)।
(८) चक्षुषि भवम्—चक्षुष्यम्[4] (आंख में होने वाला)।

अब ठञ्विधायक एक वार्त्तिक का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(८६) अध्यात्मादेष्ठञ् इष्यते ॥

अध्यात्मं भवम् आध्यात्मिकम् ॥

---

१. दिगादिगण में भी मुख और जघन शब्द पढ़े गये हैं। मुख और जघन यदि शरीरावयववाची हों तो प्रकृत **शरीरावयवाच्च** (१०९४) सूत्र से यत् होगा, अन्यत्र दिगादित्वात् यत् माना जायेगा। शरीरावयववाची न होने के उदाहरण—सेनाया मुखे जघने च भवं मुख्यं जघन्यम्।

२. **ओर्गुणः** (१००५) इति गुणे **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) इत्योकारस्य अवादेशः।

३. 'मूर्धन्+य' इत्यत्र **नस्तद्धिते** (९१९) इति टेर्लोपे प्राप्ते **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) इति प्रकृतिभावः।

४. 'चक्षुष्+य' इत्यत्र **यचि भम्** (१६५) इति भत्वात्सस्य रुँत्वं न।

अर्थः—अध्यात्म आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय करना अभीष्ट है।

व्याख्या—अध्यात्मादेः ।५।१। ठञ् ।१।१। इष्यते इति इष्धातोः कर्मणि लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अध्यात्मशब्द आदिर्यस्य सोऽध्यात्मादिः, तस्मात् = अध्यात्मादेः । तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अध्यात्मादिगण में भाष्यकार ने तीन शब्द गिनाये हैं—अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत । परन्तु इन को निदर्शनार्थ मानते हुए विद्वानों ने अध्यात्मादियों को आकृतिगण माना है । जहां 'भवः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय का प्रयोग तो हो परन्तु उस का विधायक कोई सूत्र या वचन न हो तो उसे अध्यात्मादियों के अन्तर्गत समझना चाहिये ।

ठञ् का ञकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है । **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश हो जाता है । ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है ।

अध्यात्मशब्द विभक्त्यर्थ में 'अधि' और 'आत्मन्' शब्दों के अव्ययीभावसमास से निष्पन्न हुआ है । आत्मनि इति अध्यात्मम् । **अनश्च** (९१८) इति समासान्ते टचि, **नस्तद्धिते** (९१९) इति टेर्लोपः । ततः सोरमादेशः । अध्यात्मशब्द की विस्तृत सिद्धि पीछे समासप्रकरणस्थ (९१९) सूत्र पर दर्शाई जा चुकी है ।

अध्यात्मम् (अध्यात्मे वा)[1] भवम् आध्यात्मिकम् (आत्मा में होने वाला) । यहां सप्तम्यन्त 'अध्यात्म ङि'[2] से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में प्रकृत **अध्यात्मादेष्ठञिष्यते** (वा० ८६) वार्त्तिक से तद्धित ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'आध्यात्मिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अध्यात्मादियों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) अमुत्र भवम् आमुत्रिकम् (वहां अर्थात् परलोक में होने वाला) ।
(२) इह भवम् ऐहिकम् (यहां अर्थात् इस लोक में होने वाला) ।
(३) शेषे भवाः शैषिकाः प्रत्ययाः ।

---

१. अव्यय होते हुए भी अदन्त अव्ययीभावसमास से परे सप्तमी का लुक् नहीं होता बल्कि उस के स्थान पर बहुल (विकल्प) से अम् आदेश हो जाता है, अध्यात्मम् अध्यात्मे वा । (देखें **तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्** ९१३ सूत्र की व्याख्या) ।

२. विभक्त्यर्थ में समास होने के कारण 'अध्यात्म' शब्द अधिकरणशक्तिप्रधान है अतः इस से पुनः अधिकरण में सप्तमी का लाना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता । परन्तु यहां सप्तम्यन्त से ही तद्धित की उत्पत्ति कही गई है अतः इस विधानसामर्थ्य से ही सप्तमी लाई जाती है । अथवा सप्तमी लाने के विना ही यथाकथञ्चित् तद्धितोत्पत्ति कर लेनी चाहिये ।

double वृद्धि (१६२)

(४) त्रिषु वर्णेषु भवः त्रैवर्णिको धर्मः ।[1]
(५) चतुर्षु अर्थेषु भवाः चातुरर्थिकाः प्रत्ययाः ।
(६) स्वभावे भवः स्वाभाविको गुणः ।[2]
(७) स्वार्थे भवाः स्वार्थिकाः प्रत्ययाः ।
(८) क्वचिद् भवं क्वाचित्कम् (**इसुसुक्तान्तात्कः** १०५२) ।
(९) कदाचिद् भवं कादाचित्कम् (**इसुसुक्तान्तात्कः** १०५२) ।
(१०) ऊर्ध्वदेहे भवम् और्ध्वदेहिकं कर्म (देह के बाद का कर्म) ।[3]
(११) समाने भवः सामानिकः (समान में होने वाला) ।
(१२) समानग्रामे भवः सामानग्रामिकः ।
(१३) समानदेशे भवः सामानदेशिकः ।

अध्यात्मादियों के कुछ उदाहरणों में उभयपदवृद्धि हुआ करती है । उसे दर्शाने के लिये उभयपदवृद्धिविधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९५) अनुशतिकादीनां च ।७।३।२०।।

एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणोऽयम् ।।

अर्थः—ञित् णित् या कित् तद्धित के परे रहते अनुशतिक आदि गणपठित शब्दों के दोनों पदों के आदि अच् के स्थान पर वृद्धि हो ।

व्याख्या—अनुशतिकादीनाम् ।६।३। च इत्यव्ययपदम् । पूर्वपदस्य ।६।१। (**हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च** सूत्र से) । उत्तरपदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । अचाम् ।६।३। आदेः ।६।१। (**तद्धितेष्वचामादेः** से) । वृद्धिः ।१।१। (**मृजेर्वृद्धिः** सूत्र से) । ञ्णिति ।७।१। (**अचो ञ्णिति** सूत्र से) । किति ।७।१। (**किति च** सूत्र से) । तद्धिते ।७।१। (**तद्धितेष्वचामादेः** से वचनविपरिणामद्वारा) । अनुशतिकः (अनुशतिकशब्दः) आदिर्येषान्ते=अनुशतिकादयः, तेषाम्=अनुशतिकादीनाम्, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अनुशतिकादीनाम्) अनुशतिक आदि शब्दों के (पूर्वपदस्य उत्तरपदस्य च) पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों के (अचाम् आदेः) अचों में जो आदि अच् उस के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो (ञ्णिति किति तद्धिते) ञित् णित् या कित् तद्धित प्रत्यय के परे होने पर ।

---

१. 'त्रैवर्णिक' तथा 'चातुरर्थिक' में तद्धितार्थ की विवक्षा में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा समास हो कर तद्धित की उत्पत्ति होती है ।

२. स्वशब्द यद्यपि द्वारादियों में पढ़ा गया है तथापि भाष्यकार के प्रयोग (१.१.२७ सूत्रस्थ) के कारण यहां **द्वारादीनां च** (७.३.४) सूत्र से 'स्व' के वकार से पूर्व ऐच् का आगम नहीं होता ।

३. देहादूर्ध्वम् ऊर्ध्वदेहः, तस्मिन्=ऊर्ध्वदेहे । यहां सुंप्सुंपासमास में राजदन्तादियों को आकृतिगण मान कर **राजदन्तादिषु परम्** (९८६) सूत्रद्वारा 'देह' शब्द का परनिपात हो जाता है ।

अनुशतिकादि एक गण है ।[1] इस गण में समस्त (समास किये गये) शब्द पढ़े गये हैं । **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) एवं **किति च** (१००१) सूत्रों द्वारा इन शब्दों में केवल आदि अच् के स्थान पर वृद्धि प्राप्त होती थी जो केवल प्रथमपद में ही सम्भव थी, परन्तु हमें यहां दोनों पदों में ही वृद्धि करनी अभीष्ट है अतः प्रकृतसूत्र से उस का विधान किया गया है । उदाहरण यथा—

अनुशतिकस्येदम् आनुशातिकम् (अनुशतिक नामक व्यक्ति की यह वस्तु) । यहां 'अनुशतिक ङस्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङस्) का लुक् कर देने से 'अनुशतिक+अ' हुआ । अनुशतिकशब्द में 'अनु' पूर्वपद तथा 'शतिक' उत्तरपद है अतः **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) सूत्र से दोनों पदों के आदि अच् अकार को आकार वृद्धि कर विभक्ति लाने से 'आनुशातिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रकृत में उदाहरण यथा—

देवेषु इत्यधिदेवम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावसमासः । अधिदेवम् (अधिदेवे वा) भवम् आधिदैविकम् (देवों में होने वाला) । यहां 'अधिदेव ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **अध्यात्मादेष्ठञिष्यते** (वा० ८९) इस वार्त्तिक से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् कर **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश हो जाता है—अधिदेव+इक । अनुशतिकादि आकृतिगण है अतः अधिदेवशब्द को भी अनुशतिकादियों में मान ञित् तद्धित के परे रहते **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) से दोनों (अधि और देव) पदों के आदि अच् को वृद्धि कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप और अन्त में विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'आधिदैविकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

भूतेषु इत्यधिभूतम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावसमासः । अधिभूतम् (अधिभूते वा) भवम् आधिभौतिकम् (पृथ्व्यादि भूतों में होने वाला) । यहां भी पूर्ववत् अधिभूतशब्द से अध्यात्मादित्वात् ठञ्, ठ् को इक आदेश तथा **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) से दोनों पदों में आदि अच् के स्थान पर वृद्धि कर विभक्ति लाने से 'आधिभौतिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

---

१. अनुशतिकादिगण यथा—
अनुशतिक । अनुहोड । अनुसंवरण (अनुसंचरण) । अनुसंवत्सर । अङ्गारवेणु । असिहत्य (अस्यहत्य, अस्यहेति) । वध्योग । पुष्करसद् । अनुहरत् । कुरुकत । कुरुपञ्चाल । उदकशुद्ध । इहलोक । परलोक । सर्वलोक । सर्वपुरुष । सर्वभूमि । प्रयोग । परस्त्री । **राजपुरुषात् ष्यञि** (गणसूत्रम्) । सूत्रनड । आकृतिगणः [तेन—अभिगम, अधिभूत, अधिदेव, चतुर्विद्या, सुखशयन, शतकुम्भ, परदर इत्यादयो गृह्यन्ते] ।

इहलोके[1] भवम् ऐहलौकिकम् (इस लोक में होने वाला)। यहां 'इहलोक ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **अध्यात्मादेष्ठञिष्यते** (वा० ८९) द्वारा ठञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, ठ् को इक आदेश, **अनुशतिकादीनाञ्च** (१०९५) से उभयपदवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ऐहलौकिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

आकृतिगणोऽयम्। यह अनुशतिकादिगण आकृतिगण है। अर्थात् जिन शब्दों में उभयपदवृद्धि देखी जाये और उस के लिये कोई विधायकवचन न हो तो उन शब्दों को अनुशतिकादिगणान्तर्गत समझना चाहिये।

अनुशतिकादि में उभयपदवृद्धि के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) प्रयोगे भवः प्रायौगिकः (अध्यात्मादित्वात् ठञ्)।

(२) उदकशुद्धस्यापत्यम् औदकशौद्धिः (**अत इञ्** १०१४)।

(३) पुष्करसदोऽपत्यम् पौष्करसादिः [**बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) इतीञ्]।

(४) अनुहरतोऽपत्यम् आनुहारतिः [**बाह्वादिभ्यश्चे**तीञ्]।

(५) सर्वपुरुषस्येदं सार्वपौरुषम् [**तस्येदम्** (११०९) इत्यण्]।

(६) शतकुम्भे (तन्नामके पर्वते) भवं शातकौम्भम् (**तत्र भव** इत्यण्)।

(७) सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः [**तस्येश्वरः** (११४५) इत्यण्]।

अब **शरीरावयवाच्च** (१०९४) का अपवाद कहते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९६) जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः।४।३।६२॥

जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्॥

अर्थः—जिह्वामूल और अङ्गुलि इन दो सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में तद्धितसंज्ञक छ प्रत्यय हो।

व्याख्या—जिह्वामूलाङ्गुलेः।५।१। छः।१।१। **तत्र भवः** (१०९२) का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। जिह्वामूलं च अङ्गुलिश्च जिह्वामूलाङ्गुलि, तस्मात् = जिह्वामूलाङ्गुलेः, समाहारद्वन्द्वेऽपि सौत्रं पुंस्त्वम्। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (जिह्वामूलाङ्गुलेः) जिह्वामूल तथा अङ्गुलि इन दो प्रातिपदिकों से (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है।

जिह्वामूल तथा अङ्गुलि दोनों शरीरावयव हैं अतः **शरीरावयवाच्च** (१०९४)

---

१. 'इहलोके' में कर्मधारयसमास है—इह लोके—इहलोके। 'इह लोकः—इहलोकः' इस प्रकार के विग्रह में 'इह' और 'लोकः' का सामानाधिकरण्य सुसंगत नहीं होता क्योंकि 'इह' अधिकरणशक्तिप्रधान अव्यय है। गणरत्नमहोदधिकार ने यहां 'गणपाठसामर्थ्यात् प्रथमार्थे हप्रत्ययः' ऐसा लिखा है। परन्तु व्याकरण में ऐसा कोई वचन नहीं जो प्रथमार्थ में 'ह' प्रत्यय का विधान करता हो। **इदमो हः** (१२०५) सूत्र सप्तम्यन्त से ही स्वार्थ में 'ह' प्रत्यय का विधान करता है।

सूत्रद्वारा 'भव' अर्थ में इन से यत् प्रत्यय प्राप्त होता था, यह सूत्र उस का अपवाद है।

उदाहरण यथा--

जिह्वामूले भवं जिह्वामूलीयम् (जिह्वा के मूल में होने वाला)। यहां 'जिह्वामूल ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **शरीरावयवाच्च** (१०९४) सूत्रद्वारा प्राप्त यत् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः** (१०९६) सूत्र से 'छ' प्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रत्यय के आदि वर्ण छकार को **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से ईय् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'जिह्वामूलीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

अङ्गुल्यां भवम् अङ्गुलीयम् (अङ्गुलि में होने वाला भूषण, अङ्गूठी)। यहां 'अङ्गुलि ङि' से भव अर्थ में यत् का बाध कर प्रकृतसूत्र **जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः** (१०९४) से छ प्रत्यय, सुँब्लुक्, छ को ईय् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'अङ्गुलीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

अग्रिमसूत्र से इसी अर्थ में पुनः छप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९७) वर्गान्ताच्च ।४।३।६३॥

कवर्गीयम् ॥

अर्थः--'वर्ग' शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से परे भी 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'छ' प्रत्यय हो।

व्याख्या— वर्गान्तात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। छः ।१।१। (**जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः** सूत्र से)। **तत्र भवः** (१०९२) सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—वर्गशब्दोऽन्तः (अन्तावयवः) यस्य स वर्गान्तः, तस्मात् = वर्गान्तात्। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (वर्गान्तात्) वर्गशब्दान्त प्रातिपदिक से परे (च) भी (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है। यह सूत्र सामान्यतः प्राप्त अण् का अपवाद है। उदाहरण यथा—

कवर्गे[3] भवं कवर्गीयम् (कवर्ग में होने वाला)। यहां 'कवर्ग ङि' से **तत्र भवः**

---

१. **⌒क⌒ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्** इति सञ्ज्ञाप्रकरणे वरदराजः।

२. **रत्नाङ्गुलीयप्रभवानुविद्धान् उदीरयामास सलीलमक्षान्।** (रघु० ६.१८)
अङ्गुलीयमेव अङ्गुलीयकम्, स्वार्थे कन्। प्रयोगो यथा—
इदं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्याङ्गुलीयकम्।
भवत्याः स्मरताऽत्यर्थमर्पितं सादरं मम॥ (भट्टि० ८.११८)
अङ्गुलीयकमूर्मिका इत्यमरः।

३. कघटितो वर्गः कवर्गः। अथवा—कादिर्वर्गः कवर्गः। उभयत्र शाकपार्थिवादित्वात्समासः।

(१०६२) के अर्थ में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **वर्गान्ताच्च** (१०६७) सूत्र से छप्रत्यय, सुँब्लुक्, छप्रत्यय के आदि वर्ण छकार को **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से ईय् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'कवर्गीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—चवर्गे भवं चवर्गीयम्। टवर्गे भवं टवर्गीयम्। तवर्गे भवं तवर्गीयम्। पवर्गे भवं पवर्गीयम्।[1]

अब एक अन्य सुप्रसिद्ध शैषिक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६८) तत आगतः ।४।३।७४।।

स्रुघ्नाद् आगतः स्रौघ्नः ।।

अर्थः—पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'आगतः' (आया हुआ) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—ततः ।५।१। (यहां पञ्चम्यन्त के अनुकरण 'ततः' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। आगतः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(ततः=पञ्चम्यन्तात्) पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (आगत इत्यर्थे) 'आया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। इस के पूर्वोक्त अपवाद भी यथास्थान प्रवृत्त होंगे।

उदाहरण यथा—

स्रुघ्नाद् आगतः स्रौघ्नः (स्रुघ्न से आया हुआ)। यहां 'स्रुघ्न ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से **तत आगतः** (१०६८) सूत्रद्वारा 'आगतः' (आया हुआ) के अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो कर प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङसिँ) का लुक् (७२१) तथा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि करने पर 'स्रौघ्न+अ' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) मथुराया आगतो माथुरः [**तत आगतः** (१०६८) इत्यण्]।

(२) राष्ट्राद् आगतो राष्ट्रियः [**राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०५९) इति घः]।

(३) अवारपारादागतोऽवारपारीणः [(१०६९) इति खः]।

---

१. यदि शब्दभिन्न कोई अन्य वाच्य हो तो **अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम्** (४.३.६४) सूत्र-द्वारा वर्गान्त प्रातिपदिक से **तत्र भवः** (१०६२) के अर्थ में यत्, ख और छ कोई भी प्रत्यय हो सकता है। यथा—

तृतीयवर्ग्यः (यत्), तृतीयवर्गीणः (ख), तृतीयवर्गीयः (छ) वाऽयं छात्रः। इसीप्रकार—मद्वर्ग्यः, मद्वर्गीणः, मद्वर्गीयः। इत्यादि।

ठक् (ठक्)

(४) ग्रामादागतो ग्राम्यो ग्रामीणो वा [**ग्रामाद् यखञौ** (१०७०)]।

(५) नद्या आगतो नादेय: [**नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१)]।

(६) स्त्रीभ्य आगत: स्त्रैण: [**स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३)]।

(७) पुम्भ्य आगत: पौंस्न: [१००३]।

(८) उत्साद् आगत औत्स: [**उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२)]।

(९) देवाद् आगतं दैव्यं दैवं वा [**देवाद् यञञौ** (वा० ६७)]।

(१०) बहिरागतो बाह्य: [**बहिषष्टिलोपो यञ् च** (वा० ६८)]।

(११) गोरागतं गव्यम् [**गोरजादिप्रसङ्गे यत्** (वा० ७०)]।

अब **तत आगत:** (१०९८) के अर्थ में अपवाद प्रत्ययों का निर्देश करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९९) **ठगायस्थानेभ्य:** ।४।३।७५।।

शुल्कशालाया आगत: शौल्कशालिक: ।।

अर्थ:—आयस्थान (आमदनी के स्थान) के वाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'आगत:' के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—ठक् ।१।१। आयस्थानेभ्य: ।५।३। **तत आगत:** (१०९८) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्यय:, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिता:** इत्यादि पूर्वत: अधिकृत हैं। आयस्य स्थानानि आयस्थानानि, तेभ्य: =आयस्थानेभ्य:, षष्ठीतत्पुरुष:। आयस्थानवाचिभ्य इत्यर्थ:। अर्थ:—(तत: =पञ्चम्यन्तेभ्य:) पञ्चम्यन्त (आयस्थानेभ्य:) आयस्थान के वाचक प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आगत:' अर्थ में (तद्धित:) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है।

आमदनी के स्थानों को आयस्थान कहते हैं। यथा शुल्कशाला (चुंगीघर) से राजा को आय (आमदनी) होती है, आपण (दुकान) से वणिक् आदि को आय होती है तो ये शुल्कशाला और आपण आदि आयस्थान माने जाते हैं।

ठक् में ककार अनुबन्ध है जो **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। अवशिष्ट 'ठ्' के स्थान पर **ठस्येक:** (१०२७) सूत्र से 'इक' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

शुल्कशालाया आगत: शौल्कशालिक: (चुंगीघर से आया हुआ)। यहां 'शुल्कशाला ङसिँ' से 'आगत:' के अर्थ में प्रकृत **ठगायस्थानेभ्य:** (१०९९) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **ठस्येक:** (१०२७) से ठ् को इक आदेश, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'शौल्कशालिक:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—आपणाद् आगत आपणिक: (दुकान से आया हुआ)। आकराद् आगत आकरिक: (खान से आया हुआ)।[1]

नोट—'ठगायस्थानेभ्य:' सूत्र के स्थान पर 'ठगायस्थानात्' सूत्र बनाया जा

१. वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते।

सकता था परन्तु मन्दबुद्धि छात्र कहीं 'आयस्थान' शब्द से ही ठक् प्रत्यय का विधान न समझ लें इसलिये सूत्र में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। **बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम्** इति काशिका।

अब **तत आगतः** (१०९८) के विषय में अपवादप्रत्यय वुञ् का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११००)

विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ् ।४।३।७७॥

औपाध्यायकः। पैतामहकः॥

अर्थः—विद्याकृतसम्बन्ध वाले या योनिकृतसम्बन्ध वाले पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से **तत आगतः** (१०९८) के अर्थ में तद्धितसंज्ञक वुञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः।५।३। वुञ् ।१।१। **तत आगतः** (१०९८) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—विद्या शिक्षाग्रहणम्, योनिर्जन्म। विद्या च योनिश्च विद्यायोनी, तत्कृतः सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनिसम्बन्धाः, तेभ्यः = विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः) विद्याकृतसम्बन्धोंवाले अथवा जन्मकृतसम्बन्धोंवाले (ततः = पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वुञ्) वुञ् प्रत्यय हो जाता है।

उपाध्याय, आचार्य, शिष्य आदि विद्याकृतसम्बन्धवाले प्रातिपदिक हैं। माता, पिता, पितामह, मातामह, मातुल, भ्रातृ, स्वसृ आदि जन्मकृतसम्बन्धवाले प्रातिपदिक हैं।

वुञ् में ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि एवं स्वर के लिये जोड़ा गया है। 'वु' को **युवोरनाकौ** (७८५) सूत्र से 'अक' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

उपाध्यायादागत औपाध्यायकः (उपाध्याय से आया हुआ ग्रन्थ, विचार आदि कुछ भी)। यहां 'उपाध्याय ङसिँ' इस विद्याकृतसम्बन्धवाले पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से 'आगतः' (आया हुआ) अर्थ में **विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ्** (११००) सूत्र से वुञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, वु को अक आदेश, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने पर 'औपाध्यायकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पितामहादागतः पैतामहकः (दादा से आया हुआ)। यहां 'पितामह ङसिँ' इस जन्मकृतसम्बन्धवाले पञ्म्यन्त प्रातिपदिक से 'आगतः' अर्थ में **विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ्** (११००) सूत्र से वुञ्, सुँब्लुक्, वु को अक, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पैतामहकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

आचार्यादागत आचार्यकः। (वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते)।

शिष्यादागतः शैष्यकः ।

मातुलादागतो मातुलकः । (वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते) ।

नोट—मातृ, पितृ, भ्रातृ, स्वसृ, दुहितृ आदि जन्मकृतसम्बन्धवाले ऋदन्त प्रातिपदिकों से **ऋतष्ठञ्** (४.३.७८) सूत्रद्वारा 'आगतः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय हो कर **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) से ठ् को 'क' आदेश हो जाता है। यथा—मातुरागतं मातृकम् । पितुरागतं पैतृकम् ।[1] भ्रातुरागतं भ्रातृकम् । स्वसुरागतं स्वासृकम् आदि ।

अब **तत आगतः** (१०९८) के अर्थ में रूप्यप्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०१)

हेतु-मनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ।४।३।८१।

समादागतं समरूप्यम् । विषमरूप्यम् । पक्षे गहादित्वाच्छः—समीयम् । विषमीयम् । देवदत्तरूप्यम्, दैवदत्तम् ॥

अर्थः—हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'आगतः' अर्थ में विकल्प से तद्धितसंज्ञक रूप्य प्रत्यय हो ।

व्याख्या—हेतुमनुष्येभ्यः ।५।३। अन्यतरस्याम् ।७।१। रूप्यः ।१।१। **तत आगतः** (१०९८) सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** आदि पूर्ववत् अधिकृत हैं। समासः—हेतवश्च मनुष्याश्च हेतुमनुष्याः, तेभ्यः=हेतु-मनुष्येभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । अर्थः—(हेतुमनुष्येभ्यः) हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक (ततः=पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आया हुआ' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (रूप्यः) रूप्य प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में अण् आदि यथाप्राप्त प्रत्यय होंगे ।

प्रथम हेतुवाचकों के उदाहरण यथा—

समाद्[2] आगतं समरूप्यम् (सम अर्थात् उचित हेतु से आया हुआ धन आदि

---

१. **पितुर्यच्च** (४.३.७९) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर 'पित्र्यम्' प्रयोग भी यहां बनता है। 'पितृ+य' इत्यत्र **रीङ् ऋतः** (१०४५) इति ऋतो रीङादेशे **यस्येति च** (२३६) इत्यनेन ईकारस्य लोपे च कृते रूपं सिध्यति ।

२. **हेतौ** (२.३.२३) सूत्रद्वारा हेतु में तृतीयाविभक्ति का विधान होता है। यथा—धनेन कुलम् । हेतु में पञ्चमीविभक्ति का विधान केवल **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२.३.२५) सूत्र से ही किया जाता है। यदि गुणवाचक हेतु स्त्रीलिङ्गी न हो तो उस से पञ्चमी विभक्ति भी प्रयुक्त की जा सकती है। यथा—जाड्याद् जाड्येन वा बद्धः । प्रकृत में हेतुवाचक सम और विषमशब्द गुणवाचक नहीं अतः उन से पञ्चमी न लाकर तृतीया ही लानी चाहिये थी—यह यहां शङ्का उत्पन्न होती है। इस का समाधान यह है कि **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२.३.२५) सूत्र में 'विभाषा' इस प्रकार योगविभाग कर स्त्रीलिङ्ग वा अगुणवाचक हेतु में भी क्वचित् पञ्चमी

कुछ भी)। यहां 'सम ङसिँ' इस हेतुवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से 'आगतः' के अर्थ में प्रकृत **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** (११०१) सूत्रद्वारा विकल्प से रूप्य प्रत्यय हो सुँब्लुक् कर विभक्ति लाने से 'समरूप्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में—समशब्द के गहादिगणान्तर्गत होने के कारण **गहादिभ्यश्च** (१०७८) सूत्रद्वारा छप्रत्यय, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से छ् को ईय् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'समीयम्' प्रयोग उपपन्न होता है। इस तरह 'समरूप्यम्' तथा 'समीयम्' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

इसीप्रकार—विषमाद् आगतं विषमरूप्यं विषमीयं वा (विषम अर्थात् विपरीत या अनुचित हेतु से आया हुआ धन आदि कुछ भी)। यहां 'विषम ङसिँ' से पूर्ववत् रूप्यप्रत्यय तथा पक्ष में **गहादिभ्यश्च** (१०७८) से छप्रत्यय हो जाता है।

मनुष्यवाचकों के उदाहरण यथा—

देवदत्ताद् आगतं देवदत्तरूप्यं दैवदत्तं वा (देवदत्त से आया हुआ)। 'देवदत्त' यह मनुष्यवाचक प्रातिपदिक है। अतः 'देवदत्त ङसिँ' से 'आगतः' अर्थ में प्रकृत **हेतुमनुष्ये-भ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** (११०१) सूत्रद्वारा विकल्प से रूप्यप्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'देवदत्तरूप्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में **तत आगतः** (१०९८) से सामान्य प्रत्यय अण् हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दैवदत्तम्' प्रयोग उपपन्न होता है। इस तरह 'देवदत्तरूप्यम्' तथा 'दैवदत्तम्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

इसीप्रकार—यज्ञदत्तादागतं यज्ञदत्तरूप्यं याज्ञदत्तं वा।

सूत्र में 'हेतुमनुष्येभ्यः' यह बहुवचनान्तनिर्देश इसलिये किया गया है कि 'हेतु' और 'मनुष्य' शब्दों से प्रत्यय न हो कर तद्वाचकों से ही प्रत्यय हो।

अब इसी अर्थ में मयट् प्रत्यय का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०२) मयट् च ।४।३।८२।।

सममयम् । देवदत्तमयम् ।।

अर्थः—हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'आगतः' अर्थ में तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय भी विकल्प से हो।

व्याख्या—मयट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। पूर्वसूत्र से 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतर-स्याम्' का अनुवर्त्तन होता है। **तत आगतः** (१०९८) भी आ रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(हेतुमनुष्येभ्यः) हेतु-

---

का विधान हो जाता है। यथा—पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्, नास्ति घटोऽनुप-लब्धेः, इत्यादि। यद्यपि महाभाष्य में यह योगविभाग कहीं नहीं बताया गया तथापि **बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः** (महाभाष्य ३.३.१) इस कारिका में 'तनुदृष्टेः' यहां हेतु में पञ्चमीप्रयोग करने से उपर्युक्त योगविभाग का प्रामाण्य असन्दिग्ध हो जाता है।

वाचक एवं मनुष्यवाचक (ततः=पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आगतः' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय (च) भी (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में यथाप्राप्त प्रत्यय होगा। रूप्यप्रत्यय का संग्रह 'च' के कथन से ही हो जायेगा। उदाहरण यथा—

समाद् आगतं सममयम् (सम अर्थात् उचित हेतु से आया हुआ धन आदि कुछ भी वस्तु)। यहां हेतुवाचक पञ्चम्यन्त 'सम ङसिँ' से प्रकृत **मयट् च** (११०२) सूत्र से मयट् प्रत्यय, टकार अनुबन्ध का लोप तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङसिँ) का लुक् कर विभक्ति लाने से 'सममयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में गहादित्वात् छप्रत्यय हो कर पूर्ववत् 'समीयम्' बनेगा। 'च' ग्रहण के कारण 'समरूप्यम्'। इस तरह तीन रूप बनेंगे।

विषमाद् आगतं विषममयम् (विषम अर्थात् विपरीत या अनुचित हेतु से आया हुआ धन आदि कुछ भी वस्तु)। यहां भी पूर्वोक्तप्रकारेण विषमप्रातिपदिक से मयट् प्रत्यय हो कर—विषममयम्। पक्ष में—विषमीयम् (१०७८)। 'च' ग्रहण के कारण—विषमरूप्यम्। तीन रूप बनते हैं।

देवदत्ताद् आगतं देवदत्तमयम् (देवदत्त से आया हुआ)। मयट् के अभाव में पूर्ववत् अण् प्रत्यय करने से दैवदत्तम्। 'च' ग्रहण के कारण—देवदत्तरूप्यम्। इसी तरह—यज्ञदत्तमयम्, याज्ञदत्तम्, यज्ञदत्तरूप्यम्।

मयट् प्रत्यय में टकार अनुबन्ध स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने के लिये जोड़ा गया है। यथा—सममयी, विषममयी, देवदत्तमयी आदि।

नोट—ध्यान रहे कि सूत्रकार ने 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यमयटौ' इस प्रकार इकट्ठा सूत्र न बना कर जानबूझ कर पृथक् पृथक् सूत्र बनाये हैं। एक सूत्र बनाने पर यथासंख्यपरिभाषा (२३) प्रवृत्त हो जाती। इस से हेतुवाचकों से रूप्यप्रत्यय एवं मनुष्यवाचकों से मयट् प्रत्यय हो जाता, दोनों से दोनों प्रत्यय न हो सकते। अतः मुनि का पृथक् पृथक् सूत्र बनाना ही उचित है।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०३) **प्रभवति** ।४।३।८३॥

हिमवतः प्रभवति—हैमवती गङ्गा ॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रभवति' (सर्वप्रथम प्रकाशित होना या दिखाई देना) अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्रभवति इति क्रियापदम्। ततः ।५।१। (**तत आगतः** सूत्र से)। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(ततः=पञ्चम्यन्तात्) पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (प्रभवति इत्यर्थे) 'सर्वप्रथम उपलब्ध होना या दिखाई देना' अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

तद् गच्छति

हिमवतः प्रभवति[1]—हैमवती गङ्गा (सर्वप्रथम हिमालय में प्रकट होने वाली गङ्गा नदी)। यहां 'हिमवत् ङसिँ' से 'प्रभवति सर्वप्रथम प्रकट होना' अर्थ में प्रकृत **प्रभवति** (११०३) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा आदिवृद्धि करने से 'हैमवत' बना। अब गङ्गा विशेष्य के कारण स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप्, अनुबन्धलोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'हैमवती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—दरदेभ्यः प्रभवति दारदी सिन्धुः[2] (सर्वप्रथम दरददेश में प्रकाशित होने वाली सिन्धुनदी)।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११०४**)

[देश-विशेष]

तद् गच्छति पथि-दूतयोः ।४।३।८५।।

स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः, पन्था दूतो वा ।।

अर्थः—जाने वाला यदि मार्ग वा दूत हो तो द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'गच्छति' (जाने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से यहां पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। गच्छति इतिक्रियापदम्। पथिदूतयोः ।७।२। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** द्वारा अधिकृत)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पन्थाश्च दूतश्च पथिदूतौ, तयोः = पथिदूतयोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (गच्छति इत्यर्थे) 'जाता है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है (पथि-दूतयोः) यदि जाने वाला या तो रास्ता हो या दूत। उदाहरण यथा—

स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा (स्रुघ्न को जाने वाला मार्ग[3] या स्रुघ्न को जाने वाला दूत)। यहां 'स्रुघ्न अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'गच्छति'

---

१. **भुवः प्रभवः** (१.४.३१) इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी। प्रभवति = तत्र प्रथमं प्रकाशते इत्यर्थः। अत्रोत्पत्तिवचनस्तु प्रभवतिर्न गृह्यते, **तत्र जातः** (१०८७) इत्यतो भेदेन निर्देशात्।

२. सिन्धुशब्द नदीवाचक होने पर स्त्रीलिङ्ग होता है। **सिन्धुर्वमथु-देशाब्धि-नदे ना सरिति स्त्रियाम्** इति मेदिनी। काश्मीर के उत्तर में स्थित देश का प्राचीन नाम 'दरद' है।

३. मार्ग यद्यपि लक्ष्य तक पहुंचने में करण होता है कर्त्ता नहीं तथापि सौकर्य आदि के अतिशय को प्रकट करने के लिये 'असिश्छिनत्ति, काष्ठानि पचन्ति' आदि की तरह लोक में उसे कर्तृत्वेन व्यपदिष्ट करने का व्यवहार देखा जाता है। उसी की ओर यहां आचार्य का निर्देश है।

उत्तिनिष्क्रामति

(जाने वाला) अर्थ में **तद् गच्छति पथिदूतयोः** (११०४) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय, सुँप् (अम्) का लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—मथुरां गच्छति माथुरः पन्था दूतो वा।

'पथिदूतयोः' कथन से 'मथुरां गच्छति रथः' इत्यादियों में शैषिक अण् नहीं होता।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११०५)**

अभिनिष्क्रामति द्वारम् ।४।३।८६।।

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अभिनिष्क्रामति—उस की ओर निकलता है' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो यदि द्वार वाच्य हो तो।

व्याख्या—तत् ।५।१। (**तद् गच्छति पथिदूतयोः** सूत्र से)। अभिनिष्क्रामति इति क्रियापदम्। द्वारम् ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्=द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अभिनिष्क्रामतीत्यर्थे) 'उस की ओर निकलता है, उस की ओर जाता है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो (द्वारम्) यदि द्वार वाच्य हो तो। उदाहरण यथा—

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् (स्रुघ्न की ओर निकलने वाला कन्नौजनगर का द्वार)।[1] यहां 'स्रुघ्न अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'की ओर निकलने वाला' अर्थ में द्वार की विवक्षा में **अभिनिष्क्रामति द्वारम्** (११०५) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, सुँप् (अम्) का लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—मथुरामभिनिष्क्रामति माथुरं द्वारम्। राष्ट्रम् अभिनिष्क्रामति राष्ट्रियं द्वारम् (**राष्ट्रावारपाराद् घखौ** १०६९)।

---

१. प्राचीन तथा मध्यकाल में नगर के द्वारों का मुख जिस ओर होता था उस के नाम पर उस द्वार (दरवाज़े) का प्रायः नामकरण किया जाता था। उदाहरणार्थ जैसे दिल्लीनगर में अजमेर की ओर जिस द्वार से निकल कर जाते थे वह अजमेरी दरवाज़ा, लाहौर की ओर जिस द्वार से जाते थे वह लाहौरी दरवाज़ा, काश्मीर की ओर जिस दरवाजे से निकल कर जाते थे वह काश्मीरी-दरवाजा इत्यादिप्रकारेण नाम रखे गये थे जो अब तक प्रचलित हैं। इसीप्रकार प्राचीनकाल में कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर में एक ऐसा द्वार था जो स्रुघ्न की ओर जाता था अर्थात् स्रुघ्न जाने वाले लोग उसी द्वार से हो कर स्रुघ्न जाते थे अतः कान्यकुब्ज नगर का वह द्वार 'स्रौघ्न' कहलाता था।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि द्वार तो जड़ होता है वह कहीं आ जा नहीं सकता अतः निष्क्रमण अर्थ में प्रत्यय कैसे सम्भव हो सकेगा ? इस का उत्तर यह है कि जैसे 'असिश्छिनत्ति' (तलवार अच्छी तरह काट रही है) इस में यद्यपि काटने वाला कोई और पुरुष होता है वह तलवार से काटने का काम लेता है तलवार स्वयं जड़ होने से काट नहीं सकती तथापि 'तलवार काटती है' इस तरह का लौकिक व्यवहार प्रयुक्त होता है वैसे यहां भी समझना चाहिये। द्वार यद्यपि स्वयं जड़ होने से स्रुघ्न की ओर नहीं जाता किन्तु पथिक उस द्वार से निकल कर स्रुघ्न की ओर जाते हैं तथापि 'यह द्वार स्रुघ्न की ओर जाता है' ऐसा लोक में व्यवहार होता है। बस इसी व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए आचार्य ने यह सूत्र बनाया है।

अब एक अन्य सुप्रसिद्ध शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०६) **अधिकृत्य कृते ग्रन्थे** ।४।३।८७॥

शारीरकम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अधिकार कर बनाया हुआ ग्रन्थ' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अधिकृत्य इति ल्यबन्तं पदम्। कृते ।७।१। ग्रन्थे ।७।१। तत् ।५।१। (**तद् गच्छति पथिदूतयोः** सूत्र से)। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(तद् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अधिकृत्य कृते ग्रन्थे) 'अधिकार कर—प्रस्तुत कर—विषय बना कर बनाये गये ग्रन्थ' अर्थ में (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है। अण् सामान्य प्रत्यय है, इस के पूर्वोक्त अपवाद यथास्थान प्रवृत्त होंगे ही।

जिस को विषय बना कर ग्रन्थ बनाया जाता है उस विषयवाचक शब्द से अण् आदि यथाप्राप्त तद्धित प्रत्यय होते हैं और तब प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से तन्नामक ग्रन्थ का बोध होता है। उदाहरण यथा—

शारीरकम्[1] अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः (शारीर[2] अर्थात् जीवात्मा को

---

१. ननु कृत इति कर्मणि निष्ठा। निष्ठया उक्तत्वात् शारीरकम् इत्यत्र कर्मणि द्वितीया न प्राप्नोति इति चेद् ? न। न ह्यत्र निष्ठापेक्षया कर्मत्वं यतोऽभिहितत्वाशङ्का जायेत। अत्र तु 'अधिकृत्य' इति ल्यबन्तापेक्षया कर्मत्वम्, अतः कर्मणोऽनभिहितत्वाद् द्वितीया भवत्येव। निष्ठायाः कर्म तु ग्रन्थ एवेति बोध्यम्।

२. शरीरस्यायं शारीरो जीवात्मा, तस्येदम् (११०८) इत्यण्। शारीर एव शारीरकः, स्वार्थे कन्। यद्वा—कुत्सितं शरीरं शरीरकम्, कुत्सिते (१२२५) इति कप्रत्ययः। शरीरकस्यायं शारीरकः, तस्येदम् (११०८) इत्यण्।

शौरस्य निवास:

विषय बना कर रचा गया ग्रन्थ—वेदान्तशास्त्र)। शारीरकशब्द का आदि अच् वृद्धि-संज्ञक है अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१०७५) सूत्र से इस की वृद्धसंज्ञा है। यहां 'शारीरक अम्' इस विषयवाचक द्वितीयान्त प्रातिपदिक से **अधिकृत्य कृते ग्रन्थे** (११०६) इस अर्थ में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर **वृद्धाच्छः** (१०७७) सूत्र से छ प्रत्यय हो जाता है। अब तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (अम्) का लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्र से छ् को ईय् तथा **यस्येतिच**लोप कर विभक्ति लाने से 'शारीरकीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] शारीरं भाष्यमिति त्वभेदोपचारादिति दीक्षितः।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) शकुन्तलामधिकृत्य कृतं नाटकं शाकुन्तलम् (अण्)।
(२) सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः (अण्)।
(३) ययातिमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो यायातः (अण्)।
(४) गिरिमित्रमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो गैरिमित्रः (अण्)।
(५) भरतानधिकृत्य कृतमाख्यानम् भारतम् (अण्)।
(६) भीमरथमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका भैमरथी (अण्, ङीप्)।

नोट—आख्यायिका वाच्य हो तो कहीं कहीं तद्धितप्रत्यय का लुप् हो जाता है।[2] यथा—वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका वासवदत्ता। उर्वशीमधिकृत्य कृताख्यायिका उर्वशी। कादम्बरीमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका कादम्बरी। प्रत्यय का लुप् हो जाने पर **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** (१०६१) सूत्र से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन हो जाते हैं।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०७) सोऽस्य निवासः।४।३।८९॥

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः॥

अर्थः—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'इस का' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो यदि वह प्रथमान्त निवासस्थान हो तो।

व्याख्या—सः।५।१। ('सः' यह प्रथमान्तों का अनुकरण है। इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। अस्य।६।१। निवासः।१।१। अण्।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं।

---

१. ध्यान रहे कि एक बार शैषिक प्रत्यय किये जाने पर दुबारा उस से शैषिक प्रत्यय नहीं होता—यह नियम सरूप शैषिकप्रत्ययों में ही लागू होता है विरूप शैषिकों में नहीं। अत एव यहां शारीरशब्द यद्यपि **तस्येदम्** (११०९) द्वारा शैषिक-अण्-प्रत्ययान्त है तथापि उस से पुनः दूसरा शैषिक छप्रत्यय हो जाता है कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

२. **लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्** (वा०)। तादर्थ्ये चतुर्थी।

नेव प्रोतं   द् (डेय)

अर्थः —(सः = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रथमान्त (निवासः) निवासस्थान हो तो। उदाहरण यथा —

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः (स्रुघ्न जिस के रहने का स्थान है अर्थात् स्रुघ्न का निवासी)। यहां 'स्रुघ्न सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्य निवासः' अर्थ में **सोऽस्य निवासः** (११०७) इस प्रकृतसूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय, तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक्, आदिवृद्धि, तथा **यस्येतिच**लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार —

मथुरा निवासोऽस्य माथुरः (मथुरा का निवासी)।
नदी निवासोऽस्य नादेयः (नदी का निवासी)।[1]
राष्ट्रं निवासोऽस्य राष्ट्रियः (राष्ट्र का निवासी)।[2]
ग्रामो निवासोऽस्य ग्राम्यो ग्रामीणो वा (गांव का निवासी)।[3]

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०८) तेन प्रोक्तम् ।४।३।१०१॥

पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से प्रोक्त अर्थात् प्रथमतः व्याख्यात या प्रथमतः प्रकाशित अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। प्रोक्तम् ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (प्रोक्तमित्यर्थे) प्रोक्त अर्थात् प्रथम प्रवचन किये गये—प्रथम प्रकाशित या व्याख्यात किये गये अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। यथावसर इस के अपवाद प्रत्यय इस का बाध कर लेंगे। उदाहरण यथा—

पाणिनिना प्रोक्तम् पाणिनीयं व्याकरणम् (पाणिनिद्वारा प्रथम प्रकाशित अर्थात् शिष्यों के आगे सर्वप्रथम व्याख्यात व्याकरण)।[4] यहां 'पाणिनि टा' से 'प्रोक्त' (प्रथम-

---

१. **नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१) इति ढक्। ढस्य एयादेशः (१०१३)।
२. **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६६) इति घः। घस्य इयादेशः (१०१३)।
३. **ग्रामाद् य-खञौ** (१०७०) इति यखञौ प्रत्ययौ। खस्य ईनादेशः (१०१३)।
४. पाणिनीयव्याकरण यद्यपि पाणिनि ने ही बनाया है तथापि यहां यह अभिप्राय प्रकट करना अभीष्ट नहीं, उस के लिये **कृते ग्रन्थे** (४.३.११६) इस प्रकार का पृथक् सूत्र बनाया गया है। यहां तो अध्यापनरूप से या व्याख्यानरूप से प्रथम प्रकाशित

तस्य इदम्

व्याख्यात) अर्थ में **तेन प्रोक्तम्** (११०८) सूत्रद्वारा सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर **वृद्धाच्छः** (१०७७) से 'छ' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से छ् को ईय् आदेश करने से 'पाणिनि+ईय' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाणिनीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—
आपिशलिना प्रोक्तम् आपिशलं व्याकरणम्।[1]
काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नं व्याकरणम्।
शौनकेन प्रोक्ता शौनकीया शिक्षा (**वृद्धाच्छः** १०७७)।
चन्द्रेण प्रोक्तं चान्द्रं व्याकरणम् (अण्)।
अब अन्तिम सुप्रसिद्ध शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०९) तस्येदम् ।४।३।१२०॥

उपगोरिदम् औपगवम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'इदम्' (यह) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। इदम् ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य= षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (इदम् इत्यर्थे) 'यह' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। इसे बाध कर अपवादप्रत्यय यथास्थान प्रवृत्त हो जायेंगे। उदाहरण यथा—

अर्थ में प्रत्यय किया जा रहा है। प्रवचनकर्ता चाहे स्वरचित ग्रन्थ का प्रवचन करे या अन्यरचित का, दोनों अवस्थाओं में इस सूत्र से प्रत्यय हो जायेगा। अन्यरचित-ग्रन्थ का उदाहरण यथा—**अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः** (महाभाष्य ४.३.१०१)। 'प्रोक्तम्' में 'प्र' जोड़ने का अभिप्राय प्रकर्ष को प्रकट करना है—प्रकर्षेण उक्तम् प्रोक्तम्। कहे हुए की प्रकृष्टता इसी में है कि वह सर्वप्रथम कहा जाये। पाणिनि ने स्वरचित व्याकरण का शिष्यों के आगे स्वयं सर्वप्रथम व्याख्यान किया था अतः इस सूत्र से तत्प्रोक्त व्याकरण का नाम 'पाणिनीय' हुआ। माथुर ने अन्यरचित वृत्ति का सर्वप्रथम शिष्यों के मध्य प्रवचन किया था अतः वह वृत्ति 'माथुरी' नाम से प्रसिद्ध हुई। आजकल यदि हम इस पाणिनीयव्याकरण का शिष्यों को अध्यापन करायेंगे तो यह व्याकरण हमारे नाम से नहीं पुकारा जायेगा किन्तु पाणिनिद्वारा सर्वप्रथम प्रोक्त होने से 'पाणिनीय' ही रहेगा।

१. आपिशलम्। अत्र सामान्यप्राप्तमणं प्रबाध्य **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छः प्राप्तः। तमपि प्रबाध्य **इञश्च** (४.२.१११) इति पुनरण्। एवं काशकृत्स्नमित्यत्रापि बोध्यम्।

उपगोरिदम् औपगवम् (उपगु का यह अर्थात् उपगुसम्बन्धी यह वस्तु)। यहां 'उपगु ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'इदम्' (यह) इस अर्थ में **तस्येदम्** (११०६) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार के स्थान पर ओकार गुण तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'औपगवम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

(१) भीमस्य इयम् भैमी बुद्धिः।[1]
(२) बृहस्पतेरिदं बार्हस्पत्यं नीतिशास्त्रम्।[2]
(३) अश्वपतेरिदम् आश्वपतं कुलम्।[3]
(४) देवस्येदं दैव्यं दैवं वा बलम्।[4]
(५) उत्सस्यायम् औत्सः कलकलः।[5]
(६) स्त्रिया इदं स्त्रैणं चरितम्।[6]
(७) पुंस इदं पौंस्नं बलम्।[7]
(८) गोरिदं गव्यं पयः।[8]
(९) राष्ट्रस्येदं राष्ट्रियं कार्यम्।[9]
(१०) अवारपारस्येदम् अवारपारीणं वस्तु।[10]
(११) नद्या इदं नादेयं जलम्।[11]
(१२) शास्त्रस्यायं शास्त्रीयः सिद्धान्तः।[12]
(१३) मासस्येदं मासिकं वेतनम्।[13]

---

१. अण्प्रत्ययान्तात् भैमशब्दात् स्त्रियां **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीप्। **भैम्याः** (बुद्ध्याः) व्याख्या भैमीव्याख्या। षष्ठीतत्पुरुषे सामान्याधिकरण्याभावात् पुंवद्भावो न।
२. **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) इति ण्यः प्रत्ययः।
३. ण्यं प्रबाध्य **अश्वपत्यादिभ्यश्च** (९९८) इति पुनरण्।
४. **देवाद् यञञौ** (वा० ६७) इति यञञौ प्रत्ययौ।
५. **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) इति अञ्।
६. **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) इति नञ्।
७. **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) इति स्नञ्।
८. **गोरजादिप्रसङ्गे यत्** (वा० ७०) इति यत् प्रत्ययः।
९. **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) इति घः। घस्य इय् आदेशः।
१०. **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) इति खः। खस्य ईन् आदेशः।
११. **नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१) इति ढक्। ढस्य एय् आदेशः।
१२. **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छप्रत्ययः। छस्य ईय् आदेशः।
१३. **कालाट् ठञ्** (१०८४) इति ठञ्। **ठस्येकः** (१०२७)।

अभ्यास [५]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों के सहेतुक उत्तर दीजिये—

[क] **शेषे** को अधिकार और विधि उभयविध क्यों मानते हैं ?

[ख] टयु-टयुल् को तुँट् का आगम कब करना उचित है ?

[ग] **ग्रामाद् यखञौ** सूत्रोक्त खञ् में अकार क्यों जोड़ा गया है ?

[घ] सायंप्रातिकः, पौनःपुनिकः इन में टयु-टयुल् क्यों नहीं हुए ?

[ङ] आरातीयः, शाश्वतिकः में टिलोप क्यों नहीं हुआ ?

[च] 'शारीरकीयः' में दो शैषिक प्रत्यय कैसे हो सकते हैं ?

[छ] कोशेषु भवं कौशेयम् (वस्त्रम्), यहां अर्थोपपत्ति स्पष्ट करें ?

[ज] शारीरकं भाष्यम् यह उक्ति कैसे उपपन्न होगी ?

(२) निम्नस्थों पर समुचित टिप्पणी लिखें—

[क] **सम्भूते** सूत्र में द्विविध सम्भूतता ।

[ख] भैमीव्याख्या में पुंवद्भाव का अभाव ।

[ग] **अव्ययानां भमात्रे०** में मात्रग्रहण का प्रयोजन ।

[घ] **अव्ययानां भमात्रे०** वार्त्तिक की अनित्यता ।

[ङ] उभयपदवृद्धि ।

[च] प्रोक्त और कृत ग्रन्थों का अन्तर ।

[छ] एण्य में णत्वकरण ।

[ज] पथिदूतयोः किम् ? मथुरां गच्छति रथः ।

(३) निम्नस्थ वचनों की व्याख्या करें—

[क] अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् ।

[ख] अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषः ।

[ग] प्राह्णप्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते ।

[घ] वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या ।

[ङ] अमेहक्वतसिँत्रेभ्य एव ।

[च] इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्टयुटयुलन्ताः प्रत्ययाः उच्यन्ते । तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ।

[छ] शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥

(४) स्रौघ्न के तद्धितविषयक विभिन्न सात विग्रह दर्शाते हुए सूत्रों का भी निर्देश करें ।

(५) वृद्धसञ्ज्ञाविधायक सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें ।

(६) निम्नस्थ विग्रहों में खञ्-अण्-छप्रत्ययान्त रूप सिद्ध करें—

[क] तवायम्, ममायम् ।

[ख] युवयोरयम्, आवयोरयम् ।

[ग] युष्माकमयम्, अस्माकमयम् ।

(७) अन्तर स्पष्ट करें—

प्रावृषेण्यः—प्रावृषिकः । मदीयः—अस्मदीयः । त्वत्पुत्रः—युष्मत्पुत्रः ।

(८) शैषिकप्रकरणस्थ छप्रत्ययविधायक कोई से तीन सूत्र सार्थ सोदाहरण व्याख्यात करें ।

(९) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. तावकः । २. आध्यात्मिकम् । ३. माहेयम् । ४. अमात्यः । ५. पौनःपुनिकः । ६. शौल्कशालिकः । ७. जिह्वामूलीयम् । ८. मध्यमः । ९. ग्रामीणः । १०. पारावारीणः । ११. दार्षदाः । १२. नित्यः । १३. दाक्षिणात्यः । १४. औपाध्यायकः । १५. चाक्षुषम् । १६. श्रावणः । १७. शारीरकीयः । १८. शालीयः । १९. कौशेयम् । २०. दिव्यम् । २१. पारलौकिकम् । २२. समरूप्यम् । २३. सांवत्सरिकम् । २४. मामकीनः । २५. पैतृकम् । २६. और्ध्वदेहिकम् । २७. श्वस्त्यम् । २८. शाकुन्तलम् । २९. वासवदत्ता । ३०. औपनिषदः ।

(१०) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्तरूप ससूत्र सिद्ध करें—

१. पितामहादागतः । २. पाणिनिना प्रोक्तम् । ३. चतुर्भिरुह्यते । ४. क्वचिद् भवः । ५. अङ्गुल्यां भवम् । ६. चतुर्दश्यां दृश्यते । ७. वाराणस्यां जातम् । ८. मूर्ध्नि भवम् । ९. उपगोरिदम् । १०. कवर्गे भवम् । ११. प्राचि भवम् । १२. इहलोके भवम् । १३. मासस्येदम् । १४. तस्येदम् । १५. कादम्बरीमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका । १६. प्रयोगे भवः । १७. हिमवतः प्रभवति । १८. गोरागतम् । १९. आपणादागतः । २०. उपरिष्टादागतः ।

(११) निम्नस्थ सूत्रों एवं वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. राष्ट्रावारपाराद् घखौ । २. प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ३. सायंचिरंप्राह्णेप्रगे० । ४. शरीरावयवाच्च । ५. ठगायस्थानेभ्यः । ६. दिगादिभ्यो यत् । ७. अधिकृत्य कृते ग्रन्थे । ८. हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां० । ९. अनुशतिकादीनां च । १०. द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् । ११. ग्रामाद् यखञौ । १२. युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च । १३. सम्भूते । १४. विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् । १५. अभिनिष्क्रामति द्वारम् । १६. प्रभवति । १७. सोऽस्य निवासः । १८. त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् ।

(१२) सहेतुक अशुद्धि-शोधन कीजिये—

[१] अद्यतनीयं कार्यम् ।[१]
[२] वाराणसीया परीक्षा ।[२]
[३] शारदीय उत्सवः ।[३]
[४] दन्तीयः सकारः ।[४]
[५] राष्ट्रीया समस्या ।[५]
[६] बाल्यकालीना क्रीडा ।[६]
[७] औषसो रागः ।[७]
[८] औदरी पीडा ।[८]
[९] शार्वरं तमः ।[९]
[१०] वर्गीया वर्णाः कादयो मावसानाः ।[१०]
[११] प्राच्याः संस्काराः ।[११]
[१२] स्वकीयः पक्षः ।[१२]
[१३] परीयः सिद्धान्तः ।[१३]

---

१. अद्य भवम् अद्यतनम् । **सायंचिरं०** (१०८६) इति टयुलि तुँडागमः । छप्रत्ययस्य तु प्रसङ्ग एव न ।
२. **नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१) इति ढकि 'वाराणसेयाः' इत्युचितम् ।
३. शरदि भवः शारदः । **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्** (४.३.१६) इत्यणि शारद इति साधु ।
४. दन्तेषु भवो दन्त्यः । **शरीरावयवाच्च** (१०९४) इति यत् ।
५. राष्ट्रस्येयं राष्ट्रिया । **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) इति घप्रत्यये घस्य इयादेशः ।
६. बाल्यकालिकी इत्येवोचितम् । **कालाट् ठञ्** (१०८४) । **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीप् ।
७. उषसि भव औषसिकः । **कालाट् ठञ्** (१०८४) इति ठञा भवितव्यम् ।
८. **शरीरावयवाच्च** (१०९४) इति यति स्त्रियां टापि च 'उदर्या' इति साधु ।
९. शर्वर्यां भवं शार्वरिकम् । **कालाट् ठञ्** (१०८४) इति ठञा भवितव्यम् ।
१०. **दिगादिभ्यो यत्** (१०९३) इति यति 'वर्ग्याः' इत्युचितम् ।
११. कालवाचिनः प्रागित्यव्ययाद् **द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्** (१०७३) इति यतं प्रबाध्य परत्वाट् टयुटयुलौ भवतः, तेन प्राक्तनाः संस्कारा इत्येवोचितम् ।
१२. स्वस्यायम् इत्यर्थे **तस्येदम्** (११०९) इत्यणि **द्वारादीनां च** (७.३.४) इत्यैजागमे 'सौवः' इत्युचितम् । अथवा—स्वशब्दात्स्वार्थे कनि गहादेराकृतिगणत्वाच्छे 'स्वकीयः' इत्यपि साधु ।
१३. परस्यायमिति विग्रहे गहाद्यन्तर्गतेन **कुँग्जनस्य परस्य च** इति गणसूत्रेण छे कुँगागमे च कृते 'परकीयः' इति ।

[१४] स्वर्गीयाः पितृपादाः ।[१]

[१५] श्रीमदीयोऽनुचरः ।[२]

[१६] पारस्परिकः स्नेहः ।[३]

[१७] इदानीन्तनी जागतिकी स्थितिरुद्वेगं जनयतीव नः ।[४]

[१८] पाश्चात्या विद्वांसः ।[५]

[१९] पैत्रं राज्यं प्रपेदेऽसौ ।[६]

[२०] राजवंश्या अमी जनाः ।[७]

[लघु०] इति शैषिकाः ।।

(यहां शैषिक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

———:०:———

१. स्थानविशेषवाचिनः स्वर्गशब्दस्य **वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या** (वा० ८४) इति वृद्धत्वे **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छे यद्यपि स्वर्गीयशब्दः सिध्यति तथापि तथाविध-शब्दस्य क्वापि प्रयुक्तत्वाभावादसाधुरिति मन्तव्यम् । ये स्वर्गतास्ते स्वर्गिण इत्युच्यन्ते ।

२. श्रीमतोऽयमिति विग्रहे श्रीमच्छब्दस्य वृद्धत्वाभावाद् **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छो न प्रवर्त्तते । यत्तु केचिद् अध्यात्मादेराकृतिगणत्वात् श्रीमच्छब्दाट् ठञि तस्य **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) इति कादेशे आदिवृद्धौ श्रैमत्करूपं प्रयुञ्जते तदप्यनभि-धानान्न । अतः श्रीमतोऽनुचर इत्येव प्रयोज्यम् ।

३. परस्परं भवः पारस्परिकः । अध्यात्मादेराकृतिगणत्वात् सिद्धेऽपि ठञि नैष शब्दः क्वचित् प्रयुक्तचरः । तेन परस्परमित्येव प्रयोज्यम् ।

४. जगत इयं जागती, शैषिकोऽण् । स्त्रियां **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीप् ।

५. पश्चात् (पश्चिमायां दिशि) भवाः पाश्चात्त्याः । **दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्** (१०७२) इति त्यक् । तकारलोपस्याप्रसक्तेर्द्वितकारघटितं रूपमिष्यते ।

६. पितुरागतं पित्र्यं पैतृकं वा । **ऋतष्ठञ्** (४.३.७८), **पितुर्यच्च** (४.३.७९) इति ठञि यति च रूपद्वयम् ।

७. दिगादिगणे वंशशब्दः पठितो न तु राजवंशः । तेन यतोऽप्रसङ्गः । **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छप्रत्यये राजवंशीया इत्येवोचितम् । अथवा—राज्ञो वंश्या राजवंश्या इत्येवं विग्रहीतव्यम् ।

अथ विकाराद्यर्थकाः

अब विकार आदि अर्थों में होने वाले प्राग्दीव्यतीय तद्धित प्रत्ययों का वर्णन करते हैं।

विशेष वक्तव्य—लघुसिद्धान्तकौमुदी के कई संस्करणों में यहां 'अथ प्राग्दीव्यतीयाः' ऐसा पाठ मुद्रित मिलता है। वह ठीक प्रतीत नहीं होता कारण कि पीछे सब प्राग्दीव्यतीय ही तो कहते चले आ रहे हैं। अब यहां नये सिरे से 'अथ प्राग्दीव्यतीयाः' कहने में कुछ तुक नहीं। सम्भवतः इस प्रकरण के अन्त में 'इति प्राग्दीव्यतीयाः' को देख कर यहां भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। वस्तुतः पिछले सब प्रकरणों को दृष्टि में रखते हुए वहां 'इति प्राग्दीव्यतीयाः' लिखा गया है केवल इस प्रकरण को लक्ष्य में रख कर नहीं।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**१११०**) **तस्य विकारः** ।४।३।१३२॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से विकार अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तस्य ।५।१। ('अश्मनो विकारः' इत्यादियों में 'अश्मनः' आदि षष्ठ्यन्तों का अनुकरण 'तस्य' शब्द से किया गया है। इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)।[1] विकारः ।१।१। इत्यर्थे इत्यध्याहार्यम्। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से)। **प्रत्ययः**, **परश्च**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (विकार इत्यर्थे) विकार अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो।

उपादानकारण (समवायिकारण) जब कार्यरूप में परिणत होता है तो उसे विकार कहते हैं। जैसे मेज़, कुर्सी आदि लकड़ी के विकार हैं। ईंटों से बना भवन ईंटों का विकार है। पत्थर से बने पात्र पत्थर का विकार हैं। इस विकार अर्थ को प्रकट करने के लिये उपादानकारणवाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से अण् तद्धितप्रत्यय होता है। अण् यह सामान्य प्रत्यय है, इस के प्राग्दीव्यतीय अपवाद इस का यथास्थान बाध करेंगे।

उदाहरण यथा—

---

१. अष्टाध्यायी में यद्यपि **तस्येदम्** (४.३.१२०) सूत्र से यहां 'तस्य' का अनुवर्त्तन हो सकता था तथापि यहां पुनः 'तस्य' का ग्रहण शेषाधिकार की निवृत्ति को द्योतित करने के लिये किया गया है। इस से शेषाधिकारोक्त घ आदि विशिष्ट प्रत्यय विकार अर्थ में प्रवृत्त न होंगे। यथा—शेषाधिकार में एक सूत्र आता है—**हलसीराट् ठक्** (४.३.१२४)। हलस्येदं हालिकम्। सीरस्येदं सैरिकम्। यहां **तस्येदम्** के अर्थ में ठक् प्रत्यय हुआ है। परन्तु अब इस प्रकरण में 'हलस्य विकारो हालः, सीरस्य विकारः सैरः' इस तरह अण् ही होगा पूर्वोक्त ठक् नहीं।

तस्य विकार· अश्मन् (टिलोप)

अश्मनो[1] विकार आश्मः (अश्मन्=पत्थर का विकार अर्थात् पत्थर से बना कोई पदार्थ)। यहां 'अश्मन् ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से विकार अर्थ में **तस्य विकारः** (१११०) इस प्रकृतसूत्र से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक संज्ञा, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् एवं **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि करने से 'आश्मन्+अ' हुआ। अब **नस्तद्धिते** (९१९) से नकारान्त भसञ्ज्ञक की टि (अन्) का लोप प्राप्त होता है परन्तु **अन्** (१०२४) सूत्र से प्रकृतिभाव के कारण वह रुक जाता है। यह अनिष्ट है। इस पर अग्रिमवार्त्तिकद्वारा पुनः टिलोप का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(८७) अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः ॥

अश्मनो विकार आश्मः। भास्मनः। मार्त्तिकः ॥

अर्थः—विकारार्थक प्रत्यय के परे रहते भसंज्ञक अश्मन् की टि का लोप कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। यह **अन्** (१०२४) सूत्र का अपवाद है।

'आश्मन्+अ' यहां **अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः** (वा० ८७) इस प्रकृत-वार्त्तिक से टि का लोप हो कर—आश्म्+अ=आश्म। अब विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने से 'आश्मः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के स्त्रीलिङ्ग होने पर **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो जायेगा—आश्मी प्रतिमा (पत्थर से बनी मूर्त्ति)।

तस्य विकारः (१११०) के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

भस्मनो विकारो भास्मनः (भस्म का विकार अर्थात् राख से बना कोई पदार्थ)। यहां 'भस्मन् ङस्' से विकार अर्थ में **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् और **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि करने से 'भास्मनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा प्राप्त टिलोप का **अन्** (१०२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण निषेध हो जाता है। प्रकृत-वार्त्तिक की प्रवृत्ति यहां नहीं होती क्योंकि उस में केवल अश्मन् का ही उल्लेख है।

---

१. **पाषाण-प्रस्तर-ग्रावोपलाऽश्मानः शिला दृषद्** इत्यमरः।
पत्थरवाची अश्मन्शब्द नकारान्त पुंलिङ्ग होता है। यथा—
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः। (हितोप० प्रस्तावना)

२. **नव-नग-वनरेखा-श्याम-मध्याभिराभिः**
स्फटिक-कटक-भूमिर्नाटयत्येष शैलः।
अहिपरिकरभाजो भास्मनैरङ्गरागै-
रधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम्॥ (माघ० ४.६५)

नस्य अवयवः / तस्य विकारः

मृत्तिकाया विकारो मार्त्तिकः (मृत्तिका[1] का विकार अर्थात् मिट्टी से बना कोई पदार्थ)। 'मृत्तिका ङस्' से विकार अर्थ में **तस्य विकारः** (१११०) से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'मार्त्तिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब अवयव अर्थ में प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११११)

अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।४।३।१३३॥

चाद् विकारे। मयूरस्य अवयवो विकारो वा मायूरः। मौर्वं काण्डं भस्म वा। पैप्पलम् ॥

अर्थः—प्राणिवाचक, ओषधिवाचक एवं वृक्षवाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से अवयव अर्थ में भी अण् तद्धितप्रत्यय हो। 'च' कथन के कारण पूर्वोक्त विकार अर्थ में भी प्रत्यय हो जायेगा।

व्याख्या—अवयवे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से)। **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—प्राणिनश्च ओषधयश्च वृक्षाश्च प्राण्योषधिवृक्षाः, तेभ्यः=प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः। इतरेतर-द्वन्द्वः। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः) प्राणिवाचक, ओषधिवाचक एवं वृक्षवाचक प्रातिपदिकों से (अवयवे विकारे च) अवयव और विकार दोनों अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है।

यह विधिसूत्र भी है और अधिकारसूत्र भी।[2] इस का अधिकार चतुर्थाध्याय के तृतीयपाद के अन्त तक अर्थात् सम्पूर्ण विकारप्रकरण में रहता है। इस विकारप्रकरण में यदि प्राणिवाचक ओषधिवाचक या वृक्षवाचक प्रातिपदिक से किसी भी सूत्रद्वारा प्रत्यय होगा तो वह विकार और अवयव दोनों अर्थों में होगा परन्तु अन्य प्रातिपदिकों

---

१. मृद्शब्द से स्वार्थ में **मृदस्तिकन्** (५.४.३९) सूत्र द्वारा तिकन् प्रत्यय कर स्त्रीत्व में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् करने पर 'मृत्तिका' शब्द निष्पन्न होता है।

२. अयमधिकारः, तेन वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः प्राण्यादिभ्यस्त्रिभ्योऽर्थद्वयेऽन्येभ्यस्तु विकार एवेति नागेशः। परन्तु इसे केवल अधिकारसूत्र भी नहीं माना जा सकता क्योंकि केवल अधिकारसूत्र रहते इस का कार्य अपनी निश्चित अवधि तक अनुवृत्तिप्रदान करना ही होता, स्वयं में कुछ कार्य करने की शक्ति न होती। इस से मौर्वम्, पैप्पलम् आदि प्रयोग जहां अण् की प्रवृत्ति होती है न बन सकते। इन की सिद्धि **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र से विकार अर्थ में तो हो जाती किन्तु अवयव अर्थ में न हो सकती क्योंकि वहां कोई अग्रिमसूत्र नहीं लगता। अतः इस सूत्र को अधिकारसूत्र और विधिसूत्र दोनों ही मानना उचित है।

से केवल विकार अर्थ में ही होगा—यह इस अधिकार का अभिप्राय है। जैसाकि नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में कहा है—

प्राण्योषधितरुभ्यस्तु विकारावयवार्थयोः ।
अन्येभ्यस्तु विकारेऽर्थे प्रत्ययाः स्युरतः परम् ॥

सूत्र के उदाहरण यथा—

मयूरस्य अवयवो विकारो वा मायूरः (मोर के टांग, सिर, गरदन आदि अवयव अथवा मोर के विकार मांस सूप आदि)। मयूरशब्द प्राणिवाचक है अतः 'मयूर ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (१११) इस प्रकृत अधिकार की सहायता से अवयव या विकार अर्थ में **प्राणिरजतादिभ्योऽञ्** (४.३.१५२)[1] सूत्रद्वारा अञ् तद्धितप्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मायूरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

इसीप्रकार—कपोतस्यावयवो विकारो वा कापोतः। तित्तिरस्यावयवो विकारो वा तैत्तिरः। इत्यादि।

मूर्वाया अवयवो विकारो वा मौर्वम् (मूर्वानामक ओषधि का अवयव काण्ड, मूल आदि अथवा मूर्वा का विकार भस्म = राख आदि)। मूर्वा एक ओषधि है अतः 'मूर्वा ङस्' इस षष्ठ्यन्त से प्रकृत **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (१११) सूत्रद्वारा अवयव या विकार अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप करने से—मौर्व। विशेष्यानुसार लिङ्ग-विभक्ति लाने पर 'मौर्वम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। मौर्वं मूलम्, मौर्वं काण्डम्, मौर्वं भस्म इत्यादि।

पिप्पलस्यावयवो विकारो वा पैप्पलम् (पीपल के पेड़ का अवयव मूल काण्ड आदि अथवा पीपल का विकार भस्म-राख आदि)। पीपल एक सुप्रसिद्ध पेड़ है अतः 'पिप्पल ङस्' इस षष्ठ्यन्त से पूर्वोक्तप्रकारेण अवयव या विकार अर्थ में प्रकृतसूत्रद्वारा औत्सर्गिक अण् प्रत्यय करने पर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पैप्पलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. **प्राणिरजतादिभ्योऽञ्** (४.३.१५२)। अर्थः—प्राणिवाचकों तथा रजतादिगणपठित शब्दों से विकार और अवयव अर्थों में तद्धित अञ् प्रत्यय होता है। लघुसिद्धान्त-कौमुदी में इस सूत्र का उल्लेख नहीं किया गया। वरदराजजी ने शायद यह सोचा होगा कि प्रकृत (१११) सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर भी 'मायूरः' सिद्ध हो जाता है क्योंकि अण् और अञ् का भेद तो स्वर लगाने में ही होता है (अञ् करने पर आद्युदात्त तथा अण् करने पर अन्तोदात्तस्वर होता है) और वह स्वरप्रकरण इस ग्रन्थ में रखा ही नहीं गया।

२. मायूरं व्यजनम् (मोरपंखों का चंवर आदि)। यहां **तस्येदम्** (११०६) से अण् प्रत्यय समझना चाहिये। क्योंकि मोर के पंखों से बना चंवर या पंखा मोर का न तो विकार है और न ही अवयव।

मयट्

अन्य उदाहरण यथा—कारीरं[1] काण्डं भस्मादि वा । खादिरं काण्डं भस्मादि वा । बैल्वं[2] काण्डं भस्मादि वा ।

अब उपर्युक्त दोनों अर्थों में मयट् प्रत्यय का वैकल्पिक विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११२)

मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ।४।३।१४१।।

प्रकृतिमात्राद् मयड् वा स्याद्विकारावयवयोः । अश्ममयम् । आश्मनम् । अभक्ष्येत्यादि किम् ? मौद्गः सूपः । कार्पासम् आच्छादनम् ।।

अर्थः—प्रकृतिमात्र अर्थात् षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में विकल्प कर के मयट् प्रत्यय हो भाषा में, परन्तु वह विकार वा अवयव भक्ष्य (खाने योग्य वस्तु) और आच्छादन (ओढ़ने योग्य वस्तु) न होने चाहियें ।

व्याख्या—मयट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । एतयोः ।७।२। भाषायाम् ।७।१। अभक्ष्याच्छादनयोः ।७।२। **तस्य विकारः** (१११०) से 'तस्य' पद का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—भक्ष्यञ्च आच्छादनं च भक्ष्याच्छादने, तयोः = भक्ष्याच्छादनयोः, न भक्ष्याच्छादनयोः = अभक्ष्याच्छादनयोः, इतरेतरद्वन्द्वपूर्वनञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (एतयोः = प्रकरणप्राप्तयोर्विकारावयवयोः) विकार और अवयव अर्थों में (वा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय हो जाता है (भाषायाम्) भाषा में, परन्तु वह विकार वा अवयव (अभक्ष्याच्छादनयोः) भक्ष्य और आच्छादन न होना चाहिये ।

मयट् में अन्त्य टकार इत् है, 'मय' मात्र शेष रहता है । स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् प्रत्यय करने के लिये इसे टित् किया गया है ।

मुनिवर पाणिनि के काल में संस्कृतभाषा बोलचाल की भाषा थी अतः आचार्य ने उसे 'भाषा' शब्द से व्यवहृत किया है । उस समय वैदिकभाषा बोलचाल में न आती थी ।

सावधान—इस सूत्र की वृत्ति (संस्कृतार्थ) में 'प्रकृतिमात्रात्' के कथन से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये । यहां भी **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (११११) वाला अधिकार लागू है । प्रकृत मयट् प्रत्यय प्राणी ओषधि और वृक्षों के वाचक प्रातिपदिकों से विकार और अवयव दोनों अर्थों में तथा अन्यों से केवल विकार अर्थ में ही होगा ।[3]

---

१. **पलाशादिभ्यो वा** (४.३.१३९) सूत्र से अञ् तथा पक्ष में अण् हो कर एकसमान रूप बनते हैं । इसीप्रकार 'खादिरम्' में जानना चाहिये ।

२. यहां **अनुदात्तादेश्च** (४.३.१३८) से प्राप्त अञ् प्रत्यय का बाध कर **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) से अण् हो जाता है ।

३. अतः इस सूत्र पर दिये उदाहरण 'अश्ममयम्' का अर्थ 'पत्थर का अवयव या विकार' करने वाले व्याख्याकारों से सावधान रहना चाहिये ।

उदाहरण यथा—

अश्मन्शब्द के दो अर्थ हैं। एक—पत्थर, तथा दूसरा —व्यक्तिविशेष। पत्थर-वाचक 'अश्मन् ङस्' से पूर्वोक्त **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (१११९) अधिकार के अनुसार केवल विकार अर्थ में ही प्रकृत **मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** (१११२) सूत्रद्वारा विकल्प से मयट् प्रत्यय होगा, अवयव अर्थ में नहीं। मयट्पक्ष में —सुँब्लुक् कर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पदत्व के कारण अश्मन् के नकार का **न लोपः-प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र से लोप हो जाने से 'अश्ममयम्' (अश्मनो विकारोऽश्म-मयम्) रूप सिद्ध हो जायेगा। मयट् के अभावपक्ष में **तस्य विकारः** (१११०) से औत्सर्गिक अण् हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **अन्** (१०२४) सूत्रद्वारा प्राप्त प्रकृतिभाव का बाध कर **अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः** (वा० ८७) से टि (अन्) का लोप कर देने से 'आश्मम्' (अश्मनो विकार आश्मम्) रूप सिद्ध होगा। इस प्रकार विकार अर्थ में 'अश्ममयम्' तथा 'आश्मम्' दो रूप सिद्ध होंगे।

अश्मन् नामक किसी व्यक्ति का उल्लेख भी महाभारत में आया है।[1] तब प्राणिवाचक होने से पूर्वोक्त अधिकार के अनुसार प्रकृतसूत्र से अवयव और विकार दोनों अर्थों में मयट् प्रत्यय हो जायेगा —अश्ममयम्। मयट् के अभाव में **अवयवे च प्राण्यो-षधिवृक्षेभ्यः** (११११) सूत्र से अण् हो जायेगा। तब सुँब्लुक् और आदिवृद्धि किये जाने पर 'आश्मन् + अ' इस स्थिति में **अन्** (१०२४) सूत्रद्वारा प्रकृतिभाव हो कर 'आश्मनम्' बनेगा।[2]

शङ्का—इस प्रकृतसूत्र में 'विकारे' और 'अवयवे' की अनुवृत्ति तो पूर्व से आ ही रही थी पुनः इसके लिये सूत्र में 'एतयोः' का कथन क्यों किया गया है?

समाधान—'एतयोः' के कथन का प्रयोजन यह है कि अष्टाध्यायी में इस सूत्र से आगे के अपवादसूत्रों के विषय में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाये,[3] अन्यथा परत्व के कारण अपने विषय में वे ही प्रवृत्त हो जाते मयट् न हो पाता। यथा—कापोतम् कपोतमयम्; लौहम्-लोहमयम् यहां **प्राणिरजतादिभ्योऽञ्** (४.३.१५२) से अञ् प्रत्यय होता है, इस के विषय में मयट् प्रत्यय भी प्रवृत्त हो जायेगा। इस का विशेष विवेचन पदमञ्जरी आदि में किया गया है।

अब 'अभक्ष्याच्छादनयोः' के लिये प्रत्युदाहरण दर्शाते हैं—

मुद्गानां विकारो मौद्गः सूपः (मूंगों का विकार अर्थात् मूंग की दाल आदि)।

---

१. देखें महाभारत शान्तिपर्व अ० (२७)।

२. यहां विकार अर्थ में **अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः** (वा० ८७) से टि का लोप न होगा। कारण कि वार्त्तिक में 'अश्मन्' से प्रसिद्धत्वात् पत्थरवाचक अश्मन् का ही ग्रहण व्याख्याकारों को अभीष्ट है।

३. पूर्वसूत्रों के विषय में तो परत्व के कारण प्रथम वैकल्पिक मयट् हो कर मयट् के अभावपक्ष में वे भी प्रवृत्त हो चरितार्थ हो जाते हैं।

मयट्

यहां 'मुद्ग आम्' से विकार अर्थ में **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर सिभक्ति लाने से 'मौद्गः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां विकार अर्थ होने पर भी मूंग के सूप के भक्ष्य पदार्थ होने के कारण मयट् नहीं होता।

कर्पासस्य विकारः कार्पासम् आच्छादनम् (कपास का विकार अर्थात् सूती ओढ़ने का वस्त्र)। यहां 'कर्पास ङस्'[1] से विकार अर्थ में **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) सूत्र से अण्प्रत्यय होकर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कार्पासम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां आच्छादन होने के कारण मयट् नहीं होता।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा विकाराद्यर्थ में मयट् का नित्य विधान करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९३) **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** ।४।३।१४२॥

आम्रमयम् । शरमयम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त वृद्धसंज्ञकों तथा शरादिगणपठित षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से यथोचित विकार और अवयव अर्थों में तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय नित्य हो भाषा में, परन्तु वह विकार या अवयव भक्ष्य और आच्छादन में वर्त्तमान न होने चाहियें।

व्याख्या—नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम्। वृद्धशरादिभ्यः ।५।३। तस्य ।५।३। (**तस्य विकारः** सूत्र से। षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमीबहुवचन का सौत्र लुक् हुआ है)। मयट् ।१।१। एतयोः ।७।२। भाषायाम् ।७।१। अभक्ष्याच्छादनयोः ।७।२। (**मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** सूत्र से)। समासः—शरः (शरशब्दः) आदिर्येषान्ते शरादयः, वृद्धाश्च शरादयश्च वृद्धशरादयस्तेभ्यः= वृद्धशरादिभ्यः, बहुव्रीहिगर्भद्वन्द्वः। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त जो (वृद्धशरादिभ्यः) वृद्ध-संज्ञक एवं शरादिगणपठित प्रातिपदिक, उन से (एतयोः) विकार और अवयव अर्थों में (तद्धितः मयट्) तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय (नित्यम्) नित्य हो जाता है (भाषायाम्) भाषा में, परन्तु वह विकार या अवयव (अभक्ष्याच्छादनयोः) भक्ष्य या आच्छादन में वर्त्तमान न होने चाहियें।

पूर्वसूत्रद्वारा विकल्प से प्राप्त यह मयट् वृद्धसंज्ञकों एवं शरादियों से नित्य किया जा रहा है। जिस शब्द में पहला स्वर वृद्धिसंज्ञक हो उस को वृद्ध कहते हैं (१०७५)। शरादिगण में सात शब्द पढ़े गये हैं—शर, दर्भ, मृद्, कुटी, तृण, सोम और बल्वज। प्रथम वृद्धसंज्ञकों से उदाहरण यथा—

आम्रस्य विकारोऽवयवो वा आम्रमयम् (आम्रवृक्ष का विकार या उसका अवयव)। आम्रशब्द का आदि अच् (आ) वृद्धिसंज्ञक है अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्**

---

१. 'कर्पासी ङस्' इत्येवं केचिदाहुः।

वृद्धम् (१०७५) सूत्रद्वारा 'आम्र' शब्द वृद्धसंज्ञक है। 'आम्र ङस्' इस षष्ठ्यन्त वृद्ध-प्रातिपदिक से विकार या अवयव अर्थ में **मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** (१११२) इस पूर्वसूत्र से प्राप्त विकल्प का बाध कर **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) सूत्रद्वारा नित्य मयट् प्रत्यय हो जाता है—आम्र ङस् + मयट्। अब मयट् के टकार अनुबन्ध का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङस्) का भी लुक् कर विभक्ति-कार्य करने से 'आम्रमयम्' यह एक ही प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

शरादियों से उदाहरण यथा –

शरस्य विकारोऽवयवो वा शरमयम् (शर अर्थात् सरकण्डे का विकार या अवयव)। शरशब्द शरादियों में पढ़ा गया है अतः 'शर ङस्' से विकार या अवयव अर्थ में प्राप्त विकल्प (१११२) का बाध कर प्रकृत **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) सूत्रद्वारा नित्य मयट् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् और विभक्तिकार्य करने से 'शरमयम्' यह एक ही प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि 'आम्र' वृक्षवाची तथा 'शर' ओषधिवाची प्रातिपदिक हैं अतः **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (११११) अधिकार के अनुसार इन से विकार और अवयव दोनों अर्थों में मयट् हो जाता है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) शाकस्य विकारोऽवयवो वा शाकमयम् (वृद्धत्वान्मयट्)।
(२) शालस्य विकारोऽवयवो वा शालमयम् (,,)।
(३) दर्भस्य विकारोऽवयवो वा दर्भमयम् (शरादित्वान्मयट्)।
(४) तृणस्य विकारोऽवयवो वा तृणमयम् (,,)।
(५) सोमस्य विकारोऽवयवो वा सोममयम् (,,)।
(६) कुट्या विकारः कुटीमयम् (,,)।
(७) मृदो विकारो मृन्मयम्[1] (,,)।

पूर्वसूत्र से वैकल्पिक मयट् प्राप्त था ही, यहां इस का पुनर्विधान 'नित्यम्' कथन के विना भी नित्यार्थ समझा जा सकता था तो पुनः प्रकृतसूत्र (१११३) में 'नित्यम्' पद का ग्रहण क्यों किया गया है? इस का उत्तर यह दिया जाता है कि इस तरह सिद्ध हो जाने पर भी जब आचार्य पुनः 'नित्यम्' पद का ग्रहण कर रहे हैं तो इस से यह ज्ञापित होता है कि वे क्वचिद् अन्यत्र भी मयट् का नित्यविधान चाहते हैं। इस से वृत्तिकार आदियों ने विकाराद्यर्थ में प्रत्येक एकाच् प्रातिपदिक से नित्य मयट् का विधान

१. 'मृद् + मय' इस स्थिति में **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) वार्त्तिक से दकार को नित्य अनुनासिक नकार हो जाता है। इस अनुनासिक नकार के त्रिपाद्यसिद्ध होने से न तो **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा उस का लोप होता है और न ही उसे णत्व। अतः 'मृण्मयम्' लिखना अशुद्ध है, 'मृन्मयम्' का ही साधुत्व है।

मयट्

कहा है।[1] यथा—त्वचो विकारः—त्वङ्मयम्। वाचो विकारः—वाङ्मयम्। स्रजो विकारः—स्रङ्मयम्। त्वच्, वाच् और स्रज् तीनों शब्द एकाच् हैं अतः इन से नित्य मयट् हो कर सुँब्लुक् **चोः कुः** (३०६) से कुत्व तथा **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) से नित्य अनुनासिक ङकार हो जाता है। इसीतरह अपां विकारः—अम्मयम् (पदान्त पकार को जश्त्वेन बकार हो कर उसे नित्य अनुनासिक मकार हो जाता है)।[2]

प्रकृतसूत्र में भी 'अभक्ष्याच्छादनयोः' का अनुवर्त्तन होता है। इस से—शाकस्य विकारः शाक उपदंशः (सुरा के साथ भक्ष्य शाकनिर्मित चटनी आदि), दर्भाणां विकारो दार्भ वासः (दर्भनिर्मित आच्छादन) इत्यादियों में भक्ष्य वा आच्छादन की वाच्यता में मयट् नहीं होता औत्सर्गिक अण् ही होता है।

अब गोशब्द से पुरीष अर्थ में मयट् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११४) **गोश्च पुरीषे** ।४।३।१४३॥

गोः पुरीषं गोमयम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त 'गो' प्रातिपदिक से पुरीष (गोबर) अर्थ में तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय नित्य हो।

व्याख्या—गोः ।५।१। ('गोः पुरीषम्' में षष्ठ्यन्त गोशब्द का यहां अनुकरण किया गया है। इस से आगे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। च इत्यव्ययपदम्। पुरीषे।७।१। नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् (**नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** सूत्र से)। मयट् ।१।१। (**मयड् वैतयोर्भाषायाम्०** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(गोः=षष्ठ्यन्ताद् गोप्रातिपदिकात्) षष्ठ्यन्त 'गो' प्रातिपदिक से परे (पुरीषे) मल अर्थात् गोबर अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय (नित्यम्) नित्य हो जाता है।

गोबर न तो गौ का अवयव है और न ही विकार, अतः यहां **तस्येदम्** (११०६) के विषय में मयट् का विधान समझना चाहिये। विकार और अवयव अर्थ में अग्रिमसूत्रद्वारा यत् प्रत्यय का विधान करेंगे।

गोः पुरीषं गोमयम् (गौ का मल अर्थात् गोबर)। 'गो ङस्' से पुरीष (मल) अर्थ में प्रकृत **गोश्च पुरीषे** (१११४) सूत्रद्वारा मयट् प्रत्यय हो कर **सुँपो धातुप्राति-**

---

१. नित्यग्रहणं किम्? यावताऽऽरम्भसामर्थ्यादेव नित्यं भविष्यति। एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति। तदनेन क्रियते—त्वङ्मयम्, स्रङ्मयम्, वाङ्मयमिति।
(काशिका ४.३.१४२)

२. इसी अर्थ में 'आप्यम्' प्रयोग भी लोक में प्रसिद्ध है। उस की उपपत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—
अपाम् इदम् आपम् [**तस्येदम्** (११०६) इत्यण्]। अब इस से स्वार्थ में **चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्** (वा० ५.१.१२३) द्वारा ष्यञ् प्रत्यय करने से—आपमेव आप्यम्। अमरकोषकार ने कहा भी है—**त्रिषु द्वे आप्यमम्मयम्**।

स्त्य विकारः/अवय भावयत्
यत्

पदिकयोः (७२१) से सुँप् (ङस्) का लुक् तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'गोमयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—विकार और अवयव के इस प्रकरण में **गोश्च पुरीषे** (१११४) सूत्र आचार्य ने कैसे पढ़ दिया ? इस का उत्तर नागेशभट्ट इस प्रकार देते हैं—गोभुक्ताहारविकारे गोविकारत्वमारोप्य प्रकरणाऽबाधोऽत्रेति बोध्यम् । (लघुशब्देन्दुशेखरे)

अब गो और पयस् प्रातिपदिकों से विकाराद्यर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११५) **गोपसोर्यत्** ।४।३।१५८।।

गव्यम् । पयस्यम् ।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त गो और पयस् प्रातिपदिकों से यथाप्राप्त विकार और अवयव अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गोपयसोः ।५।२। (अनुकृत षष्ठीद्विवचनान्त 'गोपयसोः' से परे पञ्चमी के द्विवचन का सौत्र लुक् हुआ है)। यत् ।१।१। एतयोः ।७।२। (**मयड् वैतयोर्भाषायाम्०** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(गोपयसोः=षष्ठ्यन्ताभ्यां गोपयस्शब्दाभ्याम्) षष्ठ्यन्त गो और पयस् प्रातिपदिकों से (एतयोः) विकार और अवयव अर्थों में (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है। यत् में तकार इत् है, 'य' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है।

अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः (११११) इस अधिकार के अनुसार गोशब्द से विकार और अवयव दोनों अर्थों में तथा पयस्शब्द से केवल विकार अर्थ में ही **यत्** प्रत्यय होगा। उदाहरण यथा—

गोर्विकारोऽवयवो वा गव्यम् (गौ का विकार या गौ का अवयव)। 'गो ङस्' इस षष्ठ्यन्त से **गोपयसोर्यत्** (१११५) इस प्रकृतसूत्रद्वारा विकार या अवयव अर्थ में तद्धित यत् प्रत्यय होकर तकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से ओकार को अव् आदेश तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। गव्यं पयः, गव्यं दधि, गव्यं घृतम्,[1] गव्यं सक्थि इत्यादि।

यद्यपि गोशब्द से विकारादि अर्थ में अण् या अञ् प्रत्यय के प्रसङ्ग में **गोरजादिप्रसङ्गे यत्** (वा० ७०) वार्त्तिकद्वारा यत् प्रत्यय करने से भी 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है तथापि **मयड् वैतयोर्भाषायाम्०** (१११२) से प्राप्त पाक्षिक मयट् अथवा

---

१. गौ के दूध आदि को गौ का विकार कैसे माना जा सकता है ? दूध के प्रति गौ को उपादानकारण (समवायिकारण) तो माना नहीं जा सकता। इस का उत्तर भी **गोश्च पुरीषे** (१११४) सूत्र पर दिये नागेशोक्त उत्तर की तरह जानना चाहिये। अर्थात् गौ के भुक्त आहार में गोत्व का आरोप कर दूध को गौ का विकार समझना चाहिये।

एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति (वा० ४.३.१४२) द्वारा नित्य मयट् प्रत्यय हो कर कहीं 'गोमयम्' यह अनिष्ट रूप न बन जाये इस के लिये इस सूत्र में पुनः गोशब्द से यत् का विधान किया गया है।[1]

पयस् से यत् का उदाहरण यथा—

पयसो विकारः पयस्यम् (दूध का विकार दही, पनीर आदि)। 'पयस् ङस्' से विकार अर्थ में **गोपयसोर्यत्** (१११५) इस प्रकृतसूत्र से यत् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'पयस्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा के कारण सकार को रुँत्व नहीं होता।

विशेष वक्तव्य—जैसे गोशब्द से **गोरजादिप्रसङ्गे यत्** (वा० ७०) वार्तिकद्वारा यत् प्रत्यय के प्राप्त होने पर प्रकृतसूत्र से यत् का पुनर्विधान मयट् प्रत्यय को रोक देता है वैसे पयस् के विषय में सम्भव नहीं। क्योंकि यहां किसी भी तरह पहले यत् प्राप्त न था। अतः **मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** (१११२) से पक्ष में मयट् में मयट् भी हो जायेगा। मयट् के परे होने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पदत्व के कारण सकार को रुँत्व, **हशि च** (१०७) से उत्व तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण हो कर 'पयोमयम्' रूप भी बनेगा।

अभ्यास [६]

(१) विग्रहनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. पयस्यम्। २. गव्यम्। ३. भास्मनः। ४. मार्त्तिकः। ५. मायूरः। ६. मौर्वम्। ७. पैप्पलम्। ८. आश्मः। ९. मृन्मयः। १०. आम्रमयम्।

(२) निम्नस्थ सूत्रों और वार्तिकों की व्याख्या करें—

१. मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः। २. नित्यं वृद्धशरादिभ्यः। ३. गोश्च पुरीषे। ४. गोपयसोर्यत्। ५. अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः। ६. तस्य विकारः। ७. अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः।

(३) अन्तर स्पष्ट करें—

गोमयम्—गव्यम्। आश्मः—आश्मनः। दार्भम्—दर्भमयम्। शाकः—शाकमयः।

(४) **मयड् वैतयोर्०** सूत्र में 'एतयोः' ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें।

(५) **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** सूत्र को विधि मानें या अधिकार। सहेतुक स्पष्ट करें।

(६) **गोपयसोर्यत्** में गोशब्द से यत् का विधान क्यों किया गया है जबकि **गोरजादिप्रसङ्गे यत्** द्वारा वह सिद्ध था ही ?

(७) 'तस्य' पद पूर्वतः लब्ध होते हुए भी **तस्य विकारः** में पुनः क्यों गृहीत किया गया है ?

---

१. **सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यदस्त्येव, मयड्विषये तु विधीयते**—(काशिका)।

(८) **गोश्च पुरीषे** सूत्र विकारप्रकरण में कैसे पढ़ा गया है ?
(९) **अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः** वार्त्तिक किस का अपवाद है ?
(१०) **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** सूत्र में 'नित्यम्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?
(११) 'अश्ममयम्' का अर्थ 'पत्थर का अवयव' करना कहां तक उचित है ?
(१२) विकाराद्यर्थकप्रकरण को प्राग्दीव्यतीयप्रकरण कहना कहां तक उचित है ?
(१३) निम्नस्थ अशुद्धियों का सहेतुक शोधन कीजिये —
[क] दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः ।[1]
[ख] काञ्चनी वासयष्टिः (मेघदूते ७९) ।[2]
[ग] दारवं पात्रम् ।[3]
[घ] रजतमयी शृङ्खला ।[4]
[ङ] कार्पासमयानि वस्त्राण्यारोग्याय कल्पन्ते ।[5]
[च] मौक्तिको हारः ।[6]
[छ] आप्याः कणाः ।[7]

---

१. शाकुन्तलचतुर्थाङ्कगतस्य प्रक्षिप्तपद्यस्य द्वितीयोऽयं चरणः । अत्र दार्भमिति चिन्त्यम् । शरादौ पाठाद् **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति नित्यं मयटि 'दर्भमयम्' इत्युचितम् ।

२. काञ्चनशब्दो हि **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१०७५) इति वृद्धसञ्ज्ञः । **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति विकारे मयटि **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीपि च कृते 'काञ्चनमयी' इत्युचितम् । स्थितस्य गतिश्चिन्तनीयेति चेद् —**अपवादविषयेऽपि क्वचिदुत्सर्गोऽभिनिविशते** इत्याश्रित्य औत्सर्गिकेऽणि ततो ङीपि 'काञ्चनी' इति सिध्यति ।

३. वृद्धसञ्ज्ञो हि दारुशब्दस्तेन **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति मयटा भाव्यम् । अतो 'दारुमयम्' इत्येव वक्तव्यम् ।

४. रजतशब्दाद्विकारेऽर्थे **प्राणिरजतादिभ्योऽञ्** (४.३.१५२) इति अञि **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीपि 'राजती शृङ्खला' इति भवितव्यम् । **अनुदात्तादेश्च** (४.३.१३८) इति सिद्धेऽप्यञि पुनरञ्विधानं मयटो बाधनार्थम् ।

५. आच्छादने वर्त्तमानत्वादत्र मयटोऽप्राप्तिः । **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) इत्यणि 'कार्पासानि वस्त्राणि' इति साधु ।

६. वृद्धसञ्ज्ञो हि मौक्तिकशब्दः । तेन **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति मयटि मौक्तिकमयो हार इत्येवोचितम् । मौक्तिकानामयम् इति विग्रहे तु **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति शैषिके छे मौक्तिकीयो हार इति वक्तव्यं स्यात् ।

७. एकाच् अप्शब्दः । 'अपां विकाराः' इति विग्रहे **एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति** (वा०) इति नित्यं मयटि 'अम्मयाः कणाः' इति भवितव्यम् । अवयवार्थे तु दुर्लभो मयट् प्राण्योषधिवृक्षेषु अन्यतमाभावात् । आप्या इतीष्टञ्चेद् —अपामिमे आपाः, **तस्येदम्** (११०९) इति शैषिकोऽण् । आपा एव आप्याः, स्वार्थे ष्यञ् ।

ठक्

[ज] मुद्गमयः सूपः ।[1]
[झ] मृण्मयं पात्रम् ।[2]
[ञ] शाक उपदंशः ।[3]

[लघु०] इति विकाराद्यर्थकाः ।।

इति प्राग्दीव्यतीयाः ।।

(यहां विकाराद्यर्थक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)
(यहां प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय भी समाप्त हो जाते हैं ।)

——:०:——

अथ ठगधिकारः

अब तद्धितप्रकरणान्तर्गत ठक् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन किया जाता है । ठक् प्रत्यय का विधान तो पीछे **रेवत्यादिभ्यष्ठक्** (१०२६), **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** (१०५२) आदि कई सूत्रों के द्वारा किया जा चुका है परन्तु यहां ठक् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन प्रारम्भ कर रहे हैं जो अष्टाध्यायी के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपादस्थ प्रथम-सूत्र से प्रारम्भ हो कर इसी पाद के ७६वें सूत्र तक जाता है । ठक् प्रत्ययान्त शब्द संस्कृतभाषा में प्रचुरमात्रा में पाये जाते हैं । हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी संस्कृत से आये ये शब्द बहुप्रचलित हैं ।

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—**(१११६) प्राग्वहतेष्ठक् ।४।४।१।।**

तद्वहति० (४.४.७६) इत्यतः प्राक् ठग् अधिक्रियते ।।

अर्थः—यहां से लेकर **तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** (४.४.७६) इस सूत्र से पूर्व तक ठक् प्रत्यय का अधिकार है ।

---

१. भक्ष्या हि मुद्गाः, अतो **मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** (१११२) इति न भवति मयट् । **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) इति विकारेऽणि मौद्गः सूप इत्येवं वक्तव्यम् ।

२. मृण्मयमित्यत्र णत्वमसाधु । 'मृद् + मय' इति स्थिते **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) इति पदान्तदकारस्यानुनासिके नकारे 'मृन्मयम्' इति भवितव्यम् । ध्यातव्यं यदत्र अनुनासिकस्य त्रिपाद्यसिद्धत्वेन **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) इति लोपो न प्रवर्त्तते । एतस्मादेव कारणाद् **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** (वा० २१) इत्यस्याप्यप्रवृत्तिः । किञ्च **पदान्तस्य** (१३९) इत्यनेनापि णत्वं वारयितुं शक्यम् ।

३. यद्यपि शाकशब्दो वृद्धसञ्ज्ञस्तथापि **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति मयड् न । तत्र 'अभक्ष्याच्छादनयोः' इत्यनुवृत्तेः । उपदंशत्वाद् भक्ष्योऽत्र शाकः । उपदंशः = 'चटनी' इति भाषायाम् ।

तेन दीव्यति

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम् । वहतेः ।५।१। ठक् ।१।१। अर्थः—(वहतेः प्राक्) 'वहति' से पहले (ठक्) ठक् प्रत्यय हो । अष्टाध्यायी के इसी पाद में **तद् वहति रथ-युग-प्रासङ्गम्** (४.४.७६) सूत्र पढ़ा गया है । उस के 'वहति' शब्द का यहां निर्देश किया गया है । तात्पर्य यह है कि **तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** (४.४.७६) सूत्र से पूर्व पूर्व जितने अर्थ दिये गये हैं उन में ठक् प्रत्यय को अधिकृत किया गया है । प्रत्यय न कहे जाने पर उन अर्थों में ठक् तद्धितप्रत्यय हो जायेगा ।

ठक् प्रत्यय में ककार इत् तथा अकार उच्चारणार्थ है, प्रत्यय का 'ठ्' मात्र ही शेष रहता है । परन्तु इस ठ् का भी किसी शब्द में श्रवण नहीं होता । कारण कि इस ठ् की दो गतियां होती हैं । प्रथम—ठ् को **ठस्येकः** (१०२७) से 'इक' आदेश हो जाता है । दूसरी—यदि प्रातिपदिक के अन्त में इस्, उस्, उक्प्रत्याहार या तकार हो तो **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) से ठ् को 'क' आदेश हो जाता है ।

अब ठक्-अधिकार में प्रथम सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११७)

(देवन०) **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** ।४।४।२।।

अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितं वा—आक्षिकः ।।

अर्थः—खेलने वाला, खोदने वाला, जीतने वाला तथा जीता गया—इन अर्थों में करणतृतीयान्त प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। ('अक्षैर्दीव्यति' आदियों में करणतृतीयान्त[1] का अनुकरण 'तेन' से किया गया है । इस अनुकरण से परे पञ्चमी विभक्ति का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । दीव्यति इति **दिवुँ क्रीडाविजिगीषा०** (दिवा० परस्मै०) इति धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । खनति-इति **खनुँ अवदारणे** (भ्वा० उभय०) इति धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । जयति इति **जि जये** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । जितम् ।१।१। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** इस अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः,** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = करणतृतीयान्तात्) करणतृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (दीव्यति खनति जयति जितम् इत्येतेष्वर्थेषु) जूआ खेलने वाला, खोदने वाला, जीतने वाला तथा पासों आदि से जीता गया—इन चार अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

---

१. तेनेति करणे तृतीया । दीव्यत्यादौ कर्तुरुक्तत्वात् । तत्साहचर्याज्जितयोगेऽपि सैव । तेन 'देवदत्तेन जितम्' इत्यत्र न । 'अङ्गुल्या खनति' इत्यादौ तु अनभिधानान्न—इति बृ० शब्देन्दुशेखरे नागेशः ।

अक्षैर्दीव्यति[1] इति आक्षिकः, अक्षैः खनति इति आक्षिकः, अक्षैर्जयति इति आक्षिकः, अक्षैर्जित इति आक्षिकः। पासों से खेलने वाला, पासों से खोदने वाला, पासों से जीतने वाला, अथवा पासों से जीता गया—ये सब 'आक्षिक' कहलायेंगे। 'अक्ष भिस्' इस करणतृतीयान्त प्रातिपदिक से **प्राग्वहतेष्ठक्** (१११६) के अधिकार में प्रकृत **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७) सूत्रद्वारा खेलने वाला—खोदने वाला—जीतने वाला—जीता गया इन अर्थों में तद्धित ठक् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, ठक् के कित् होने से **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'आक्षिक' बना। अब विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से पुंलिङ्ग में 'आक्षिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् हो कर 'आक्षिकी' बनेगा।

इसीप्रकार—

(१) शलाकाभिर्दीव्यति—शालाकिकः (शलाकाओं से खेलने वाला)।

(२) हलेन खनति— हालिकः (हल से खोदने वाला)।

(३) मुद्गरेण जयति—मौद्गरिकः (मुद्गर से जीतने वाला)।

(४) अस्त्रैर्जितम्—आस्त्रिकम् (अस्त्रों से जीता गया)।

(५) प्रमाणैर्दीव्यति (व्यवहरति)—प्रामाणिकः (प्रमाणों से व्यवहार करने वाला)।

(६) तर्केण दीव्यति (व्यवहरति)—तार्किकः (तर्क से चलने वाला)।

(७) अभ्र्या[2] खनति—आभ्रिकः (काष्ठकुद्दाल से खोदने वाला)।

(८) कुद्दालेन खनति—कौद्दालिकः (फावड़े से खोदने वाला)।

(९) अस्त्रेण जयति—आस्त्रिकः (अस्त्रों से जीतने वाला)।

देवदत्तेन जितम्, शत्रुणा जितम्— इत्यादियों में करणतृतीया न होने से ठक् नहीं होता। इन स्थानों पर **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) द्वारा अनभिहित कर्त्ता में

---

१. दीव्यति, खनति और जयति अर्थों में संख्या, काल और पुरुष विवक्षित नहीं है केवल कर्तृकारक ही विवक्षित है। इसीप्रकार 'जितम्' में केवल कर्मकारक की ही विवक्षा है भूतकाल आदि की नहीं। इस से अक्षैरदीव्यत्, अक्षैर्देविष्यति आदि अन्य कालों में तथा अक्षैर्दीव्यसि, अक्षैर्दीव्यामि आदि अन्यपुरुषों और अक्षैर्दीव्यतः, अक्षैर्दीव्यन्ति आदि अन्यवचनों में भी ठक् प्रत्यय हो कर 'आक्षिकः' बन जाता है। इसीप्रकार आगे तरति, चरति, रक्षति, उञ्छति आदि में भी समझ लेना चाहिये। यहां एक बात और भी ध्यातव्य है कि दीव्यति आदि तिङन्तों में यद्यपि क्रिया की प्रधानता परिलक्षित होती है तथापि तद्धितवृत्ति में कर्त्ता की ही प्रधानता हुआ करती है। जैसाकि निरुक्त में कहा गया है—**सत्त्वप्रधानानि नामानि**।

२. **अभ्रिः स्त्री काष्ठकुद्दालः**— इत्यमरः

तृतीया हुई है। 'अङ्गुल्या खनति' इत्यादियों में करणतृतीया होने पर भी अनभिधान (लोकप्रचलाभाव) के कारण तद्धित की उत्पत्ति नहीं होती।

नोट—ग्रन्थकार ने संक्षेपवश सब अर्थों का एक ही उदाहरण 'आक्षिकः' दिया है।

अब इस अधिकार में अन्य अर्थों का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१११८**) **संस्कृतम्** ।४।४।३॥

दध्ना संस्कृतं दाधिकम्। मारीचिकम्॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्=संस्कार किया गया' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र से लुप्त-पञ्चम्यन्त पद)। संस्कृतम् ।१।१। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** इस अधिकार से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (संस्कृतम् इत्यर्थे) 'संस्कार किया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है।

सतो गुणाधानं संस्कारः। किसी पदार्थ के गुणाधान करने—उसे उत्कृष्ट बनाने को 'संस्कृत करना' कहते हैं। उदाहरण यथा—

दध्ना संस्कृतं दाधिकम् ओदनम् (दही से संस्कार किया हुआ—दही के सम्पर्क से गुणयुक्त या स्वादिष्ट बनाया गया भात आदि)। यहां 'दधि टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्' अर्थ में प्रकृत **संस्कृतम्** (१११८) सूत्र से तद्धित ठक् (ठ्) प्रत्यय, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश और **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने से—दाध्+इक=दाधिक। पुनः विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर नपुंसक में 'दाधिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मरीचैः संस्कृतं मारीचिकम् (कालीमिर्चों द्वारा संस्कृत हुआ भात आदि)। यहां 'मरीच भिस्' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्' अर्थ में प्रकृत **संस्कृतम्** (१११८) सूत्र से ठक् (ठ्) प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) द्वारा लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मारीचिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

---

१. कालीमिर्च के लिये संस्कृतभाषा में 'मरीच' या 'मरिच' शब्द प्रयुक्त होते हैं। ये दोनों नपुंसकलिङ्ग हैं (देखें अमरकोष में भानुजिदीक्षितव्याख्या)। बालमनोरमाकार ने यहां मरीचिभिः संस्कृतम् (किरणों द्वारा संस्कृत) ऐसा विग्रह लिखा है। इस प्रकार मानने से **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक इकार का लोप हो जायेगा।

(१) शृङ्गवेरेण संस्कृतः—शार्ङ्गवेरिकः (अदरक से संस्कृत सूप आदि)।
(२) शुण्ठ्या संस्कृतः—शौण्ठिकः (सोंठ से संस्कृत सूप आदि)।
(३) शर्करया संस्कृतम्—शार्करिकम् (शक्कर से संस्कृत दुग्ध आदि)।
(४) कर्मभिः संस्कृतः—कार्मिकः (कर्मों से संस्कृत द्विज आदि)।
(५) ज्ञानेन संस्कृतः—ज्ञानिको ब्राह्मणः।
(६) विद्यया संस्कृतः—वैद्यिको द्विजः।

यद्यपि इस सूत्र को भी **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७) सूत्र में डाल कर पढ़ा जा सकता था तथापि अष्टाध्यायी के अग्रिमसूत्र में केवल इसी अर्थ की अनुवृत्ति ले जाने की आवश्यकता के कारण इस का पृथक् उल्लेख किया गया है। अत एव काशिकाकार ने कहा है—**योगविभाग उत्तरार्थः।**

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११९) तरति ।४।४।५।।

तेनेत्येव। उडुपेन तरति औडुपिकः ।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'तैरने वाला—पार करने वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र से)। तरति इति **तॄ प्लवनसन्तरणयोः** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात् प्रातिपदिकात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (तरति इत्यर्थे) 'तैरने या पार करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है। उदाहरण यथा—

उडुपेन तरति—औडुपिकः (उडुप[1] अर्थात् छोटी नौका के द्वारा पार करने वाला)। यहां 'उडुप टा' से 'पार करने वाला' अर्थ में प्रकृत **तरति** (१११९) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'औडुपिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) काण्डप्लवेन तरति—काण्डप्लविकः (काण्डनिर्मित नौकाद्वारा पार करने वाला)

(२) तृणप्लवेन तरति—तार्णप्लविकः (तृणनिर्मितनौकाद्वारा पार करने वाला)।

(३) शरप्लवेन तरति—शारप्लविकः (शरनिर्मितनौकाद्वारा पार करने वाला)।

---

१. **उडुपं तु प्लवः कोलः**—इत्यमरः। तृणादिनिर्मित क्षुद्रनौका को उडुप कहते हैं। उडुनः (जलात्) पाति=रक्षतीति उडुपम्। प्रयोग यथा—**तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्** (रघु० १.२)।

चरति (चरणा, खाना)

(४) गोपुच्छेन तरति—गौपुच्छिकः ।[1]

नोट— नौ (नौका) इस प्रातिपदिक से तथा दो अचों वाले प्रातिपदिक से 'तरति' के अर्थ में ठक् के अपवाद **नौद्व्यचष्ठन्** (४.४.७) सूत्र से ठन् प्रत्यय हो जाता है । ठन् प्रत्यय नित् है कित् नहीं, अतः इस के परे रहते आदिवृद्धि नहीं होती ।[2] यथा—

नावा तरति—नाविकः ।
घटेन तरति—घटिकः ।
प्लवेन तरति—प्लविकः ।
कुम्भेन तरति—कुम्भिकः ।
दृत्या तरति—दृतिकः (मशक से तैरने वाला) ।
बाहुभ्यां तरति—बाहुकः (१०५२) ।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**११२०**) **चरति** ।४।४।८।।

तृतीयान्ताद् 'गच्छति, भक्षयति' इत्यर्थयोष्ठक् स्यात् । हस्तिना चरति—हास्तिकः । दध्ना चरति—दाधिकः ।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'जाने वाला' या 'खाने वाला' अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र से) । चरति इति **चर गतिभक्षणयोः** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (चरति इत्यर्थे) 'जाने वाला' या 'खाने वाला' इन अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

यह प्रत्यय 'चरति' के अर्थ में विधान किया गया है । चर् धातु के दो अर्थ होते हैं—जाना और खाना । अतः यह प्रत्यय भी 'जाने वाला' और 'खाने वाला' इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है ।

गमन अर्थ में उदाहरण यथा—

हस्तिना चरति (गच्छति)—हास्तिकः (हाथी के द्वारा गमन करने वाला) । यहां 'हस्तिन् टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'जाने वाला' अर्थ में प्रकृत **चरति** (११२०) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदि-वृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश तथा **नस्तद्धिते** (९१९) से भसञ्ज्ञक

1. यहां **गोपुच्छाद् ठञ्** (४.४.६) सूत्र से ठञ् प्रत्यय होता है । ठक् और ठञ् में स्वर का भेद होता है । गाय की पूंछ पकड़ कर नदी को पार किया जा सकता है ।
2. किञ्च स्त्रीत्व में भी ठन्प्रत्ययान्त से ङीप् न होकर टाप् ही होता है । यथा—नाविका, घटिका आदि ।

टि (इन्) का लोप करने पर—हास्त्+इक=हास्तिक। अब विशेष्यानुसार विभक्ति-कार्य करने से पुंलिङ्ग में 'हास्तिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

भक्षण अर्थ में उदाहरण यथा—

दध्ना चरति (भक्षयति)—दाधिकः (दही के साथ खाने वाला) यहां 'दधि टा' इस तृतीयान्त से 'खाने वाला' अर्थ में **चरति** (११२०) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को 'इक' आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दाधिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) शकटेन चरति (गच्छति)—शाकटिकः।

(२) विमानेन चरन्ति (गच्छन्ति)—वैमानिकाः।[1]

(३) वागुरया (मृगबन्धनरज्ज्वा) चरति (गच्छति)—वागुरिकः।[2]

(४) जालेन चरति (गच्छति)—जालिकः।

(५) वीतंसो बन्धनोपायः, तेन चरति—वैतंसिको व्याधः।

(६) व्यवहारेण चरति (आचरति)—व्यावहारिकः (प्रक्रियासर्वस्वे)।[3]

(७) व्यायामेन चरति—व्यायामिकः (प्रक्रियासर्वस्वे)।

नोट—रथ, अश्व और पाद इन तीन प्रातिपदिकों से **चरति** के अर्थ में ठक् न होकर **पर्पादिभ्यः ष्ठन्** (४.४.१०) से ष्ठन् (ठ)[4] प्रत्यय हो जाता है अतः आदिवृद्धि नहीं होती। किञ्च पर्पादिगणस्थ **पादस्य पच्च** इस गणसूत्र से 'पाद' के स्थान पर पद् आदेश भी हो जाता है। यथा—

रथेन चरति—रथिकः (रथसवार)।

अश्वेन चरति—अश्विकः (घुड़सवार)।

पादाभ्यां चरति—पदिकः (पैदल)।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११२१) संसृष्टे ।४।४।२२।।**

दध्ना संसृष्टं दाधिकम्॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संसृष्ट' (मिला हुआ—मिश्रित हुआ) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

---

१. **वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि**। (रघु० १०.४६)

२. **द्वौ वागुरिकजालिकौ** इत्यमरः।

३. **स्वागतादीनां च** (७.३.७) इत्यैच् न। एवं व्यायामिकशब्देऽपि बोध्यम्।

४. ष्ठन् में आदि षकार की **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से इत् संज्ञा हो कर लोप हो जाता है। षकार अनुबन्ध स्त्रीत्व में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष्विधान के लिये जोड़ा गया है। यथा—रथिकी, अश्विकी, पदिकी।

व्याख्या—संसृष्टे ।७।१। तेन इति लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तं पदम् । (**तेन दीव्यति०** सूत्र से) ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** अधिकार से लब्ध) **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (संसृष्टे) 'मिश्रित हुआ' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है।

संसृष्टम् एकीभूतम् अभिन्नमिति काशिका। मिश्रित हुए—एक हुए को संसृष्ट कहते हैं। जैसे नमक सूप में एकीभूत हो जाता है या मधु आदि दूध में अथवा खिचड़ी आदि में दही, मिर्च, अदरक आदि। संस्कृत और संसृष्ट में भेद होता है। संस्कृत तो तब होता है जब किसी द्रव्य का गुणाधान किया जाता है परन्तु संसृष्ट में केवल संसर्गमात्र अभीष्ट होता है।[1] उदाहरण यथा—

दध्ना संसृष्टं दाधिकम् (दही से युक्त)। यहां 'दधि टा' से संसृष्ट (मिश्रित, मिला हुआ) अर्थ में प्रकृत **संसृष्टे** (११२१) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दाधिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। दाधिकमोदनम्—दहीमिला भात।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) मरिचैः संसृष्टम् मारिचिकम् (मरिचों से युक्त)।
(२) शृङ्गवेरेण संसृष्टं शार्ङ्गवेरिकम् (अदरक से युक्त)।
(३) पिप्पल्या संसृष्टम् पैप्पलिकम् (पिप्पली से युक्त)।
(४) तिलैः संसृष्टास्तैलिकास्तण्डुलाः (तिलयुक्त चावल)।
(५) मधुना संसृष्टम् माधुकं[2] पयः (मधुयुक्त दूध या जल)।

लवणशब्द से संसृष्ट अर्थ में हुए ठक् प्रत्यय का **लवणाल्लुक्** (४.४.२४) से लुक् हो जाता है—लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः। लवणा यवागूः। लवणम्पयः।

---

१. ननु यद् येन संसृष्टं तत् तेन संस्कृतं भवति, ततश्च **संस्कृतम्** (४.४.३) इत्येव संसृष्टेऽपि प्रत्ययः सिद्धः। न सिध्यति। सत उत्कर्षाधानं संस्कारः, एकीभावस्तु संसर्गः। न च यत्रासौ तत्रावश्यमुत्कर्षोऽस्ति, अशुचिद्रव्यसंसर्गे प्रत्युत अपकर्ष एव भवति। तस्मात् **संसृष्टे** (४.४.२२) इति वक्तव्यम्।
ननु यदि अस्य निबन्धनमावश्यकं तर्हि एतदेवास्तु सूत्रम्, मा भूत् **संस्कृतम्** (४.४.३) इति। तदप्यवश्यं कर्त्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—विद्यया संस्कृतो वैद्यिक इति। न ह्यत्र संसर्गोऽस्ति मूर्त्ति-धर्मत्वात्। किञ्च **कुलत्थकोपधादण्** (४.४.४) इति संस्कृते एव यथा स्यात् संसृष्टे मा भूद् इत्येवमर्थं **संस्कृतम्** (४.४.३) इत्येतद् भवति। (पदमञ्जरी ४.४.२२)

२. **इसुसुक्तान्तात् कः** (१०५२) इति ठकः कादेशः।

उञ्छति (ठञ्)

मुद्गशब्द से संसृष्ट अर्थ में **मुद्गादण्** (४.४.२५) सूत्र से अण् प्रत्यय होता है जो ठक् का अपवाद है। यथा—मुद्गैः संसृष्टो मौद्ग ओदनः (मूंगमिश्रित भात)।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२२) उञ्छति ।४।४।३२।।

बदराण्युञ्छतीति बादरिकः ।।

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'कण कण बटोरने वाला या चुनने वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत्—इति लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तं पदम्। (**तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्** सूत्र से। द्वितीयान्त के अनुकरण 'तत्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। उञ्छति—इति **उछिँ उञ्छे** (तुदा० परस्मै०) इति धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** के अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्—द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (उञ्छति इत्यर्थे) 'उञ्छन करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है।

भूमि पर पड़े हुए अनाज आदि के कणों को चुन चुन कर बटोरना या संग्रह करना 'उञ्छन' कहाता है।[1]

सूत्र का उदाहरण यथा—

बदराणि उञ्छतीति बादरिकः (बेरों को चुन चुन कर बटोरने वाला)। यहां 'बदर शस्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'उञ्छन-कर्त्ता—चुन चुन कर बटोरने वाला' अर्थ में प्रकृत **उञ्छति** (११२२) सूत्र से ठक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (शस्) का लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने से 'बादरिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) श्यामाकान् उञ्छति—श्यामाकिकः (स्वांकों को बीनने वाला)।
(२) कणान् उञ्छति—काणिकः (कणों को बीनने वाला)।
(३) नीवारान् उञ्छति—नैवारिकः (नीवारकणों को बीनने वाला)।
(४) शाकान् उञ्छति—शाकिकः (शाकों को बीनने वाला)।
(५) व्रीहीन् उञ्छति—व्रैहिकः (चावलकणों को बीनने वाला)।
(६) गोधूमान् उञ्छति—गौधूमिकः (गेहूं के दानों को बीनने वाला)।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

---

१. इस विषय पर पीछे तुदादिगणस्थ **उछिँ उञ्छे** (तुदा० परस्मै०) धातु पर विस्तृत प्रकाश डाल चुके हैं। विशेषजिज्ञासु उस का पुनरवलोकन करें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (११२३) **रक्षति** ।४।४।३३।।

समाजं रक्षतीति सामाजिकः ।।

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'रक्षा करने वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—**तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्** इत्यस्मात् सूत्रात् 'तत्' इति लुप्तपञ्चम्यन्तम्पदमनुवर्त्तते । रक्षति इति **रक्ष पालने** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** सूत्र से अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (रक्षति इत्यर्थे) 'रक्षा करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा —

समाजं रक्षतीति सामाजिकः (समाज की रक्षा करने वाला) । यहां 'समाज अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'रक्षा करने वाला' अर्थ में प्रकृत **रक्षति** (११२३) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सामाजिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

(१) सन्निवेशं रक्षति—सान्निवेशिकः ।[1]

(२) मण्डलं रक्षति—माण्डलिकः (मण्डल का रखवाला) ।

(३) नगरं रक्षति—नागरिकः (नगरपाल) ।[2]

(४) ग्रामं रक्षति—ग्रामिकः (ग्रामपाल) ।[3]

(५) कुटुम्बं रक्षति—कौटुम्बिकः (कुटुम्ब का पालक) ।

(६) गोमण्डलं रक्षति—गौमण्डलिकः (गोमण्डल का पालक) ।

---

१. नगर से बाहर घूमने-खेलने आदि के मैदान को 'सन्निवेश' कहते हैं । इसीशब्द पर अमरकोष की व्याख्या में क्षीरस्वामी लिखते हैं—**समन्तान्निविशन्तेऽत्र सन्निवेशः पुराद् बहिर्विहरणभूः** । शब्दरत्नावली में भी लिखा है—

नगरादिबहिःस्वैरविहारचारुभूमिषु ।
तत्र द्वयं निगदितं सन्निवेशो निकर्षणम् ।।

२. प्रयोग यथा—

मद्वचनादुच्यतां नागरिकः (विक्रमोर्वशीयस्य पञ्चमेऽङ्के पाठभेदोऽयम्) । **ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च** (शाकुन्तले षष्ठाङ्कस्यादौ पाठभेदोऽयम्) ।

३. प्रयोग यथा—

ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ।। (मनु० ७.११७)

अब ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२४) **शब्ददर्दुरं करोति** ।४।४।३४।।

शब्दं करोति—शाब्दिकः । दर्दुरं करोति—दार्दुरिकः ।।

अर्थः—द्वितीयान्त 'शब्द' और 'दर्दुर' प्रातिपदिकों से 'करने वाला' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शब्ददर्दुरम् ।५।१। (यहां द्वितीयान्त के अनुकरण 'शब्ददर्दुरम्' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । करोति इति **डुकृञ् करणे** (तना० उभय०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** से अधिकृत) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । शब्दश्च दर्दुरश्चानयोः समाहारः शब्ददर्दुरम्, समाहारद्वन्द्वः । तत् (२.१)=शब्ददर्दुरम् । अर्थः—(शब्ददर्दुरम्=द्वितीयान्ताभ्यां शब्ददर्दुरप्रातिपदिकाभ्याम्) द्वितीयान्त 'शब्द' एवं 'दर्दुर' प्रातिपदिकों से (करोतीत्यर्थे) 'करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा —

शब्दं करोति (प्रकृतिप्रत्ययविभागपरिकल्पनया व्युत्पादयति) इति शाब्दिकः । जो शब्द को बनाता अर्थात् उस में प्रकृति-प्रत्यय के विभाग की परिकल्पना करता है उसे 'शाब्दिक' कहते हैं । यह वैयाकरण के अर्थ में रूढ है ।[1] यहां 'शब्द अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'करोति=करने वाला=व्युत्पत्ति करने वाला' अर्थ में प्रकृत **शब्ददर्दुरं करोति** (११२४) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शाब्दिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

दर्दुरं करोति—दार्दुरिकः । मिट्टी के पात्रविशेष को प्राचीन काल में 'दर्दुर' कहा जाता था । उस दर्दुर को बनाने वाला कुम्हार 'दार्दुरिक' कहाता था ।[2] यहां

---

१. अत एव शब्दं करोतीति शाब्दिकः खरः—ऐसा न बनेगा । बोपदेव ने अपने कविकल्पद्रुमग्रन्थ के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध आठ वैयाकरणों को शाब्दिक कहा है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽपिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ।।

परन्तु कुछेक व्याख्याकार इस से भिन्न मन्तव्य प्रकट करते हैं । वे शब्द करने वाली प्रत्येक वस्तु को ही शाब्दिक कहना पसन्द करते हैं । यथा पुरुषोत्तमदेव अपनी भाषावृत्ति में इस सूत्र पर उदाहरण देते हुए लिखते हैं- —**शाब्दिकः पटहश्छात्रो वा** । हरिनामामृतव्याकरण में 'शाब्दिको वेणुः' ऐसा उदाहरण दिया गया है ।

२. कुछ व्याख्याकार यहां दर्दुर का अर्थ बांसुरी की तरह बजने वाला एक वाद्य मानते हैं । इस का कुछ भाग मिट्टी से निर्मित होता था जिसे कुम्भकार बनाता था । दर्दुरशब्द के अन्य भी अनेक अर्थ कोषों में प्रसिद्ध हैं, जैसाकि अमरकोष की व्याख्या करते हुए भानुजिदीक्षित किसी कोष का वचन उद्धृत करते हैं—**दर्दुरस्तोयदे भेके वाद्यभाण्डाद्रिभेदयोः ।**

'दर्दुर अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'करने वाला = बनाने वाला' अर्थ में प्रकृत **शब्ददर्दुरं करोति** (११२४) सूत्र से ठक्, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दार्दुरिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब एक अन्य अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२५) धर्मं चरति ।४।४।४१।।

धर्मं चरति—धार्मिकः ।।

अर्थः—द्वितीयान्त 'धर्म' प्रातिपदिक से 'चरति' (आचरण करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—धर्मम् ।५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'धर्मम्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । चरति इति **चर गतौ** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथम-पुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः – (धर्मम् = द्वितीयान्ताद् 'धर्म' इति प्रातिपदिकात्) द्वितीयान्त 'धर्म' प्रातिपदिक से (चरति इत्यर्थे) 'आचरण करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

धर्मं चरति—धार्मिकः (धर्म का आचरण करने वाला) । यहां 'धर्म अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'चरति' के अर्थ में प्रकृत **धर्मं चरति** (११२५) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'धार्मिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1] स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय हो कर 'धार्मिकी कन्या' बनेगा ।

विशेष वक्तव्य—यहां 'चरति' से आसेवन अर्थात् बार बार करना या स्वभावतः करना अर्थ अभिप्रेत है । दुष्ट पुरुष यदि धर्म का कदाचित् सेवन कर ले तो वह धार्मिक नहीं कहायेगा । अत एव काशिकाकार ने कहा है—**चरतिरासेवायां नाऽनुष्ठानमात्रे** । सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका भी यहां द्रष्टव्य है ।

वार्त्तिककार 'अधर्म' प्रातिपदिक से भी ठक् का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(८८) अधर्माच्चेति वक्तव्यम् ।।

अधर्मं चरति – आधर्मिकः ।।

अर्थः— द्वितीयान्त 'अधर्म' प्रातिपदिक से भी 'चरति' (आचरण करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में **धर्मं चरति** (४.४.४१) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये । **ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति** (प०)

१. **कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः** । (हितोप०)

इस परिभाषा के अनुसार धर्मशब्द से विहित ठक् अधर्मशब्द से प्राप्त न था अत: इस वार्त्तिक का आरम्भ किया गया है। उदाहरण यथा—

अधर्म चरति—आधर्मिक: (अधर्म अर्थात् पाप का आचरण करने वाला)। यहां 'अधर्म अम्' से 'आचरण करने वाला' अर्थ में प्रकृत **अधर्माच्चेति वक्तव्यम्** (वा० ८८) वार्त्तिकद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'आधर्मिक:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२६) शिल्पम् ।४।४।५५।।

मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य— मार्दङ्गिक: ।।

अर्थ:—प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'शिल्प है इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शिल्पम् ।१।१। **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) सूत्र से 'तद् अस्य' पदों का यहां अनुवर्त्तन होता है। तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तद्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। अस्य ।६।१। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्यय:, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिता:** इत्यादि पूर्वत: अधिकृत हैं। अर्थ:—(तत्=प्रथमान्तात् प्रातिपदिकात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से (शिल्पम् अस्य इत्यर्थे) 'शिल्प है इस का' इस अर्थ में (तद्धित:) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है।

किसी क्रिया में अभ्यासपूर्वक निपुणता या विशेषज्ञान प्राप्त कर लेना 'शिल्प' कहाता है।[2] जैसे कोई मृदङ्ग (तबला) बजाने में निपुणता प्राप्त कर ले तो 'मृदङ्ग बजाना' उस का शिल्प या हुनर होगा। उदाहरण यथा—

मृदङ्गवादनं[3] शिल्पमस्य इति मार्दङ्गिक:। मृदङ्गबजानेविषयक विशेष नैपुण्य रखने वाला व्यक्ति 'मार्दङ्गिक' कहायेगा (An expert in playing on Mridanga drum)। यहां 'मृदङ्ग सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'शिल्प है इस का' इस अर्थ में **शिल्पम्** (११२६) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, रपर (२९), ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य

---

१. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि 'आधर्मिक:' प्रयोग नञ्तत्पुरुषसमास से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा करने पर 'न धार्मिक:—अधार्मिक:' सिद्ध होगा न कि 'आधर्मिक:'। आधर्मिकशब्द का प्रयोग यथा—

तद्वन्निहन्मि मनुजान् यदि वृत्तिहेतोराधर्मिक: किल ततोऽस्मि न ते मृगघ्ना:।
(सोमसुतजातक ५०)

२. अभ्यासपूर्वं क्रियासु कौशलं शिल्पम् इति कैयट:। क्रियाभ्यासपूर्वको ज्ञानविशेष इति पदमञ्जरी।

३. मृदङ्गो वाद्यतेऽनेनेति मृदङ्गवादनम् इति न्यासकृत्।

करने से 'मार्दङ्गिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1] स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय हो जायेगा—मार्दङ्गिकी कन्या । ध्यान रहे कि 'शिल्प' अर्थ तद्धितवृत्ति के अन्तर्गत हो जाने से पृथक् शब्द से नहीं कहा जाता ।

इसीप्रकार —

(१) वीणावादनं शिल्पमस्य—वैणिकः ।
(२) पणववादनं शिल्पमस्य—पाणविकः ।[2]
(३) मुरजवादनं शिल्पमस्य—मौरजिकः ।[3]
(४) घण्टावादनं शिल्पमस्य—घाण्टिकः ।
(५) मालागुम्फनं शिल्पमस्य —मालिकः ।
(६) पिठरवादनं शिल्पमस्य—पैठरिकः ।[4]

इसी ठगधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२७) **प्रहरणम्** ।४।४।५७।।

तदस्येत्येव । असिः प्रहरणमस्य—आसिकः । धानुष्कः ।।

अर्थः—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'हथियार है इस का' इस अर्थ में तद्धित-संज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रहरणम् ।१।१। **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) सूत्र से यहां 'तद् अस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है । तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तद्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । अस्य ।६।१। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । प्रह्रियतेऽनेनेति प्रहरणम् । जिस से प्रहार किया जाता है उसे 'प्रहरण' कहते हैं । तलवार, धनुष्, चक्र,

---

१. यहां विग्रह (लौकिक) तो 'मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य' इस प्रकार किया जाता है परन्तु तद्धित की उत्पत्ति 'मृदङ्गवादन' से न हो कर केवल 'मृदङ्ग' शब्द से ही होती है । भाषाओं की शैली ही कुछ इस प्रकार की हुआ करती है कि उन में अनेक स्थानों पर संक्षेप के कारण संक्षिप्तशब्दों का ही प्रचलन हो जाया करता है । संस्कृतभाषा में भी 'मार्दङ्गिकः' आदि शब्दों की प्रकृति मृदङ्गवादन के स्थान पर संक्षेपवश 'मृदङ्ग' शब्द ही प्रचलित हो चुका है । अतः यहां लक्षणाशक्ति से मृदङ्गशब्दद्वारा मृदङ्गवादन अर्थ का बोध हो कर तद्धितप्रत्यय की उत्पत्ति की जाती है । ध्यान रहे कि व्याकरणशास्त्र का उद्देश्य लोकप्रचलित शब्दों की तत्तदर्थों में व्युत्पत्ति दर्शाना होता है न कि नये नये शब्दों का घड़ना । लक्षणाशक्ति का विवेचन साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में देखें ।

२. पणवः=छोटा ढोल, ढोलक ।

३. मुरजः=मृदङ्ग, तबला ।

४. पिठरः=बटलोई । **पिठरः स्थाल्यां ना क्लीबं मुस्तामन्थानदण्डयोः**—इति मेदिनी ।

दण्ड आदि हथियार 'प्रहरण' कहलाते हैं। अर्थः—(तत्=प्रथमान्तात् प्रातिपदिकात्) **प्रथमान्त** समर्थ प्रातिपदिक से (प्रहरणम् अस्य इत्यर्थे) 'हथियार है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है। उदाहरण यथा—

असिः प्रहरणम् अस्येति आसिकः। जिस का हथियार तलवार है उस पुरुष को 'आसिक' कहते हैं। यहां 'असि सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'हथियार है इस का' इस अर्थ में प्रकृत **प्रहरणम्** (११२७) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आसिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

धनुः प्रहरणमस्येति धानुष्कः। जिस का हथियार धनुष् है उस पुरुष को 'धानुष्क' कहते हैं। यहां 'धनुष् सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'हथियार है इस का' इस अर्थ में प्रकृत **प्रहरणम्** (११२७) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) से ठ् को 'क' आदेश हो कर—धानुष्+क। अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्र से या लुप्तविभक्ति (सुँ) के सहारे से 'धानुष्' की पदसंज्ञा हो जाती है और इधर धनुष् में सकार के स्थान पर **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से हुआ षकार **ससजुषो रुँः** (१०५) की दृष्टि में असिद्ध है, वह इसे पदान्त सकार ही समझता है। तो इस प्रकार **ससजुषो रुँः** (१०५) सूत्र से पदान्त सकार के स्थान पर रुँ आदेश होकर रेफ को **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से विसर्ग आदेश करने से—धानुः+क। पुनः इस स्थिति में **सोऽपदादौ** (९८०) सूत्र से विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश प्राप्त होता है परन्तु उस का बाध कर **इणः षः** (९८१) से विसर्ग को षकार हो जाता है—धानुष्क। **अब** विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने पर पुंलिङ्ग में 'धानुष्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् करने पर 'धानुष्की' बनेगा।

इसीप्रकार—

(१) चक्रं प्रहरणम् अस्य—चाक्रिकः।
(२) प्रासः प्रहरणम् अस्य—प्रासिकः।
(३) पाशः प्रहरणम् अस्य—पाशिकः।
(४) मुष्टिः प्रहरणम् अस्य—मौष्टिकः।
(५) दण्डः प्रहरणम् अस्य—दाण्डिकः।
(६) भुशुण्डी प्रहरणम् अस्य—भौशुण्डिकः।
(७) शतघ्नी प्रहरणम् अस्य—शातघ्निकः।[१]

शक्ति और यष्टि प्रातिपदिकों से 'प्रहरणमस्य' अर्थ में **शक्तियष्ट्योरीकक्** (४.४.५९) सूत्र से ईकक् (ईक) प्रत्यय हो जाता है। तथाहि—

शक्तिः प्रहरणम् अस्य—शाक्तीकः।

---

१. प्रासः=भाला। भुशुण्डी=बन्दूक। शतघ्नी=तोप।

यष्टिः प्रहरणम् अस्य—याष्टीकः ।

दोनों स्थान पर ईकक् के परे रहते **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप हो जाता है ।

ठक् के अधिकार में पुनः एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२८) शीलम् ।४।४।६१।।

अपूपभक्षणं शीलमस्य—आपूपिकः ।।

अर्थः—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'शील है इस का' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शीलम् ।१।१। **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) सूत्र से 'तद्, अस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है । तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तद्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । अस्य ।६।१। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** इस अधिकार के कारण लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से (शीलम् अस्य इत्यर्थे) 'शील[1] है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

अपूपभक्षणं शीलमस्य—आपूपिकः । मालपूए खाना जिस का स्वभाव है उस पुरुष को 'आपूपिक' कहते हैं । यहां 'अपूप सुँ' इस प्रथमान्त से 'स्वभाव है इस का' इस अर्थ में प्रकृत **शीलम्** (११२८) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आपूपिकः'[2] प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) मोदकभक्षणं शीलमस्य—मौदकिकः । (काशिका)

(२) शष्कुलीभक्षणं शीलमस्य—शाष्कुलिकः । (काशिका)

(३) ताम्बूलचर्वणं शीलमस्य—ताम्बूलिकः । (शाकटायन)

(४) परुषवचनं शीलमस्य—पारुषिकः । (भाषावृत्ति)

(५) करुणा शीलमस्य—कारुणिकः । (अमरकोष व्याख्या)

(६) ओदनभक्षणं शीलमस्य—औदनिकः । (दयानन्द)

(७) सक्तुभक्षणं शीलमस्य—साक्तुकः ।[3] (दयानन्द)

(८) पयोभक्षणं शीलमस्य—पायसिकः । (चारुदेव)

(९) आक्रोशः शीलमस्य—आक्रोशिकः । (चारुदेव)

---

१. शीलं प्राणिनां स्वभावः । फलनिरपेक्षा वृत्तिः । (शाकटायनामोघावृत्तौ)

२. ध्यान रहे कि यहां तद्धितवृत्ति में अपूपशब्द अपूपभक्षण अर्थ में रूढ है अतः ठक्-प्रत्यय अपूपशब्द से ही होता है ।

३. **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) इति ठकः 'क' इत्यादेशः ।

'तदस्य शीलम्' के अर्थ में छत्त्र आदि शब्दों से **छत्त्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) सूत्रद्वारा ण (अ) प्रत्यय हो जाता है। यथा—छत्त्रम् (गुरोर्दोषाणामावरणम्) शीलमस्येति छात्त्रः। तपः शीलमस्येति तापसः। चुरा शीलमस्येति चौरः।

ठक् के अधिकार में पुनः एक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११२६**) **निकटे वसति** ।४।४।७३।।

नैकटिको भिक्षुः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त 'निकट' प्रातिपदिक से 'रहने वाला' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—निकटे ।५।१। (सप्तम्यन्त निकटशब्द के अनुकरण 'निकटे' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। वसति इति **वस निवासे** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। ठक ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(निकटे=सप्तम्यन्ताद् निकटप्रातिपदिकात्) सप्तम्यन्त निकटप्रातिपदिक से (वसति इत्यर्थे) 'रहने वाला, निवास करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

निकटे वसति – नैकटिकः (निकट रहने वाला)। यहां 'निकट ङि' इस सप्तम्यन्त से 'वसति—रहने वाला' अर्थ में प्रकृतसूत्र **निकटे वसति** (११२६) से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'नैकटिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **आट नैकटिकाश्रमान्** (भट्टि० ४.१२), नैकटिकानाम् आश्रमान् आट=गतवान् इत्यर्थः।

काशिकाकार का कथन है कि निकट रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ को नैकटिक नहीं कहना चाहिये किन्तु शास्त्रानुसार निकट रहने का जिस का विधान है उसे ही 'नैकटिक' कहा जायेगा। शास्त्र का आदेश है कि भिक्षु (संन्यासी) को ग्राम के निकट अर्थात् एक कोस छोड़ कर दूर रहना चाहिये (भिक्षा मांगने के लिये ही उसे ग्राम में प्रवेश करना चाहिये)। अतः इस प्रकार के भिक्षु को ही 'नैकटिक' कहा जायेगा।[1]

शेखरकार नागेशभट्ट का कथन है कि 'भिक्षु को ग्राम से एक कोस दूर रहना चाहिये' इस शास्त्रमर्यादा का उल्लङ्घन कर जो ग्राम के निकट रहता है उस निन्दित भिक्षु को ही 'नैकटिक' कहते हैं।

---

१. काशिकाकार के इस आशय को नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में इस प्रकार पद्यबद्ध किया है—

ग्रामात्क्रोशे निवस्तव्यं भिक्षुणेति विधीयते।
तादृङ् निकटवासेऽयं विधिर्नैकटिको यतिः ।।

शाकटायनव्याकरण की चिन्तामणिवृत्ति में लिखा है कि योगाभ्यास के लिये ग्राम के निकट रहने वाले आरण्य भिक्षु (वानप्रस्थ) को 'नैकटिक' कहते हैं।

भोजव्याकरण (सरस्वतीकण्ठाभरण) में निकटशब्द के साथ साथ 'वृक्षमूल' और 'श्मशान' प्रातिपदिकों से भी 'वसति' अर्थ में ठक् का विधान किया गया है— वृक्षमूले वसतीति वार्क्षमूलिकः, श्मशाने वसतीति श्माशानिकः। शाकटायनव्याकरण में भी **निकटादिषु वसति** (शाकटायन० ३.२.७६) सूत्र कहा गया है। वृत्तिकार ने आदि-ग्रहण से वही भोज वाले उदाहरण दिये हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने व्याकरण में ऐसा ही मन्तव्य व्यक्त किया है।

अभ्यास [७]

(१) विग्रहनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि दर्शाएं —

१. धानुष्कः। २. आपूपिकः। ३. शाब्दिकः। ४. औडुपिकः। ५. आक्षिकः। ६. दाधिकम्। ७. सामाजिकः। ८. आसिकः। ९. हास्तिकः। १०. मारीचिकम्। ११. नैकटिकः। १२. मार्दङ्गिकः। १३. धार्मिकः। १४. दार्दुरिकः। १५. बादरिकः।

(२) निम्नस्थ विग्रहों से सिद्ध होने वाले तद्धितान्त रूपों की ससूत्र सिद्धि करें —

१. हलेन खनति। २. अस्त्रैर्जितम्। ३. शलाकाभिर्दीव्यति। ४. विद्यया संस्कृतः। ५. रथेन चरति (कन्या)। ६. बाहुभ्यां तरति। ७. लवणेन संसृष्टः। ८. शक्तिः प्रहरणमस्याः। ९. मुद्गेन संसृष्टम्। १०. पादाभ्यां चरति। ११. गोपुच्छेन तरति। १२. करुणा शीलमस्य। १३. वीणा-वादनं शिल्पमस्य। १४. नावा तरति। १५. कुटुम्बं रक्षति।

(३) ठगधिकार के अन्तर्गत किन्हीं दस अर्थों का ससूत्र सोदाहरण विवेचन करें।

(४) दीव्यति, खनति आदि तिङन्त अर्थनिर्देशों में संख्या, काल, पुरुष और कारक इन में से किस का तद्धितवृत्ति में प्राधान्य माना जाता है? सोदाहरण विवेचन करें।

(५) **तरति** सूत्र पर द्व्यच् प्रातिपदिकों के उदाहरण क्यों नहीं दिये जाते?

(६) व्याकरणप्रक्रिया में ठक् प्रत्यय की कौन सी दो अवस्थाएं हुआ करती हैं? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें।

(७) ठक्, ठञ्, ठन्, ष्ठन् और ईकक् प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में कौन कौन से स्त्रीप्रत्यय होते हैं? सप्रमाण स्पष्ट करें।

(८) टिप्पण लिखें—

[क] मारीचिकम् का द्विविध विग्रह।

[ख] संस्कृत और संसृष्ट का पारस्परिक अन्तर।
[ग] **चरति** सूत्र के प्रतिपाद्य दो अर्थ।
[घ] 'देवदत्तेन जितम्' में तद्धितप्रत्यय की अनुत्पत्ति।
[ङ] 'शब्दं करोति रासभः' में तद्धितप्रत्यय की अनुत्पत्ति।
[च] 'नैकटिकः' के अर्थ में मतभेद।
[छ] 'तरति' का संग्रह **तेन दीव्यति०** में न किया जाना।

(९) 'मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य' इस विग्रह में तद्धितोत्पत्ति 'मृदङ्गवादन' से क्यों नहीं होती?

(१०) **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र में 'जयति' के होते हुए 'जितम्' का उल्लेख क्यों किया गया है?

(११) निम्नस्थ सूत्रों तथा वचनों की व्याख्या करें—
१. तेन दीव्यति०। २. प्राग्वहतेष्ठक्। ३. शब्ददर्दुरं करोति। ४. सतो गुणाधानं संस्कारः। ५. संस्कृतमेकीभूतमभिन्नम्। ६. चरतिरासेवायां नानुष्ठानमात्रे। ७. अभ्यासपूर्वं क्रियासु कौशलं शिल्पम्। ८. शीलं प्राणिनां स्वभावः, फलनिरपेक्षा वृत्तिः। ९. गुरोर्दोषाणामावरणं छत्त्रम्, तच्छीलमस्येति छात्त्रः।

[लघु०] इति ठगधिकारः॥

अर्थः—यहां ठक्प्रत्यय का अधिकार समाप्त होता है।

व्याख्या—**प्राग्वहतेष्ठक्** (१११६) के कारण इस प्रकरण को 'प्राग्वहतीय' भी कहा जाता है। प्रक्रियाकौमुदी में इस प्रकरण को इसी नाम से लिखा गया है।

(यहां पर ठगधिकार का विवेचन समाप्त होता है।)

——:०:——

अथ यदधिकारः

अब यत् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—**(११३०) प्राग्घिताद्यत्** ।४।४।७५॥

तस्मै हितम् (५.१.५) इत्यतः प्राग् यद् अधिक्रियते॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में इस सूत्र से ले कर **तस्मै हितम्** (५.१.५) सूत्र से पूर्व तक यत् तद्धितप्रत्यय अधिकृत किया जा रहा है।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम्। हितात् ।५।१। यत् ।१।१। **तस्मै हितम्** (५.१.५) इस आगे आने वाले सूत्र के 'हित' शब्द का यहां 'हितात्' से निर्देश किया गया है। अर्थः—(हितात् = **तस्मै हितम्** इत्यस्मात्) **तस्मै हितम्** सूत्र से (प्राक्) पहले

पहले (यत्) यत् प्रत्यय हो। अर्थात् यहां से लेकर **तस्मै हितम्** (५.१.५) सूत्र से पूर्व पूर्व यदि प्रत्यय का निर्देश न होगा तो वहां यत् प्रत्यय समझ लिया जायेगा।

यत् प्रत्यय में तकार अनुबन्ध का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध **यतोऽनावः** (६.१.२०७) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये तथा क्वचित् **तित्स्वरितम्** (६.१.१७६) से स्वरितस्वरार्थ जोड़ा गया है।

अब इसी यदधिकार में अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११३१)**

तद्वहति रथ-युग-प्रासङ्गम् ।४।४।७६।।

रथं वहति रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः।।

अर्थः—द्वितीयान्त रथ, युग और प्रासङ्ग प्रातिपदिकों से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।१। ('रथं वहति' आदि में प्रयुक्त द्वितीयान्त पदों का अनुकरण 'तद्' शब्द से किया गया है। इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। वहति इति **वहँ प्रापणे** (भ्वा० उभय०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। रथ-युग-प्रासङ्गम् ।५।१। (रथ, युग और प्रासङ्ग शब्दों के समाहारद्वन्द्व से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। यत् ।१।१। (**प्राग्घिताद्यत्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्= द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त (रथ-युग-प्रासङ्गम्=रथयुगप्रासङ्गात्) रथ, युग और प्रासङ्ग प्रातिपदिकों से परे (वहति इत्यर्थे) 'वहन करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

रथं वहति—रथ्यः (रथ को वहन अर्थात् खींच कर आगे ले जाने वाला घोड़ा आदि)। यहां 'रथ अम्' इस द्वितीयान्त से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में **प्राग्घिताद्यत्** (११३०) के अधिकार में प्रकृत **तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** (११३१) सूत्र से तद्धितसंज्ञक यत् प्रत्यय हो कर अनुबन्ध तकार का लोप, प्रातिपदिकसंज्ञा (११७) तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुप् (अम्) का लुक् करने से—रथ+य। यत् प्रत्यय यकारादि है अतः इस के परे रहते **यचि भम्** (१६५) सूत्र से पूर्व की भसञ्ज्ञा हो जाती है। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'रथ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] **रथ्यो वोढा रथस्य यः**—इत्यमरः।

युगं वहति—युग्यः। रथ आदि को खींचने के लिये बैल आदि पशु के गले में तिरछी लकड़ी के बने जिस ढांचे को डाला जाता है उसे 'युग' कहते हैं। हिन्दी में इसे 'जुआ' कहा जाता है। इस युग को खींचने वाले बैल, घोड़े आदि को तद्धितवृत्ति के द्वारा 'युग्य' कहा जाता है। यहां 'युग अम्' से 'वहति' (ढोने वाला) अर्थ में **तद्वहति**

---

१. **धावन्त्यमी मृगजवाऽक्षमयेव रथ्याः।** (शाकुन्तल १.८)

यत्, ढक् (इन्)

रथयुगप्रासङ्गम् (११३१) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'युग्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[१]

प्रासङ्गं वहति—प्रासङ्ग्यः। अशिक्षित बैल, घोड़े आदि पशु को सिखाने के लिये रथ के शिक्षित बैल, घोड़े आदि के युग (जुए) के साथ एक अन्य युग को सम्बद्ध कर उसे अशिक्षितपशु के गले में डाल देते हैं। इस प्रकार के दूसरे युग को 'प्रासङ्ग' कहते हैं।[२] उस प्रासङ्ग को खींचने वाले अशिक्षित बैल, घोड़े आदि पशु को 'प्रासङ्ग्य' कहा जाता है। यहां 'प्रासङ्ग अम्' से 'वहति' के अर्थ में **तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** (११३१) सूत्र से यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'प्रासङ्ग्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी अर्थ में यत् प्रत्यय के साथ साथ ढक् प्रत्यय का भी विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३२) **धुरो यड्ढकौ** ।४।४।७७॥

हलि च (६१२) इति दीर्घे प्राप्ते—

अर्थः—द्वितीयान्त 'धुर्' प्रातिपदिक से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक यत् और ढक् प्रत्यय हों। **हलि चेति**—**हलि च** (६१२) सूत्र से उपधादीर्घ के प्राप्त होने पर (अग्रिमसूत्र से निषेध हो जाता है)।

व्याख्या—धुरः ।५।१। यड्ढकौ ।१।२। तत् ।५।१। (**तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** सूत्र से। द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। वहति इति क्रियापदम् (**तद्वहति०** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववतः अधिकृत हैं। यत् च ढक् च यड्ढकौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(तत्= द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त (धुरः) धुर् प्रातिपदिक से (वहति इत्यर्थे) 'वहन करने वाला' अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (यड्ढकौ) यत् और ढक् प्रत्यय हो जाते हैं।

उदाहरण यथा—

धुरं वहति—धुर्यो धौरेयो वा। युग (जुए) का वह भाग जो पशु के कन्धे पर डाला जाता है 'धुर्' कहलाता है। उस धुर् को वहन करने वाले बैल, घोड़े आदि पशु को तद्धितवृत्ति से 'धुर्य' या 'धौरेय' कहा जाता है। यहां 'धुर् अम्' इस द्वितीयान्त से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में प्रकृत **धुरो यड्ढकौ** (११३२) सूत्र से यत् और ढक् तद्धितप्रत्यय पर्याय से हो जाते हैं। यत्-प्रत्यय के पक्ष में सुप् (अम्) का लुक् होकर 'धुर् + य' इस स्थिति में **हलि च** (६१२) सूत्र से रेफ की उपधा उकार को दीर्घ प्राप्त होता है परन्तु यकारादि स्वादि प्रत्यय के परे रहते **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा हो जाने के कारण **न भकुर्छुराम्** (६७८, ११३३) से भसञ्ज्ञक की उपधा को

---

१. **रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम्।**
हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ (रघु० १२.८४)

२. कुछ लोगों का कथन है कि बछड़ों के दमन के लिये उन के कन्धे में डाला जाने वाला युगसदृश काष्ठ 'प्रासङ्ग' कहाता है। **प्रासङ्गो ना युगान्तरम्** इत्यमरः।

दीर्घ का निषेध हो जाता है—धुर्य । अब विभक्तिकार्य करने से 'धुर्यः प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

ढक्प्रत्यय के पक्ष में सुँब्लुक् हो कर **किति च** (१००१) से आदि-वृद्धि तथा **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से ढप्रत्यय के आदि ढ् को एय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'धौरेयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2] **धूर्वहे धुर्य-धौरेय-धुरीणाः सधुरन्धराः** इत्यमरः ।[3]

धुर् को वहन करने वाला पशु सदा रथ आदि के आगे ही रहता है । इसी सादृश्य के कारण धुर्य आदि शब्दों के अगुआ, कृत्यभार को उठाने वाला, मुख्य, प्रधान, श्रेष्ठ आदि अर्थों में भी लाक्षणिक प्रयोग देखे जाते हैं । यथा —पण्डितधुर्यः, विद्वद्धौरेयः (पण्डितों या विद्वज्जनों में आगे रहने वाला, श्रेष्ठ) । कालिदास के प्रयोग यथा— **तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी** (रघु० ५.६६), **न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय** (रघु० ७.७१) ।

अब ग्रन्थकार 'धुर्यः' में **हलि च** (६१२) द्वारा प्राप्त उपधादीर्घ का निषेध करने वाले पूर्वपठित सूत्र का पुनः स्मरण कराते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(११३३) न भ-कुर्छुराम् ।८।२।७९।।

भस्य कुर्छुरोरुपधाया दीर्घो न स्यात् । धुर्यः । धौरेयः ।।

अर्थः —भसञ्ज्ञक की उपधा एवं कुर् और छुर् की उपधा के स्थान पर दीर्घ आदेश न हो ।

व्याख्या —न इत्यव्ययपदम् । भ-कुर्-छुराम् ।६।३। उपधायाः ।६।१। दीर्घः ।१।१। (**र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** सूत्र से) । समासः—भं च कुर् च छुर् च भकुर्छुरः, तेषाम्=भकुर्छुराम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(भ-कुर्-छुराम्) भसंज्ञक एवं कुर् और छुर् की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश (न) नहीं होता । उदाहरण यथा —

'धुर् + य' यहां यकारादि स्वादि प्रत्यय परे होने के कारण **यचि भम्** (१६५)

---

१. धुर्यशब्द के प्रयोग यथा —

> **नाविनीतैर्व्रजेद् धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः ।** (मनु० ४.६७)
> **अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान् विश्रामयेति सः ।**
> **तामवारोहयत् पत्नीं रथादवततार च ॥** (रघु० १.५४)

२. धौरेयशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा —

> **पिशाचमुखधौरेयं सच्छत्रकवचं रथम् ।**
> **युधि कद्रथवद्भीमं बभञ्ज ध्वजशालिनम् ॥** (भट्टि० ५.१०३)

३. **खः सर्वधुरात्** (४.४.७८) सूत्र के योगविभाग के कारण धुर्शब्द से 'ख' प्रत्यय भी हो जाता है । तब **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्रद्वारा प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश हो कर 'धुरीणः' प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है ।

सूत्र से 'धुर्' की भसञ्ज्ञा हो जाती है अतः **हलि च** (६१२) सूत्रद्वारा प्राप्त इस की उपधा के दीर्घ का प्रकृत **न भ-कुर्छुराम्** (११३३) सूत्र से निषेध हो कर 'धुर्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कुर् और छुर् की उपधादीर्घ के निषेध के उदाहरण क्रमशः 'कुर्वन्ति' और 'छुर्यात्' हैं।

यह सूत्र पीछे तिङन्तप्रकरण में (६७८) सूत्राङ्क पर व्याख्यात है। मन्दबुद्धियों को याद दिलाने के लिये इस का पुनरुल्लेख किया गया है।

अब तार्य आदि विशिष्ट अर्थों में कतिपय प्रातिपदिकों से यत् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३४) नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु ।४।४।९१।।

नावा तार्यं नाव्यम्। वयसा तुल्यो वयस्यः। धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्। विषेण वध्यो विष्यः। मूलेन आनाम्यं मूल्यम्। मूलेन समो मूल्यः। सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम्। तुलया सम्मितं तुल्यम्।।

अर्थः—(१) नौ, (२) वयस्, (३) धर्म, (४) विष, (५) मूल, (६) मूल, (७) सीता और (८) तुला—इन आठ तृतीयान्त प्रातिपदिकों से क्रमशः (१) तार्य, (२) तुल्य, (३) प्राप्य, (४) वध्य, (५) आनाम्य, (६) सम, (७) समित और (८) संमित—इन आठ अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यः[1] ।५।३। तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-सम्मितेषु ।७।३। यत् ।१।१। (**प्राग्घिताद्यत्** इस अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। यहां समर्थविभक्ति नहीं दी गई, परन्तु तार्य आदि अर्थों के साथ तृतीया ही घटित हो सकती है अतः उसे समर्थविभक्ति मान लिया जाता है। यह तृतीया क्वचित् करण में क्वचित् कर्त्ता में और क्वचित् हेतु या तुल्यार्थयोग में सम्भव होती है। अर्थः—(नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तृतीयान्तेभ्यः) नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता और तुला इन आठ तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिकों से (तार्य-तुल्य-प्राप्य

---

१. यहां 'नौ' आदि आठ शब्दों का इतरेतरद्वन्द्व समझना चाहिये। 'मूल' शब्द दो बार आया है तो भी एकशेष नहीं किया गया। कारण कि एकशेष करने से सात शब्द रह जाते, तब इन का आठ अर्थों के साथ यथासंख्य न हो सकता। अथवा—नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल इन पाञ्च शब्दों का तथा मूल, सीता और तुला इन तीन शब्दों का पृथक् पृथक् द्वन्द्वसमास कर पुनः दोनों का द्वन्द्व करना चाहिये। इस प्रकार एकशेष की प्रसक्ति ही न होगी।

वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु (तार्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित और संमित इन आठ अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है।

आठ प्रकृतियां और आठ ही अर्थ हैं अतः यथासंख्य-परिभाषा से क्रमशः अर्थ समझे जायेंगे। इन सब का कोष्ठक यथा—

शब्द	अर्थ	विग्रह	प्रत्यय	निष्पन्न रूप
(१) नौ (नौका)	तार्य	नावा तार्यम्	यत्	नाव्यम्
(२) वयस् (आयु)	तुल्य	वयसा तुल्यः	,,	वयस्यः
(३) धर्म	प्राप्य	धर्मेण प्राप्यम्	,,	धर्म्यम्
(४) विष	वध्य	विषेण वध्यः	,,	विष्यः
(५) मूल	आनाम्य	मूलेनानाम्यम्	,,	मूल्यम्
(६) मूल	सम	मूलेन समः	,,	मूल्यः
(७) सीता	समित	सीतया समितम्	,,	सीत्यम्
(८) तुला (तराजू)	सम्मित	तुलया सम्मितम्	,,	तुल्यम्

अब क्रमशः इन की व्याख्या और विस्तृत सिद्धि प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) नावा तार्यम्[1]—नाव्यं जलम्। नौकाद्वारा पार किये जा सकने वाला नदी आदि का जल। इसी प्रकार 'नावा तार्या—नाव्या नदी' भी कहा जा सकता है। 'नौ टा' इस करणतृतीयान्त[2] प्रातिपदिक से प्रकृत **नौवयोधर्म०** (११३४) सूत्रद्वारा तार्य (पार किये जा सकने वाला) अर्थ में यत् प्रत्यय, तकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक् तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से औकार को आव् आदेश करने से—'नाव्य' बना। अब विशेष्य के अनुसार लिङ्ग और विभक्ति ला कर 'नाव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3] **नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्यम्** इत्यमरः।

(२) वयसा[4] तुल्यः—वयस्यः। आयु में समान मित्र को 'वयस्य' कहते हैं।[5] यहां 'वयस् टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'तुल्य' (समान, बराबर) अर्थ में प्रकृत **नौ-वयो-धर्म०** (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **सुँपो धातुप्राति-पदिकयोः** (७२१) से सुँप् (टा) का लुक् कर विभक्ति लाने से 'वयस्यः' प्रयोग सिद्ध

---

१. तरीतुं शक्यं तार्यम्। शक्यार्थे **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) इति कृत्यो ण्यत्प्रत्ययः।

२. स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तरि वा तृतीयेति नागेशः।

३. नाव्यशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

नाव्यं पयः केचिदतारिषुर्भुजैः। (माघ० १२.७६)

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः॥ (रघु० ४.३१)

४. **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्** (२.३.७२) इति तुल्ययोगे तृतीया।

५. 'वयस्य' शब्द मित्र के अर्थ में रूढ हो चुका है अतः आयु में समान शत्रु को 'वयस्य' नहीं कहा जाता। **वयस्यः सवयाः सुहृद्** इति हैमः।

हो जाता है ।[1] यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **यचि भम्** (१६५) द्वारा भसंज्ञा के हो जाने से सकार पदान्त नहीं रहता अतः **ससजुषो रुः** (१०५) से सकार को रुँत्व नहीं होता ।

(३) धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । धर्मद्वारा प्राप्त किये जाने वाले सुख, स्वर्ग आदि को 'धर्म्य' कहते हैं ।[2] 'धर्म टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'प्राप्य' (प्राप्त किये जाने वाले) अर्थ में प्रकृत **नौवयोधर्म०** (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'धर्म्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

(४) विषेण वध्यः[3]—विष्यः । विषेण वधमर्हतीत्यर्थः । विषद्वारा वध करने योग्य शत्रु आदि को 'विष्य' कहा जाता है । 'विष टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'वध्य' (वध के योग्य) अर्थ में प्रकृत **नौवयोधर्मविष०** (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'विष्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

(५) मूलेन आनाम्यम्—मूल्यम् । मूल (पूंजी) द्वारा आनाम्य=अभिभवनीय अर्थात् प्राप्त होने वाले लाभ को 'मूल्य' कहा जाता है । व्यापार में मूल धन लगा कर उस से जो लाभांश अर्जित किया जाता है उसे 'मूल्य कहते हैं ।[4] यहां 'मूल टा'

---

१. 'वयस्य' शब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥

(नैषध० १.५६)

२. अष्टाध्यायी में इसी अधिकार के अन्तर्गत **धर्म-पथ्यर्थ-न्यायादनपेते** (४.४.९२) सूत्रद्वारा भी धर्मशब्द से यत् होकर 'धर्म्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है (यथा—**अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि**—गीता २.३३) । वहां 'धर्मादनपेतं धर्म्यम्' इस प्रकार विग्रह होता है । वहां उस कार्य को धर्म्य कहा गया है जो धर्म से रहित न हो अर्थात् धर्मानुकूल कार्य । परन्तु 'धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्' यहां धर्म द्वारा प्राप्त होने वाले सुखादि फल को 'धर्म्य' कहा गया है । यही दोनों में अन्तर है ।

३. वधमर्हतीति वध्यः । **दण्डादिभ्यो यत्** (११४९) इति यत्प्रत्ययः ।

४. परन्तु लोक में जितने धन से माल बेचा जाता है उस सम्पूर्ण (Principal + Profit) धन को मूल्य कहा जाता है । भाषाविज्ञान के अनुसार अर्थविस्तार का यह सुन्दर उदाहरण है । केवल लाभांश में प्रयुक्त यह शब्द धीरे धीरे रूढिवशात् अपने अर्थ को विस्तृत कर 'मूल + लाभ' में प्रयुक्त होने लगा ।

इस कर्तृतृतीयान्त से आनाम्य[1] (अभिभूत किये जाने वाले —दबाए जाने वाले—दूसरे शब्दों में अर्जित किये जाने वाले) अर्थ में प्रकृत **नौवयोधर्मविषमूल०** (११३४) सूत्र से यत् प्रत्यय होकर सुँब्लुक् एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मूल्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(६) मूलेन समः—मूल्यः। मूल अर्थात् अपने उपादानकारण तन्तु आदि के सदृश पट आदि पदार्थ 'मूल्य' कहाएंगे। 'मूल टा' इस तृतीयान्त से सम अर्थात् तुल्य अर्थ में प्रकृत **नौवयोधर्मविषमूलमूल०** (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् और **यस्येति**चलोप से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'तुल्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस शब्द का ठीक ठीक तात्पर्य तथा संस्कृतवाङ्मय में इस के प्रयोग दोनों ही अन्वेष्टव्य हैं।[2]

(७) सीतया समितम्—सीत्यं क्षेत्रम्। हलाग्र से जोत कर एक समान किया गया खेत। यहां 'सीता टा' से समित (समान किया हुआ) अर्थ में **नौवयोधर्मविषमूल-मूलसीता०** (११३४) इस प्रकृतसूत्र से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा भसञ्ज्ञक आकार का **यस्येतिच**लोप कर विभक्ति लाने से 'सीत्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

---

१. आङ्पूर्वक नम् धातु से इसी सूत्र के निपातनद्वारा ण्यत् प्रत्यय हो जाता है, वरन् **पोरदुपधात्** (७७५) से यत् ही प्राप्त था। आनाम्यम् का अर्थ है—अभिभवनीयम्—अभिभूत किये जाने योग्य—दबाये जाने योग्य। मूलद्वारा हमेशा लाभ दबाया जाता है। दबाने का अर्थ है—उसे अपना अङ्ग बनाना। पूँजीद्वारा अर्जित लाभ सदा पूंजी का ही अङ्ग बन जाता है। अत एव लोक में कहा भी जाता है कि इस मूल पर इतना लाभ हुआ। मूल अङ्गी और लाभ उस का अङ्ग समझा जाता है। बस पूंजीद्वारा लाभ का यही दबाया जाना है। काशिका में कहा भी है—**मूल्यं हि सगुणं मूलं करोति**, अर्थात् लाभ पूंजी का अङ्ग बन कर उसे गुणान्वित (वर्धित) कर देता है। इसी भाव को प्रक्रियासर्वस्वकार ने इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

अंशभूतं किलानाम्यमिति वृत्तावुदीरितम्।
मूलद्रव्याङ्गभूतत्वाल्लाभस्यात्रास्ति मूल्यता॥

२. काशिकाकार ने इस का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'उपादानेन समानफल इत्यर्थः' ऐसा लिखा है। उत्तरवर्त्ती व्याख्याता भी प्रायः इन शब्दों को दोहराते चले गये। खोल कर किसी ने यहां का अभिप्राय व्यक्त नहीं किया।

३. पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र ने 'सीता' का अर्थ 'हलाग्रम्' किया है। भट्टोजिदीक्षित ने भी अपने शब्दकौस्तुभ में इसी का अनुसरण किया है। अमरकोषकार ने **सीता लाङ्गलपद्धतिः** कहा है। इस में हलद्वारा भूमि पर खींची गई रेखा को 'सीता' कहा गया है। रभसकोष में भी **सीता लाङ्गलरेखा स्यात्** कह कर यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है। परन्तु नागेशभट्ट का कथन है कि हलद्वारा भूमि के कृष्ट हो जाने पर उसके ऊपर भूमि के समीकरणार्थ जो लकड़ी चलाई जाती है उसे सीता कहते हैं—**सीता कृष्टक्षेत्रसमीकरणार्थः काष्ठविशेषो 'मई' इति मध्यदेशप्रसिद्धः** (शेखरे)। चाहे कुछ हो हल की जोत में आया क्षेत्र 'सीत्यम्' कहलाता है—**सीत्यं कृष्टं च हल्यवद्** इत्यमरः।

(८) तुलया सम्मितम्—तुल्यम् । तुला (तराजू) द्वारा परिच्छिन्न—तोला गया।[१] यहां 'तुला टा' इस तृतीयान्त से सम्मित (तोला गया) अर्थ में **नौवयोधर्मविषमूलमूल-सीतातुलाभ्यस्तार्य०** (११३४) इस प्रकृतसूत्र से यत् प्रत्यय, तकार अनुबन्ध का लोप, सुंप् (टा) का लुक् तथा भसञ्ज्ञक आकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'तुल्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[२]

अब सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण वा योग्य) अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३५) तत्र साधुः ।४।४।९८॥

अग्रे साधुः—अग्र्यः । सामसु साधुः—सामन्यः । ये चाऽभावकर्मणोः (१०२३) इति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शरण्यः ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'साधु' (प्रवीण वा योग्य) अर्थ में तद्धितसंज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् (सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। साधुः ।१।१। यत् ।१।१। (**प्राग्घिताद्यत्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात् प्रातिपदिकात्) सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से (साधुरित्यर्थे) 'प्रवीण या योग्य' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है।

यहां 'साधुः' का अर्थ 'निपुण = प्रवीण = योग्य' लिया जाता है। साधु का एक अर्थ हितकारी भी होता है परन्तु उस में परत्वात् **तस्मै हितम्** (११३९) सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

सूत्र के उदाहरण यथा—

अग्रे साधुः—अग्र्यः (आगे रहने में प्रवीण या योग्य)। यहां 'अग्र ङि' इस सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण या योग्य) अर्थ में प्रकृत **तत्र साधुः** (११३५) सूत्र से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो विभक्तिकार्य करने से 'अग्र्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. यहां तुला में आग्रह नहीं करना चाहिये। तुल्यशब्द सदृश के अर्थ में रूढ हो चुका है। यहां उस की केवल व्युत्पत्तिमात्र प्रदर्शित की जा रही है।

२. काशिकाकार ने 'सम्मितम्' का अर्थ 'परिच्छिन्नम्' नहीं किया। वे 'सम्मितम्' का 'सदृशम्' अर्थ ही करते हैं। उन के मन्तव्यानुसार तराजू के समान कार्य करने वाली वस्तु 'तुल्य' कहलाती है। जैसे तराजू परिमेय को परिच्छिन्न करती है वैसे तुल्यवस्तु भी अपने प्रतियोगी को परिच्छिन्न करती है। शब्दकौस्तुभ में दीक्षित ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं। परन्तु तत्त्वबोधिनीकार ने काशिकोक्त अभिप्राय से भिन्न उपर्युक्त अभिप्राय व्यक्त किया है। नागेशभट्ट ने भी इसी का अनुसरण किया है।

सामसु साधुः — सामन्यः (साम अर्थात् सामगान में प्रवीण वा योग्य)। यहां 'सामन् सुप्' इस सप्तम्यन्त से साधु (योग्य या प्रवीण) अर्थ में प्रकृत **तत्र साधुः** (११३५) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप एवं सुँप् (सुप्) का लुक् करने पर 'सामन् + य' हुआ। अब यहां **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा हो कर **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्रद्वारा टि (अन्) का लोप प्राप्त होता है। परन्तु **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) सूत्र से प्रकृतिभाव के कारण उस का वारण हो जाता है। इस तरह 'सामन्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कर्मसु साधुः —कर्मण्यः (कर्मों के करने में प्रवीण वा योग्य)। यहां 'कर्मन् सुप्' से पूर्ववत् साधु (योग्य वा प्रवीण) अर्थ में **तत्र साधुः** (११३५) से यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **नस्तद्धिते** (९१९) से प्राप्त टिलोप का **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) से वारण हो कर णत्व (१३८) और विभक्तिकार्य करने से 'कर्मण्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

शरणे (त्राणे)[1] साधुः—शरण्यः (रक्षा करने में प्रवीण, योग्य या समर्थ)। यहां 'शरण ङि' से साधु अर्थ में **तत्र साधुः** (११३५) सूत्र से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शरण्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

इसी प्रकार—

वेमनि साधुः—वेमन्यः (खड्डी के काम में प्रवीण)।

अब **तत्र साधुः** के अर्थ में सभाशब्द से 'य' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् — (११३६) सभाया यः ।४।४।१०५॥

सभ्यः ॥

अर्थः— सप्तम्यन्त 'सभा' प्रातिपदिक से 'साधु' (निपुण-प्रवीण-योग्य) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो।

व्याख्या— सभायाः ।५।१। यः ।१।१। **तत्र साधुः** (४.४.९८) सूत्र का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (सभायाः) 'सभा' प्रातिपदिक से (साधुरित्यर्थे) 'प्रवीण या योग्य' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यः) 'य' प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वसूत्र से यत् प्रत्यय प्राप्त था उस का अपवाद यह 'य' प्रत्यय विधान किया जा रहा है। यत् और य में स्वर का ही अन्तर पड़ता है। उदाहरण यथा—

सभायां साधुः—सभ्यः (सभा में निपुण वा योग्य)। यहां 'सभा ङि' इस सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण वा योग्य) अर्थ में प्रकृत **सभाया यः** (११३६) सूत्रद्वारा 'य' प्रत्यय हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक आकार का लोप तथा अन्त में विभक्ति-

---

१. **शरणं गृहरक्षित्रोर्वधरक्षणयोरपि**—इति मेदिनी।

२. **लवणत्रासितः स्तोमः शरण्यं त्वामुपस्थितः**। (उत्तरराम० १.५०)

कार्य करने से 'सभ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

व्युत्पन्न जिज्ञासु विद्यार्थियों के बोधार्थ इस प्राग्घितीयप्रकरण के कुछ अन्य उपयोगी सूत्र यहाँ संक्षेप से प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

[१] **शकटादण्** (४.४.८०) ॥

अर्थः —द्वितीयान्त शकट प्रातिपदिक से 'वहति' के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

शकटं वहति—शाकटो वृषः (छकड़े को खींचने वाला बैल)।

[२] **वशं गतः** (४.४.८६) ॥

अर्थः — द्वितीयान्त 'वश' प्रातिपदिक से 'गतः' (गया हुआ) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

वशं गतो वश्यः (अधीन, वशवर्त्ती, आज्ञाकारी)। प्रयोग यथा—

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः॥ (हितोप० १९)

[३] **धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते** (४.४.९२) ॥

अर्थः —धर्म, पथिन्, अर्थ और न्याय इन पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'अनपेत' (न हटा हुआ, अवियुक्त, अपृथग्भूत) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

धर्माद् अनपेतं धर्म्यम् आचरणम्।
पथः (वैद्योपदेशाद्) अनपेतम् पथ्यं भोजनम्।[2]
अर्थादनपेतम् अर्थ्यं वचः (अर्थयुक्त वचन)।
न्यायादनपेतो न्याय्यः पन्थाः।[3]

[४] **प्रतिजनादिभ्यः खञ्** (४.४.९९) ॥

अर्थः — सप्तम्यन्त प्रतिजन आदि प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसंज्ञक खञ् प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—जनं जनं प्रति प्रतिजनम् (वीप्सायामव्ययीभावः)। प्रतिजने साधुः प्रातिजनीनः। सर्वो जनः सर्वजनः (कर्मधारयसमासः)। सर्वजने साधुः सार्वजनीनः। संयुगे (युद्धे) साधुः (कुशलः) सांयुगीनः। **सांयुगीनो रणे साधु**रित्यमरः। **संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः** (कुमार० २.५७)। प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश हो जाता है (१०१३)।

---

१. सभ्यशब्द का प्रयोग यथा—
तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे॥ (रघु० १.५५)

२. **नस्तद्धिते** (९१९) से भसंज्ञक टि (इन्) का लोप हो जाता है।

३. **न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।** (नीतिशतक ७४)

[५] **परिषदो ण्यः** (४.४.१०१) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त परिषद् (सभा) प्रातिपदिक से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ण्य (य) प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—परिषदि साधुः पारिषद्यः (सभा में निपुण)। क्वचित् 'ण' प्रत्यय भी देखा जाता है। परिषदि साधु पारिषदम्। **सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्**—(महाभाष्य २.१.५८)।

[६] **कथादिभ्यष्ठक्** (४.४.१०२) ॥

अर्थः—कथा आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—कथासु साधुः (कुशलः) काथिकः (बातचीत करने में निपुण)। जनवादे साधुः—जानवादिकः। आयुर्वेदे साधुः (कुशलः)—आयुर्वेदिकः। वितण्डायां साधुः—वैतण्डिकः (वितण्डा[1] करने में निपुण)। ठकार को **ठस्येकः** (१०२७) से 'इक' आदेश हो जाता है।

[७] **गुडादिभ्यष्ठञ्** (४.४.१०३) ॥

अर्थः—गुड आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—गुडे साधुः—गौडिक इक्षुः (गुड़निर्माण में उपयुक्त गन्ना)। सक्तुषु साधवः साक्तुका[2] यवाः (सत्तूनिर्माण में उपयुक्त जौ)। संग्रामे साधुः सांग्रामिकः (युद्ध में निपुण)।

[८] **पथ्यतिथि-वसति-स्वपतेर्ढञ्** (४.४.१०४) ॥

अर्थः—पथिन्, अतिथि, वसति (निवास) और स्वपति—इन चार सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ढञ् प्रत्यय हो जाता है। प्रत्यय के ञित्त्व के कारण आदिवृद्धि हो जाती है। प्रत्यय के आदि ढकार को **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से एय् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

पथि साधु पाथेयम् (मार्ग में उपयुक्त खाद्य वस्तु)।
अतिथिषु साधुः—आतिथेयः (अतिथिसेवा में निपुण)।[3]

---

१. **पक्षशून्यो जल्पो वितण्डा।** जब अपना पक्ष स्थापित किये विना दूसरों के पक्ष का खण्डन या निषेध किया जाता है तो उसे 'वाद' न कह कर 'वितण्डा' कहा जाता है। वितण्डा करने में निपुण को 'वैतण्डिक' कहते हैं। कहा भी है—**वैतण्डिकः प्रयतते निजपक्षसिद्ध्यै ताञ्चैव वेद परपक्षनिषेधलभ्याम्।**

२. **इसुसुक्तान्तात् कः** (१०५२) इति ठस्य कादेशः।

३. **प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः**—(रघु० ५.२)।

वसतौ (निवासे) साधु वासतेयं गृहम् (निवास में उपयुक्त घर आदि)।[1]
स्वपतौ साधु स्वापतेयम् (अपने मालिक के लिये उपकारक, धन)।[2]

[९] **समानतीर्थे वासी** (४.४.१०७) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'समानतीर्थ' प्रातिपदिक से 'वासी = रहने वाला' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है।

समानं च तत् तीर्थम्—समानतीर्थम्, कर्मधारयसमासः। समानतीर्थे वासी सतीर्थ्यः। तीर्थशब्द से यहां 'गुरु' अभिप्रेत है।[3] समानतीर्थ अर्थात् एक ही गुरु के समीप रह कर अध्ययन करने वाले छात्र परस्पर 'सतीर्थ्य' कहाते हैं। यत् प्रत्यय की विवक्षा में **तीर्थे ये** (६.३.८६)[4] सूत्रद्वारा समानशब्द के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है।

[१०] **समानोदरे शयित ओ चोदात्तः** (४.४.१०८) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'समानोदर' प्रातिपदिक से 'शयितः' (स्थित) अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है तथा समानोदरशब्द का ओकार भी उदात्त हो जाता है।

उदाहरण यथा—समाने उदरे शयितः सोदर्यः। जो एक ही माता के पेट में रह चुका है अर्थात् सगा भाई। यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में 'समान + उदर' में कर्म-धारयसमास हो कर **विभाषोदरे** (६.३.८७)[5] सूत्र से समानशब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है। जहां सकार आदेश नहीं होता वहां प्रकृतसूत्र से 'समानोदर्यः' सिद्ध हो जाता है। स-आदेशपक्ष में 'सोदर' से अग्रिमसूत्रद्वारा 'य' तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं—

[११] **सोदराद् यः** (४.४.१०९) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'सोदर' प्रातिपदिक से 'शयितः' (स्थित) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—समाने उदरे शयितः सोदर्यः (सगा भाई)। **एकं प्रसूयते माता**

---

१. **वनेषु वासतेयेषु निवसन् पर्णसंस्तरे।**
शय्योत्थायं मृगान्विध्यन् नातिथेयो विचक्रमे॥ (भट्टि० ४.८)।

२. **द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु**—इत्यमरः।

३. तरन्त्यनेनेति तीर्थम्। **तरतेस्थक्** (उणा० २.७)। **तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्याय-मन्त्रिषु। योनौ जलावतारे चेति** विश्वः। इह तूपाध्यायवाचिनः एव ग्रहणं नाऽन्यस्य, सञ्ज्ञाधिकाराद् इति तत्त्वबोधिन्यां ज्ञानेन्द्रस्वामी।

४. **तीर्थे ये** (६.३.८६)। अर्थः—यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है यदि तीर्थशब्द उत्तरपद में हो तो।

५. **विभाषोदरे** (६.३.८७)। अर्थः—यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में उदरशब्द के परे रहते समानशब्द के स्थान पर 'स' आदेश विकल्प से हो जाता है।

द्वितीयं वाक् प्रसूयते। **वाग्जातमधिकं प्राहुः सोदर्यादपि बान्धवात्** (पञ्चतन्त्र ४.६)।[1]

अभ्यास [८]

(१) विग्रहप्रदर्शनपूर्वक निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—
१. रथ्यः। २. अर्थ्यं (वचः)। ३. नाव्यम्। ४. सीत्यम्। ५. सभ्यः। ६. सोदर्यः। ७. शरण्यः। ८. समानोदर्यः। ९. धौरेयः। १०. धर्म्यम्। ११. अग्र्यः। १२. आतिथेयः। १३. धुर्यः। १४. माल्यानि (पुष्पाणि)। १५. पथ्यम्। १६. वैतण्डिकः। १७. सार्वजनीनः। १८. प्रासङ्ग्यः। १९. सतीर्थ्यः। २०. युग्यः।

(२) प्रत्ययों और तद्विधायक सूत्रों का निर्देश करते हुए निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप निर्दिष्ट करें—
१. वयसा तुल्यः। २. सामसु साधुः। ३. शकटं वहति। ४. स्वपतौ साधु। ५. वशं गतः। ६. संयुगे साधुः। ७. न्यायादनपेतम्। ८. पथि साधु। ९. वसतौ साधु। १०. विषेण वध्यः। ११. मूलेन समः। १२. मूलेनानाम्यम्। १३. गुडे साधुः। १४. आयुर्वेदे साधुः। १५. कथासु साधुः।

(३) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक उत्तर दीजिये—
[क] **तत्र साधुः** में 'साधुः' से क्या अभिप्रेत है?
[ख] 'तीर्थम्' का 'गुरु' अर्थ कहां और कैसे किया जाता है?
[ग] 'धुर्यः' में **हलि च** से उपधादीर्घ क्यों नहीं होता?
[घ] धर्मादनपेतं धर्म्यम्, धर्मात्प्राप्यं धर्म्यम्—दोनों में क्या अन्तर है?
[ङ] पारिषद्यम्, पारिषदम्—दोनों में कौन सा रूप शुद्ध है?
[च] 'धुरीणः' में किस सूत्रद्वारा कौन सा प्रत्यय किया जाता है?

---

१. सगे भाई के अर्थ में प्रसिद्ध 'सोदर' शब्द इस से भिन्न है। वह 'सह+उदर' के बहुव्रीहिसमास से निष्पन्न होता है। सह (समानम्) उदरं (मातुरुदरम्) यस्य स सोदरः सहोदरो वा। यहां बहुव्रीहिसमास में **वोपसर्जनस्य** (६.३.८१) सूत्रद्वारा 'सह' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है। सोदरशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥ (अनर्घराघव ४)

सहोदरशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥
(विक्रमाङ्कदेवचरित १.२१)

[छ] 'आनाम्यम्' से क्या अभिप्रेत है ?

[ज] भ्रातृवाचक सोदर और सहोदर शब्दों की निष्पत्ति कैसे होती है ?

[झ] 'सीत्यम्' का नागेशभट्टोक्त अर्थ क्या है ?

(४) तुलया सम्मितं तुल्यम्—यहां का काशिकोक्त तथा तत्त्वबोधिनीकारोक्त आशय स्पष्ट कीजिये ।

(५) 'वयसा तुल्यः शत्रुः' इस आशय के लिये क्या 'वयस्यः' का प्रयोग हो सकता है या नहीं ? सहेतु टिप्पण करें ।

(६) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—

१. तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् । २. धुरो यड्ढकौ । ३. नौवयोधर्म० । ४. सभाया यः । ५. धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते । ६. समानोदरे शयित ओ चोदात्तः । ७. समानतीर्थे वासी । ८. पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् । ९. तत्र साधुः । १०. परिषदो ण्यः ।।

[लघु०] इति यतोऽवधिः ।।

अर्थः—यहां यत् प्रत्यय का अधिकार समाप्त होता है ।

व्याख्या—प्राग्घिताद्यत् (११३०) के कारण इस प्रकरण को 'प्राग्घितीय' भी पुकारा जाता है । प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में इसे इसी नाम से व्यवहृत किया गया है ।

(यहां यत् प्रत्यय का अधिकार समाप्त होता है ।)

——:०:——

अथ छयतोरधिकारः

अब छ और यत् प्रत्ययों का अधिकार प्रारम्भ हो रहा है । यह यहां विशेष ध्यातव्य है कि अष्टाध्यायीस्थ पञ्चमाध्याय के प्रत्यय अब प्रारम्भ किये जा रहे हैं ।

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—**(११३७) प्राक् क्रीताच्छः ।५।१।१।।**

तेन क्रीतम् (११४४) इत्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ।।

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से ले कर **तेन क्रीतम्** (५.१.३६) सूत्र से पूर्व पूर्व 'छ' प्रत्यय अधिकृत किया जा रहा है ।

व्याख्या--प्राक् इत्यव्ययपदम् । क्रीतात् ।५।१। (**तेन क्रीतम्** सूत्र के क्रीतशब्द का यहां निर्देश किया गया है) । छः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः---(क्रीतात् प्राक्) यहां से ले कर अष्टाध्यायी **में तेन क्रीतम्** (५.१.३६) सूत्र से पूर्व (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय अधिकृत **किया जाता है ।**

तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी में इस सूत्र से ले कर आगे आने वाले **तेन क्रीतम्** (५.१.३६) सूत्र से पूर्व तक जहां जहां अर्थनिर्देश तो किया गया हो परन्तु प्रत्यय न बताया गया हो वहां वहां 'छ' प्रत्यय का अधिकार होगा। यथा आगे **तस्मै हितम्** (११३९) सूत्र पर प्रत्यय नहीं कहा गया, केवल अर्थ ही बताया गया है तो वहां 'छ' प्रत्यय होगा। वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः। इस की सिद्धि और व्याख्या आगे उसी सूत्र पर देखें।

अब इसी अवधि तक प्रकृतिविशेष से यत् प्रत्यय के अधिकार का निरूपण करते हैं —

[**लघु०**] अधिकार-सूत्रम्—(**११३८**) **उगवादिभ्यो यत्** ।५।१।२॥

प्राक् क्रीतादित्येव। उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात्। छस्यापवादः। शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु। **गव्यम्** ॥

अर्थः—उवर्णान्त प्रातिपदिक से परे तथा गवादिगणपठित प्रातिपदिकों से परे प्राक्क्रीतीय अर्थों में यत् तद्धितप्रत्यय अधिकृत किया जाता है। यह पूर्वोक्त छप्रत्यय का अपवाद है।

व्याख्या—उगवादिभ्यः ।५।३। यत् ।१।१। 'प्राक् क्रीतात्' का पूर्वसूत्र से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—गोशब्द आदिर्येषान्ते गवादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। उश्च गवादयश्च उगवादयः, तेभ्यः=उगवादिभ्यः। इतरेतरद्वन्द्वः। 'उ' को 'प्रातिपदिक' का विशेषण मान कर तदन्तविधि करने से 'उवर्णान्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—यहां से ले कर (प्राक् क्रीतात्) **तेन क्रीतम्** सूत्र से पहले के अर्थों में (उगवादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः) उवर्णान्त तथा गवादिगणपठित प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वसूत्र से प्राक्क्रीतीय अर्थों में 'छ' प्रत्यय प्राप्त था। अब इस सूत्र से उवर्णान्त तथा गवादियों से यत् प्रत्यय ही होगा छप्रत्यय नहीं। हां ! शेषों से यदि कोई अपवाद न हो तो 'छ' ही होगा। यत् में तकार अनुबन्ध है जो स्वरार्थ जोड़ा गया है।

उवर्णान्त का उदाहरण यथा —

शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु (शङ्कु=कीली=खूंटी के लिये हितकर=उपयोगी लकड़ी)। यहां 'शङ्कु ङे' इस उवर्णान्त चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से **तस्मै हितम्** (११३९) के अर्थ में **प्राक् क्रीताच्छः** (११३७) द्वारा प्राप्त छप्रत्यय का बाध कर प्रकृत **उगवादिभ्यो यत्** (११३८) सूत्र से उवर्णान्तमूलक यत् प्रत्यय हो जाता है। यत् के तकार अनुबन्ध का लोप होकर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङे) का लुक् करने से 'शङ्कु+य' बना। पुनः **यचि भम्** (१६५) द्वारा भसञ्ज्ञक उकार को **ओर्गुणः** (१००५) सूत्र से गुण—ओकार तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से ओकार को अव् आदेश करने पर—शङ्कव्य। अब विशेष्य (दारु) के अनुसार नपुंसक

के प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश (२३४) तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'शङ्कव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) सक्तुभ्यो हिताः सक्तव्या धानाः (सत्तुओं के लिये उपयुक्त धानी)।

(२) कमण्डलवे हिता कमण्डलव्या मृत् (कमण्डलु के लिये उपयुक्त मिट्टी)।

(३) पिचवे हितः पिचव्यः कर्पासः (रूई के लिये उपयुक्त कपासझाड़)।[1]

(४) परशवे हितं परशव्यम् अयः (कुल्हाड़े के लिये उपयुक्त लोहा)।

(५) चरुभ्यो हिताश्चरव्यास्तण्डुलाः (चरुओं के लिये उपयुक्त चावल)।[2]

गवादियों का उदाहरण यथा—

गोभ्यो हितं गव्यं शष्पम् (गौओं के लिये हितकर तृणघास आदि)। यहां 'गो भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त गोशब्द से **तस्मै हितम्** (११३९) के अर्थ में अधिकृत छप्रत्यय का बाध कर **उगवादिभ्यो यत्** (११३८) से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से ओकार को अव् आदेश कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब ग्रन्थकार गवादिगण में पठित एक गणसूत्र को उद्धृत करते हैं—

[लघु०] गणसूत्रम्—**नाभि नभं च** ॥

नभ्योऽक्षः। नभ्यम् अञ्जनम् ॥

अर्थः—यत् प्रत्यय करते समय नाभिशब्द नभआदेश को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—यह गवादिगण में पढ़ा गया एक गणसूत्र है। नाभि ।१।१। नभम् ।२।१। च इत्यव्ययपदम्। यत्प्रत्यये क्रियमाणे नाभिशब्दो 'नभ' इत्यादेशं प्रपद्यत इत्यर्थः। अर्थः—यत् प्रत्यय करने पर (नाभि) नाभिशब्द (नभं च) 'नभ' आदेश को भी प्राप्त होता है। यत् प्रत्यय गवादित्वात् **उगवादिभ्यो यत्** (११३८) सूत्र से होता है। उदाहरण यथा—

नाभये हितो नभ्योऽक्षः। रथचक्र की नाभि के लिये हितकर=उपयुक्त=fit अक्ष (रथ के पहियों का दण्ड)।[3] 'नाभि ङे' यहां **तस्मै हितम्** (११३९) के अर्थ में **प्राक् क्रीताच्छः** (११३७) से प्राप्त छप्रत्यय का बाध कर **उगवादिभ्यो यत्** (११३८)

१. **कर्पासस्तु बादरः स्यात् पिचव्य** इति हैमे।

२. अनवस्रावितान्तरूष्मपाक ओदनश्चरुरिति याज्ञिकाः। याज्ञिक लोग ऐसे भात को 'चरु' कहते हैं जिस से माण्ड न निकाला गया हो और जो भीतरी भाप से पकाया गया हो। कैयट उपाध्याय का कथन है—स्थालीवाची चरुशब्दः तात्स्थ्यादोदने भाक्त इति। अर्थात् 'चरु' का मुख्य अर्थ पाकपात्र है परन्तु उस में पकने वाले भात को भी 'चरु' कह दिया जाता है।

३. रथचक्राङ्गं सच्छिद्रं—नाभिः। तदनुप्रविष्टः काष्ठविशेषोऽक्षः। स च तदनुगुणत्वात् तस्मै हित इति तत्त्वबोधिन्यां ज्ञानेन्द्रस्वामी।

से यत् प्रत्यय, **नाभि नभं च** इस गणसूत्र से नाभि के स्थान पर 'नभ' सर्वादेश, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने से — नभ् + य = नभ्य । अब विशेष्य के अनुसार पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'नभ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार नाभये हितं नभ्यम् अञ्जनम् । तैलसिञ्चन को 'अञ्जन' कहते हैं। नाभि के लिये हितकर तैलसिञ्चन को यहां 'नभ्य' कहा गया है । तैल-लगाने से नाभि और तद्द्वारा रथचक्र सरलता से घूमता है इसलिये इसे नाभि के लिये हितकर कहा गया है ।[1]

गवादिगण[2] के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) हविषे हितं हविष्यम् आज्यम् (हविः के लिये हितकर घृतादि) ।
(२) मेधायै हितं मेध्यं चूर्णम् (बुद्धि के लिये हितकर चूर्ण) ।
(३) अध्वने हितम् अध्वन्यं[3] मोदकम् (मार्ग के लिये हितकर मोदक) ।
(४) शुने हितं शून्यं शुन्यं वा (कुत्ते के लिये हितकर —एकान्तस्थान) ।[4]
(५) स्रुचे हितं स्रुच्यं काष्ठम् (स्रुवा के लिये उपयुक्त लकड़ी) ।
(६) ऊधसे हितम् ऊधन्यम् (चड्डे के लिये हितकर वस्तु) ।[5]

अब इस प्रकरण के अर्थविधायक सुप्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

---

१. रथ आदि की नाभि का ही गवादिगण में पाठ समझना चाहिये । शरीरस्थ नाभि के हितकर में तो परत्व के कारण **शरीरावयवाद्यत्** (११४०) सूत्रद्वारा केवल यत् प्रत्यय ही होगा नभ आदेश नहीं । नाभये हितं नाभ्यं तैलम् (उदरस्थ नाभि के लिये हितकर तैल आदि) ।

२. गवादिगण यथा—
गो । हविस् । अक्षर । विष । बर्हिस् । अष्टका (इष्टका इति प्रक्रियासर्वस्वे) । स्खदा (स्खद इति काशिकायाम्) । युग । मेधा । स्रुच् (स्रज् इति काशिकायाम्) । **नाभि नभं च** (गणसूत्रम्) । **शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वं तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम्** (ग. सूत्रम्) । **ऊधसो नङ् च** (ग. सूत्रम्) । कूप । खद (खट इति काशिकायाम्) । दर (उदर इति काशिकायाम्) । खर । असुर । अध्वन् । क्षर । वेद । बीज । दीप्त (दसि) । स्कन्द ।।

३. **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) इति प्रकृतिभावेन **नस्तद्धिते** (६१६) इति टिलोपो बाध्यते ।

४. 'श्वन् + य' इति स्थितौ **शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम्** इति गणसूत्रेण वकारस्य सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे, वा च दीर्घे कृते शून्यं शुन्यञ्चेति सिध्यतः । गणसूत्रस्थचकारेण प्रकृतिभावः समुच्चीयते । तेन दीर्घतदभावयोष्टिलोपो न ।

५. ऊधस्शब्दाद् यति **ऊधसो नङ्** चेतिगणसूत्रेण सकारस्य नङि अनुबन्धलोपे प्रकृतिभावे च विहिते रूपं सिध्यति ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३९) **तस्मै हितम्** ।५।१।५॥

वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् ॥

अर्थः— चतुर्थ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'हित = हितकर' अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'छ' प्रत्यय हो।

व्याख्या—तस्मै ।५।१। (चतुर्थ्यन्त के अनुकरण 'तस्मै' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। हितम् ।१।१। छः ।१।१। (प्राक् **क्रीताच्छः** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्मै = चतुर्थ्यन्तात् प्रातिपदिकात्) चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से (हितमित्यर्थे)[1] 'हित करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

वत्सेभ्यो हितः—वत्सीयः (गोधुक्)।[2] (बछड़ों के लिये हितकारी ग्वाला)। यहां 'वत्स भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से 'हितकर' अर्थ में प्रकृत **तस्मै हितम्** (११३९) सूत्र से छ प्रत्यय, तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि छकार को ईय् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वत्सीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि उकारान्तों और गवादियों से तो यत् ही होगा जैसाकि **उगवादिभ्यो यत्** (११३८) सूत्र पर बताया जा चुका है। वहां के उदाहरण भी इस सूत्र के उदाहरण समझने चाहियें—शङ्कव्यम्, गव्यम् आदि।

प्रकृतसूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) करभेभ्यो हितः करभीय उष्ट्रः।

(२) मात्रे हितो मात्रीयः पुत्रः।

(३) पित्रे हितः पित्रीयः पुत्रः।

---

१. **हि गतिवृद्ध्योः** (स्वा० परस्मै०) या **डुधाञ् धारणपोषणयोः** (जुहो० उभय०) धातु से कर्ता या कर्म में क्तप्रत्यय करने पर 'हित' शब्द सिद्ध होता है। हितशब्द का मूल अर्थ—गया हुआ, बढ़ा हुआ, गतिशील, वृद्धिशील, धारण किया गया, रखा गया, पुष्ट किया गया इत्यादि समझने चाहियें। परन्तु यह शब्द अब अर्थविस्तार को प्राप्त कर अन्यविध अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यथा—पथ्य, सुखकारक, किसी के प्रति अच्छा, हितकर, लाभप्रद, उपयुक्त (Fit), अनुकूल, भला इत्यादि इस के अर्थ हैं। यथास्थान और यथावसर इन में से कोई हितशब्द का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। सूत्रकार ने हितशब्द का इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है।

२. गां दोग्धीति गोधुक्। गोकर्मण्युपपदे **क्विँप् च** (८०२) इति कर्तरि क्विँप्। इस की सुँबन्तप्रक्रिया 'दुह्' शब्द के समान समझनी चाहिये। बछड़ों को तृप्त करा कर बाद में दोहन करने वाला अथवा बछड़ों के लिये पर्याप्त दूध छोड़ने वाला ग्वाला बछड़ों के लिये हितकर होता है।

स्त्रियै हितं स्त्रैणम्, पुंसे हितं पौंस्नम् । इन में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय होते हैं।

वृष्णे हितम्, ब्राह्मणाय हितम् इत्यादियों में वाक्य ही अभीष्ट है तद्धितवृत्ति नहीं, अतः छप्रत्यय नहीं होता।[1]

अब शरीरावयववाचकों से यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११४०) शरीरावयवाद् यत्** ।५।१।६।।[2]

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् ।।

अर्थः—शरीर के अवयव के वाचक चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से 'हित' (हितकर) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शरीरावयवात् ।५।१। यत् ।१।१। **तस्मै हितम्** सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—शरीरस्य अवयवः शरीरावयवः, तस्मात्=शरीरावयवात् । षष्ठीतत्पुरुष-समासः। शब्दानुशासनस्य अधिकृतत्वात् तद्वाचकादिति गम्यते। अर्थः—(तस्मै= चतुर्थ्यन्तात्) चतुर्थ्यन्त (शरीरावयवात्) शरीरावयववाची प्रातिपदिक से (हितम् इत्यर्थे) हितकर अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है। दन्त, कण्ठ, नासिका, ओष्ठ, चक्षुस् आदि शरीरावयववाची प्रातिपदिक हैं। यह सूत्र छप्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम् (दान्तों के लिये हितकारी मञ्जन आदि)। दन्तशब्द शरीरावयववाचक है अतः 'दन्त भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से 'हित=हितकर' अर्थ में प्रकृत **शरीरावयवाद्यत्** (११४०) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा भसंज्ञक अकार का लोप और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'दन्त्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह—कण्ठाय हितं कण्ठ्यम् (कण्ठ के लिये हितकर)।

नासिकायै हितं नस्यम् (नासिका के लिये हितकर)। यहां 'नासिका ङे' इस चतुर्थ्यन्त से प्रकृत **शरीरावयवाद्यत्** (११४०) सूत्रद्वारा 'हित=हितकर' अर्थ में यत् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङे) का लुक् करने से 'नासिका+य' हुआ। अब **नस् नासिकाया यत्-तस्-क्षुद्रेषु** (वा०[3]) इस वार्त्तिक से नासिका के स्थान पर नस् सर्वादेश कर विभक्ति-

---

१. **वृषन्-ब्राह्मण-राजाऽऽचार्येभ्यो हितप्रत्ययो नेष्टः** (प्रक्रियासर्वस्वे)।

२. पीछे शैषिकप्रकरण में **शरीरावयवाच्च** (१०६४) सूत्रद्वारा **तत्र भवः** (१०६२) के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान दर्शाया जा चुका है परन्तु यहां **शरीरावयवाद्यत्** (११४०) सूत्र से **तस्मै हितम्** (११३९) के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। दोनों सूत्रों तथा उन के अर्थों के अन्तर को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है। इन में विद्यार्थी प्रायः भ्रान्त हो जाते हैं।

३. यह वार्त्तिक **पद्दन्नोमास्०** (६.१.६१) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। 'यत्, तस् और क्षुद्र—इन के परे रहते नासिकाशब्द के स्थान पर 'नस्' आदेश हो जाता है' यह इस का अर्थ है।

कार्य करने से 'नस्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा हो जाने के कारण सकार को **ससजुषो रुँः** (१०५) से रुँत्व नहीं होता।

सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) ओष्ठाभ्यां हितम् ओष्ठ्यम् (होठों के लिये हितकर)।

(२) चक्षुर्भ्यां हितं चक्षुष्यम् (आंखों के लिये हितकर)।

(३) नाभये हितं नाभ्यम् (नाभि के लिये हितकर)।[1]

(४) मूर्ध्ने हितं मूर्धन्यम् (मस्तक के लिये हितकर)।[2]

अब आत्मन् आदि प्रातिपदिकों से 'हित=हितकर' अर्थ में 'ख' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११४१**)

आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः ।५।१।६॥

अर्थः—आत्मन्, विश्वजन तथा भोगोत्तरपद (भोगशब्द जिस में उत्तरपद है यथा—मातृभोग आदि)—इन चतुर्थ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'हित' (हितकर) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'ख' प्रत्यय हो।

व्याख्या—आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् ।५।१। खः ।१।१। **तस्मै हितम्** (५.१.५) सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—भोगः (भोगशब्दः) उत्तरपदं यस्य स भोगोत्तरपदः, बहुव्रीहिसमासः। आत्मा च विश्वजनश्च भोगोत्तरपदश्चैषां समाहारः—आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदम्, तस्मात्=आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्, समाहारद्वन्द्वः।[3] अर्थः—(तस्मै=चतुर्थ्यन्तात्) चतुर्थ्यन्त (आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्) आत्मन्, विश्वजन और भोगोत्तरपद प्रातिपदिक से (हितम् इत्यर्थे) 'हित=हितकर' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (खः) 'ख' प्रत्यय हो जाता है।

यह सूत्र औत्सर्गिक 'छ' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

आत्मने हितम् आत्मनीनम् (अपने लिये हितकर)। यहां 'आत्मन् ङे' इस चतुर्थ्यन्त से 'हित=हितकर' अर्थ में प्रकृत **आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः** (११४१) सूत्र से 'ख' प्रत्यय हो जाता है। अब सुँप् (ङे) का लुक् हो कर **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्र से प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश करने पर—आत्मन् + ईन्

---

१. यहां का वक्तव्य पीछे (२१७) पृष्ठ पर लिख चुके हैं।

२. **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) इति प्रकृतिभावेन **नस्तद्धिते** (९१९) इति टिलोपो न।

३. इस समाहारद्वन्द्व में स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये आत्मन् के नकार का लोप नहीं किया गया। अत एव काशिकाकार ने कहा है—

आत्मन् इति नलोपो न कृतः प्रकृतिपरिमाणज्ञापनार्थम्। तेनोत्तरपदग्रहणं भोगशब्देनैव सम्बध्यते न तु प्रत्येकम्।

अ = आत्मन् + ईन। पुनः इस स्थिति में **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा के कारण **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्रद्वारा टि (अन्) का लोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। इस पर उस के वारणार्थ अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(११४२) आत्माऽध्वानौ खे।६।४।१६९॥**

एतौ खे प्रकृत्या स्तः। आत्मने हितम् आत्मनीनम्। विश्वजनीनम्। मातृभोगीणः॥

अर्थः—'ख' प्रत्यय के परे रहते आत्मन और अध्वन् शब्द प्रकृतिभाव से रहते हैं।

व्याख्या—आत्माऽध्वानौ।१।२। खे।७।१। प्रकृत्या।३।१। (**प्रकृत्यैकाच्** सूत्र से)। समासः—आत्मा च अध्वा च आत्माध्वानौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(आत्माऽध्वानौ) आत्मन् और अध्वन् शब्द (प्रकृत्या) प्रकृति से रहते हैं (खे) 'ख' प्रत्यय परे हो तो।

यदि टि (अन्) का लोप हो जाये तो आत्मन् और अध्वन् शब्दों की प्रकृति अर्थात् स्वरूप में विकृति आ जायेगी अतः प्रकृति से रहने का यही तात्पर्य है कि इन के अन् का लोप न हो।

'आत्मन् + ईन' यहां ख (ईन) प्रत्यय के परे रहने से **आत्माध्वानौ खे** (११४२) इस प्रकृतसूत्र से आत्मन् की टि के लोप का निषेध हो कर विभक्ति लाने से 'आत्मनीनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'ख' परे रहते अध्वन् का उदाहरण है—अध्वानम् अलङ्गामी अध्वनीनः[1] (यात्रा करने वाला)। इसे सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में देखना चाहिये।

पूर्वसूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

विश्वे जनाः – विश्वजनाः, कर्मधारयसमासः। विश्वजनेभ्यो हितम्—विश्वजनीनम् (सब लोगों के लिये हितकर वस्तु)। यहां 'विश्वजन भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त से 'हित = हितकर' अर्थ में **आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्खः** (११४१) सूत्रद्वारा खप्रत्यय हो जाता है। अब सुँप् (भ्यस्) का लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'विश्वजनीनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

---

१. **अध्वनो यत्खौ** (५.२.१६) इति खप्रत्ययः।

२. **कर्मधारयादेवेष्यते** (काशिका)। अर्थात् विश्वजनशब्द यदि कर्मधारयसमास से उपपन्न हुआ हो तभी उस से खप्रत्यय करना अभीष्ट है अन्यथा (षष्ठीतत्पुरुष या बहुव्रीहि होने पर) औत्सर्गिक 'छ' प्रत्यय ही किया जायेगा। यथा—विश्वस्य जनो विश्वजनो वैद्यादिः, तस्मै हितं विश्वजनीयम्। यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास के कारण 'छ' प्रत्यय ही होता है। इसीप्रकार विश्वो जनो यस्य स विश्वजनः, तस्मै हितम् – विश्वजनीयम्। यहां बहुव्रीहिसमास के कारण 'छ' ही होता है 'ख' नहीं।

मातुर्भोगः (शरीरम्)[1] = मातृभोगः, षष्ठीतत्पुरुषः। मातृभोगाय हितो मातृभोगीणः (आहारः)। माता के शरीर के लिये हितकर आहार आदि। यहां 'मातृभोग ङे' इस चतुर्थ्यन्त से 'हित = हितकर' अर्थ में **आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः** (११४१) सूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय, सुँब्लुक्, ख् को ईन् आदेश (१०१३), **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप तथा **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार[2] कर विभक्ति लाने से 'मातृभोगीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार— पितृभोगीणः, राजभोगीनः, आचार्यभोगीनः,[3] स्वभोगीनः आदि की सिद्धि समझ लेनी चाहिये।

इस सूत्र पर दो वार्त्तिक बहुत प्रसिद्ध हैं—

[१] **सर्वजनाट् ठञ् खश्च** (वा०)॥

अर्थः—चतुर्थ्यन्त 'सर्वजन' शब्द से 'हित = हितकर' अर्थ में ठञ् और ख तद्धित प्रत्यय हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

सर्वो जनः सर्वजनः, कर्मधारयसमासः। सर्वजनाय हितम्—सार्वजनिकम् (ठञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा यस्येतिचलोप), सर्वजनीनम् (खप्रत्यय, ख्

---

१. यद्यपि **भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः** इत्यमरेण अहेरित्युक्तं तथापि प्रयोगबाहुल्याभिप्रायं तत्। शक्तिस्तु शरीरमात्रे इत्याकरः।

२. ध्यान रहे कि **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) सूत्रद्वारा समानपद अर्थात् अखण्डपद में णत्व होता है। जिस पद के खण्ड अर्थात् टुकड़े कर उन का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग न किया जा सके उसे अखण्डपद कहते हैं। यथा—रामेण अखण्ड पद है, इस के खण्ड नहीं किये जा सकते। इसलिये यहां णत्व हो जाता है। रघुनाथः, रमानाथः, रामनाम—ये अखण्डपद नहीं, इन के खण्ड हो सकते हैं। रघु और नाथ इन दोनों खण्डों का स्वतन्त्र प्रयोग किया जा सकता है अतः इन में णत्व नहीं हुआ। जिस पद का एक खण्ड हो सके परन्तु दूसरा न हो सके वह भी अखण्डपद समझना चाहिये। यथा—खरं पातीति खरपः, खरपस्यापत्यं खारपायणः (नडादित्वात् फक्) इत्यादि अखण्डपद हैं। इसीप्रकार—वारिणा, श्रीपेण आदि में समझना चाहिये। प्रकृत में 'मातृभोगीणः' भी अखण्डपद है, इस के खण्ड भी नहीं किये जा सकते। मातृशब्द का यद्यपि स्वतन्त्र प्रयोग होता है तथापि 'भोगीन' का नहीं होता क्योंकि ख (ईन) प्रत्यय केवल भोगशब्द से न होकर भोगोत्तरपद से विधान किया गया है। इस प्रकार 'मातृभोगीणः' में णत्वविधि निर्बाध सिद्ध हो जाती है। कुछ लोग यहां **कुमति च** (८.४.१३) से णत्व दर्शाया करते हैं जो नितान्त अशुद्ध है। उस का अर्थ विचारते ही अशुद्धि समझ में आ जाती है।

३. **आचार्यादणत्वं च** (आचार्यशब्दात् परस्य भोगीनशब्दस्य नस्य णत्वं न इत्यर्थः) इस वार्त्तिक से यहां णत्व का निषेध हो जाता है। परन्तु 'राजभोगीनः' में अनिष्ट जकार के व्यवधान के कारण णत्व का अभाव समझना चाहिये।

को ईन् आदेश तथा यस्येतिचलोप)। ये दोनों प्रत्यय भी कर्मधारय से ही इष्ट हैं। अन्य समास होगा तो छप्रत्यय हो कर 'सर्वजनीयम्' बनेगा।

[२] **सर्वाण्णो वेति वक्तव्यः** (वा०)॥

अर्थः—चतुर्थ्यन्त 'सर्व' शब्द से 'हित=हितकर' अर्थ में तद्धित 'ण' प्रत्यय विकल्प से हो जाता है। 'ण' में णकार इत् है, 'अ' मात्र शेष रहता है। उदाहरण यथा—

सर्वस्मै हितः सार्वः (सब के लिये हितकर)। 'ण' के अभाव में औत्सर्गिक 'छ' हो जायेगा—सर्वस्मै हितः सर्वीयः।

प्रकृतसूत्र के कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(१) **क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते।** (माघ० १.४१)

(२) **नैवात्मनीनमथवा क्रियते मदान्धैः।** (माघ० ५.४४)

(३) **आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः सम्भवन्ति विरमन्ति चापदः।**
(किरात० १३.६६)

(४) **लब्धां ततो विश्वजनीनवृत्ति-**
स्तामात्मनीनामुद्वोढ रामः। (भट्टि० २.४८)

(५) **अमितम्पचमीशानं सर्वभोगीणमुत्तमम्।**
आवयोः पितरं विद्धि ख्यातं दशरथं भुवि॥ (भट्टि० ६.९८)

(६) **सौमित्रे! मामुपायंस्थाः कम्रामिच्छुर्वशंवदाम्।**
स्वभोगिनीं सहचरीमशङ्कः पुरुषायुषम्॥ (भट्टि० ४.२०)

अभ्यास [९]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—

[क] छप्रत्यय का अधिकार कहां तक जाता है?

[ख] **आत्मन्विश्वजन०** सूत्र में 'भोग' शब्द किस का वाचक है?

[ग] 'मातृभोगीणः' को अखण्डपद मान कर कैसे णत्व हो जाता है?

[घ] 'आचार्यभोगीनः' में णत्व क्यों नहीं हुआ?

[ङ] 'आत्मनीनः' में टि का लोप क्यों नहीं हुआ?

[च] 'मूर्धन्यः' में **नस्तद्धिते** की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

[छ] शरीरावयववाचियों से यत् प्रत्यय कहां कहां होता है?

(२) अन्तर स्पष्ट करें—

नाभ्यम्—नभ्यम्। विश्वजनीनम्—विश्वजनीयम्। सार्वजनिकम्—सर्वजनीयम्।

(३) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—

१. आत्मन्विश्वजन०। २. उगवादिभ्यो यत्। ३. तस्मै हितम्। ४. शरीरावयवाद्यत्। ५. आत्माध्वानौ खे। ६. नाभि नभं च। ७. ऊधसो

नङ् च । ८. शुनः सम्प्रसारणं० । ९. सर्वाण्णो वेति वक्तव्यम् । १०. सर्वजनाट् ठञ् खश्च ।

(४) विग्रह का निर्देश करते हुए निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. मातृभोगीणः । २. विश्वजनीनम् । ३. आत्मनीनम् । ४. वत्सीयः । ५. गव्यम् । ६. शङ्कव्यम् । ७. सार्वजनिकम् । ८. सार्वः । ९. नस्यम् । १०. दन्त्यम् ।

(५) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप सिद्ध करें ।
१. कण्ठाय हितम् । २. ऊधसे हितम् । ३. शुने हितम् । ४. नाभये हितम् । ५. पशुभ्यो हितम् । ६. अध्वने हितम् । ७. मेधायै हितम् । ८. मात्रे हितः । ९. राज्ञे हितः । १०. पुंसे हितम् । ११. आचार्याय हितम् । १२. स्त्रीभ्यो हितम् । १३. सक्तुभ्यो हिताः ।

[**लघु०**] इति छयतोरधिकारः ।।

(यहां छ और यत् प्रत्ययों के अधिकार का विवेचन समाप्त होता है ।)

——:०:——

अथ ठञधिकारः

अब ठञ् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन करते हैं—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रम्—(११४३) **प्राग्वतेष्ठञ्** ।५।१।१८।।

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५.१.११४) इति वतिं वक्ष्यति, ततः प्राक् ठञ् अधिक्रियते ।।

अर्थः—अष्टाध्यायी में **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (५.१.११४) सूत्रद्वारा वतिँप्रत्यय का विधान आगे कहा जायेगा । उस से पूर्व ठञ् प्रत्यय का अधिकार किया जा रहा है । अर्थात् उस से पूर्व कहे अर्थों में ठञ् प्रत्यय होगा ।

व्याख्या—प्राग् इत्यव्ययपदम् । वतेः ।५।१। ठञ् ।१।१। अर्थः—(वतेः प्राक्) वतिँप्रत्यय से पूर्व तक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय अधिकृत है । वतिँप्रत्यय का विधान **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११५१) सूत्रद्वारा आगे किया जायेगा । उस सूत्र से पूर्व पूर्व ठञ् प्रत्यय का अधिकार है । अर्थात् यहां से ले कर **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११५१) सूत्र से पूर्व तक जहां जहां अर्थनिर्देश किया गया होगा और प्रत्यय नहीं बताया गया होगा वहां वहां ठञ् तद्धितप्रत्यय हो जायेगा । यथा—**तेन क्रीतम्** (११४४) । यहां अर्थ का निर्देश तो किया गया है परन्तु प्रत्यय का नहीं, अतः यहां ठञ् प्रत्यय होगा । यथा—सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् । इस का विवेचन अगले सूत्र पर देखें ।

ठञ् (इक)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४४) **तेन क्रीतम्** ।५।१।३६।।

सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् । प्रास्थिकम् ।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'क्रीत=खरीदा हुआ' इस अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । क्रीतम् ।१।१। ठञ् ।१।१। (**प्राग्वतेष्ठञ्** इस अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (क्रीतम् इत्यर्थे) 'खरीदा गया' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् (सत्तर से खरीदी गई वस्तु) । यहां 'सप्तति टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'क्रीत=खरीदा गया' अर्थ में **प्राग्वतेष्ठञ्** (११४३) के अधिकार में **तेन क्रीतम्** (११४४) सूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय होकर अनुबन्ध-लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (टा) का लुक्, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'साप्ततिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रस्थेन क्रीतं प्रास्थिकम् (प्रस्थ भर वजन की वस्तु दे कर खरीदी हुई वस्तु) । यहां 'प्रस्थ टा' से 'क्रीत' अर्थ में पूर्ववत् **तेन क्रीतम्** (११४४) सूत्र से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'प्रास्थिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

वणिजा क्रीतम्, देवदत्तेन क्रीतम्, पाणिना क्रीतम् इत्यादि स्थानों पर इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । यह प्रत्यय मूल्यवाचक करणतृतीयान्त से ही प्रवृत्त होता है । द्विवचनान्त और बहुवचनान्त मूल्यवाचकों से भी इस की प्रवृत्ति नहीं होती । यथा—प्रस्थाभ्यां क्रीतम्, प्रस्थैः क्रीतम् । हां ! जहां एक से क्रय सम्भव नहीं होता वहां बहुवचनान्तों से भी इस की प्रवृत्ति हो जाती है । यथा—मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम्, माषैः क्रीतं माषिकम् । यहां एक मूंग या एक माष के दाने से क्रय सम्भव नहीं होता—(काशिका) ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) गोपुच्छेन क्रीतम्—गौपुच्छिकम् (गाय की पूँछ से खरीदी वस्तु)[1] ।

---

१. गौपुच्छिक उस वस्तु को कहा गया है जो गोपुच्छ के बदले में ली जाती थी । डा० भण्डारकर ने गोपुच्छ को अदलाबदली या सिक्कों की तरह क्रयविक्रय का साधन माना है । किन्तु गोपुच्छ का अर्थ गाय की पूंछ नहीं, गौ ही है । गाय के लिये जो चराई का शुल्क दिया जाता है उसे आज भी 'पुच्छी' कहते हैं । प्राचीन प्रथा के अनुसार गाय को बेचते समय उस का स्वाम्यपरिवर्त्तन उसी समय पूरा होता था जब बेचने वाला गाय की पूंछ को खरीदने वाले के हाथ में पकड़ा देता था । (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)

(२) अशीत्या क्रीतम्—आशीतिकम् (अस्सी से खरीदी वस्तु)।
(३) षष्टया क्रीतम्—षाष्टिकम् (साठ से खरीदी वस्तु)।
(४) पणेन क्रीतम्—पाणिकम् (एक पण से खरीदी वस्तु)।[1]
(५) निष्केण क्रीतम्—नैष्किकम् (निष्क से खरीदी वस्तु)।
(६) पादेन क्रीतम्—पादिकम् (पाद से खरीदी वस्तु)।
(७) माषैः क्रीतम्—माषिकम् (उड़दों से खरीदी वस्तु)।
(८) मुद्गैः क्रीतम्—मौद्गिकम् (मूँगों से खरीदी वस्तु)।[2]
(९) वस्त्रेण क्रीतम्—वास्त्रिकम् (वस्त्र से खरीदी वस्तु)।

सावधान—**तेन क्रीतम्** (११४४) सूत्र के उदाहरण विद्यार्थी अपनी इच्छा से नहीं घड़ सकते। ठञ् का अधिकार अनेक प्रकार के अपवादों की उलझनों से भरा पड़ा है। विशेषजिज्ञासु काशिकावृत्ति का अवलोकन करें।[3]

अब 'सर्वभूमि' और 'पृथिवी' प्रातिपदिकों से अर्थविशेष में अण् और अञ् प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४५) तस्येश्वरः ।५।१।४१॥

सर्वभूमि-पृथिवीभ्याम् अणञौ स्तः ॥

अर्थः—सर्वभूमि और पृथिवी इन षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से 'ईश्वर' (स्वामी) अर्थ में क्रमशः अण् और अञ् तद्धितप्रत्यय हों।

व्याख्या—तस्य ।५।२। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी के द्विवचन 'भ्याम्' का यहां सौत्रलुक् समझना चाहिये)। ईश्वरः ।१।१। **सर्वभूमि-**

१. **असमासे निष्कादिभ्यः** (५.१.२०) इति निष्कादित्वाट् ठक्। एवं नैष्किकम्, पादिकम्, माषिकम् इत्येतेष्वपि बोध्यम्।

२. **आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट् ठक्** (५.१.१९) इति ठक्। एवं वास्त्रिकम् इत्यत्रापि बोध्यम्।

३. अष्टाध्यायी में **प्राग्वतेष्ठञ्** (५.१.१८) से ले कर वतिँप्रत्ययपर्यन्त ठञ्प्रत्यय का अधिकार चला कर उस अधिकार के अन्तर्गत **आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट् ठक्** (५.१.१९) सूत्र से **तदर्हति** (५.१.६२) सूत्र के अन्त तक ठक् का अधिकार चलाया गया है। **तेन क्रीतम्** (५.१.३६) सूत्र भी उसी ठक् प्रत्यय के अधिकार में आता है। ठक्-अधिकार के आरम्भ में 'अगोपुच्छसंख्यापरिमाणात्' कहा गया है। अर्थात् गोपुच्छशब्द से एवं संख्यावाचक और परिमाणवाचक शब्दों से ठक् नहीं होता, अन्यों से ठक् होता है। इसप्रकार गोपुच्छ आदियों से क्रीत आदि अर्थों में ठञ् होगा और शेषों से ठक्। ठक् और ठञ् का भेद केवल स्वर में ही होता है और स्वरप्रकरण लघुसिद्धान्तकौमुदी में दिया ही नहीं गया, अतः ग्रन्थकार (वरदराज) विद्यार्थियों की सुविधा के लिये ठक् और ठञ् के झगड़े में नहीं पड़े।

पृथिवीभ्यामणञौ (५.१.४०) इस पिछले पूरे सूत्र का यहां अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। सर्वा भूमिः सर्वभूमिः, कर्मधारये पूर्वपदस्य पुंवद्भावः[1], सर्वभूमिश्च पृथिवी च सर्वभूमिपृथिव्यौ, ताभ्याम् = सर्वभूमिपृथिवीभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अण् च अञ् च अणञौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्ताभ्याम्) षष्ठ्यन्त (सर्वभूमिपृथिवीभ्याम्) सर्वभूमि तथा पृथिवी प्रातिपदिकों से (ईश्वर इत्यर्थे) 'स्वामी' अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (अणञौ) अण् और अञ् प्रत्यय होते हैं।

दो प्रकृतियां तथा दो ही प्रत्यय दिये गये हैं, अतः **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) से क्रमशः प्रत्यय होंगे। सर्वभूमिशब्द से अण् एवं पृथिवीशब्द से अञ् प्रत्यय किया जायेगा। अण् और अञ् में स्वर का ही अन्तर पड़ता है। अण्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त तथा अञ्प्रत्ययान्त आद्युदात्त होता है। सूत्र के उदाहरण यथा—

सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः (सारी भूमि का स्वामी अर्थात् चक्रवर्ती राजा)। 'सर्वभूमि ङस्' इस षष्ठ्यन्त से 'ईश्वर = स्वामी' अर्थ में प्रकृत **तस्येश्वरः** (११४५) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर णकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् = ङस् का लुक् करने से 'सर्वभूमि + अ' हुआ। अब यहां पूर्व तथा उत्तर दोनों पदों में वृद्धि करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४६) अनुशतिकादीनां च ।७।३।२०।।

(एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च तद्धिते)। सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः। पार्थिवः।।

अर्थः—ञित्, णित् या कित् तद्धित के परे रहते अनुशतिक आदि गण में पठित शब्दों के पूर्व और उत्तर दोनों पदों के आदि अच् के स्थान पर वृद्धि आदेश हो।

व्याख्या—यह सूत्र पीछे शैषिकप्रकरण में (१०९५) पर व्याख्यात हो चुका है। पुनः स्मरण कराने के लिये वरदराज ने इसे दुबारा पढ़ा है।

'सर्वभूमि + अ' यहां णित् तद्धित परे है, 'सर्वभूमि' शब्द का अनुशतिकादिगण में पाठ भी आया है, अतः **अनुशतिकादीनां च** (११४६) सूत्र से 'सर्व' और 'भूमि' दोनों पदों के आदि अच् को वृद्धि हो जाती है—सार्वभौमि + अ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'सार्वभौमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पृथिवीशब्द का उदाहरण यथा—

पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः (पृथिवी का स्वामी अर्थात् राजा)। यहां 'पृथिवी ङस्' से 'ईश्वर = स्वामी' अर्थ में **तस्येश्वरः** (११४५) सूत्रद्वारा अञ्प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से ऋकार को वृद्धि, रपर एवं

---

१. **पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) इति पुंवद्भावः।

अस्य परिमाणम्

यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पार्थिवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट— तस्येश्वरः (५.१.४१) के बाद अष्टाध्यायी में **तत्र विदित इति च** (५.१.४२) सूत्र पढ़ा गया है। इस का अर्थ है—सर्वभूमि और पृथिवी इन सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'विदितः' (प्रसिद्ध या विख्यात) अर्थ में क्रमशः अण् और अञ् प्रत्यय होते हैं। यथा— सर्वभूमौ विदितः सार्वभौमः (सारी पृथिवी पर प्रसिद्ध)। पृथिव्यां विदितः पार्थिवः (पृथिवी पर प्रसिद्ध)।

अब पङ्क्ति आदि दस शब्दों का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४७) **पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशच्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम्** ।५।१।५८॥

एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ॥

अर्थ—पङ्क्ति (पाञ्च पादों वाला वैदिक छन्दोविशेष), विंशति (बीस), त्रिंशत् (तीस), चत्वारिंशत् (चालीस), पञ्चाशत् (पचास), षष्टि (साठ), सप्तति (सत्तर), अशीति (अस्सी), नवति (नव्वे) और शत (सौ)—ये दस रूढ शब्द 'अस्य परिमाणम्' (परिमाण है इस का) इस अर्थ में निपातन किये जाते हैं।

व्याख्या— पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशत्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तति-अशीति-नवति-शतम् ।१।१। षड्क्त्यादीनां दशानां समाहारद्वन्द्वः। **तदस्य परिमाणम्** (५.१.५६) सूत्र की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है। अर्थः—(तदस्य परिमाणम् इति विषये) 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में (पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशच्चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम्) पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति और शत—ये दस शब्द लोक में प्रयुक्त होते हैं।

पङ्क्ति आदि दस शब्द अपने अपने विशिष्ट अर्थों में रूढ अर्थात् लोकप्रचलित हैं। प्रकृतसूत्र में इन दस शब्दों का निपातन किया गया है। तात्पर्य यह कि मुनिवर पाणिनि ने प्रकृति, प्रत्यय तथा अन्य विशिष्ट कार्य स्वयं सम्पन्न कर बने-बनाये प्रयोगार्ह दस शब्द यहां प्रस्तुत किये हैं। इन में जो जो प्रकृति, प्रत्यय तथा अन्य प्राप्त वा अप्राप्त कार्य किये गये हैं उन का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये।

(१) **पङ्क्ति** (स्त्रीलिङ्ग)

पङ्क्ति एक वैदिक छन्द का नाम है जिस में पाञ्च पाद तथा प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं। इस प्रकार इस छन्द में कुल चालीस अक्षर होते हैं।[1] पञ्च

---

१. **चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिः, पञ्चपदाऽष्टाक्षरपादा** (निदानसूत्र प्रथम पटल)। उदाहरण के लिये ऋग्वेद ८.४६.२४ मन्त्र को देखें। वृत्तरत्नाकर आदि में सुप्रतिष्ठाजातिगत **भ्गौ गिति पङ्क्तिः** छन्द अर्वाचीन है। इस का पिङ्गलच्छन्दः-सूत्र में कहीं उल्लेख नहीं आता। प्राकृत में इस का नाम 'सम्मोहा' है (देखें प्राकृतपिङ्गल २.३४)। समवृत्तों में प्रतिपाद दशाक्षरा जाति का नाम भी 'पङ्क्ति' है। जैसाकि वृत्तरत्नाकर में केदारभट्ट ने कहा है—

उक्ताऽत्युक्ता तथा मध्या प्रतिष्ठाऽन्या सुपूर्विका।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ॥ (प्रथमाध्याये)

(पादाः) परिमाणमस्येति पङ्क्तिः, पाञ्च पाद परिमाण हैं जिस का ऐसा छन्द । यहां 'पञ्चन् जस्' से **तदस्य परिमाणम्** (वह है परिमाण इस का) इस अर्थ में 'ति' प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रकृति के टि (अन्) भाग का लोप करने पर—पञ्च्+ति । **चोः कुः** (३०६) से कुत्व और **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्याय के अनुसार अकार को नकार होकर—पन्क्+ति । अब **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार एवम् **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से अनुस्वार को परसवर्ण ङकार कर विभक्ति लाने से 'पङ्क्तिः' प्रयोग सिद्ध हुआ है । यहां पञ्चन् से 'ति' प्रत्यय तथा प्रकृति की टि का लोप ये दो कार्य निपातन से समझने चाहियें, शेष सब सामान्य-प्रक्रिया से प्राप्त थे ।

पङ्क्तिशब्द के अन्य भी अनेक अर्थ लोक में प्रचलित हैं । यथा—**ब्राह्मण**-पङ्क्तिः, पिपीलिकापङ्क्तिः । यहां 'पङ्क्तिः' का अर्थ क्रमसन्निवेश या कतार है ।[1] पङ्क्ति का अर्थ दस संख्या भी होता है अत एव 'दशरथः' को 'पङ्क्तिरथः' भी कहा जाता है—**नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत् कृतवान् पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत्** (रघु० ९.७४) । कुछ वैयाकरण 'द्वौ पञ्चतौ[2] परिमाणमस्येति पङ्क्तिः' इसप्रकार द्विपञ्चत् शब्द से निपातनद्वारा इसे सिद्ध करते हैं ।

(२) विंशतिः

द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्घस्येति विंशतिः । दो दशत् (दहाई) जिस का परिमाण है ऐसा समूह अर्थात् बीस । 'द्विदशत्' शब्द से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में शतिच् (शति) प्रत्यय, प्रकृति (द्विदशत्) को विन् सर्वादेश[3] तथा **नश्चा-पदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार कर विभक्तिकार्य करने से 'विंशतिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इस का उच्चारण मतिशब्द की तरह होता है ।

(३) त्रिंशत्

त्रयो दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति त्रिंशत् । तीन दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् तीस । यहां त्रिदशत् से शत् प्रत्यय तथा प्रकृति (त्रिदशत्) को त्रिन् सर्वादेश हो अपदान्त नकार को अनुस्वार और अन्त में विभक्तिकार्य करने से

---

१. कुछेक वैयाकरणों तथा कोशव्याख्याताओं ने क्रमसन्निवेश (कतार) अर्थ वाले पङ्क्तिशब्द को **पचिँ व्यक्तीकरणे** (भ्वा० आत्मने०) धातु से क्तिन् प्रत्यय ला कर सिद्ध किया है । कारण कि उपर्युक्त व्युत्पत्तिद्वारा यह अर्थ उपपन्न नहीं होता ।

२. पाञ्च के वर्ग (समूह) को पञ्चत् तथा दस के वर्ग को दशत् कहते हैं । पाणिनि ने इन दोनों का **पञ्चद्-दशतौ वर्गे वा** (५.१.५९) सूत्रद्वारा निपातन किया है । ये दोनों शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।

३. विन् के नकार की अपदान्तता भी निपातनद्वारा समझ लेनी चाहिये ।

'त्रिंशत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस का उच्चारण स्त्रीलिङ्ग सरित्शब्द की तरह होता है।

(४) चत्वारिंशत्

चत्वारो दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति चत्वारिंशत्। चार दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् चालीस। यहां 'चतुर्दशत्' शब्द से शत् प्रत्यय और प्रकृति (चतुर्दशत्) को चत्वारिन् सर्वादेश हो जाता है। इस का उच्चारण भी स्त्रीलिङ्ग सरित्शब्द की तरह होता है।

(५) पञ्चाशत्

पञ्च दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति पञ्चाशत्। पाञ्च दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् पचास। यहां पञ्चदशत् शब्द से शत्प्रत्यय और प्रकृति (पञ्चदशत्) को 'पञ्चा' सर्वादेश हो जाता है। पञ्चाशत् का उच्चारण भी स्त्री-लिङ्ग 'सरित्' शब्द के समान होता है।

(६) षष्टिः

षड् दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति षष्टिः। छः दशत् (दहाई) परिमाण-वाला समूह अर्थात् साठ। यहां 'षड्दशत्' शब्द से 'ति' प्रत्यय, प्रकृति षड्दशत् को षष् सर्वादेश एवं निपातन से पदत्वाभाव के कारण जश्त्वाभाव तथा अन्त में **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्वेन तकार को टकार कर विभक्ति लाने से 'षष्टिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस का उच्चारण स्त्रीलिङ्ग 'मति' शब्द के समान जानना चाहिये।

(७) सप्ततिः

सप्त दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति सप्ततिः। सात दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् सत्तर। यहां 'सप्तदशत्' शब्द से 'ति' प्रत्यय तथा प्रकृति (सप्तदशत्) को 'सप्त' सर्वादेश कर विभक्ति लाने से 'सप्ततिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(८) अशीतिः

अष्ट दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति अशीतिः। आठ दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् अस्सी। यहां अष्टदशत् शब्द से 'ति' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'अशी' सर्वादेश हो जाता है।

(९) नवतिः

नव दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति नवतिः। नौ दशत् (दहाई) परिमाणवाला समूह अर्थात् नव्वे। यहां 'नवदशत्' शब्द से 'ति' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'नव' सर्वादेश हो कर विभक्ति लाने से 'नवतिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(१०) शतम्

दश दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति शतम्। दस दशत् (दहाई) परिमाण वाला

समूह अर्थात् सौ (सैंकड़ा) । यहां 'दशदशत्' शब्द से 'त' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'श' सर्वादेश हो जाता है ।

ये सब प्रकृति-प्रत्ययों की कल्पनाएं येन-केन-प्रकारेण इष्ट रूप सिद्ध करने के लिये ही की गई हैं । इस के विपरीत प्रकृतिप्रत्यय की कल्पना भी की जा सकती है । अत एव काशिकाकार ने कहा है—**विंशत्यादयो गुणशब्दाः**[1], **ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्याः । नाऽत्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यम्** इति ।

नोट—'शत' शब्द को छोड़ शेष विंशति आदि आठों शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं, शतशब्द नपुंसक है । परन्तु इन सब का (शत का भी) एकवचन में ही प्रयोग किया जाता है न कि संख्येय (विशेष्य) के अनुसार द्विवचन या बहुवचन में । यथा—गवां विंशतिः (गौओं का बीसा), ब्राह्मणानां त्रिंशत् (ब्राह्मणों का तीसा), फलानां शतम् (फलों का सैंकड़ा) । परन्तु जब समूह के द्वित्व या बहुत्व की विवक्षा होती है तब द्विवचन और बहुवचन में भी प्रयोग किया जाता है । यथा—गवां द्वे विंशती (गौओं के दो बीसे), छात्राणां द्वे त्रिंशतौ (विद्यार्थियों के दो तीसे), फलानां त्रीणि शतानि (फलों के तीन सैंकड़े) । सङ्घ और सङ्घी का अभेद मान कर 'विंशति-र्गावः, त्रिंशद् ब्राह्मणाः, शतं फलानि' इत्यादिप्रकारेण सङ्ख्येयपरक भी प्रयोग होते हैं। एतद्विषयक एक हिन्दीटिप्पण इस व्याख्या के तृतीयभागस्थ कृदन्तप्रकरण में (८१८) सूत्र पर तथा दूसरा संस्कृतटिप्पण चतुर्थभागस्थ समासप्रकरण में (९७०) सूत्र पर लिखा जा चुका है । वे टिप्पण भी यहां पुनः ध्यातव्य हैं ।

अब **आर्हादगोपुच्छ०** (५.१.१९) सूत्रद्वारा प्रवर्त्तित आर्हाधिकार के प्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४८) तदर्हति ।५।१।६२।।

'लब्धुं योग्यो भवति' इत्यर्थे द्वितीयान्ताट्ठञादयः स्युः । श्वेतच्छत्त्र-मर्हति—श्वैतच्छत्त्रिकः ।।

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'प्राप्त करने के योग्य होना' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् आदि प्रत्यय हों ।

व्याख्या—तत् ।५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अर्हति इति **अर्ह पूजायाम्** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठञ् ।१।१। (**प्राग्वतेष्ठञ्** से अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अर्हति इत्यर्थे) 'अर्हति' के अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है ।

पीछे बताया जा चुका है कि इस ठञ् के अधिकार के अन्तर्गत **आर्हादगोपुच्छ-संख्यापरिमाणाट्ठक्** (५.१.१९) सूत्र से 'अर्हति' के अर्थ की समाप्ति तक ठक् का

---

१. रूढिशब्दा इति भावः ।

अधिकार किया गया है। इस ठक् के भी ठन्, यत्, कन् आदि अनेक अपवाद हैं। अतः प्रकृतसूत्र से यथायोग्य प्रत्यय समझना चाहिये। अत एव मूल में 'ठञादयः' कहा गया है।

'अर्हति' धातु के दो अर्थ सुप्रसिद्ध हैं। (१) योग्य होना। इस अर्थ में वह अकर्मक है। इस के प्रयोग यथा—

(१) **अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाप्तुमर्हति** (हितोप०)।

(२) **तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः** (रघु० १.१०)।

(३) **भक्तं शक्तं च मां राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि** (हितोप०)।

(४) **विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति** (गीता० २.१७)।[1]

दूसरा अर्थ है—पाने के योग्य होना। इस अर्थ में वह सकर्मक है। इस के प्रयोग यथा—

(१) **न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति** (मनु० ९.३)।

(२) **स खलु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति** (शाकुन्तल ६)।

(३) **सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्** (मनु० २.८६)।

(४) **अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति** (मनु० २.२०८)।

यहां प्रकृतसूत्र में 'अर्हति' का दूसरा अर्थ (पाने के योग्य होना) ही सङ्गत हो सकता है क्योंकि यहां द्वितीयान्त समर्थ से प्रत्यय का विधान किया गया है। उदाहरण यथा—

श्वेतच्छत्त्रम् अर्हतीति श्वैतच्छत्त्रिकः (श्वेत छत्र को प्राप्त करने योग्य व्यक्ति)। यहां 'श्वेतच्छत्त्र अम्' इस द्वितीयान्त से **तदर्हति** (११४८) सूत्रद्वारा 'प्राप्त करने योग्य' अर्थ में **आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्** (५.१.१९) से ठक् तद्धितप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश एवं **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'श्वैतच्छत्त्रिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) प्रस्थमर्हतीति प्रास्थिकः (ठञ्)। (तत्त्वबोधिन्याम्)

(२) वस्त्रयुग्ममर्हतीति वास्त्रयुग्मिकः (आर्हीयष्ठक्)[2] (काशिकायाम्)

(३) दध्योदनमर्हतीति दाध्योदनिकः (आर्हीयष्ठक्)। (जैनेन्द्रवृत्तौ)

(४) छत्त्रमर्हतीति छात्त्रिकः (आर्हीष्ठक्)। (भोजवृत्तौ)

(५) चमरमर्हतीति चामरिकः (आर्हीयष्ठक्)। (भोजवृत्तौ)

---

१. इस प्रकार के अर्थ वाले अर्ह् धातु के प्रयोग में **शक-धृष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-लभ-क्रम-सहार्हास्त्यर्थेषु तुमुँन्** (३.४.६५) सूत्रद्वारा तुमुँन् प्रत्यय हुआ करता है। यथा—सोढुमर्हति, द्रष्टुमर्हति, भोक्तुमर्हति, गन्तुमर्हति इत्यादि।

२. वास्त्रयुग्मिकः=वर आदि। विवाह में वर को वस्त्रों का जोड़ा दिया जाता है।

(६) वस्त्रमर्हतीति वास्त्रिकः (आर्हीयष्ठक्) । (भोजवृत्तौ)
(७) अभिगममर्हतीति आभिगामिकः (आर्हीयष्ठक्) ।[1] (प्रक्रियासर्वस्वे)
(८) शतमर्हतीति शतिकः शत्यो वा[2] ।
(९) स्त्रियमर्हतीति स्त्रैणो युवा (१००३) ।
(१०) पुमांसमर्हतीति पौंस्नी युवतिः (१००३, वा० १०१) ।

नोट—भोजनमर्हतीति अनभिधानान्न भवतीति जैनेन्द्रवृत्तौ । भोजनपानादिषु अनभिधानान्नेति शाकटायनवृत्तौ ।

अब 'तदर्हति' के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४९) **दण्डादिभ्यो यत्** ।५।१।६५।।[3]

एभ्यो यत् स्यात् । दण्डमर्हति दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः ।।

अर्थः—दण्डआदिगणपठित द्वितीयान्त प्रातिपदिकों से 'अर्हति' (पाने के योग्य होना) के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—दण्डादिभ्यः ।५।१। यत् ।१।१। यहां पूर्वोक्त **तदर्हति** (५.१.६२) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—दण्डशब्द आदिर्येषान्ते दण्डादयः, तेभ्यः=दण्डादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(तत्=द्वितीयान्तेभ्यः) द्वितीयान्त (दण्डादिभ्यः) दण्डादिगणपठित प्रातिपदिकों से (अर्हति इत्यर्थे) 'पाने के योग्य होना' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है । यत् में तकार अनुबन्ध है, उस का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है । उदाहरण यथा—

दण्डमर्हतीति दण्ड्यः[4] (सजा पाने के योग्य व्यक्ति) । यहां 'दण्ड अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से **दण्डादिभ्यो यत्** (११४९) सूत्रद्वारा 'अर्हति=पाने के योग्य होना' के अर्थ में यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दण्ड्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[5]

---

१. **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) इत्युभयपदवृद्धिः । आभिगामिकः—अर्थात् जिसे मिलने के लिये आगे बढ़ना चाहिये, आचार्य आदि गुरुजन ।

२. **शताच्च ठन्यतावशते** (५.१.२१) इति ठन्-यतौ प्रत्ययौ ।

३. कैयट, हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित आदि अनेक वैयाकरण **दण्डादिभ्यः** इतना मात्र ही सूत्र मानते हैं तथा यत् का अनुवर्त्तन पिछले (**शीर्षच्छेदाद् यत्** ५.१.६४) सूत्र से करते हैं । काशिकाकार ने **दण्डादिभ्यो यः** इस प्रकार से सूत्र पढ़ा तथा व्याख्यात किया है । परन्तु **अचो यत्** (३.१.९७) सूत्रस्थ भाष्य के पर्यालोचन से 'य' प्रत्यय का विधान ठीक प्रतीत नहीं होता ।

४. अत्र दण्डो दमनं न तु यष्टिरिति वर्धमानः ।

५ **स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्** (रघु० १.२५) ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति (मनु० ८.३३५) ।

अर्घम् = पूजाविधिम्[1] अर्हतीति अर्घ्यः (पूजाविधि को पाने के योग्य अर्थात् पूज्य)। अर्घशब्द दण्डादिगण में पढ़ा गया है। अतः 'अर्घ अम्' इस द्वितीयान्त से 'अर्हति = पाने के लिये योग्य होना' अर्थ में **दण्डादिभ्यो यत्** (११४६) से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'अर्घ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

वधम् अर्हतीति वध्यः (वध को पाने के योग्य, मृत्युदण्ड दिये जाने के योग्य)। वधशब्द भी दण्डादिगण में पढ़ा गया है। अतः द्वितीयान्त वधप्रातिपदिक से **दण्डादिभ्यो यत्** (११४६) सूत्रद्वारा 'अर्हति' के अर्थ में यत् प्रत्यय होकर सुँब्लुक् तथा यस्येतिचलोप करने से 'वध्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

दण्डादियों से यत् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) कशामर्हतीति कश्योऽश्वः।
(२) इभम् (हस्तिनम्) अर्हतीति इभ्यो धनी।[4]
(३) मुसलमर्हतीति मुसल्यः।
(४) मधुपर्कमर्हतीति मधुपर्क्यो वरः।
(५) युगमर्हतीति युग्यो वृषभः।
(६) मेघमर्हतीति मेघ्यः कालः।
(७) उदकमर्हतीति उदक्या कृषिः।
(८) स्तवमर्हतीति स्तव्यो देवः।

दण्डादिगण यथा—

दण्ड। मुसल। मधुपर्क। कशा। अर्घ। मेधा। मेघ। युग। उदक। वध। गुहा। भाग। इभ। शाकटायनगणपाठ में सुवर्ण, भङ्ग और युध ये तीन शब्द अधिक पढ़े गये हैं। 'पितृदेवता' शब्द गणरत्नमहोदधि में अधिक हैं। माधवीयधातुवृत्ति में **ष्टुञ् स्तुतौ** (अदा० उभय०) धातु पर आत्रेय के नाम से 'स्तव' शब्द और गिनाया गया है। वर्धमान और माधव इसे आकृतिगण मानते हैं।

अब ठञ् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

---

१. **मूल्ये पूजाविधावर्घ** इत्यमरः।

२. अर्घ्यशब्द अन्य प्रकार से भी सिद्ध होता है। अर्घाय इदम् अर्घ्यम्, **पादार्घाभ्यां च** (५.४.२५) इति यत्। अतिथि आदि के पूजाविधान में जो दूर्वा-अक्षत-पुष्पादि-मिश्रित जल प्रयुक्त किया जाता है उसे भी 'अर्घ्य' कहते हैं। यथा—**तान् अर्घ्यान् अर्घ्यमादाय दूरात् प्रत्युद्ययौ गिरिः** (कुमार० ६.५०)। यहां प्रथम अर्घ्य-शब्द पूज्य अर्थ में तथा दूसरा पूजाद्रव्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसीप्रकार—**अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा** (कुमार० १.१८)।

३. **अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे** (मुद्राराक्षसप्रथमाङ्के)।

४. **इभ्य आढ्यो धनी** इत्यमरः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**११५०**) **तेन निर्वृत्तम्** ।५।१।७८।।

अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् ।।

अर्थः—तृतीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक से निर्वृत्त (बनाया गया, पूरा किया गया, सम्पन्न किया गया, समाप्त किया गया) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये)। निर्वृत्तम् ।१।१। (अत्र अन्तर्भावितण्यर्थो वृतुः प्रयुक्तः)। कालात् ।५।१। (यह पूर्वतः अधिकृत है)। ठञ् ।१।१। (**प्राग्वतेष्ठञ्** के अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त (कालात्) कालवाचक प्रातिपदिक से (निर्वृत्तम् इत्यर्थे) 'बनाया गया—पूर्ण किया गया—सम्पन्न किया गया—समाप्त किया गया' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

अह्ना[1] निर्वृत्तम् आह्निकम् (एक दिन से सम्पन्न किया गया कार्य आदि[2])। 'अहन् टा' इस करणतृतीयान्त कालवाची अहन् प्रातिपदिक से निर्वृत्त (सम्पन्न किया गया) अर्थ में प्रकृत **तेन निर्वृत्तम्** (११५०) सूत्रद्वारा ठञ् प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञा हो **अल्लोपोऽनः** (२४७) से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आह्निकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्रद्वारा प्राप्त टिलोप **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५) से 'ट' और 'ख' प्रत्ययों में ही नियमित होने से नहीं होता।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) मासेन निर्वृत्तं मासिकम् (एक महीने से समाप्त होने वाला)।

(२) अर्धमासेन निर्वृत्तम् आर्धमासिकम् (अर्धमास से सम्पन्न होने वाला)।

(३) संवत्सरेण निर्वृत्तं सांवत्सरिकम् (एक वर्ष से सम्पन्न होने वाला)।

(४) पक्षेण निर्वृत्तं पाक्षिकम् (एक पखवाड़े से सम्पन्न होने वाला)।

(५) सप्ताहेन निर्वृत्तं साप्ताहिकम् (एक सप्ताह से सम्पन्न होने वाला)।

(६) मुहूर्त्तेन निर्वृत्तं मौहूर्त्तिकम् (मुहूर्त्त भर से सम्पन्न होने वाला)।

नोट—चातुरर्थिकप्रकरण में भी **तेन निर्वृत्तम्** (१०५७) सूत्र पढ़ा जा चुका है। वहां 'तेन' के द्वारा कर्तृतृतीयान्त का अनुकरण किया गया था परन्तु यहां करण-तृतीयान्त का। इस के अतिरिक्त यहां 'कालात्' का अधिकार भी आ रहा है। अतः यहां 'तेन' से करणतृतीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक का ग्रहण किया जाता है।

---

१. यहां करण में तृतीया जाननी चाहिये।

२. महाभाष्य में प्रकरणों का विभाग आह्निकों के द्वारा दर्शाया गया है। जितना भाष्य एक दिन में पूरा किया जाता था उसे आह्निक कह देते थे। यही सञ्ज्ञा अब तक व्यवहृत हो रही है। सम्पूर्ण महाभाष्य में इस समय (८४) आह्निक हैं।

'निर्वृत्तम्' में दोनों जगह अन्तर्भावितण्यर्थ वृतुँ धातु से कर्मणि क्तप्रत्यय किया गया है अतः 'निर्वृत्तम्' का अर्थ है—निर्वर्त्तितम्। बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने भी यही कहा है—

"तेन निर्वृत्तम्। तेन करणेन निर्वर्त्तितमित्यर्थः। चतुरर्थ्यन्तर्गते तेन निर्वृत्तम् (४.२.६८) इत्यत्र तेन कर्त्रेत्यर्थः। उभयत्राप्यन्तर्भावितण्यर्थाद् वृत्तेः कर्मणि क्तः।"

अभ्यास [१०]

(१) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. तेन क्रीतम्। २. तदर्हति। ३. तत्र विदित इति च। ४. पङ्क्ति-विंशति०। ५. दण्डादिभ्यो यत्। ६. तस्येश्वरः। ७. आर्हादगोपुच्छ०। ८. तेन निर्वृत्तम्। ९. अनुशतिकादीनां च। १०. प्राग्वतेष्ठञ्।

(२) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्तरूप ससूत्र सिद्ध करें—
१. मासेन निर्वृत्तम्। २. कशामर्हति। ३. षष्टया क्रीतम्। ४. पृथिव्यां विदितः। ५. प्रस्थमर्हति। ६. सर्वभूमेरीश्वरः। ७. दश दशतः परिमाणमस्य। ८. स्त्रियमर्हति। ९. गोपुच्छेन क्रीतम्। १०. अभि-गममर्हति। ११. पुमांसमर्हति।

(३) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ तद्धितान्तरूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. वध्यः। २. विंशतिः। ३. अर्घ्यः। ४. पङ्क्तिः। ५. पार्थिवः। ६. आशीतिकम्। ७. दण्ड्यः। ८. प्रास्थिकम्। ९. पञ्चाशत्। १०. सांवत्सरिकम्। ११. इभ्यः। १२. वास्त्रयुग्मिकः।

(४) **तेन निर्वृत्तम्** सूत्र अष्टाध्यायी में दो बार क्यों पढ़ा गया है?

(५) विंशति आदि शब्द किस लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं? इन का द्विवचनान्त और बहुवचनान्त प्रयोग कब और कैसे किया जाता है?

(६) अर्घ्यशब्द का द्विविध विग्रह और ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें।

(७) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—
[क] आर्हीयठक् से क्या अभिप्रेत है?
[ख] 'भोजनमर्हति' विग्रह का तद्धितान्तरूप (?) क्या बनेगा?
[ग] 'आह्निकम्' में टिलोप क्यों नहीं हुआ?
[घ] दण्डमर्हति दण्ड्यः—यहां 'दण्ड' से क्या अभिप्रेत है?
[ङ] प्रस्थैः क्रीतम्—यहां तद्धितवृत्ति क्यों नहीं होती?

(८) अर्हति के सुप्रसिद्ध द्विविध प्रयोग दर्शाते हुए **तदर्हति** में सकर्मक का ही प्रयोग क्यों माना जाता है? कारण बताएं।

[लघु०] इति ठञोऽधिकारः॥

(यहां ठञ् प्रत्यय के अधिकार का विवेचन समाप्त होता है।)

——:o:——

वतिँ (वत्)

अथ त्वतलोरधिकारः

अब प्रातिपदिकों से होने वाले भाव और कर्मविषयक त्व और तल् प्रत्ययों के अधिकार का निरूपण करते हैं। ये प्रत्यय हिन्दी आदि अनेक भारतीयभाषाओं में संस्कृत से जा कर बहुत प्रचलित हुए हैं। यथा—महत्त्व, मनुष्यत्व, नेतृत्व, मातृत्व, पशुत्व, कृतघ्नता, विद्वत्ता, सुन्दरता, दासता, मूर्खता, स्वातन्त्र्य, सौन्दर्य, वैदुष्य आदि। परन्तु इन के अतिरिक्त इस प्रकरण के आदि में तुल्यार्थक एवं सादृश्यार्थक वतिँप्रत्यय का भी निरूपण किया गया है। यद्यपि वतिँप्रत्यय इस प्रकरण के उपयुक्त नहीं ठहरता तथापि अन्यत्र क्वचित् संगृहीत न होने तथा अतीव संग्राह्य होने के कारण उस का यहां सर्वप्रथम अवतरण किया जा रहा है[1]—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५१)

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिँः ।५।१।११४॥

(तृतीयान्तात् तुल्यमित्यर्थे वतिँप्रत्ययः, यत्तुल्यं तत् क्रिया चेत्)। ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदधीते। क्रिया चेदिति किम्? गुणतुल्ये मा भूत्—पुत्रेण तुल्यः स्थूलः॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'तुल्य' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वतिँप्रत्यय हो परन्तु जो तुल्य हो वह क्रिया ही हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। तुल्यम् ।१।१। (सामान्ये नपुंसकम्)। क्रिया ।१।१। चेत् इत्यव्ययपदम्। वतिँः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (तुल्यम् इत्यर्थे) तुल्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वतिँ) वतिँप्रत्यय हो (चेत्) यदि तुल्य होने वाला पदार्थ (क्रिया) क्रिया हो तो।

वतिँप्रत्यय में इकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'वत्' ही शेष रहता है। उदाहरण यथा—

ब्राह्मणेन[2] तुल्यमधीते—ब्राह्मणवदधीते (ब्राह्मण के समान पढ़ता है)। 'ब्राह्मण टा' इस तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिँः** (११५१) इस प्रकृतसूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक वतिँप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण उस के अवयव सुँप् (टा) का भी लुक् हो जाता है—ब्राह्मणवत्। अब **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः**

---

१. सम्भवतः इसीलिये मध्यसिद्धान्तकौमुदी में वरदराज ने इस प्रकरण का नाम **त्वतलोरधिकारः** न रख कर **नञ्स्नञोरधिकारः** रखा है। लघुसिद्धान्तकौमुदी में भी क्वचित् ऐसा ही मुद्रितपाठ मिलता है।

२. अत्र **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यामन्यतरस्याम्** (२.२.७२) इति तुल्ययोगे तृतीया बोध्या।

(३६८) से वतिँप्रत्ययान्त के अव्ययसञ्ज्ञक हो जाने के कारण इस से परे प्रथमा के एकवचन सुँ का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर 'ब्राह्मणवत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि क्रिया की क्रिया के साथ ही तुल्यता होती है द्रव्य या गुण के साथ नहीं । 'ब्राह्मणवदधीते' में अध्ययनक्रिया की तुल्यता ब्राह्मण के साथ नहीं की जा रही अपितु ब्राह्मण के अध्ययन के साथ की जा रही है । ब्राह्मण के अध्ययन के समान अध्ययन करता है—यह यहां अभिप्रेत है । ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनेन तुल्यं यथा भवति तथाऽधीत इत्यर्थः । ब्राह्मणवत् में ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणकर्तृकाध्ययन अर्थ में लाक्षणिक है ।

स्त्रिया तुल्यं स्त्रीवद् वर्त्तते, पुंसा तुल्यं पुंवद् वर्त्तते—यहां **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा वतिँ के विषय में नञ्-स्नञ् प्रत्यय नहीं होते । इस में **स्त्रीपुंवच्च** (१.२.६६), **स्त्रीवन्मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्** (महाभाष्य पस्पशा) इत्यादि निर्देश ज्ञापक हैं । पीछे (१००३) सूत्र पर इस का विवेचन कर चुके हैं, वहीं देखें ।

क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत्—पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

सूत्र में **क्रिया चेत्** कहा गया है, अतः जहां क्रिया की तुल्यता नहीं होती अपितु गुण या द्रव्य की तुल्यता होती है वहां प्रकृतसूत्र से वतिँप्रत्यय नहीं होता । यथा—पुत्रेण तुल्यः स्थूलो देवदत्तः (पुत्र के समान देवदत्त मोटा है) । यहां स्थूलत्वगुण की तुल्यता दिखाई गई है क्रिया की नहीं अतः वतिँप्रत्यय नहीं होता । 'पुत्रवत् स्थूलः' प्रयोग अशुद्ध है । इसीप्रकार 'ब्राह्मणेन तुल्यः क्षत्त्रियः' इस अर्थ में 'ब्राह्मणवत् क्षत्त्रियः' प्रयोग करना अशुद्ध है । इसीतरह 'महानसेन तुल्यः पर्वतः' इस अर्थ में 'महानसवत् पर्वतः' कहना अशुद्ध है । 'गवा तुल्यो गवयः' इस अर्थ में 'गोवद् गवयः' भी अशुद्ध है ।

इस सूत्र के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **विषयान् विषवत् त्यजेत् ।**

विषयों को विष के समान छोड़ दे । यहां त्यजनक्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । विषकर्मकत्यजनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा विषयान् त्यजेदित्यर्थः ।

(२) **अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति** (मनु० २.२०८) ।

अध्यापन करने वाले गुरुपुत्र का गुरु के समान मान करना चाहिये । यहां 'मानमर्हति' क्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । गुरुकर्मकसत्करणक्रियया तुल्यं यथा भवति तथाऽध्यापयन् गुरुपुत्रः सत्कर्त्तव्य इति भावः ।

(३) **अजराऽमरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्** (हितोप० प्रस्तावना) ।

बुद्धिमान् पुरुष को अजर और अमर की तरह विद्या और धन का चिन्तन करना चाहिये । यहां चिन्तनक्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । अजरामरकर्तृकचिन्तनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेदित्यर्थः ।

(४) **प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्** (चाणक्य०) ।

तत्र इव । तस्य इव

जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाये तो उस के साथ मित्र के समान आचरण करना चाहिये । यहां आचरणक्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । मित्रकर्मकाचरणक्रियया तुल्यं यथा स्यादेवं पुत्रमाचरेदिति भावः ।

(५) **मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।**
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।। (हितोप० १.१४)

जो व्यक्ति पराई स्त्रियों को माता की तरह, पराये धनों को मिट्टी के ढेले की तरह तथा सब प्राणियों को अपने आप के समान देखता है वह पण्डित है । यहां दर्शन-क्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । मात्रादिविषयकदर्शनेन तुल्यं यथा भवति तथा पण्डितेन परदारादिविषयकदर्शनं विधेयमिति भावः ।

(६) **चक्रवत् परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च** (सुभाषित) ।

दुःख और सुख रथ के पहियों के समान घूमते रहते हैं । यहां परिवर्त्तनक्रिया की तुल्यता दिखाई गई है । चक्रकर्तृकपरिवर्त्तनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा दुःखानि सुखानि च परिवर्त्तन्त इत्यर्थः ।

(७) **न ह्यकूपारवत् कूपा वर्धन्ते विधुकान्तिभिः ।**

चन्द्रमा की किरणों से जैसे समुद्र उछलता है वैसे कूप नहीं उछला करते । यहां वर्धनक्रिया की तुल्यता दर्शा कर पुनः उस का निषेध किया गया है । चन्द्रकिरणैः समुद्रकर्तृकवर्धनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा कूपा न वर्धन्त इति भावः ।

(८) **पूर्ववत् सनः** (७४२) ।

पाणिनीयमिदं सूत्रम् । अत्र आत्मनेपदम् इत्यनुवर्त्तते । सन् से पूर्व जो धातु, उस के समान सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है । यहां भवनक्रिया की समानता दर्शाई गई है । पूर्वधातोरात्मनेपदभवनक्रियया तुल्यं यथा स्यात् तथा सन्नन्तादप्यात्मनेपदं भवतीति भावः ।

विशेष वक्तव्य—यदि क्वचित् ऐसे वतिँप्रत्ययान्त प्रयोग देखे जायें जहां क्रिया न कही गई हो तो वहां वतिँप्रत्यय के रक्षणार्थ किसी यथायोग्य क्रिया का अध्याहार कर उस की तुल्यता समझ लेनी चाहिये । 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वाद् महानसवत्' इत्यादि स्थलों पर 'भवितुमर्हति' क्रिया का अध्याहार कर वतिँप्रत्यय का साधुत्व सिद्ध किया जाता है ।

अब अग्रिमसूत्र से वतिँ का पुनर्विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५२) तत्र तस्येव ।५।१।११५।।**

(सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्താच्च इवार्थे वतिः प्रत्ययः स्यात्) । मथुराया-मिव—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । चैत्रस्येव—चैत्रवन्मैत्रस्य गावः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से इव (सदृश) के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वतिँ प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् (सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से परे पञ्चमी

का लुक् समझना चाहिये)। तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। इव इत्यव्ययपदम्। वतिः ।१।१। (**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः (तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त तथा (तस्य = षष्ठ्यन्ताच्च) षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से (इव इत्यर्थे) 'इव' के अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वतिः) वतिँ प्रत्यय हो जाता है।

'इव' का अर्थ है—सदृश। इस प्रकार सदृश अर्थ में सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से इस सूत्रद्वारा वतिँप्रत्यय का विधान किया जा रहा है। पूर्वसूत्र से क्रिया की तुल्यता में वतिँ का विधान किया गया था परन्तु इस सूत्र में ऐसा किसी तरह का बन्धन नहीं है, द्रव्य और गुण की तुल्यता में भी सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त से वतिँ प्रत्यय किया जा रहा है। सप्तम्यन्त का उदाहरण यथा—

मथुरायामिव[1]—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। मथुरा (में) की तरह स्रुघ्ननगर में प्राकार (परकोटा) है। यहां 'मथुरा ङि' इस सप्तम्यन्त से इव (सदृश) के अर्थ में **तत्र तस्येव** (११५२) इस प्रकृतसूत्र से वतिँ प्रत्यय, अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक् तथा पूर्ववत् अव्ययसञ्ज्ञा होकर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँविभक्ति का लुक् करने से 'मथुरावत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां द्रव्य (प्राकार) की तुल्यता दर्शाई गई है[2] किसी क्रिया की नहीं अतः पूर्वसूत्र से वतिँ के प्राप्त न होने पर इस सूत्र से उस का विधान किया गया है।

षष्ठ्यन्त का उदाहरण यथा—

चैत्रस्येव—चैत्रवद् मैत्रस्य गावः। चैत्रनामक व्यक्ति की तरह मैत्रनामक

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि इवशब्द का प्रयोग होने पर उपमान और उपमेय में एक समान विभक्तियां प्रयुक्त होती हैं। यथा—
(क) चैत्र इव मैत्रोऽधीते। (दोनों में प्रथमा प्रयुक्त हुई है)
(ख) पुत्रमिव शिष्यं मन्यते गुरुः। (दोनों में द्वितीया प्रयुक्त हुई है)
(ग) देवदत्तेनेव यज्ञदत्तेन कार्यमकारि। (दोनों में तृतीया प्रयुक्त हुई है)
(घ) शत्रवे इव भ्रात्रे द्रुह्यति। (दोनों में चतुर्थी प्रयुक्त हुई है)
(ङ) आचार्यादिव अग्रजादधीते। (दोनों में पञ्चमी प्रयुक्त हुई है)
(च) देवदत्तस्येव यज्ञदत्तस्य दन्ताः। (दोनों में षष्ठी प्रयुक्त हुई है)
(छ) पितरीव ज्येष्ठे भ्रातरि वर्तितव्यम्। (दोनों में सप्तमी प्रयुक्त हुई है)

२. ध्यान रहे कि यहां मथुरा और स्रुघ्न का सादृश्य नहीं बताया जा रहा अपितु प्राकारों का ही सादृश्य विवक्षित है। तात्पर्य यह है कि मथुरा में जैसा प्राकार है वैसा स्रुघ्न में है। मथुरायाँ यादृशः प्राकारस्तेन तुल्यः प्राकारः स्रुघ्ने—इति तत्त्वबोधिनी। मथुरासम्बन्धिप्राकारसदृशः स्रुघ्नस्य प्राकार इति बोधः—इति बालमनोरमा।

व्यक्ति की गौएं हैं। यहां 'चैत्र ङस्' इस षष्ठचन्त से इव (सदृश) के अर्थ में **तत्र तस्येव** (११५२) इस प्रकृतसूत्र से वतिँ प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, पूर्ववत् अव्ययसंज्ञा तथा अन्त में अव्ययत्वात् सुँ का लुक् कर देने से 'चैत्रवत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां गौओं की तुल्यता दर्शाई गई है किसी क्रिया की नहीं, अतः **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११५१) सूत्र से वतिँ न हो सकता था इस सूत्र से विधान किया गया है।

इस इवार्थक वतिँ के कुछ अन्य उदाहरण यथा —

(१) **अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्** (४८०)।
तासौ इव — तास्वत्।

(२) **आद्यन्तवदेकस्मिन्** (२७८)।
आद्यन्तयोरिव आद्यन्तवत्।

(३) देवदत्तस्येव—देवदत्तवत् तस्य दन्ताः।

(४) **क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगान्**
उदधिमहति राज्ये काव्यवद् दुर्विगाहे।
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्॥ (माघ० ११.६)
काव्ये इव— काव्यवत्।

(५) **क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि।**
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः॥
कक्षे इव—कक्षवत्।   (रघु० ११.७५)

अब भावार्थक प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५३)**

तस्य भावस्त्वतलौ ।५।१।११८॥

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः। (षष्ठचन्ताद् भावेऽर्थे त्वप्रत्ययः, तल्प्रत्ययश्च स्यात्)। गोर्भावः—गोत्वं, गोता। त्वान्तं क्लीबम्। तलन्तं स्त्रियाम्॥

अर्थः— षष्ठचन्त समर्थ प्रातिपदिक से भाव अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक त्व और तल् प्रत्यय हों। **त्वान्तं क्लीबम्**— त्व-प्रत्ययान्तशब्द नपुंसक में प्रयुक्त होता है। **तलन्तं स्त्रियाम्**—तल्प्रत्ययान्तशब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

व्याख्या— तस्य ।५।१। (षष्ठचन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। भावः ।१।१। त्व-तलौ ।१।२। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। त्वश्च तल् च त्वतलौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(तस्य=षष्ठचन्तात् प्रातिपदिकात्) षष्ठचन्त प्रातिपदिक से (भाव इत्यर्थे) भाव अर्थ में (त्व-तलौ) तद्धितसञ्ज्ञक 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय हो जाते हैं। तल् में लकार इत् है जो स्वरार्थ जोड़ा गया है।

यहां 'भाव' का अर्थ अभिप्राय, आशय या धात्वर्थ आदि नहीं है। इस का अर्थ है—**प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः**। अर्थात् प्रकृति[1] से उत्पन्न होने वाले बोध (ज्ञान) में जो विशेषणतया प्रतीत होता है उसे 'भाव' कहते हैं। यथा 'गो' यह प्रकृति है। इस के श्रवण से गोत्वयुक्त व्यक्ति का बोध होता है।[2] इस प्रकार के बोध में 'गोत्व' विशेषणतया प्रतीत होता है अतः यह भाव कहाता है। तात्पर्य यह है कि यहां शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त[3] को ही भाव कहा गया है। जातिशब्दों में जाति ही प्रवृत्तिनिमित्त या भाव हुआ करती है। यथा—गोत्वम्, पशुत्वम्, घटत्वम् आदि गो, पशु, घट आदि शब्दों के भाव हैं। कृदन्त, तद्धितान्त और समासों में सम्बन्ध ही भाव होता है। यथा—कृदन्तों में 'पाचकत्वम्' यहां पाचनक्रिया के साथ कर्तृत्वसम्बन्ध ही भाव है। तद्धितान्तों में 'औपगवत्वम्' यहां उपगु के साथ पुत्रत्वसम्बन्ध ही भाव है। समासों में 'राजपुरुषत्वम्' यहां राजा के साथ पुरुष का स्वस्वामिभावसम्बन्ध ही भाव है। शुक्ल आदि शब्द जब गुणवाचक होते हैं तब तद्गत जाति ही उन का भाव है। यथा—शुक्ले गुणे शुक्लत्वं नाम जातिर्भावः। जब शुक्ल आदि शब्द गुणिवाचक होते हैं तब शुक्ल आदि गुण ही उन का भाव होता है। यथा—शुक्ले पटे शुक्लत्वं नाम शुक्लो गुणः। डित्थ, डवित्थ, देवदत्त आदि सञ्ज्ञाशब्दों में तत्तत्पिण्डस्वरूप ही उन का भाव होता है। कुत्वं चुत्वम् आदि में भी कवर्ग, चवर्ग आदि का स्वरूप ही भाव समझना चाहिये। इस का विस्तृत विचार महाभाष्यस्थ प्रदीपोद्योतटीका में देखें।

---

१. **प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः**। जो प्रत्यय से पूर्व की जाती है अर्थात् जिस से प्रत्यय विधान किया जाता है उसे 'प्रकृति' कहते हैं। यथा—'औपगवः' में 'उपगु' प्रकृति है, 'गोत्वम्' में 'गो' और 'दाशरथिः' में 'दशरथ' प्रकृति है।

२. क्या कारण है कि एक गोव्यक्ति को देखने से संसार भर की गौओं का ज्ञान हो जाता है? एक सिंह को देख कर संसार भर के सिंह ज्ञात हो जाते हैं? इस का उत्तर यही है कि किसी एक गाय को देखने से केवल उस गोव्यक्ति का ज्ञान नहीं होता बल्कि उस के साथ साथ गोओं में रहने वाली गोत्वजाति का भी ज्ञान हो जाता है। उस गोत्वजाति के ज्ञात हो जाने से सब गौओं में उस जाति के रहने से 'यह गौ है, यह भी गौ है' इस प्रकार संसार भर की प्रत्युत आगे पैदा होने वाली भी गौओं का ज्ञान हो जाता है। अतीत, वर्त्तमान और भविष्य सब कालों में स्थित गोव्यक्तियों में एक समानता रहती है जिसे 'गोत्व' (गायपना) कहते हैं। उस के एक बार पहचाने जाने से संसार भर की गौओं का ज्ञान हो जाता है। अत एव न्यायवैशेषिक ग्रन्थों में कहा है—**नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्**।

३. जिस जात्यादि धर्म के कारण शब्द का लोक में प्रचलन होता है उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। यह व्युत्पत्तिनिमित्त से सर्वथा भिन्न होता है। जैसाकि साहित्यदर्पण के द्वितीयपरिच्छेद में कहा है—**अन्यच्छब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्**। प्रवृत्तिनिमित्त का विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ (२४९) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

सूत्र का उदाहरण यथा—

गोर्भावो गोत्वं गोता वा। गौ (गाय या बैल) का भाव गौपना या गोत्व जाति। यहां 'गो ङस्' से भाव अर्थ में **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) इस प्रकृतसूत्र से 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है। त्वप्रत्ययान्तशब्द नपुंसक में तथा तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं—ऐसा पाणिनीयलिङ्गानुशासन का आदेश है।[1] अतः त्वप्रत्ययान्तों से विभक्तिकार्य में प्रसङ्ग में सुँ प्रत्यय ला कर उसे **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'गोत्वम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तल्प्रत्ययान्तों के स्त्रीत्व के कारण **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप्, अनुबन्धलोप तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—गोता। सुँ विभक्ति का **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) द्वारा लोप हो कर 'गोता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—घटस्य भावो घटत्वं घटता वा। पशोर्भावः पशुत्वं पशुता वा।

त्व और तल् के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) **अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता।** (किरात० १.२३)

(२) **अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम्।** (हितोप० १.१३३)

(३) **विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।**
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥ (पञ्च० २.५९)

(४) **सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।**
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा॥ (हितोप०)

(५) **काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्तरम्या।** (सुभाषितरत्न०)

(६) **विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।**
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥ (हितोप०)

(७) **मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां**
विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥ (नीतिशतक)

(८) **यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।**
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥ (हितोप०)

(९) **पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते।** (हितोप० १.९९)

(१०) **साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते।** (भागवत०)

अब 'त्व' और तल् प्रत्ययों का अधिकार चलाते हैं—

---

१. **तलन्तः** (लिङ्गानु० १७)। अर्थः—तल्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। **त्वष्यञौ तद्धितौ** (लिङ्गानु० १२०)। अर्थः—भाव में विहित तद्धितसञ्ज्ञक जो त्व और ष्यञ् प्रत्यय, तदन्त शब्द नपुंसक होते हैं।

नञ्, स्नञ्, त्व, तल्—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—**(११५४) आ च त्वात् ।५।१।११९।।**

ब्रह्मणस्त्वः (५.१.१३५) इत्यतः प्राक् त्व-तलौ अधिक्रियेते। अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः। स्त्रिया भावः—स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। पौंस्नम्, पुँस्त्वम्, पुँस्ता ।।

अर्थः— **ब्रह्मणस्त्वः** (५.१.१३५) सूत्र से पहले पहले 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का अधिकार किया जा रहा है। **अपवादैः सह**—अपवादों (इमनिँच् आदि प्रत्ययों) के साथ त्व और तल् प्रत्ययों का भी समावेश हो सके इसलिये यह अधिकार चलाया गया है। **चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि—** सूत्र में 'च' के ग्रहण का यह प्रयोजन है कि नञ् और स्नञ् प्रत्ययों के साथ भी त्व और तल् प्रत्ययों का समावेश हो जाये।

व्याख्या— आ इत्यव्ययपदम्। च इत्यप्यव्ययपदम्। त्वात् ।५।१। त्व-तलौ ।१।२। (**तस्य भावस्त्वतलौ** सूत्र से)। 'आ' यह मर्यादा अर्थ में आङ् का प्रयोग किया गया है। **आङ् मर्यादावचने** (१.४.८८) से इस की कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञा हो कर इस के योग में **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (२.३.१०) द्वारा 'त्वात्' में पञ्चमी विभक्ति आई है। 'त्वात्' के 'त्व' शब्द से **ब्रह्मणस्त्वः** (५.१.१३५) सूत्र का निर्देश किया गया है। अर्थः— (आ त्वात्) **ब्रह्मणस्त्वः** इस सूत्र से पूर्व तक (च) भी (त्वतलौ) त्व और तल् प्रत्यय अधिकृत किये जा रहे हैं। अर्थात् यहां से ले कर **ब्रह्मणस्त्वः** (५.१.१३५) सूत्र तक जितने सूत्र कहेंगे उन में त्व और तल् प्रत्ययों का विधान होगा। उन उन सूत्रों में अपने अपने प्रत्यय तो विधान किये ही हैं परन्तु उन के साथ त्व और तल् प्रत्यय भी हो जायेंगे—यह इस अधिकार का प्रयोजन है। यथा आगे **पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा** (११५५) सूत्र से इमनिँच् प्रत्यय का विधान किया गया है, परन्तु इस अधिकार के कारण उस के साथ त्व और तल् प्रत्यय भी हो जायेंगे। पृथोर्भावः— प्रथिमा (इमनिँच्), पृथुत्वम् (त्व), पृथुता (तल्)। इन उदाहरणों का विवेचन वा सिद्धि आगे उसी सूत्र पर देखें।

यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि त्व और तल् प्रत्ययों का विधान तो **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) से किया ही जा चुका है पुनः इन के लिये इस अधिकार को चलाने की क्या आवश्यकता? इस पर ग्रन्थकार इस शङ्का का निवारण करते हुए लिखते हैं—

अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् ।

यदि त्व और तल् प्रत्ययों का प्रकृतसूत्र से अधिकार न चलाते तो अगले सूत्रों में इमनिँच् आदि प्रत्ययों के द्वारा **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) से प्राप्त होने वाले त्व और तल् प्रत्ययों का बाध हो जाता जो अनिष्ट था। परन्तु अब अधिकार के व्यर्थ हो जाने के भय से उन उन प्रत्ययों के साथ त्व और तल् प्रत्ययों का भी समावेश हो

जाता है। इस अधिकार को चलाने का यही प्रयोजन है।[1]

अब पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि '**आ च त्वात्**' सूत्र के स्थान पर 'आ त्वात्' सूत्र बनाने से भी तो त्व और तल् प्रत्ययों का अधिकार चल सकता था पुनः सूत्र में 'च' के ग्रहण की क्या आवश्यकता ? इस का उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं—

चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः ।

तात्पर्य यह है कि 'च' का प्रयोग समुच्चय के लिये किया जाता है। यथा— देवदत्तश्च भुङ्क्ते (देवदत्त भी खाता है) इस कथन में 'च' के ग्रहण के कारण किसी अन्य व्यक्ति का भी 'भुङ्क्ते' से सम्बन्ध समझ लिया जाता है। इसी प्रकार **आ च त्वात्** (**ब्रह्मणस्त्वः** तक भी त्व और तल् अधिकृत हैं) सूत्र में 'च' के ग्रहण से यह प्रतीत होता है कि त्व और तल् क्वचिद् अन्यत्र भी अधिकृत हैं। इन के अधिकार का वह कौन सा स्थान है ? इस का महाभाष्यसम्मत स्थान **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्र का विषय है। भवन अर्थात् **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** (११६४) तक के सब अर्थों में स्त्रीशब्द से नञ् और पुंस्शब्द से स्नञ् प्रत्यय अधिकृत है। इन आभवनीय अर्थों में **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) द्वारा प्रतिपादित 'भाव' भी एक अर्थ है। इस भाव अर्थ में त्व-तल् का बाध कर नञ् और स्नञ् प्राप्त होते थे परन्तु अब **आ च त्वात्** (११५४) में 'च' के ग्रहण से उन के अधिकार में भी इन त्व और तल् प्रत्ययों की प्रवृत्ति हो जायेगी।[2] इस तरह भाव अर्थ में स्त्रीशब्द से नञ्, त्व और तल् और पुंस्शब्द से स्नञ्, त्व और तल् तीन तीन प्रत्यय प्रत्येक से हो जायेंगे। तथाहि—

स्त्रिया भावः—स्त्रैणं स्त्रीत्वं स्त्रीता वा (स्त्री का भाव, स्त्रीपना, ज़नानापन)। यहां 'स्त्री ङस्' से भाव अर्थ की विवक्षा में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) से नञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण आदिवृद्धि एवम् **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'स्त्रैणम्' प्रयोग सिद्ध

---

१. इस अधिकार का एक और प्रयोजन भी महाभाष्य और काशिका आदि ग्रन्थों में बताया गया है—**कर्मणि च विधानार्थम्**। इस का तात्पर्य यह है कि आगे **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) आदि सूत्रों में जब भाव और कर्म दोनों में प्रत्यय विधान किये जायेंगे तो उन के साथ ये दोनों त्व-तल् प्रत्यय भी भाव और कर्म दोनों अर्थों में प्रवृत्त हो जायेंगे केवल भाव में ही नहीं। इस का स्पष्टीकरण आगे उसी सूत्र पर देखें।

२. भाव अर्थ में त्व-तल् द्वारा नञ्-स्नञ् का बाध ही क्यों न मान लिया जाये ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि भाव अर्थ में यदि नञ्-स्नञ् करने अभीष्ट न होते तो सूत्रकार **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** के स्थान पर 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भावात्' ही सूत्र बनाते। 'भवनात्' कथन का अभिप्राय ही यह है कि नञ्स्नञ्विधि में भाव अर्थ भी संगृहीत हो जाये। अतः भाव अर्थ में नञ्-स्नञ् के साथ त्व-तल् का समावेश ही होता है बाध नहीं।

हो जाता है। **आ च त्वात्** (११५४) में 'च' ग्रहण के कारण पक्ष में त्व और तल् भी हो जायेंगे—स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। इस प्रकार—स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता ये तीन रूप बनेंगे।

पुंसो भावः—पौंस्नम् पुंस्त्वम् पुंस्ता वा (पुरुषपना, मर्दानापन, मर्दानगी)। यहां 'पुंस् ङस्' से भाव अर्थ में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) से स्नञ् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि करने पर—पौंस्+स्न। अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पद-संज्ञा होने के कारण **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्त सकार का लोप[1] तथा **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्यायानुसार अनुस्वार को मकार हो कर—पौम्+स्न। **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त मकार को पुनः अनुस्वार कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'पौंस्नम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] **आ च त्वात्** (११५४) में 'च' ग्रहण के कारण पक्ष में त्व और तल् भी हो जायेंगे। त्व और तल् में सुँब्लुक् हो कर संयोगान्तलोप, **पुमः खय्यम्परे** (९४) से मकार को रुँत्व, पूर्व को अनुनासिक आदेश (९१), अनुस्वार का आगम (९२), रेफ को विसर्गादेश तथा **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** (वा० १५) से विसर्ग को सकारादेश करने से 'पुँस्त्वम्-पुंस्त्वम्, पुँस्ता-पुंस्ता' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।[3]

अब अग्रिमसूत्रद्वारा भाव अर्थ में इमनिँच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. अनुस्वार की गणना भी हल्प्रत्याहार में हो कर **हलोऽनन्तराः संयोगः** (१३) से संयोगसञ्ज्ञा हो जाती है। एतद्विषयक एक टिप्पण इस व्याख्या के प्रथमभाग में **पुंसोऽसुँङ्** (३५४) सूत्र पर लिखा जा चुका है वह यहां पुनर्ध्यातव्य है।

२. 'पौंस्नम्' में संयोगान्तलोप करने पर **पुमः खय्यम्परे** (९४) सूत्रद्वारा रुँत्व और तत्पश्चात् अनुनासिक-अनुस्वार (९१, ९२) एवं **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** (वा० १५) से विसर्ग को सकार आदेश हो जाता है—इस प्रकार का उल्लेख सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमाटीका में यहां मुद्रित मिलता है जो नितान्त अशुद्ध है। भला 'पौम्+स्न' इस स्थिति में **पुमः खय्यम्परे** (९४) कैसे प्रवृत्त होगा? खय् परे कहां है? आश्चर्य तो यह है कि मद्रास्, लवपुर, वाराणसी, दिल्ली आदि कई महानगरों से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है और मुखपृष्ठ पर लिखे अनुसार कई बड़े बड़े ख्यातनामा वैयाकरण इस के सम्पादक एवं संशोधक रहे हैं, परन्तु किसी का इस ओर ध्यान ही नहीं गया। इस के अतिरिक्त बालमनोरमाटीका के मुद्रित-संस्करणों में अन्यत्र भी बीसियों स्थान अशुद्ध हैं। इन के लिये हमारा लघुकाय-ग्रन्थ **बालमनोरमाभ्रान्तिदिग्दर्शन** देखना चाहिये। यह ग्रन्थ **भैमी-प्रकाशन** दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है।

३. अत्र **ह्रस्वात् तादौ तद्धिते** (८.३.१०१) इति प्राप्तस्य षत्वस्य सवनादित्वाद् (८.३.११०) निषेधो भवतीति नागेशः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५५) **पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा** ।५।१।१२१॥

(भावे पृथ्वादिभ्य इमनिँच् तद्धितप्रत्ययो वा स्यात्)। वावचनम् अणादिसमावेशार्थम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ पृथुआदि प्रातिपदिकों से भाव अर्थ में विकल्प से इमनिँच् तद्धितप्रत्यय हो। **वावचनम्**—विकल्प का कथन अण् आदि प्रत्ययों के समावेश के लिये है।

व्याख्या—पृथ्वादिभ्यः ।५।३। इमनिँच् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। तस्य ।५।३। भावः ।१।१। (**तस्य भावस्त्वतलौ** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पृथुः (पृथुशब्दः) आदिर्येषां ते पृथ्वादयः, तेभ्यः=पृथ्वादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। पृथ्वादि एक गण है जो गणपाठ में पढ़ा गया है[1]। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (पृथ्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः) पृथुआदि प्रातिपदिकों से (भाव इत्यर्थे) भाव अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इमनिँच्) इमनिँच् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है।

इमनिँच् में अनुनासिक इकार और अन्त्य चकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'इमन्' मात्र शेष रहता है। चकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है। इमनिँच्-प्रत्ययान्तशब्द संस्कृत में पुंलिङ्ग होते हैं। हिन्दीभाषा की देखादेखी इन को स्त्रीलिङ्ग समझना भूल है। इन की सुँबन्तप्रक्रिया तथा रूपमाला राजन्शब्द की तरह होती है।

प्रकृतसूत्र में 'वा' का ग्रहण किया गया है अतः यह सूत्र विकल्प से इमनिँच् का विधान करता है। परन्तु वह विकल्प तो प्रकारान्तरेण सिद्ध है ही, इस के लिये 'वा' कथन की आवश्यकता नहीं। तथाहि—त्व-तल् अधिकृत हैं ही, उन का भी इमनिँच् के साथ समावेश होना है ऐसा पूर्वसूत्र पर बताया जा चुका है। इस तरह इमनिँच् तो स्वतः ही विकल्प से होगा इस के लिये 'वा' का ग्रहण अनावश्यक है। इस शङ्का को मन में रख कर इस का समाधान करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

वा-वचनम् अणादिसमावेशार्थम्।

सूत्र में 'वा' (विकल्प) का कथन त्व और तल् के समावेश के लिये नहीं किया गया। उन का समावेश तो **आ च त्वात्** (११५४) अधिकार के कारण सिद्ध ही था। इस का कथन इस प्रकरण के अन्यसूत्रोंद्वारा प्राप्त होने वाले अण् आदि प्रत्ययों के समावेश के लिये किया गया है। अतः इमनिँच् के वैकल्पिक होने से पक्ष में यथाप्राप्त वे प्रत्यय भी हो जायेंगे। यथा इस प्रकरण का एक सूत्र है—**इगन्ताच्च लघुपूर्वात्** (११५८) अर्थात् लघु वर्ण जिस के पूर्व है ऐसा जो इक्, तदन्त प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों

---

१. पृथ्वादिगण यथा—

पृथु। मृदु। महत्। पटु। तनु। लघु। बहु। साधु। आशु। उरु। गुरु। बहुल। खण्ड। दण्ड। चण्ड। अकिञ्चन। बाल। होड। पाक। वत्स। मन्द। स्वादु। ह्रस्व। दीर्घ। प्रिय। वृष। ऋजु। क्षिप्र। क्षुद्र। अणु।

में अण् प्रत्यय हो । पृथु आदि कई प्रातिपदिक इस के घेरे में आते हैं, अतः इमनिँच् के अभावपक्ष में उन से अण् प्रत्यय भी हो जायेगा[1] ।

पृथुशब्द से इमनिँच् प्रत्यय करने पर रविधि तथा टिलोप हुआ करते हैं अतः ग्रन्थकार सर्वप्रथम तद्विधायक सूत्रों को दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५६) र ऋतो हलादेर्लघोः ।६।४।१६१।।**

हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्याद् इष्ठेमेयस्सु परतः ।।

अर्थः—हलादि अङ्ग के लघु ऋकार के स्थान पर 'र' (र् + अ) यह आदेश हो इष्ठन् इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्यय परे हों तो ।

व्याख्या—रः ।१।१। ऋतः ।६।१। हलादेः ।६।१। लघोः ।६।१। इष्ठेमेयस्सु ।७।३। (**तुरिष्ठेमेयस्सु** सूत्र से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । समासः—हल् आदिर्यस्य तद् हलादि, तस्य=हलादेः । 'हलादेः' यह अङ्गस्य का विशेषण है । अर्थः—(हलादेः) हल् जिस का आदि वर्ण है ऐसे (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (लघोर् ऋतः) लघु ऋकार के स्थान पर (रः) 'र' यह सस्वर आदेश हो जाता है (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठ, इम, ईयस् परे हो तो ।

इष्ठ से इष्ठन्, इम से इमनिँच् और ईयस् से ईयसुँन् प्रत्ययों की ओर निर्देश किया गया है ।

'र' यह सस्वर आदेश होता है, केवल 'र्' नहीं । पृथु, मृदु आदि हलादि शब्दों में यह सूत्र प्रवृत्त होता है । इन में ऋकार लघुसंज्ञक है अतः इमनिँच् आदि के परे रहते ऋकार को 'र' आदेश हो जाता है । ऋजु आदि शब्द हलादि नहीं अजादि हैं अतः वे इस सूत्र का विषय नहीं । कृष्ण आदि शब्दों में ऋकार लघु नहीं, वह **संयोगे गुरु** (४४६) से **गुरु** है । अतः ऐसे शब्द भी इस सूत्र का विषय नहीं हैं ।

वार्त्तिककार ने इस सूत्र के विषय का परिगणन कर दिया है । पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ इन छः शब्दों में ही उन्होंने 'र' का विधान माना है अन्य शब्दों

---

१. पृथु आदि शब्दों में इमनिँच् के अभावपक्ष में—

(क) क्वचित् **इगन्ताच्च लघुपूर्वात्** (११५८) से अण् हो जाता है । यथा—पृथु, मृदु, पटु आदि में ।

(ख) क्वचित् **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) से ष्यञ् हो जाता है । यथा—चण्ड, खण्ड आदि गुणवचनों में ।

(ग) क्वचित् **प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्** (५.१.१२८) से अञ् हो जाता है । यथा—बाल, वत्स आदि वयोवाचियों में ।

(घ) क्वचित् किसी अन्य सूत्र से कोई अन्य प्रत्यय प्राप्त हो जाता है और कभी नहीं भी होता ।

इसीलिये तो मूल में 'अणादिसमावेशार्थम्' में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

में नहीं। आगे मूल में ही इस विषय का वार्त्तिक पढ़ा गया है। काशिकाकार ने इस परिगणन को इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत्॥

अब इष्ठन् आदि प्रत्ययों में टि के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५७) टेः ।६।४।१५५॥

भस्य टेर्लोप इष्ठेमेयस्सु ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुन् प्रत्यय परे हो तो भसञ्ज्ञक टि का लोप हो।

व्याख्या—टेः ।६।१। भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। लोपः ।१।१। (**अल्लोपोऽनः** सूत्र से)। इष्ठेमेयस्सु ।७।३। (**तुरिष्ठेमेयस्सु** सूत्र से) अर्थः—(भस्य टेः) भसञ्ज्ञक टि का (लोपः) लोप हो जाता है (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठन्, इमनिँच् अथवा ईयसुँन् प्रत्यय परे हो तो।

अब रविधि के लिये परिगणनवार्त्तिक लिखते हैं—

[लघु०] वा०—(८९) पृथु-मृदु-भृश-कृश-दृढ-परिवृढानामेव रत्वम् ॥

पृथोर्भावः प्रथिमा। (इमनिँचोऽभावे—)

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ इन छः शब्दों के ही ऋवर्ण को 'र' आदेश होता है अन्यों के ऋवर्ण को नहीं।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझना चाहिये। इस की व्याख्या **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) सूत्र पर की जा चुकी है। इस परिगणन के कारण अन्यत्र रत्व नहीं होता। यथा—कृतम् आचष्टे कृतयति, मातरम् आचष्टे मातयति, भ्रातरम् आचष्टे भ्रातयति—इत्यादियों में **प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च** (वा०) द्वारा इष्ठवत्ता के कारण णिच् के परे रहते रविधि नहीं होती। इस का विशेष विवेचन व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखना चाहिये।

अब यहां प्रकरणप्राप्त पृथु आदि शब्दों से इमनिँच् आदि प्रत्ययों की सिद्धि दर्शाते हैं—

पृथोर्भावः प्रथिमा (विस्तृतपना, विस्तार, विशालता, मोटापन, महत्ता आदि)। 'पृथु ङस्' से भाव अर्थ में **पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा** (११५५) सूत्रद्वारा विकल्प से इमनिँच् प्रत्यय होकर सुँब्लुक् करने से—पृथु + इमन्। **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) से पृथु के ऋकार को 'र' आदेश हो कर—प्रथु + इमन्। **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा भसंज्ञक टि (उ) का लोप करने से—प्रथ् + इमन् = प्रथिमन्। अब प्रथमा का एकवचन सुँप्रत्यय

ला कर राजन्शब्द की तरह पुंलिङ्ग में उपधादीर्घ (१७७), हल्ङ्याब्दिलोप (१७९) तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का भी लोप करने पर 'प्रथिमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में जहां इमनिँच् नहीं होता वहां अग्रिमसूत्र से अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५८)

इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ।५।१।१३०॥[1]

(लघुपूर्वादिगन्तात् षष्ठ्यन्तप्रातिपदिकाद् भावे कर्मणि चाण् प्रत्ययः स्यात्)। पार्थवम्। म्रदिमा। मार्दवम्॥

अर्थः—लघुवर्ण जिस के पूर्व तथा इक् जिस के अन्त में हो ऐसे षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—इगन्तात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। लघुपूर्वात् ।५।१। तस्य ।५।१। भावे ।७।१। (**तस्य भावस्त्वतलौ** सूत्र से)। कर्मणि ।७।१। (**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** सूत्र से)। अण् ।१।१। (**हायनान्तयुवादिभ्योऽण्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—लघुः पूर्वः=अचाम्पूर्वो यस्य तत् लघुपूर्वं प्रातिपदिकम्, तस्मात्=लघुपूर्वात्, बहुव्रीहिसमासः। इक् अन्तोऽन्तावयवो यस्य तद् इगन्तम्प्रातिपदिकम्, तस्मात्=इगन्तात्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(लघुपूर्वात्) जिस के अचों का पहला अच् लघु हो तथा (इगन्तात्) इक् प्रत्याहार जिस का अन्त वर्ण हो तो ऐसे (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (भावे, कर्मणि) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है। अण् में णकार अनुबन्ध है जो आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्। मुनेर्भावः कर्म वा मौनम्। शुचि और मुनि प्रातिपदिकों के अचों का पहला अच् लघुसञ्ज्ञक है तथा इन का अन्त वर्ण इक्प्रत्याहारान्तर्गत इकार है अतः इन से अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** लोप करने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हुए हैं।[2]

प्रकृत में पृथुशब्द लघुपूर्व इगन्त है अतः जिस पक्ष में इमनिँच् नहीं हुआ उस पक्ष में भाव में प्रकृत **इगन्ताच्च लघु-पूर्वात्** (११५८) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, प्रत्यय के णित्त्व के कारण आदिवृद्धि (९३८), रपर (२९) तथा **ओर्गुणः** (१००५) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक उकार को ओकार गुण और **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को

१. क्वचिल्लघुकौमुदीसंस्करणेषु नेदं सूत्रमुपलभ्यते। परं सर्वत्र 'पार्थवम्' इत्युदाहरण-दर्शनादस्योल्लेख आवश्यकोऽत्रेति प्रतिभाति।

२. कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्। कविशब्द लघुपूर्व इगन्त है अतः प्रकृतसूत्र से अण् हो कर 'कावम्' बनना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं होता। कारण कि ब्राह्मणादिगण के आकृतिगण होने से उस में कविशब्द का पाठ मान लेने से **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) सूत्रद्वारा ष्यञ् प्रत्यय हो जाता है, अण् नहीं।

अव् आदेश करने पर—पार्थव । नपुंसक[1] में विभक्तिकार्य करने से 'पार्थवम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । **आ च त्वात्** (११५४) द्वारा त्व और तल् के भी अधिकृत होने से 'पृथुत्वम्, पृथुता' प्रयोग भी बनेंगे । इस प्रकार—प्रथिमा, पार्थवम्, पृथुत्वम्, पृथुता—ये चार रूप बनेंगे ।

इसी तरह—

(१) मृदोर्भावः—म्रदिमा, मार्दवम्, मृदुत्वम्, मृदुता ।

(२) पटोर्भावः—पटिमा, पाटवम्, पटुत्वम्, पटुता ।

(३) लघोर्भावः—लघिमा, लाघवम्, लघुत्वम्, लघुता ।

(४) तनोर्भावः—तनिमा, तानवम्, तनुत्वम्, तनुता ।

(५) गुरोर्भावः—गरिमा,[2] गौरवम्, गुरुत्वम्, गुरुता ।

(६) ऋजोर्भावः—ऋजिमा, आर्जवम्, ऋजुत्वम्, ऋजुता ।

(७) अणोर्भावः—अणिमा, आणवम्, अणुत्वम्, अणुता ।

(८) बहोर्भावः—भूमा[3], बाहवम्, बहुत्वम्, बहुता ।

(९) महतो भावः—महिमा,[4] महत्त्वम्, महत्ता ।

(१०) साधोर्भावः—साधिमा, साधुत्वम्, साधुता ।

(११) स्वादोर्भावः—स्वादिमा, स्वादुत्वम्, स्वादुता ।

---

१. भाव या कर्म में हुआ अण् प्रत्यय जिन के अन्त में हो वे शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं । तथाहि—

यद्-य-ढग्-यग्-अञ्—अण्-वुञ्-छाश्च (लिङ्गानुशासन) ।

अर्थः—भाव अथवा कर्म में विहित जो यत्, य, ढक्, यक्, अञ्, अण्, वुञ् और छ प्रत्यय, तदन्त शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं ।

२. **प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्-बंहि-गर्-वर्षि-त्रप्-द्राघि-वृन्दाः** (६.४.१५७) ।

अर्थः—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक—इन दस अङ्गों के स्थान पर क्रमशः प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द—ये दस आदेश हो जाते हैं, इष्ठन् इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्यय परे हो तो । इस सूत्र से यहां गुरु को गर् आदेश हो कर 'गरिमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

३. **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२८) । अर्थः—बहुशब्द से परे इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के आदि इवर्ण का लोप हो जाता है तथा उस 'बहु' के स्थान पर 'भू' यह सर्वादेश भी हो जाता है । इस सूत्र से इमनिँच् के आदि इकार का लोप तथा बहुशब्द के स्थान पर 'भू' आदेश हो कर 'भूमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

४. यहां **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा 'महत्' की टि (अत्) का लोप हो जाता है । इसी प्रकार—साधिमा, स्वादिमा में भी समझना चाहिये ।

इमनिँच्, ष्यञ्, त्व, तल्

(१२) ह्रस्वस्य भावः—ह्रसिमा[1], ह्रस्वत्वम्, ह्रस्वता ।
(१३) क्षिप्रस्य भावः—क्षेपिमा, क्षिप्रत्वम्, क्षिप्रता ।
(१४) क्षुद्रस्य भावः—क्षोदिमा, क्षुद्रत्वम्, क्षुद्रता ।

इन के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) **श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।**
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ (हितोप०)

(२) **तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।**
हिमांशुमाशु ग्रसते तत् तन्म्निः स्फुटं फलम् ॥ (माघ० २.४९)

(३) **तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥** (भर्तृहरि०)

(४) **आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ।** (किरात०)

(५) **भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः ।** (मालतीमाधव १.४)

(६) **इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ।** (सुभाषित)

(७) **निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वांसः ।**
यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥ (पञ्च० १.३१)

(८) **मानुषतासुलभो लघिमा प्रश्नकर्मणि मां नियोजयति ।** (कादम्बरी)

(९) **अयि मलयज महिमाऽयं कस्य गिरामस्तु विषयस्ते ।** (भामिनी०)

(१०) **सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः ।** (मुद्रा०)

अब अग्रिमसूत्रद्वारा भाव में ष्यञ् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५९)**

वर्ण-दृढादिभ्यः ष्यञ् च ।५।१।१२२॥

चाद् इमनिँच् । शौक्ल्यम्, शुक्लिमा । दार्ढ्यम्, द्रढिमा ॥

अर्थः—वर्ण (रङ्ग) वाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से तथा दृढादिगणपठित षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से भाव अर्थ में तद्धितसंज्ञक ष्यञ् प्रत्यय भी हो जाता है। **चादिमनिँच्**—'भी' कथन के कारण पूर्वोक्त इमनिँच् प्रत्यय भी होगा ।

व्याख्या—वर्णदृढादिभ्यः ।५।३। ष्यञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) सूत्र से 'तस्य भावः' का अनुवर्त्तन होता है। इस से षष्ठी समर्थविभक्ति और 'भाव' अर्थ उपलब्ध हो जाता है। 'च' ग्रहण के कारण पिछले

---

१. **स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः** (६.४.१५६) ।
अर्थः—स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र और क्षुद्र—इन छः शब्दों का परला यणादि भाग लुप्त हो जाता है तथा उस यणादिभाग से पूर्व को यथासम्भव गुण हो जाता है इष्ठन्, इमनिँच्, या ईयसुँन् प्रत्यय परे हो तो । इस सूत्र से इमनिँच् के परे रहते 'ह्रस्व' शब्द में 'व' का, क्षिप्रशब्द में 'र' का एवं क्षुद्रशब्द में भी 'र' का लोप हो जाता है। क्षिप्र और क्षुद्र शब्दों में यणादिभाग से पूर्व इकार उकार को गुण भी हो जाता है ।

पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा (११५५) सूत्र से इमनिँच् का भी संग्रह हो जाता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। दृढादि एक गण है[1]। 'वर्ण' से वर्णविशेष के वाचक शुक्ल आदि शब्दों का यहां ग्रहण अभीष्ट है। समासः— दृढः (दृढशब्दः) आदिर्येषां ते दृढादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। वर्णाश्च दृढादयश्च वर्णदृढादयः, तेभ्यः = वर्णदृढादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(भाव इत्यर्थे) भाव अर्थ में (तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (वर्णदृढादिभ्यः) वर्णविशेषवाचकों तथा दृढादिगण-पठित प्रातिपदिकों से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (ष्यञ्) ष्यञ् (च) और (इमनिँच्) इमनिँच् प्रत्यय हो जाते हैं।

ष्यञ्प्रत्यय के आदि षकार की **षः प्रत्ययस्य** (८३९) सूत्र से तथा अन्त्य ञकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञा हो कर दोनों का लोप हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है। ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिये तथा षकार अनुबन्ध **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा स्त्रीत्व में ङीष् प्रत्यय के विधान के लिये जोड़ा गया है।[2] उदाहरण यथा—

शुक्लस्य भावः शौक्ल्यं शुक्लिमा वा (शुक्लपना, सुफेदपना, सुफेदी)। शुक्ल-शब्द वर्णविशेष का वाचक है अतः 'शुक्ल ङस्' से भाव अर्थ में प्रकृत **वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च** (११५६) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा, उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् (७२१), आदिवृद्धि और भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शौक्ल्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इमनिँच्पक्ष में सुँब्लुक् हो कर **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा टि (अ) का लोप करने से पुं० के प्रथमैक-वचन में 'शुक्लिमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **आ च त्वात्** (११५४) अधिकार के कारण त्व और तल् प्रत्यय भी होंगे—शुक्लत्वम्, शुक्लता।

इसीप्रकार—

---

१. दृढादिगण यथा—
दृढ। वृड। परिवृढ। भृश। कृश। शुक्र। चक्र (चुक्र)। आम्र। लवण। ताम्र। अम्ल। शीत। उष्ण। जड। बधिर। पण्डित। मधुर। मूर्ख। मूक। **वेर्यात-लाभ-मति-मनः-शारदानाम्** (गणसूत्रम्)। **समो मतिमनसोर्जवने** (गणसूत्रम्)। बाल। तरुण। मन्द। स्थिर। बहुल। दीर्घ। मूढ। आक्रुष्ट॥

२. **त्व-ष्यञौ तद्धितौ** (लिङ्गानुशासन) इस वचन से भावार्थक-ष्यञ्प्रत्ययान्त शब्द यद्यपि नपुंसक में प्रयुक्त होने चाहियें तथापि ष्यञ् का षित्करण इस बात का ज्ञापक है कि लक्ष्यानुरोध से ये शब्द क्वचित् स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयुक्त होते हैं। स्त्रीलिङ्ग में ष्यञन्तों से ङीष् (१२५५) हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का तथा **हलस्तद्धितस्य** (१२५३) से उपधाभूत यकार का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार—मधुरस्य भावो माधुरी, चतुरस्य भावश्चातुरी, उचितस्य भाव औचिती, निपुणस्य भावो नैपुणी, विशारदस्य भावो वैशारदी, मित्रस्य भावो मैत्री, शीलस्य भावः शैली इत्यादि रूप सिद्ध हो जाते हैं।

(१) कृष्णस्य भावः — कार्ष्ण्यम्, कृष्णिमा ।
(२) हरितस्य भावः—हारित्यम्, हरितिमा ।
(३) लोहितस्य भावः — लौहित्यम्, लोहितिमा ।
(४) श्वेतस्य भावः— श्वैत्यम्, श्वेतिमा ।
(५) धवलस्य भावः—धावल्यम्, धवलिमा ।
(६) कालस्य भावः —काल्यम्, कालिमा[1] ।
(७) पीतस्य भावः— पैत्यम्, पीतिमा ।

दृढादियों से—

दृढस्य भावो दार्ढ्यं द्रढिमा वा (दृढ़पना, दृढ़ता)। दृढशब्द दृढादिगण का पहला शब्द है अतः 'दृढ ङस्' से भाव अर्थ में **वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च** (११५९) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, रपर (२९) और **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'दार्ढ्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इमनिँच्पक्ष में सुँब्लुक्, **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) से ऋवर्ण को 'र' आदेश और **टेः** (११५७) से भसंज्ञक टि (अ) का लोप करने पर—द्रढिमन् । राजन-शब्द की तरह पुंलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने से 'द्रढिमा' प्रयोग बनता है ।

दृढादिगण के कुछ अन्य उदारण यथा—

(१) शीतस्य भावः—शैत्यम्, शीतिमा ।
(२) उष्णस्य भावः— औष्ण्यम्, उष्णिमा ।
(३) बधिरस्य भावः— बाधिर्यम्, बधिरिमा ।
(४) जडस्य भावः— जाड्यम्, जडिमा ।
(५) मधुरस्य भावः—माधुर्यम्, मधुरिमा ।
(६) तरुणस्य भावः—तारुण्यम्, तरुणिमा[2] ।
(७) मन्दस्य भावः— मान्द्यम्, मन्दिमा ।
(८) मूढस्य भावः—मौढ्यम्, मूढिमा ।
(९) मूर्खस्य भावः —मौर्ख्यम्, मूर्खिमा ।
(१०) पण्डितस्य भावः—पाण्डित्यम्, पण्डितिमा ।
(११) विमनसो भावः— वैमनस्यम्, विमनिमा (टि=अस् का लोप) ।
(१२) विशारदस्य भावः— वैशारद्यम्, विशारदिमा ।
(१३) विमतेर्भावः—वैमत्यम्, विमतिमा ।
(१४) कृशस्य भावः— कार्श्यम्, क्रशिमा (११५६) ।
(१५) स्थिरस्य भावः—स्थैर्यम्, स्थेमा ('स्थ' आदेश) ।
(१६) दीर्घस्य भावः—दैर्घ्यम्, द्राघिमा ('द्राघि' आदेश) ।

---

१. **कालिमा कालकूटस्य नाऽपैतीश्वरसंगमात्** । (सुभाषित)

२. **अधः पश्यसि किं वृद्धे ! पतितं तव किं भुवि ।**
रे रे मूढ न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् ।। (सुभाषित)

ष्यञ्

नोट—अधिकृत (११५४) होने से त्व और तल् भी सर्वत्र हो जायेंगे—दृढत्वम्, दृढता। शीतत्वम्; शीतता। उष्णत्वम्, उष्णता। बधिरत्वम्, बधिरता। इत्यादि।

पुनः ष्यञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**११६०**)

गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ।५।१।१२३।।

चाद् भावे। जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम्। मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम्। ब्राह्मण्यम्। आकृतिगणोऽयम्।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त गुणवाचकों एवं ब्राह्मणादिगणपठित प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ष्यञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः ।५।३। कर्मणि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) सूत्र से 'तस्य' और 'भावः' पदों का अनुवर्त्तन होता है। ष्यञ् ।१।१। (**वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववतः अधिकृत हैं। गुणम् उक्तवन्त इति गुणवचनाः। ब्राह्मणः (ब्राह्मणशब्दः) आदिर्येषान्ते ब्राह्मणादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः। गुणवचनाश्च ब्राह्मणादयश्च गुणवचनब्राह्मणादयः, तेभ्यः = गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। गुणवचन वे शब्द होते हैं जो पहले गुण अर्थ में प्रवृत्त हो कर बाद में गुण-गुणी के अभेदोपचार या मतुँब्लुक् के कारण उस गुण से युक्त द्रव्य के वाचक हो जाते हैं। इन का विवेचन पीछे समासप्रकरणस्थ (९२५) सूत्राङ्क पर कर चुके हैं। ब्राह्मणादि एक गण है। जिसे आकृतिगण माना जाता है[1]। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त

---

१. ब्राह्मणादिगण यथा—

ब्राह्मण। वाडव। माणव। **अर्हतो नुम् च** (गणसूत्रम्)। चोर। धूर्त। आराधय। विराधय। अपराधय। उपराधय। एकभाव। द्विभाव। त्रिभाव। अन्यभाव। अक्षेत्रज्ञ। संवादिन्। संवेशिन्। संभाषिन्। बहुभाषिन्। शीर्षघातिन्। शीर्षपातिन् (का.)। विघातिन्। समस्थ। विषमस्थ। परमस्थ। मध्यमस्थ। अनीश्वर। कुशल। चपल। निपुण। पिशुन। कुतूहल। क्षेत्रज्ञ। निश्न। बालिश। अलस। दुष्पुरुष। कापुरुष। राजन्। गणपति। अधिपति। गडुल। दायाद। विशस्ति। विषम। विपात। निपात। **सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे** (गणसूत्रम्)। **चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च** (गणसूत्रम्)। शौटीर। मूक। कपि। विशसि। पिशाच। विशाल। धनपति। नरपति। निव। निधान। विष। स्वभाव। निघातिन्। राजपुरुष। विशाय। विशात। विजात। नयात। सुहित। दीन। विदग्ध। उचित। समग्र। शील। तत्पर। इदम्पर। यथातथा। पुरस्। पुनःपुनः। अभीक्ष्ण। तरतम। प्रकाम। यथाकाम। निष्कुल। स्वराज। महाराज। युवराज। सम्राज्। अविदूर। अपिशुन। अनृशंस। अयथातथ। अयथापुर। स्वधर्म। अनुकूल। परिमण्डल। विश्वरूप। ऋत्विज्। उदासीन। ईश्वर। प्रतिभू। साक्षिन्। मानुष। आस्तिक। नास्तिक। युगपद्। पूर्वाधर। उत्तराधर। आकृतिगणः।।

(गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः) गुणवचनों तथा ब्राह्मणादिगणपठित प्रातिपदिकों से (कर्मणि भावे च) कर्म तथा भाव अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ष्यञ्) ष्यञ् प्रत्यय हो जाता है।

अष्टाध्यायी में यहां से पूर्व केवल भाव में ही प्रत्यय विधान किये गये थे परन्तु अब यहां ष्यञ्प्रत्यय भाव और कर्म दोनों में विधान किया जा रहा है। **आ च त्वात्** (११५४) अधिकार के कारण त्व और तल् प्रत्यय भी भाव और कर्म दोनों में यहां हो जायेंगे। ष्यञ् के अनुबन्धों का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है—यह पीछे बताया जा चुका है।

उदाहरण यथा—

जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम् (जड़ का भाव—जड़ता, जड़पना; अथवा जड़ का कर्म=क्रिया)। जडशब्द गुणवाची है अतः 'जड ङस्' से भाव या कर्म अर्थ में **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) इस प्रकृतसूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुँप् (ङस्) का भी लुक् हो कर—जड+य। अब **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'जाड्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। अधिकृत होने से त्व और तल् भी हो जायेंगे—जडत्वम्, जडता। दृढादिगण में पाठ के कारण इमनिँच् भी हो जायेगा—जडिमा, परन्तु वह केवल भाव में ही होगा कर्म में नहीं। इसीप्रकार मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम्, मूढत्वम्, मूढता। केवल भाव में दृढादित्वात् इमनिँच् हो कर 'मूढिमा' भी।

ब्राह्मणादियों से ष्यञ् का उदाहरण यथा—

ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा ब्राह्मण्यम् (ब्राह्मण का भाव अर्थात् ब्राह्मणपना, अथवा ब्राह्मण का कर्म याग आदि)। ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणादिगण का प्रथम शब्द है। अतः 'ब्राह्मण ङस्' इस षष्ठ्यन्त से भाव या कर्म अर्थ में **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति**च लोप कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'ब्राह्मण्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। त्व और तल् के अधिकार के कारण 'ब्राह्मणत्वम्, ब्राह्मणता' ये दो रूप भी बनेंगे।

ब्राह्मणादियों से ष्यञ् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) चोरस्य भावः कर्म वा—चौर्यम्, चोरत्वम्, चोरता।
(२) मूकस्य भावः कर्म वा—मौक्यम्, मूकत्वम्, मूकता।
(३) चपलस्य भावः कर्म वा—चापल्यम्, चपलत्वम्, चपलता।
(४) कुशलस्य भावः कर्म वा—कौशल्यम्, कुशलत्वम्, कुशलता।
(५) निपुणस्य भावः कर्म वा—नैपुण्यम्, निपुणत्वम्, निपुणता।

---

१. **जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्।** (नीतिशतक १९)

(६) विदग्धस्य भावः कर्म वा—वैदग्ध्यम्, विदग्धत्वम्, विदग्धता ।
(७) दीनस्य भावः कर्म वा—दैन्यम्, दीनत्वम्, दीनता ।
(८) ईश्वरस्य भावः कर्म वा —ऐश्वर्यम्, ईश्वरत्वम्, ईश्वरता ।
(९) आस्तिकस्य भावः कर्म वा —आस्तिक्यम्, आस्तिकत्वम्, आस्तिकता ।
(१०) अधिपतेर्भावः कर्म वा —आधिपत्यम्, अधिपतित्वम्, अधिपतिता ।
(११) विषमस्य भावः कर्म वा— वैषम्यम्, विषमत्वम्, विषमता ।
(१२) नरपतेर्भावः कर्म वा—नारपत्यम्, नरपतित्वम्, नरपतिता ।

इसी तरह औदासीन्यम्, पौर्वापर्यम्, तात्पर्यम्, पौनःपुन्यम्, स्वातन्त्र्यम्, आलस्यम्, औचित्यम् (औचिती), आनुकूल्यम्, पैशुन्यम्, आनृशंस्यम्, यौगपद्यम् इत्यादि ष्यञ्प्रत्ययान्त समझ लेने चाहियें ।

आकृतिगणोऽयम् । ब्राह्मणादिगण को आकृतिगण माना गया है । अर्थात् लोक में शिष्टप्रयोगों में जहां ष्यञ् प्रयुक्त हुआ मिले और उस का विधायक कोई सूत्र या वचन न हो तो उसे भी ब्राह्मणादियों में परिगणित कर लेना चाहिये ।

अब भाव और कर्म अर्थों में सखिशब्द से 'य' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६१) **सख्युर्यः** ।५।१।१२५।।

(षष्ठयन्तात् सखिप्रातिपदिकात् कर्मणि भावे च तद्धितो यः प्रत्ययः स्यात्) । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् ।।

अर्थः—षष्ठयन्त सखि (मित्र) प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों में तद्धित-सञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—सख्युः ।५।१। यः ।१।१। **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) से 'तस्य भावः' का तथा **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) से 'कर्मणि' का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अनुवर्त्तित 'भावः' को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर 'भावे' बना लिया जाता है । अर्थः—(तस्य = षष्ठयन्तात्) षष्ठयन्त (सख्युः प्रातिपदिकात्) 'सखि' प्रातिपदिक से (भावे कर्मणि च) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यः) 'य' प्रत्यय हो जाता है । यह प्रत्यय न तो ञित्-णित् है और न ही कित्, अतः इस के परे रहते अङ्ग को आदिवृद्धि नहीं होती ।

उदाहरण यथा—

सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् (मित्रता, मित्रपना, मैत्री; अथवा मित्र का कर्म) । 'सखि ङस्' यहां षष्ठयन्त सखिप्रातिपदिक से भाव या कर्म अर्थ में प्रकृत **सख्युर्यः** (११६१) सूत्र से 'य' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने पर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य कर लेने से 'सख्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1] त्व और तल् के अधिकृत (११५४) होने से 'सखित्वम्' और

---

१. **दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।**
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ।। (हितोप० १.८०)
समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।। (पञ्चतन्त्र १.३०५)

ढक् [एय]

'सखिता' भी बनेंगे।

अब भाव-कर्म अर्थों में कपि (वानर) और ज्ञाति (बन्धु) प्रातिपदिकों से ढक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११६२) कपि-ज्ञात्योर्ढक् ।५।१।१२६॥**

(षष्ठ्यन्ताभ्यां कपि-ज्ञातिप्रातिपदिकाभ्यां भावे कर्मणि च तद्धितो ढक् प्रत्ययः स्यात्)। कापेयम्। ज्ञातेयम्॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त कपि और ज्ञाति प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ढक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—कपिज्ञात्योः ।६।२। ढक् ।१।१। 'भावे' और 'कर्मणि' का पीछे से अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। कपिश्च ज्ञातिश्च कपिज्ञाती, तयोः=कपिज्ञात्योः, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग प्राचीन वैयाकरणों के अनुकरण के कारण किया गया है अथवा किसी प्राचीन व्याकरण का यह सूत्र पाणिनि ने यथावत् उद्धृत कर लिया है। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्ताभ्याम्) षष्ठ्यन्त (कपिज्ञात्योः=कपिज्ञातिभ्याम्) 'कपि' और 'ज्ञाति' प्रातिपदिकों से (भावे कर्मणि च) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है।

ढक् में ककार अनुबन्ध **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। ढक् के आदि ढकार को **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) द्वारा एय् आदेश हो जाता है।

कपि और ज्ञाति यद्यपि दो प्रातिपदिक हैं और इधर भाव और कर्म दो अर्थ भी हैं तथापि इन में यथासंख्य नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानना प्रकरण और लोक के सर्वथा विरुद्ध है। व्याकरण का कार्य शिष्टप्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शन करना होता है न कि नये नये प्रयोगों वा अर्थों का घड़ना। अतः दोनों अर्थों में ही दोनों प्रातिपदिकों से ढक् होगा। उदाहरण यथा—

कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् (कपि का भाव अर्थात् वानरपना या वानर का कर्म अनुकरणशीलता आदि)। यहां 'कपि ङस्' से भाव या कर्म अर्थ में प्रकृत **कपिज्ञात्योर्ढक्** (११६२) सूत्र से ढक् प्रत्यय, अनुबन्ध ककार का लोप, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि ढकार को एय् आदेश, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने से—काप् एय् अ=कापेय। अब नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुँप्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश (२३४) तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'कापेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयम् (बन्धुता या बन्धु का कर्म)। यहां भी 'ज्ञाति ङस्'

---

१. **एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति** (महाभाष्य १.३.२५)। अर्थः—यह इस का वानरभाव (अन्धानुकरणशीलता) है जो यह सूर्योपस्थान सा कर रहा है।

यक्

से पूर्ववत् भाव या कर्म में ढक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, ढ् को एय् आदेश, पर्जन्य-वल्लक्षणप्रवृत्तिन्याय से आदिवृद्धि तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ज्ञातेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

अब कुछेक प्रातिपदिकों से भाव-कर्म में यक् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११६३)**

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ।५।१।१२७।।

(षष्ठ्यन्तेभ्यः पत्यन्तेभ्यः पुरोहितादिभ्यश्च भावे कर्मणि च यक् तद्धितः स्यात्)। **सैनापत्यम्**। **पौरोहित्यम्** ।।

अर्थः—पत्यन्त एवं पुरोहितादि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—पत्यन्त-पुरोहितादिभ्यः ।५।३। यक् ।१।१। यहां **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) सूत्र से 'तस्य' और 'भावः' पदों का तथा **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) सूत्र से 'कर्मणि च' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पतिः (पतिशब्दः) अन्तः (अन्तावयवः) येषां तानि पत्यन्तादीनि, बहुव्रीहिसमासः। पुरोहितः (पुरोहितशब्दः) आदिर्येषां तानि पुरोहितादीनि, बहुव्रीहिसमासः। पत्यन्तानि च पुरोहितादीनि च पत्यन्तपुरोहितादीनि (प्रातिपदिकानि)। तेभ्यः=पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। अनुवर्त्तित 'भावः' को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर 'भावे' बना लिया जाता है। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (पत्यन्त-पुरोहितादिभ्यः) पतिशब्दान्त एवं पुरोहितादि प्रातिपदिकों से (भावे कर्मणि च) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (यक्) यक् प्रत्यय हो जाता है।

यक् में ककार अनुबन्ध है जो आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है।

पत्यन्तों से यक् का उदाहरण यथा—

सेनायाः पतिः सेनापतिः, षष्ठीतत्पुरुषः। सेनापतेर्भावः कर्म वा **सैनापत्यम्** (सेनापति का भाव या सेनापति का कर्म)। 'सेनापति' शब्द के अन्त में 'पति' शब्द विद्यमान है अतः यह पत्यन्त प्रातिपदिक है। 'सेनापति ङस्' इस षष्ठ्यन्त से भाव या कर्म अर्थ में **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३) सूत्र से यक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक्, **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि से एकार को ऐकार तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सैनापत्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार—गृहपतेर्भावः कर्म वा गार्हपत्यम्। प्रजापतेर्भावः कर्म

---

१. **एष प्रावृषिजाम्भोदनादी भ्राता विरौति ते।**
ज्ञातेयं कुरु सौमित्रे ! भयात् त्रायस्व राघवम् ।। (भट्टि० ५.५४)

वा प्राजापत्यम् ।[1]

पुरोहितादि एक गण है ।[2] पुरोहितादि से यक् का उदाहरण यथा—

पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम् (पुरोहितपना या पुरोहिताई) । पुरोहित-शब्द पुरोहितादिगण का प्रथम शब्द है । अतः 'पुरोहित ङस्' इस षष्ठयन्त से भाव या कर्म अर्थ में प्रकृत **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३) सूत्र से यक् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि से उकार को औकार तथा अन्त में **यस्येति च** लोप कर विभक्ति लाने से 'पौरोहित्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[3]

इसीप्रकार—राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् (राजपना या राजा का कर्म) ।[4] **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) सूत्र में 'अभावकर्मणोः' कहा गया है अतः भाव-कर्म में प्रकृति-भाव नहीं होता, **नस्तद्धिते** (९१९) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप हो जाता है ।[5]

---

१. यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि पत्यन्त होते हुए भी अधिपति, धनपति, गणपति और नरपति शब्दों से यक् नहीं होता । कारण कि इन का ब्राह्मणादियों में पाठ किया गया है अतः **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) से ष्यञ् ही होता है । ष्यञ् और यक् में रूपसिद्धि तो एक जैसी होती है किन्तु स्वर में अन्तर पड़ता है (यदि कहीं स्त्रीत्व विवक्षित होगा तो उस में भी अन्तर पड़ सकता है) ।

२. पुरोहितादिगण यथा—
पुरोहित । **राजाऽसे** (गणसूत्रम्) । संग्रामिक (ग्रामिक) । पिण्डिक । सुहित । बाल । मन्द (बालमन्द) । खण्डिक । दण्डिक । वर्मिक (वर्मित) । कर्मिक । धर्मिक । शिलिक (शीलिक) । सूतिक । मूलिक । तिलक (तिलिका) । अञ्जलिक । अञ्ज-निक (अञ्जतिका) । ऋषिक (रूपिक) । पुत्रिक (पुत्रक) । अविक । छत्रिक । पर्षिक । पथिक (पथिका) । चर्मिक । प्रतिक । सारथि (सारथिक) । आस्तिक । सूचिक । संरक्ष । सूचक (संरक्षसूचक) । नास्तिक । अजानिक । शाक्वर (राक्वर) । नागर । चूडिक । एषिक । मिलिक । स्तनिक । चूडितिक । कृषिक । पूतिक । पत्रिक । सलनिक । पक्षिक । जलिक । शर्मिक । तिथ्विक । प्रचिक । प्रविक । परीक्षक (परिक्षक) । पूजनिक । मूचिक । स्वरिक ।

३. **नरकाय मतिस्ते चेत् पौरोहित्यं समाचर ।**
वर्षं यावत् किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम् ॥ (पञ्चतन्त्र २.७०)

४. **स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ ।**
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ (रघु० ४.१)
राज्ञः कर्म राज्यं प्रजापालनात्मकमिति मल्लिनाथः ।

५. पुरोहितादिगण में **राजाऽसे** (असमास में ही राजन्शब्द पुरोहितादियों में गिना जाना चाहिये) यह एक गणसूत्र आया है । अतः असमास अवस्था में ही इस से यक् प्रत्यय होता है । समासावस्था में ब्राह्मणादित्वात् इस से ष्यञ् (११६०) होता है । यथा—सुराज्ञो भावः कर्म वा सौराज्यम् । यौवराज्यम् । माहाराज्यम् । आधि-राज्यम् । इत्यादि ।

अभ्यास [११]

(१) निम्नस्थ स्थलों की अपने शब्दों में व्याख्या करें—
[क] क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् ।
[ख] प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः ।
[ग] त्वान्तं क्लीबम् ।
[घ] अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् ।
[ङ] चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः ।
[च] वावचनम् अणादिसमावेशार्थम् ।
[छ] यद्-य-ढग्-यग्-अञ्-अण्-वुञ्-छाश्च ।

(२) निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—
१. सैनापत्यम् । २. कापेयम् । ३. सख्यम् । ४. जाड्यम् । ५. ब्राह्मण्यम् । ६. दाढर्चम्-द्रढिमा । ७. प्रथिमा-पार्थवम् । ८. ब्राह्मणवदधीते । ९. मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । १०. गोत्वम् । ११. पौंस्नम्-पुंस्त्वम् । १२. पौरोहित्यम् । १३. शौक्ल्यम्-शुक्लिमा ।

(३) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्त रूप निर्दिष्ट करें—
१. स्त्रिया भावः । २. पुंसो भावः । ३. मृदोर्भावः । ४. मूढस्य भावः कर्म वा । ५. ज्ञातेर्भावः कर्म वा । ६. राज्ञो भावः कर्म वा । ७. बह्वोर्भावः । ८. गुरोर्भावः । ९. क्षुद्रस्य भावः । १०. ह्रस्वस्य भावः ।

(४) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. र ऋतो हलादेर्लघोः । २. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । ३. वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च । ४. आ च त्वात् । ५. तत्र तस्येव । ६. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः । ७. तस्य भावस्त्वतलौ । ८. इगन्ताच्च लघुपूर्वात् । ९. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा । १०. पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । ११. टेः ।

(५) भावे ष्यञ्प्रत्ययान्त एवम् इमनिँच्प्रत्ययान्त कोई से दस प्रयोग लिखिये ।

(६) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—
[क] षडेतान् रविधौ स्मरेत्—वे छः कौन कौन से हैं ?
[ख] ष्यञ् को षित् करने का क्या प्रयोजन है ?
[ग] स्त्रीवत् क्रन्दति—यहां नञ्प्रत्यय क्यों नहीं होता ?
[घ] त्व, तल्, ष्यञ् और इमनिँच् प्रत्ययान्त शब्द किस किस लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ?

(७) निम्नस्थ विग्रहों में कौन सा तद्धित प्रत्यय करना उचित होगा ।
१. राज्ञो भावः कर्म वा । २. सुराज्ञो भावः कर्म वा ।

(८) पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वान्महानसवत्—यहां क्रिया के अभाव में वतिँ-प्रत्यय कैसे उपपन्न हो सकता है ?

[लघु०] इति त्वतलोरधिकारः ।।

(यहां त्व और तल् प्रत्ययों के अधिकार का विवेचन समाप्त होता है।)

——:०:——

अथ भवनाद्यर्थकाः

अब अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के द्वितीयपादस्थ तद्धित प्रत्ययों का विवेचन प्रारम्भ हो रहा है। इस पाद के प्रत्ययों को दो भागों में बांटा जा सकता है। जहां प्रथम भाग में भवन (उत्पत्तिस्थान) आदि विविध अर्थों में अनेक प्रत्ययों का वर्णन है वहां इसके द्वितीय भाग में मत्वर्थीय प्रत्ययों का सुव्यवस्थित प्रकरण है। कौमुदी-कार भी इन दोनों का इसी क्रम से वर्णन करते हुए प्रथम भवनाद्यर्थक प्रत्ययों को प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्--(११६४)

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ।५।२।१।।

भवत्यस्मिन्निति भवनम् । (धान्यानां भवने क्षेत्रेऽर्थे षष्ठ्यन्तेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तद्धितः खञ् प्रत्ययः स्यात्)। मुद्गानां भवनं क्षेत्रम् मौद्गीनम् ।।

अर्थः—धान्यों के उत्पत्तिस्थान क्षेत्र अर्थ में धान्य-विशेष के वाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञक खञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—धान्यानाम् ।६।३। भवने ।७।१। क्षेत्रे ।७।१। खञ् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। भवति = जायते = उत्पद्यते अस्मिन्निति भवनम्। यहां उत्पत्त्यर्थक भूधातु से अधिकरण में **करणाधि-करणयोश्च** (३.३.११७) सूत्रद्वारा ल्युट् प्रत्यय हो कर 'भवन' शब्द निष्पन्न होता है। इस का अर्थ है—जिस में उत्पन्न होता है अर्थात् उत्पत्तिस्थान। 'धान्यानाम्' में कृद्योगे कर्त्ता में षष्ठी समझनी चाहिये। 'भवने' पद 'क्षेत्रे' का विशेषण है। इस प्रकार 'धान्य-विशेषों के उत्पत्तिस्थान खेत' अर्थ में यह प्रत्यय विधान किया जा रहा है। किस समर्थविभक्ति से यह प्रत्यय हो? इस के लिये यहां गृहीत 'धान्यानाम्' के कारण षष्ठ्-यन्त धान्यविशेषवाचकों से ही इस प्रत्यय का विधान माना जाता है। अर्थः—(धान्या-नाम् = षष्ठ्यन्तेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः) धान्यविशेषवाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से (भवने क्षेत्रे) उन के उत्पत्तिस्थान खेत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (खञ्) खञ् प्रत्यय हो जाता है।

खञ् में ञकार अनुबन्ध **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। 'ख' के आदि वर्ण खकार को **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्यया-दीनाम्** (१०१३) से ईन् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्—मौद्गीनम् (मूंगधान्य का उत्पत्तिस्थान खेत)। यहां 'मुद्ग आम्' इस धान्यविशेषवाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'उत्पत्तिस्थान क्षेत्र' इस अर्थ में प्रकृत **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** (११६४) सूत्र से खञ् प्रत्यय, अकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुँप् (आम्) का लुक्, प्रत्यय के आदि खकार को **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से ईन् आदेश तथा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि करने पर—'मौद्ग+ईन् अ=मौद्ग+ईन' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मौद्गीनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) गोधूमानां भवनं क्षेत्रं गौधूमीनम् (गेहूं का खेत)।

(२) कुलत्थानां भवनं क्षेत्रं कौलत्थीनम् (कुल्थी का खेत)।

(३) कोद्रवाणां भवनं क्षेत्रं कौद्रवीणम् (कोदों का खेत)।

(४) नीवाराणां भवनं क्षेत्रं नैवारीणम् (स्वांक चावलों का खेत)।

(५) सर्षपाणां भवनं क्षेत्रं सार्षपीणम् (सरसों का खेत)।

स्कन्दपुराण में धान्यों के अठारह प्रकार गिनाये गये हैं—

यव-गोधूम-धान्यानि तिलाः कङ्गु-कुलत्थकाः ।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः श्याम-सर्षपाः ।।
गवेधुकाश्च नीवारा आढक्यश्च सतीनकाः ।
चणकाश्चीणकाश्चैव धान्यान्यष्टादशैव तु ।।

सूत्र में 'धान्यानाम्' इस बहुवचननिर्देश से यह सूचित होता है कि यहां धान्य-शब्द से स्वरूप का ग्रहण अभीष्ट नहीं, धान्यविशेषवाचकों से ही प्रत्यय करना वाञ्छित है। किञ्च 'धान्यानाम्' कथन के कारण 'तृणानां भवनं क्षेत्रम्' इस अर्थ में खञ् प्रत्यय नहीं होता।

सूत्रगत 'भवन' शब्द से 'गृह=घर' अर्थ न समझ लिया जाये इसलिये 'क्षेत्रे' शब्द का प्रयोग किया गया है। अत एव 'मुद्गानां भवनं कुसूलम्' (मूंगधान्यों को रखने का कोठा) इस अर्थ में प्रत्यय नहीं होता। यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि 'क्षेत्रे' कथन के कारण ही 'भवन' में भूधातु को उत्पत्त्यर्थक मान कर उस का अर्थ उत्पत्ति-स्थान किया जाता है।

लोक में इस समय भी धान्यविशेषों के उत्पत्तिस्थान के लिये ऐसे प्रयोग बहुधा पाये जाते हैं। जैसे जिस खेत में तिल बोये जाते हैं उसे प्रान्तीयभाषा में तिल-वाड़ा कहा जाता है।

अब धान्यविशेषवाची व्रीहि (चावल) और शालि (शालीधान्य) प्रातिपदिकों से खञ् के अपवाद ढक्प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६५) **व्रीहि-शाल्योर्ढक्** ।५।२।२।।

(षष्ठ्यन्ताभ्यां व्रीहि-शालि-प्रातिपदिकाभ्यां भवने क्षेत्रे तद्धितो ढक् प्रत्ययः स्यात्)। व्रैहेयम्। शालेयम्।।

ढक (एय)

अर्थः—षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि प्रातिपदिकों से उन के उत्पत्तिस्थान खेत अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ढक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—व्रीहि-शाल्योः ।६।२। ढक् ।१।१। 'भवने क्षेत्रे' पदों का पूर्वसूत्र से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—व्रीहिश्च शालिश्च व्रीहिशाली, तयोः=व्रीहिशाल्योः। इतरेतर-द्वन्द्वः। अर्थः—(व्रीहिशाल्योः=षष्ठ्यन्ताभ्यां व्रीहिशालिभ्याम्) षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि प्रातिपदिकों से (भवने क्षेत्रे) उन के उत्पत्तिस्थान खेत अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है। यह पूर्वोक्त खञ् प्रत्यय का अपवाद है।

ढक् में ककार अनुबन्ध **किति च** (१००१) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। 'ढ' प्रत्यय के आदि वर्ण ढकार के स्थान पर **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से एय् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

व्रीहीणां भवनं क्षेत्रं व्रैहेयम् (चावलों का उत्पत्तिस्थान खेत)। यहां 'व्रीहि आम्' इस धान्यवाचक षष्ठ्यन्त से 'भवन क्षेत्र' अर्थ में **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** (११६४) से प्राप्त खञ् का बाध कर प्रकृत **व्रीहिशाल्योर्ढक्** (११६५) सूत्रद्वारा ढक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि ढकार को एय् आदेश और **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि करने पर—'व्रैहि+एय् अ= व्रैहि+एय' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'व्रैहेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

शालीनां भवनं क्षेत्रं शालेयम् (शाली चावलों का उत्पत्तिस्थान खेत)। यहां 'शालि+आम्' से प्रकृतसूत्रद्वारा ढक्, सुँब्लुक्, ढ् को एय् आदेश तथा **पर्जन्यवल्लक्षण-प्रवृत्तिन्याय** से आदिवृद्धि कर—शालि+एय। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शालेयम् प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अष्टाध्यायी के कुछ अन्य सूत्रों के अनुसार—

यवानां भवनं क्षेत्रम्—यव्यम्।[1]

तिलानां भवनं क्षेत्रम्—तिल्यं तैलीनं वा।[2]

माषाणां भवनं क्षेत्रम्—माष्यं माषीणं वा।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'हैयङ्गवीन' शब्द का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**११६६**)

हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम् ।५।२।२३॥

---

१. **यव-यवक-षष्टिकाद् यत्** (५.२.३) इति यत्।

२. **विभाषा तिल-माषोमा-भङ्गाऽणुभ्यः** (५.२.४) इति वा यत्। पक्षे खञ्। एवमग्रेऽपि बोध्यम्।

ह्योगोदोहशब्दस्य हियङ्गुरादेशः, विकारेऽर्थे खञ् च निपात्यते। दुह्यते इति दोहः—क्षीरम्। ह्योगोदोहस्य विकारः—हैयङ्गवीनम् = नवनीतम्॥

अर्थः—विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त ह्योगोदोह (गत कल को दुहा गया गो-दुग्ध[1]) शब्द से तद्धितसञ्ज्ञक खञ् प्रत्यय हो तथा 'ह्योगोदोह' शब्द के स्थान पर 'हियङ्गु' सर्वादेश भी हो।

व्याख्या—हैयङ्गवीनम् ।१।१। सञ्ज्ञायाम् ।७।१। अर्थः—(हैयङ्गवीनम्) 'हैयङ्गवीन' यह शब्दस्वरूप (संज्ञायाम्) सञ्ज्ञा में निपातन किया जाता है। लोक में यह शब्द उस ताजे घृत या नवनीत (माखन) का वाचक है जो कल के दुहे गोदुग्ध से बनाया गया हो। इस निपातन से यह सूचित होता है कि मुनिवर पाणिनि 'ह्योगोदोह' शब्द से 'तस्य विकारः' के अर्थ में खञ् प्रत्यय तथा प्रकृति (ह्योगोदोह) को 'हियङ्गु' आदेश का विधान कर रहे हैं। आदिवृद्धि, गुण आदि अन्य कार्य तो स्वतः सामान्य नियमों के अन्तर्गत सिद्ध हैं ही। तथाहि—

ह्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनम्। 'ह्योगोदोह ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से **हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम्** (११६६) इस निपातन के कारण विकार अर्थ में तद्धित खञ् प्रत्यय तथा प्रकृति को 'हियङ्गु' आदेश हो कर सुब्लुक् करने से 'हियङ्गु + ख' हुआ। अब **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्र से खप्रत्यय के आदिवर्ण खकार को ईन् आदेश, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवम् **ओर्गुणः** (१००५) से भसञ्ज्ञक उकार को ओकार गुण करने से—हैयङ्गो + ईन। अन्त में **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्रद्वारा ओकार को अव् आदेश कर विभक्ति लाने से 'हैयङ्गवीनम्' (कल के दुहे गोदुग्ध का विकार—माखन या घृत) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

भाष्यकार तथा अमरकोषकार आदि ताजे गोघृत का नाम 'हैयङ्गवीनम्' बताते हैं।[2] परन्तु हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित आदि इसे गौ के ताजे माखन का वाचक मानते हैं। इस का साहित्यगत प्रयोग यथा—

हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥ (रघु० १.४५)

अब इस प्रकरण के एक सुप्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६७)

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ।५।२।३६।।

---

१. दुह् (दोहना) धातु से **अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्** (३.३.१९) सूत्रद्वारा कर्म में घञ् प्रत्यय करने पर 'दुह्यते इति दोहः (दुग्धम्)' इस प्रकार दुग्धवाची 'दोह' शब्द निष्पन्न होता है। गोर्दोहः—गोदोहः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। ह्यः (ह्यस्तनः) गोदोहः—ह्योगोदोहः (कल का दुहा गोदुग्ध), सुँप्सुँपासमासः।

२. **तत्तु हैयङ्गवीनं यद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्** इत्यमरः।

(प्रथमान्तेभ्यस्तारकादिभ्यः सञ्जातमस्य इत्यर्थे तद्धित इतच् प्रत्ययः स्यात्)। तारकाः सञ्जाता अस्य—तारकितं नभः। पण्डितः। आकृतिगणोऽयम् ॥

अर्थः—प्रथमान्त तारकाआदिगणपठित प्रातिपदिकों से 'सञ्जातमस्य' (उत्पन्न हो गया है इस का) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक इतच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।३। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तत्' से परे पञ्चमी के बहुवचन का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अस्य ।६।१। सञ्जातम् ।१।१। तारकादिभ्यः ।५।३। इतच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङयाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। तारका (तारकाशब्दः) आदिर्येषां तानि तारकादीनि (प्रातिपदिकानि), तेभ्यः=तारकादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। तारकादि एक गण है जिस का प्रथम शब्द 'तारका' है।[1] अर्थः—(सञ्जातम्[2] अस्य इत्यर्थे) 'उत्पन्न हो गया है इस का' इस अर्थ में (तत्=प्रथमान्तेभ्यः) प्रथमान्त (तारकादिभ्यः) तारकादि प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इतच्) इतच् प्रत्यय हो जाता है।

इतच् प्रत्यय का अन्त्य चकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'इत' मात्र शेष रहता है। चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

तारकाः संजाता अस्य (नभसः)—तारकितं नभः (तारे उत्पन्न हो गये हैं इस के, ऐसा आकाश)। यहां 'तारका जस्' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'सञ्जाता अस्य' (उत्पन्न हो गये हैं इस के) इस अर्थ में प्रकृत **तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्**

---

१. तारकादिगण यथा—

तारका। पुष्प। कर्णक। मञ्जरी। ऋजीष। क्षण। सूच (सूचक)। मूत्र। निष्क्रमण। पुरीष। उच्चार। प्रचार। विचार। कुड्मल (वड्मल)। कण्टक। मुसल। मुकुल। कुसुम। कुतूहल। स्तबक (स्तवक)। किसलय। पल्लव। खण्ड। वेग। निद्रा। मुद्रा। बुभुक्षा। धेनुष्या। पिपासा। श्रद्धा। अभ्र। पुलक। अङ्गारक। वर्णक। द्रोह। दोह। सुख। दुःख। उत्कण्ठा (उत्कण्ठ)। भर। व्याधि। वर्मन्। व्रण। गौरव। शास्त्र। तरङ्ग। तिलक। चन्द्रक (चन्द्र)। अन्धकार। गर्व। मुकुर (कुमुर)। हर्ष। उत्कर्ष। रण। कुवलय। गर्ध। क्षुध् (क्षुधा)। सीमन्त। ज्वर। गर। रोग। रोमाञ्च। पण्डा। कज्जल। तृष्। कोरक। कल्लोल। स्थपुट। फल। कञ्चुक। शृङ्गार। अङ्कुर। शैवल। बकुल। श्वभ्र। आराल। कलङ्क। कर्दम। कन्दल। मूर्च्छा। अङ्गार। हस्तक (हस्त)। प्रतिबिम्ब। विघ्नतन्त्र (विघ्न, तन्त्र)। प्रत्यय। दीक्षा। गर्ज। **गर्भादप्राणिनि** (गणसूत्रम्)। तन्द्रा। स्रवक। कर। आन्दोल। गोर। राग। आकृतिगणोऽयम् ॥

२. 'सञ्जातम्' में लिङ्ग और वचन अविवक्षित हैं। इसीतरह 'अस्य' में भी समझने चाहियें।

(११६७) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक इतच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (जस्) का **सुँपो धातुप्राति-पदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—तारका+इत। अब **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक आकार का लोप कर विशेष्यानुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'तारकितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पण्डा[1] सञ्जाता अस्य (पुरुषस्य)—पण्डितः पुरुषः (सत् और असत् का विवेक करने वाली बुद्धि उत्पन्न हो गई है जिस की, ऐसा पुरुष)। यहां 'पण्डा सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'सञ्जाता अस्य' के अर्थ में **तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से इतच् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा भसञ्ज्ञक आकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'पण्डितः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**—(गीता ५.१८)।

तारकादि आकृतिगण है। गण में न पढ़े जाने पर भी लौकिक शिष्टप्रयोगों को देख कर इतच् की प्रवृत्ति समझ लेनी चाहिये।

तारकादियों से इतच् के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) पुष्पाणि संजातानि अस्य—पुष्पितो वृक्षः।
(२) कुसुमानि संजातानि अस्याः—कुसुमिता लता।
(३) बुभुक्षा सञ्जाताऽस्य—बुभुक्षितो बालः।[2]
(४) पिपासा संजाताऽस्य—पिपासितः पुरुषः।
(५ पुलकाः संजाता अस्य—पुलकितं वपुः।
(६) व्याधिः संजातोऽस्य—व्याधितः पुरुषः।
(७) उत्कण्ठा सञ्जाताऽस्य—उत्कण्ठितो नरः।
(८) तरङ्गाः सञ्जाता अस्य—तरङ्गितः सागरः।
(९) विघ्नाः सञ्जाता अस्य—विघ्नितं कार्यम्।[3]
(१०) निद्रा सञ्जाताऽस्य—निद्रितो बालः।
(११) रोमाञ्चः संजातोऽस्य—रोमाञ्चितो देहः।
(१२) अभ्राणि[4] सजातान्यस्य—अभ्रितं नभः।
(१३) गर्वः सञ्जातोऽस्य—गर्वितो मूर्खः।[5]
(१४) कलङ्कः सञ्जातोऽस्याः—कलङ्किता युवतिः।

---

१. सदसद्विवेकशालिनी बुद्धिः पण्डा।

२. **बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।**
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फला गुणाः॥
(सुभाषितरत्नभाण्डागार)

३. **जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः।** (रघु० १२.५३)

४. **अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः** इत्यमरः।

५. **कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः।** (हितोप० २.१५३)

(१५) मूर्च्छा सञ्जाताऽस्य—मूर्च्छितः पुमान् ।
(१६) फलानि सञ्जातान्यस्य—फलितो द्रुमः ।
(१७) दुःखं सञ्जातमस्य—दुःखितो राजा ।
(१८) सुखं सञ्जातमस्य—सुखितः पुरुषः ।
(१९) तन्द्रा सञ्जाताऽस्य—तन्द्रितो नरः ।
(२०) दीक्षा सञ्जाताऽस्य—दीक्षितो ब्राह्मणः ।

अब प्रमाणवाचकों से प्रमेय का बोध कराने के लिये तीन प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

• [**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११६८**)

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ।५।२।३७।।

तदस्येत्यनुवर्त्तते । (तत्प्रमाणमस्य इत्यर्थे प्रमाणे वर्त्तमानात् प्रथमान्तात् प्रातिपदिकाद् द्वयसच् दघ्नच् मात्रच् इत्येते त्रयस्तद्धिताः प्रत्ययाः स्युः) । ऊरू प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम् ।।

अर्थः—प्रमाण में वर्त्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'वह प्रमाण है इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय हों ।

व्याख्या—प्रमाणे ।७।१। द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः ।१।३। 'तद्, अस्य' इन दो पदों का **तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—द्वयसच् च दघ्नच् च मात्रच् च द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्रमाणे) प्रमाण में वर्तमान (तत्=प्रथमान्तेभ्यः) प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'प्रमाण है इस का' इस अर्थ में (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः) द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय हों ।

इस नदी में घुटने घुटने जल है, यहां ऊरु जितना जल है, यहां कन्धों कन्धों जल है—इत्यादिप्रकारेण जब जानु आदि प्रमाण (माप) द्वारा जल आदि प्रमेय का बोध कराना अभीष्ट होता है तब तत्तत्प्रमाण में प्रयुक्त शब्दों से इन प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है ।

द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् इन तीनों का अन्त्य चकार इत् है । चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है ।

उदाहरण यथा—

ऊरू प्रमाणम् अस्य—ऊरुद्वयसम् ऊरुदघ्नम् ऊरुमात्रं वा (ऊरु अर्थात् पट्ट है प्रमाण जिस का ऐसा नदीजल आदि) । यहां प्रमाण में प्रयुक्त 'ऊरु सुँ' इस प्रथमान्त से 'प्रमाण है इस का' इस अर्थ में प्रकृत **प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः** (११६८) सूत्रद्वारा द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय पर्याय से लाने पर अनुबन्ध चकार का लोप, सुँब्लुक् तथा विशेष्यानुसार नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्,

ऊरुमात्रम्' ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। ऊरुद्वयसमस्या नद्या जलम् ऊरुदघ्नम् ऊरुमात्रं वा।

इसीप्रकार—

जानु प्रमाणमस्य—जानुद्वयसम्, जानुदघ्नम्,[1] जानुमात्रम् (घुटने जितना प्रमाण वाला जल आदि), नाभिः प्रमाणमस्याः—नाभिद्वयसी, नाभिदघ्नी, नाभिमात्री[2] (नाभि जितने प्रमाणवाली परिखा, भीत आदि)। सौधः प्रमाणमस्य—सौधद्वयसः, सौधदघ्नः, सौधमात्रः (महल जितना ऊँचा वृक्ष आदि)। अंसः प्रमाणमस्य—अंसद्वयसः, अंसदघ्नः, अंसमात्रः (कन्धे जितने प्रमाण वाला क्षुप आदि)।

नोट—प्रमाण (माप) कई प्रकार के होते हैं। कुछ प्रमाण दीवार, जल आदि ऊँची वस्तुओं को मापते हैं, कुछ प्रमाण पट, खेत आदि फैली वस्तुओं को और कुछ भार-वज़न आदि के परिमापक होते हैं। यहां किस प्रकार के मान में ये प्रत्यय हों? इस का समाधान महाभाष्य में इस तरह दिया गया है—

प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ॥

अर्थात् प्रथम (द्वयसच्) और द्वितीय (दघ्नच्) प्रत्यय ऊँचाई के मान में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे 'जानुदघ्नं जानुद्वयसं वा जलम्' अर्थात् घुटने जितने ऊँचा जल है। परन्तु मात्रच् प्रत्यय सब प्रकार के मानों में प्रयुक्त होता है। यथा—जानुमात्रं जलम्, प्रस्थमात्रमन्नम्, हस्तमात्रः पटः, आदि। अतः किसी कपड़े के मापने में 'हस्तद्वयसः' या 'हस्तदघ्नः पटः' लिखना अशुद्ध है, इस के लिये मात्रच् का ही प्रयोग करना चाहिये।

अब परिमाण में वर्त्तमान यद्, तद् और एतद् शब्दों से प्रमेय का बोध कराने के लिये वतुँप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. **कियन्मात्रं जलं विप्र ! जानुदघ्नं नराधिप ! ।**
तथापीयमवस्था ते, नहि सर्वे भवादृशाः ॥
यहां एक दन्तकथा प्रसिद्ध है कि एक बार किसी नदी के किनारे महाराज भोज ने किसी निर्धन फटेवस्त्र ब्राह्मण से पूछा—**कियन्मात्रं जलं विप्र** (हे ब्राह्मण ! इस नदी का जल कितना गहरा है?) ब्राह्मण ने उत्तर दिया—**जानुदघ्नं नराधिप** (हे राजन्! इस का जल घुटने-प्रमाण है)। राजा ने ब्राह्मणद्वारा प्रयुक्त दघ्नच् प्रत्यय के प्रयोग से भांप लिया कि यह ब्राह्मण व्याकरणशास्त्र का अच्छा ज्ञाता है। तब उन्होंने उस से पुनः कहा—**तथापीयमवस्था ते** (तुझ जैसे विद्वान् की यह दुर्दशा !)। इस पर ब्राह्मण ने उत्तर दिया—**न हि सर्वे भवादृशाः** (राजन् ! सब लोग आप जैसे विद्वत्पारखी नहीं होते अतः मेरी यह दुर्दशा है)।

२. जब विशेष्य स्त्रीलिङ्ग होता है तब द्वयसच्आदिप्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्-द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय लाकर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप हो जाता है।

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११६९**)

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप् ।५।२।३९।।

('तत्परिमाणमस्य' इत्यर्थे परिमाणे वर्त्तमानेभ्यः प्रथमान्तेभ्यो यत्तदेतेभ्यस्तद्धितसञ्ज्ञो वतुँप् प्रत्ययः स्यात्) । यत् परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् ॥

अर्थः—परिमाण में वर्त्तमान यद्, तद् और एतद्—इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वतुँप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यत्तदेतेभ्यः ।५।३। परिमाणे ।७।१। वतुँप् ।१।१। **तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से 'तदस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यत् च तत् च एतच्च, तेभ्यः=यत्तदेतेभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(परिमाणे) परिमाण में वर्त्तमान (तत्= प्रथमान्तेभ्यः) प्रथमान्त (यत्तदेतेभ्यः) यद्, तद् और एतद् प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'वह परिमाण है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वतुँप्) वतुँप् प्रत्यय हो जाता है ।

वतुँप् में उकार और पकार इत् हैं, इतों का लोप हो कर 'वत्' मात्र शेष रहता है । उकार अनुबन्ध उगित्कार्यों के लिये तथा पकार **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) द्वारा अनुदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

यत् परिमाणमस्य—यावान् (जो परिमाण है इस का अर्थात् जितना) । परिमाण में वर्त्तमान 'यद् सुँ' इस प्रथमान्त यद् प्रातिपदिक से 'परिमाण है इस का' इस अर्थ में **यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप्** (११६९) सूत्र से वतुँप् प्रत्यय, उकार पकार अनुबन्धों का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँप् का लुक् करने से—यद्+वत् । अब **आ सर्वनाम्नः** (३४८) से वतुँप् के परे रहते यद् सर्वनाम के दकार को आकार आदेश तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'यावत्' शब्द निष्पन्न होता है । यह शब्द विशेष्य के अनुसार लिङ्ग को धारण करता है । पुंलिङ्ग की विवक्षा में प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय को ला कर **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् आगम (यावान्त्+स्), हल्ङ्यादिलोप (१७९) एवं संयोगान्तलोप (२०) कर देने से 'यावान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर विभक्तिकार्य करने से—यावती । नपुंसक में **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) द्वारा सुँ का लुक् कर देने से—यावत् । यावत्, यावती, यावन्ति ।

इसीप्रकार—तत् परिमाणमस्य तावान् (पुं०) । स्त्रीलिङ्ग में—तावती, तावत्यौ, तावत्यः । नपुंसक में—तावत्, तावती, तावन्ति ।

एतत् परिमाणमस्य—एतावान् (पुं०) । स्त्रीलिङ्ग में—एतावती, एतावत्यौ, एतावत्यः । नपुंसक में—एतावत्, एतावती, एतावन्ति ।

इन के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा —

[क] **एतावानस्य महिमा**
अतो ज्यायांश्च पूरुषः ।। (ऋग्वेद १०.६.३)

[ख] **एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे**
प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः
प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ।। (रघु० २.५१)

[ग] **यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।**
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। (गीता २.४६)

[घ] **स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।**
यावतैषां समाप्येरन् यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ।। (रघु० १७.१७)

[ङ] **पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम् ।**
दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ।। (कुमार० २.३३)

[च] **यावती सम्भवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ।।** (मनु० ८.१५५)

अब परिमाण में वर्त्तमान किम् और इदम् प्रातिपदिकों से प्रकारान्तरेण घतुँप् प्रत्यय का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११७०) किमिदम्भ्यां वो घः ।५।२।४०।।**

आभ्यां वतुँप्, वकारस्य घश्च ।।

अर्थः—परिमाण में वर्त्तमान किम् और इदम् इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वतुँप् प्रत्यय हो तथा वतुँप् के वकार को घकार आदेश भी हो ।

व्याख्या—किमिदम्भ्याम् ।५।२। वः ।६।१। घः ।१।१। (घकारादकार उच्चारणार्थः) । परिमाणे ।७।१। वतुँप् ।१।१। (**यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप्** सूत्र से) । **तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से 'तदस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(परिमाणे) परिमाण में वर्त्तमान (किमिदम्भ्याम्) किम् और इदम् (तत् = प्रथमान्ताभ्याम्) प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वतुँप्) वतुँप् प्रत्यय हो तथा उस के (वः) वकार के स्थान पर (घः) घ् आदेश भी हो ।

पूर्ववत् वतुँप् का 'वत्' मात्र शेष रहता है । वत् के वकार को घकार आदेश हो कर 'घत्' बन जाता है । पुनः **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से घत् के आदि घ् को इय् आदेश हो कर—'इय् अत् = इयत्' प्रत्यय बन जाता है ।

किम् से वतुँप् का उदाहरण यथा —

किम् परिमाणमस्य—कियान् (क्या है परिमाण इस का अर्थात् कितना, How much)। यहां परिमाण में वर्त्तमान 'किम् सुँ' इस प्रथमान्त से **किमिदम्भ्यां वो घः** (११७०) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'वह परिमाण है इस का' इस अर्थ में वतुँप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा वतुँप् के आदि वकार को घकार आदेश कर सुँप् का लुक् करने से—किम्+घत्। अब **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से घत् प्रत्यय के आदि वर्ण घ् को इय् आदेश हो जाता है—किम्+इयत्। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७१) इदंकिमोरीश्की ।६।३।८९॥

दृग्दृशवतुँषु इदम ईश्, किमः की स्यात्। कियान्। इयान्॥

अर्थः—दृक् दृश या वतुँ परे हो तो इदम् के स्थान पर 'ईश्' तथा किम् के स्थान पर 'की' सर्वादेश हो।

व्याख्या—इदंकिमोः ।६।२। ईश्-की इति लुप्तप्रथमाद्विवचनान्तं रूपम्। दृग्दृशवतुँषु ।७।३। (दृग्दृशवतुँषु सूत्र से)। ईश् च की च ईश्की, इतरेतरद्वन्द्वे सौत्रत्वाद्विभक्तेर्लुक्। अथवा 'ईश्, की' इत्येवं द्वे पदे बोध्ये। अर्थः—(दृग्दृशवतुँषु) दृक्, दृश या वतुँ परे हो तो (इदंकिमोः) इदम् और किम् के स्थान पर (ईश्की) 'ईश्' और 'की' ये आदेश हो जाते हैं।

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (२३) से इदम् के स्थान पर 'ईश्' तथा किम् के स्थान पर 'की' आदेश होगा। ईश् में शकार इत् है अतः शित्त्व के कारण **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) सूत्रद्वारा यह आदेश इदम् शब्द के स्थान पर सर्वादेश होगा। 'की' आदेश भी अनेकाल् होने से किम् के स्थान पर सर्वादेश होगा।

'किम्+इयत्' यहां **एकदेशविकृतमनन्यवत्**न्याय के अनुसार वतुँ के परे रहते प्रकृत **इदंकिमोरीश्की** (११७१) सूत्र से 'किम्' के स्थान पर 'की' सर्वादेश हो कर—'की+इयत्' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक ईकार का लोप करने से 'क्+इयत्=कियत्' शब्द निष्पन्न होता है।[1] पुं० की विवक्षा में प्रथमा के एकवचन में इस से परे सुँ ला कर उगिदचां० (३४३), नुँम् का आगम (२८९), हल्ङ्याब्भ्यो० दिलोप तथा अन्त में संयोगान्तलोप (२०) कर देने से 'कियान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] धीमत् शब्द के समान इस की पुंलिङ्ग में रूपमाला चलती है—कियान्, कियन्तौ,

---

१. 'की' आदेश में ईकार रखने का यद्यपि यहां सर्वादेश के सिवाय अन्य कोई उपयोग नहीं तथापि दृक् और दृश में क्रमशः कीदृश् और कीदृश बनाने में इस का उपयोग स्पष्ट है।

२. कियत् शब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवार्णवस्येव तुषारशीतगोर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान्॥
(नैषध० १.१३०)

कियन्तः । स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२५०) से ङीप् हो कर कियती, कियत्यौ, कियत्यः । नदीवत् । नपुंसक में 'कियत्, कियती, कियन्ति' शकृत्शब्दवत् ।

इदम् से वतुँप् का उदाहरण यथा—

इदं प्रमाणमस्य—इयान् (यह है परिमाण इस का अर्थात् इतना) । यहां 'इदम् सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में **किमिदम्भ्यां वो घः** (११७०) सूत्र से वतुँप् प्रत्यय तथा साथ ही उस के वकार को घकार आदेश हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् का लुक् हो जाता है—इदम् + घत् । अब **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से घ् को इय् आदेश एवम् **इदंकिमोरीश्की** (११७१) द्वारा इदम् को ईश् सर्वादेश करने पर 'ई+इयत्' इस स्थिति में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक ईकार का लोप करने से 'इयत्' शब्द निष्पन्न हो जाता है । पुनः इस से पूर्ववत् पुंलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने से—इयान्, इयन्तौ, इयन्तः । स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (१२५०) कर—इयती, इयत्यौ, इयत्यः । नपुंसक में इयत्, इयती, इयन्ति ।

विशेष वक्तव्य—इयत् शब्द की सिद्धि में 'इदम्' प्रकृति को प्रथम ईश् (ई) आदेश हो पुनः उस का भी **यस्येति च** (२३६) द्वारा लोप करने से केवल प्रत्ययमात्र 'इयत्' ही शेष रह जाता है, प्रकृति का कहीं नामोनिशान नहीं रहता । इस प्रकृति-लयता तथा प्रत्ययमात्र की अवशिष्टतारूप सादृश्य को ले कर एक चमत्कारपूर्ण प्राचीन पद्य बहुधा उद्धृत किया जाता है—

> **उदितवति परस्मिन् प्रत्यये शास्त्रयोनौ**
> **गतवति विलयं च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे ।**
> **सपदि पदमुदीते केवलः प्रत्ययो यत्**
> **तदियदिति मिमीते को हृदा पण्डितोऽपि ॥** (प्रौढमनोरमा)

यह मालिनी छन्द है । श्लेषद्वारा व्याकरण और वेदान्त दोनों पक्षों में इस का अर्थ किया जाता है । तथाहि—

व्याकरणपक्ष में—व्याकरणप्रक्रिया के अनुसार प्रकृति से परे प्रत्यय ला कर जब सम्पूर्ण प्रकृति का लोप हो एक ऐसा पद उत्पन्न हो जाता है जो केवल प्रत्ययमात्र ही होता है, तो वह पद 'इयत्' ही है इसे पण्डित होता हुआ भी कौन हृदय से पहचान पाता है ?

वेदान्तपक्ष में—शास्त्राभ्यासद्वारा जब पराकोटि ज्ञान का उदय हो कर प्रकृति (माया) का सम्पूर्ण जञ्जाल छिन्नभिन्न हो जाता है तब एक ऐसा पद उत्पन्न हो जाता है जो केवल ज्ञानमात्र ही होता है । वह इतना है अर्थात् उस की इयत्ता का कौन पण्डित पुरुष भी हृदय से अनुमान कर सकने में समर्थ हो सकता है ?

अब अवयवपरक संख्यावाचकों से अवयवी का बोध कराने के लिये तयप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७२)

संख्याया अवयवे तयप् ।५।२।४२।।

[अवयवे वर्त्तमानात् संख्यावाचकात् प्रथमान्तात् प्रातिपदिकाद् अस्येत्यर्थे तद्धितस्तयप् प्रत्ययः]। पञ्च अवयवा अस्य—पञ्चतयम् ।।

अर्थः—अवयव में वर्त्तमान संख्यावाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तयप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—संख्यायाः ।५।१। अवयवे ।७।१। तयप् ।१।१। **तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से 'तदस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(अवयवे) अवयव में वर्त्तमान (तत् = तस्मात् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (संख्यायाः) संख्यावाचक प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तयप्) तयप् प्रत्यय हो जाता है ।

तयप् का पकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'तय' मात्र शेष रहता है। पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) सूत्रद्वारा अनुदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

पञ्च अवयवा अस्य—**पञ्चतयम्** (पांच अवयव हैं इस के, अर्थात् पाञ्च अवयवों वाला अवयवी)। यहां अवयव में वर्त्तमान 'पञ्चन् जस्' इस संख्यावाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) सूत्र से तयप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त के कारण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँप् का लुक् कर देने से—पञ्चन् + तय। अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पदसञ्ज्ञा के कारण पदान्त नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप कर नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'पञ्चतयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'पञ्चतयी' बनेगा।[1]

---

१. तयप्प्रत्ययान्तों अथवा अयच्प्रत्ययान्तों का जब सामान्यतः धर्मप्रधान निर्देश किया जाता है तब नपुंसकलिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग के द्वारा ही निर्देश हुआ करता है। यथा—चित्तवृत्तीनां पञ्चतयम्, चित्तवृत्तीनां पञ्चतयी। वर्णानां चतुष्टयम्, वर्णानां चतुष्टयी। लोकानां त्रयम्, लोकानां त्रयी। पक्षयोर्द्वयम्, पक्षयोर्द्वयी। समासद्वारा भी कहा जा सकता है—मुनीनां त्रयं मुनित्रयम्। परन्तु जब धर्मिप्रधान निर्देश विवक्षित होता है तब विशेष्य के अनुसार लिङ्ग हुआ करता है। यथा—त्रयाः त्रये वा लोकाः, त्रय्यः स्थितयः, त्रयाणि जगन्ति। **द्वये प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च** (ब्राह्मण०) दोनों प्रजापति की सन्तान हैं, देवता और असुर। त्रये, त्रयाः, द्वये, द्वयाः—ये प्रथमा के बहुवचन जस् के परे रहते **प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च** (१६०) सूत्रद्वारा वैकल्पिक सर्वनामसञ्ज्ञा के कारण बनते हैं। अन्यत्र सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से सर्वनामकार्य नहीं होते—द्वयानाम्, त्रयाणाम्, पञ्चतयानाम् आदि।

इसीप्रकार—
चत्वारोऽवयवा अस्य —चतुष्टयम् ।[1]
षड् अवयवा अस्य —षट्तयम् ।[2]
सप्त अवयवा अस्य—सप्ततयम् ।
अष्टौ अवयवा अस्य—अष्टतयम् ।
नव अवयवा अस्य —नवतयम् । इत्यादि ।

अब द्वि और त्रि शब्दों से परे तयप् के स्थान पर वैकल्पिक अयच् का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७३)

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ।५।२।४३।।

[द्वित्रिभ्यां परस्य तयस्य 'अयच्' इत्यादेशो वा स्यात्] । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् ।।

अर्थः—द्वि और त्रि प्रातिपदिकों से परे 'तय' के स्थान पर विकल्प कर के 'अयच्' आदेश हो ।

व्याख्या—द्वित्रिभ्याम् ।५।२। तयस्य ।६।१। अयच् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । द्विश्च त्रिश्च द्वित्री, ताभ्याम् = द्वित्रीभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(द्वित्रिभ्याम्) द्वि और त्रि प्रातिपदिकों से परे (तयस्य) 'तय' के स्थान पर (वा) विकल्प से (अयच्) अयच् आदेश हो जाता है ।

अयच् का चकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है । यह **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । अनेकाल् होने से अयच् आदेश सम्पूर्ण तय के स्थान पर होगा । उदाहरण यथा—

द्वौ अवयवौ अस्य —द्वयं द्वितयं वा (दो अवयव हैं इस के अर्थात् दो अवयवों वाला अवयवी) । यहां अवयव में वर्त्तमान 'द्वि औ' से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) सूत्र से तयप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (औ) का भी लुक् हो कर—द्वि + तय । पुनः **द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा** (११७३) इस प्रकृतसूत्र के द्वारा 'तय' के स्थान पर विकल्प से अयच् आदेश हो कर चकार अनुबन्ध का लोप करने से—द्वि + अय । अब

---

१. चतुर् के रेफ को विसर्ग तथा **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से उसे सकारादेश हो कर **ह्रस्वात्तादौ तद्धिते** (८.३.१०१) से षत्व हो जाता है—चतुष् + तय । पुनः **ष्टुना ष्टुः** (६४) द्वारा ष्टुत्व कर विभक्ति लाने से उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाता है ।

२. 'षष् + तय' इस स्थिति में पदान्त में जश्त्व-चर्त्व हो जाते हैं । ष्टुत्व के प्राप्त होने पर **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) से उस का निषेध हो जाता है ।

तयप् (अयच्)

यचि भम् (१६५) से भसञ्ज्ञा तथा **यस्येति च** (२३६) से भञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'द्वयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अयच् के अभाव में— द्वितयम्। इस तरह 'द्वयम्' और 'द्वितयम्' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।[1]

इसीप्रकार—त्रयोऽवयवा अस्य—त्रयं त्रितयं वा (तीन अवयव हैं इस के अर्थात् तीन अवयवों वाला अवयवी)। यहां 'त्रि जस्' से पूर्ववत् तयप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा तय को वैकल्पिक अयच् आदेश कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा इकार का लोप करने पर 'त्रयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अयच् के अभाव में 'त्रितयम्' बनेगा।[2]

विशेष वक्तव्य— पिछले सूत्र से तयप् की अनुवृत्ति ला कर उसे विभक्ति-विपरिणामद्वारा षष्ठ्यन्त बना लेने से जब यहां 'तयपः' प्राप्त हो सकता था तो पुनः इस सूत्र में 'तयस्य' का ग्रहण क्यों किया गया है? इस का उत्तर यह है कि यदि यहां 'तयस्य' न कहते तो अयच् को तयप् का अपवाद प्रत्ययान्तर समझ लिया जाता जो अनिष्ट था। क्योंकि तब **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (१२५१) सूत्रद्वारा द्वयी, त्रयी आदि में तयप् के न होने से ङीप् न हो सकता जो अब स्थानिवद्भाव के कारण हो जाता है। इसीप्रकार **प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च** (१६०) द्वारा जस् में होने वाली वैकल्पिक सर्वनामसञ्ज्ञा भी अयच् में प्रवृत्त न हो सकती जो अब स्थानिवद्भाव के कारण निर्बाध हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा उभ (दोनों) शब्द से परे तयप् को नित्य अयच् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७४) उभादुदात्तो नित्यम् ।५।२।४४।।

उभशब्दात् तयपोऽयच् स्यात् स चाद्युदात्तः । उभयम् ।।

अर्थः—'उभ' प्रातिपदिक से परे तयप् को नित्य अयच् आदेश हो तथा उस अयच् का आदि अकार उदात्त भी हो।

---

१. साहित्यगत प्रयोग यथा—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।।
(कुमार० ५.७१)

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव संगतम् ।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ।। (रघु० ८.६)

२. साहित्यगत प्रयोग यथा—

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम् ।
कार्यकारणतश्चान्ये भवन्ति हितबुद्धयः ।। (हितोप० १.३८)
जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृत-संमिताक्षरम् ।
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्त्रमुभे च चामरे ।। (रघु० ३.१६)

व्याख्या—उभात् ।५।१। उदात्तः ।१।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैक-वचनान्तम् । तयस्य ।६।१। अयच् ।१।१। (**द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा** सूत्र से)। अर्थः—(उभात्) उभशब्द से परे (तयस्य) 'तय' के स्थान पर (अयच्) अयच् आदेश (नित्यम्) नित्य होता है तथा उस का आदि अच्[1] (उदात्तः) उदात्त भी हो जाता है।

उभशब्द लौकिकी संख्या नहीं अतः इस से परे **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) सूत्रद्वारा तयप् प्राप्त न था। परन्तु इस सूत्र में उस के स्थान पर अयच् के विधान के कारण उभ से परे भी तयप् करना मुनिसम्मत प्रतीत होता है। उदाहरण यथा—

उभौ अवयवौ अस्य—उभयम् (दोनों हैं अवयव इस के अर्थात् दो अवयवों वाला अवयवी)। यहां अवयव अर्थ में वर्तमान 'उभ औ' इस प्रथमान्त से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) से तयप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप तथा सुँप् (औ) का भी लुक् करने पर—उभ+तय। अब प्रकृत **उभादुदात्तो नित्यम्** (११७४) सूत्र से 'तय' को नित्य अयच् सर्वादेश कर—उभ+अय। **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'उभयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] उभयो मणिः—पीत और लोहित आदि दो अवयवों वाली मणि। 'उभय' में भकारोत्तर अकार उदात्त रहता है शेष अच् **अनुदात्तम्पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) से अनुदात्त। परन्तु **उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** (८.४.६५) द्वारा उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो जाता है—उभयः। स्त्रीत्व की विवक्षा में स्थानिवद्भाव के कारण तयप्प्रत्ययान्त मान लिये जाने से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो जाता है—उभयी। उभयी प्रवृत्तिः। **उभयीं सिद्धिमुभाववापतुः** (रघु० ८.२३)। उभयशब्द का द्विवचन में प्रयोग नहीं होता—यह पीछे (१५५) सूत्र पर कहा जा चुका है।

अब द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि पूरणी (क्रमसूचक) संख्याओं का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७५) तस्य पूरणे डट् ।५।२।४८॥

(संख्यावाचकात् षष्ठ्यन्तात् पूरणेऽर्थे तद्धितो डट् प्रत्ययः स्यात्)। एकादशानां पूरण एकादशः ॥

अर्थः—संख्यावाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में तद्धितसंज्ञक डट् प्रत्यय हो।

---

१. अयच् में दो अच् हैं किसे उदात्त माना जाये? दोनों का उदात्तत्व तो **अनुदात्तम्पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) से बाधित है और अन्त का उदात्तत्व **चितः** (६.१.१५७) द्वारा सिद्ध है ही, इस के लिये सूत्र में उदात्तत्वविधान की आवश्यकता नहीं। अतः यहां आदि को ही उदात्तत्व होता है यही निश्चित होता है। विशेषजिज्ञासु आकरग्रन्थों का अवलोकन करें।

२. **किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य।** (कुमार० ७.७८)

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठयन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । पूरणे ।७।१। डट् ।१।१। संख्यायाः ।५।१। (**संख्याया गुणस्य निमाने मयट्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तस्य = षष्ठयन्तात्) षष्ठयन्त (संख्यायाः) संख्यावाचक प्रातिपदिक से (पूरणे) पूरण अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (डट्) डट् प्रत्यय होता है।

पूर्यतेऽनेनेति पूरणः। पूरयतेर्ण्यन्तात् करणे ल्युट् । जिस से संख्या पूरी हो जाती है वह उस संख्या का पूरण होता है । जैसे एकादश संख्या दस व्यक्तियों तक पूरी नहीं होती किन्तु जब उस में ग्यारहवां जुड़ता है तो वह पूरी हो जाती है । इस प्रकार ग्यारह व्यक्तियों के समूह का पूरण (पूरा करने वाला अवयव) ग्यारहवां व्यक्ति ही होता है । इसीप्रकार अन्य संख्याओं के ग्रुपों में भी अन्तिम को पूरण समझना चाहिये । यहां समूह को प्रकृत्यर्थ तथा उस का पूरक अवयव प्रत्ययार्थ होता है।

डट् प्रत्यय का डकार **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा तथा टकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्र-द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता हैं । डित् करने का प्रयोजन **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप करना एवं टित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् करना है । उदाहरण यथा—

एकादशानां पूरणः—एकादशः (ग्यारह संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् ग्यारहवां) ।[1] यहां 'एकादशन् आम्' इस संख्यावाचक षष्ठयन्त प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) इस प्रकृतसूत्र से डट् प्रत्यय, डकार और टकार अनुबन्धों का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् कर देने पर 'एकादशन् + अ' हुआ। अब डित् के परे रहते **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप करने पर—एकादश् + अ = एकादश । विभक्ति लाने से 'एकादशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । एकादशः, एकादशौ, एकादशाः—पुं० में रामवत् रूपमाला चलेगी । स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्वात् **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् हो कर भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येतिच**लोप करने से 'एकादशी' बनेगा, रूपमाला नदीवत् चलेगी । नपुंसक में ज्ञानवत् रूपमाला होगी—एकादशम्, एकादशे, एकादशानि ।

इसीप्रकार—द्वादशानां पूरणः—द्वादशः । त्रयोदशानां पूरणः—त्रयोदशः । चतुर्दशानां पूरणः—चतुर्दशः । पञ्चदशः । षोडशः । सप्तदशः । अष्टादशः आदि ।

---

१. ग्यारहवां व्यक्ति एकादशसंख्या का पूरण नहीं होता अपितु एकादशत्व का ही पूरण हुआ करता है । अतः यहां संख्याओं से तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्त संख्याओं का ही ग्रहण समझना चाहिये । इस से 'एकादशानां घटानां पूरणो जलादिः' ऐसे स्थलों पर डट् की प्रवृत्ति नहीं होती । विशेषजिज्ञासु आकरग्रन्थों का अवलोकन करें।

अब असंख्यादि[1] नकारान्त संख्यावाचकों से परे डट् को मँट् का आगम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७६) **नान्तादसंख्यादेर्मँट्** ।५।२।४९।।

डटो मँडागमः । पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः । नान्तात् किम् ?—

अर्थः—जिस के आदि में कोई संख्याशब्द न जुड़ा हो तो ऐसे नकारान्त संख्यावाचक प्रातिपदिक से परे डट् प्रत्यय को मँट् का आगम हो ।

व्याख्या—नान्तात् ।५।१। असंख्यादेः ।५।१। मँट् ।१।१। डटः ।६।१। (**तस्य पूरणे डट्** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । समासः—न् अन्तो यस्य तत् नान्तम्, तस्मात्=नान्तात्, बहुव्रीहिसमासः । संख्या आदिर्यस्य तत् सख्यादि, बहुव्रीहिसमासः । न संख्यादि असंख्यादि, तस्माद् असंख्यादेः, नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(असंख्यादेः) संख्या जिस के आदि में न हो ऐसे (नान्तात्) नकारान्त प्रातिपदिक से परे (डटः) डट् का अवयव (मँट्) मँट् हो जाता है ।

मँट् में टकार और अनुनासिक अकार इत् हैं, इतों का लोप हो कर 'म्' मात्र शेष रहता है । मँट् टित् है अतः **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार यह डट्प्रत्यय का आद्यवयव बनता है । डट् को जब मँट् का आगम होगा तो 'म्+अ=म' बन जायेगा ।

उदाहरण यथा—

पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः (पाञ्च संख्या अर्थात् पञ्चत्व को पूर्ण करने वाला, पाञ्चवां) । यहां 'पञ्चन् आम्' से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्रद्वारा डट् प्रत्यय, डकार और टकार अनुबन्धों का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (आम्) का भी लुक् करने से—पञ्चन्+अ । अब अन्तरङ्ग होने से टिलोप (२४२) का बाध कर **नान्तादसंख्यादेर्मँट्** (११७६) इस प्रकृतसूत्रद्वारा डट् को मँट् का आगम हो जाता है—पञ्चन्+मँट् अ=पञ्चन्+म् अ=पञ्चन्+म । अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पञ्चन् के नकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पञ्चमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

इसीप्रकार—सप्तमः । अष्टमः । नवमः । दशमः ।

नान्तात् किम् ?

सूत्र में नकारान्त से परे डट् को मँट् का आगम कहा गया है । यदि संख्या-

---

१. एकादशन्, द्वादशन्, त्रयोदशन् आदि जुड़वा संख्याएं संख्यादि संख्याएं कहाती हैं क्योंकि इन के आदि में एक, द्वि, त्रि आदि संख्याएं जुड़ी हुई हैं । परन्तु द्वि, त्रि, चतुर्, पञ्चन् आदि असंख्यादि संख्याएं हैं क्योंकि इन से पूर्व अन्य कोई संख्या जुड़ी हुई नहीं है ।

२. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मँट् आगम के कारण प्रत्यय के अजादि न रहने से भसञ्ज्ञा नहीं होती अतः **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप नहीं होता ।

वाचक प्रातिपदिक नकारान्त न होगा तो मँट् का आगम न होगा। इसे प्रत्युदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७७) **ति विंशतेर्डिति** ।६।४।१४२॥

विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति परे। विंशः। असंख्यादेः किम्? एकादशः॥

अर्थः—डित् परे रहते 'विंशति' के अवयव भसंज्ञक 'ति' का लोप हो।

व्याख्या—'ति' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्। विंशतेः ।६।१। डिति ।७।१। लोपः ।१।१। (**अल्लोपोऽनः** सूत्र से)। भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। ड् इद् यस्य स डित्, तस्मिन्=डिति, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(डिति) डित् प्रत्यय के परे होने पर (विंशतेः) विंशतिशब्द के अवयव (भस्य) भसंज्ञक (ति=तेः) 'ति' का (लोपः) लोप हो जाता है।

यहां 'ति' के ग्रहण के सामर्थ्य से सम्पूर्ण 'ति' का लोप होता है, अलोऽन्त्य-परिभाषा से केवल अन्त्य इकार का नहीं, अन्यथा 'ति' ग्रहण की आवश्यकता ही न थी[1]।

उदाहरण यथा—

विंशतेः पूरणः—विंशः (बीस अर्थात् विंशतित्व संख्या को पूर्ण करने वाला, बीसवां)। यहां 'विंशति ङस्' से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) से डट् प्रत्यय, अनुबन्धों का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा सुँप् (ङस्) का भी लुक् करने पर 'विंशति+अ' हुआ। यहां डित् प्रत्यय परे है, पूर्व की **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा भी है अतः प्रकृत **ति विंशतेर्डिति** (११७७) सूत्र से विंशति के अवयव भसञ्ज्ञक 'ति' का लोप हो जाता है—विंश+अ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप प्राप्त होता है परन्तु **असिद्धवदत्राभात्** (५६२) द्वारा आभीय होने के कारण 'ति' का लोप असिद्ध है अतः **यस्येतिच**लोप प्रवृत्त नहीं हो सकता[2]। पुनः **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश कर विभक्ति लाने से 'विंशः' प्रयोग सिद्ध

---

१. अथवा—**नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे** इति परिभाषयाऽलोऽन्त्यविधिर्न प्रवर्त्तत इति।

२. **असिद्धवदत्राभात्** (५६२) अर्थात् समानाश्रय दो आभीय कार्यों में पहला किया गया कार्य दूसरे कार्य के करने में असिद्धवत् माना जाता है। यहां डट् (अ) को मान कर 'ति' का लोप पहले किया जा चुका है, अब पुनः उसी डट् को मानकर **यस्येति च** (२३६) द्वारा दूसरा कार्य अकार का लोप प्राप्त हो रहा है—दोनो कार्य आभीय हैं अतः इस दूसरे कार्य की कर्त्तव्यता में प्रथम किया गया 'ति' का लोप असिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार मध्य में 'ति' के आ जाने से डट् परे नहीं रहता और परिणामतः अकार का लोप नहीं होता। आभीय कार्यों का विवेचन पीछे (५६२) सूत्र पर विस्तार से कर चुके हैं उसे पुनः हृदयङ्गम कर लें।

डट् थुँकागम

हो जाता है[1]। इस प्रयोग में यह बात विशेष ध्यातव्य है कि विंशतिशब्द नकारान्त नहीं इकारान्त है अतः **नान्तादसंख्यादेर्मँट्** (११७६) से मँट् का आगम नहीं हुआ।

असंख्यादेः किम् ? एकादशः।

नान्तादसंख्यादेर्मँट् (११७६) सूत्र में 'असंख्यादेः' क्यों कहा है ? इसलिये कि ऐसे नकारान्त संख्यावाचक प्रातिपदिकों से परे डट् को मँट् का आगम न हो जिस के आदि में कोई और संख्या जुड़ी हुई हो। एकादशन्, द्वादशन्, त्रयोदशन् आदि ऐसी संख्याएं हैं जिन के आदि में एक, द्वि, त्रि आदि अन्य संख्याएं जुड़ी रहती हैं अतः इन जुड़वा संख्याओं से परे मँट् का आगम न होगा। यथा—एकादशानां पूरणः—एकादशः, यहां मँट् का आगम नहीं हुआ। इसीतरह द्वादशन्, त्रयोदशन्, चतुर्दशन् आदि के विषय में मँट् की अप्रवृत्ति समझनी चाहिये।

अब डट् के परे रहते षष् आदि को थुँक् का आगम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११७८)**

षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुँक् ।५।२।५१॥

एषां थुँगागमः स्याड्डटि। षण्णां पूरणः—षष्ठः। कतिथः। कतिपयशब्दस्याऽसंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकाड् डट्। कतिपयथः। चतुर्थः॥

अर्थः—डट् प्रत्यय के परे रहते, षष् (छः), कति (कितने), कतिपय (कुछेक) और चतुर् (चार)—इन चार प्रातिपदिकों को थुँक् का आगम हो। **कतिपयशब्दस्य**—कतिपयशब्द यद्यपि संख्यावाचक नहीं तथापि प्रकृतसूत्र में उस से थुँक्विधान करने से उस से भी पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय हो जाता है—यह ज्ञापित होता है।

व्याख्या—षट्-कति-कतिपय-चतुराम् ।६।३। थुँक् ।१।१। डटि ।७।१। (**तस्य पूरणे डट्** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। समासः—षट् च कतिश्च कतिपयश्च चतुश्च षट्कतिकतिपयचतुरः, तेषाम्=षट्-कति-कतिपय-चतुराम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(डटि) डट् प्रत्यय के परे रहते (षट्-कति-कतिपय-चतुराम्) षष्, कति, कतिपय और चतुर् प्रातिपदिकों का अवयव (थुँक्) थुँक् हो जाता है।

थुँक् में ककार और उकार अनुबन्ध हैं, इन का लोप हो कर 'थ्' मात्र शेष रहता है। उकार उच्चारणार्थ है। कित् होने से यह आगम **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) परिभाषाद्वारा षष् आदियों का अन्तावयव बनता है। उदाहरण यथा—

षण्णां पूरणः—षष्ठः (छः संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् छठा)। यहां 'षष् आम्' इस षष्ठ्यन्त संख्यावाचक से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्रद्वारा डट् प्रत्यय हो कर डकार-टकार अनुबन्धों का लोप तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदि-**

---

१. **विंशत्यादिभ्यस्तमँडन्यतरस्याम्** (५.२.५६) सूत्रद्वारा विंशति आदि शब्दों से परे डट् को तमँट् का आगम विकल्प से होता है। जहां तमँट् होता है वहां 'विंशतितमः' बनता है, भसञ्ज्ञा न रहने से 'ति' का लोप नहीं होता। तमँट् के अभावपक्ष में यहां 'विंशः' प्रयोग सिद्ध किया गया है।

कयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का भी लुक् कर देने से 'षष् + अ' हुआ। यहां डट् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृत **षट्कतिकतिपयचतुरां थुँक्** (११७८) सूत्र से षष् को थुँक् का आगम हो जाता है जो कित्त्व के कारण षष् का अन्तावयव बनता है—षष्थुँक् + अ, अनुबन्धों का लोप होकर—षष्थ् + अ। अब **ष्टुना ष्टुः** (६४) द्वारा ष्टुत्वेन थकार को ठकार हो—षष्ठ् + अ। विभक्ति लाने से पुंलिङ्ग में 'षष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् लाने पर 'षष्ठी' बनेगा।[1]

कतीनां पूरणः—कतिथः (कितनों का पूरण अर्थात् कितनवां)। कतिशब्द यद्यपि लौकिकी संख्या नहीं है तथापि डतिप्रत्ययान्त होने से **बहुगणवतुँडति संख्या** (१८६) द्वारा संख्यासंज्ञक है। अतः पूरण अर्थ में 'कति आम्' से **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्र से डट् प्रत्यय हो अनुबन्धों का लोप करने पर 'कति आम + अ' हुआ। अब प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् कर डट् के परे रहते प्रकृत **षट्कति-कतिपयचतुरां थुँक्** (११७८) सूत्र से 'कति' को थुँक् का आगम हो जाता है—कतिथ् + अ = कतिथ। विभक्ति लाने पर 'कतिथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कतिपयानां पूरणः—कतिपयथः (कुछेक का पूरण अर्थात् कुछेकवां)। कतिपय-शब्द संख्यावाचक नहीं, न तो शास्त्र में इस की संख्यासञ्ज्ञा की गई है और न ही लोक में यह संख्यावाचक समझा जाता है। अतः इस से परे डट् कैसे होगा क्योंकि उस की प्रवृत्ति तो संख्यावाचकों से ही कही गई है? इस का उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं—

कतिपयशब्दस्याऽसंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकाड् डट्।

अर्थात् जब प्रकृतसूत्र में डट् के परे रहते इसे थुँक् का आगम विधान किया जा रहा है तो असंख्या होते हुए भी इस से परे डट् प्रत्यय अवश्य होगा, अन्यथा इसे थुँक् का आगम विधान करना व्यर्थ हो जायेगा। मुनि सर्वज्ञ था उस का कोई वचन निर-र्थक वा व्यर्थ नहीं है, अतः इस विधानसामर्थ्य से ही कतिपयशब्द से पूरण अर्थ में डट् हो जायेगा। 'कतिपय आम् + डट्' इस अवस्था मे अनुबन्धलोप तथा सुँप् (आम्) का

१. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मुनि ने मँट् का आगम जैसे डट् प्रत्यय को विधान किया है वैसे थुँक् का आगम डट् को विधान नहीं किया अपितु प्रकृति को ही किया है। वैसा करने से यद्यपि 'कतिथः' और 'कतिपयथः' तो सिद्ध हो जाते तथापि 'षष्ठः' और 'चतुर्थः' की सिद्धि न हो सकती। क्योंकि प्रथम में 'षष् + थ' इस अवस्था में पदान्त षकार को **झलां जशोऽन्ते** (६७) द्वारा जश्त्वेन डकार प्राप्त होता जो अनिष्ट था। इसीप्रकार दूसरे 'चतुर् + थ' में भी पदान्त रेफ को विसर्ग और उसे पुनः सकारादेश कर 'चतुस्थः' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। अतः मुनि ने डट् की बजाय प्रकृति को ही थुँक् का आगम विधान करना उचित समझा। इस से मुनि की महती सूक्ष्मेक्षिका व्यक्त होती है।

भी लुक् करने पर—कतिपय+अ। अब **षट्कतिकतिपयचतुरां थुँक्** (११७८) सूत्र से कतिपय को थुँक् का आगम हो जाता है—कतिपयथ्+अ=कतिपयथ। विभक्ति ला कर 'कतिपयथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

चतुर्णां पूरणः—चतुर्थः (चार संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् चौथा)। 'चतुर् आम्' इस षष्ठचन्त से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्र से डट् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुँप् (आम्) का भी लुक् करने से—चतुर्+अ। अब **षट्कतिकतिपयचतुरां थुँक्** (११७८) से चतुर् को थुँक् का आगम हो कर विभक्तिकार्य करने से 'चतुर्थः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

चतुर्शब्द से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय के अतिरिक्त **चतुरश्छयतौ आद्यक्षरलोपश्च** (वा०) वार्त्तिकद्वारा छ और यत् प्रत्यय भी होते हैं और इन के साथ साथ चतुर् के आद्यक्षर (च) का लोप भी हो जाता है। छप्रत्यय के आदि छकार को **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से ईय् आदेश हो जाता है। इसप्रकार छप्रत्यय में—तुर्+ईय् अ='तुरीयः' तथा यत् में—तुर्+य='तुर्यः' प्रयोग भी बनते हैं।[2]

अब द्वि (दो) संख्या मे पूरण अर्थ में डट् के अपवाद 'तीय' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(११७९) द्वेस्तीयः ।५।२।५४।।

डटोऽपवादः। द्वयोः पूरणः—द्वितीयः ॥

अर्थः—संख्यावाचक षष्ठचन्त द्वि (दो) प्रातिपदिक से परे पूरण अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'तीय' प्रत्यय हो। **डटोऽपवादः**—यह डट् का अपवाद है।

व्याख्या—द्वेः ।५।१। तीयः ।१।१। संख्यायाः ।५।१। (**संख्याया गुणस्य निमाने मयट्** सूत्र से)। तस्य ।५।१। पूरणे ।७।१। (**तस्य पूरणे डट्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(संख्यायाः=संख्यावाचकात्) संख्यावाचक (तस्य=तस्मात्=षष्ठचन्तात्) षष्ठचन्त (द्वेः) 'द्वि' प्रातिपदिक से (पूरणे) पूरण अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तीयः) 'तीय' प्रत्यय हो जाता है। **तस्य पूरणे डट्** (११७५) द्वारा प्राप्त डट् प्रत्यय का यह अपवाद है। उदाहरण यथा—

द्वयोः पूरणः—द्वितीयः (दो संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् दूसरा)। 'द्वि ओस्' इस षष्ठचन्त से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) से प्राप्त डट् का बाध कर प्रकृत **द्वेस्तीयः** (११७९) सूत्र से 'तीय' प्रत्यय, सुँब्लुक् एवं विभक्तिकार्य करने से

---

१. **प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।**
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति ॥ (सुभाषितरत्न०)

२. **गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।** (महाभाष्य पस्पशा)
प्रथमाङ्घ्रिसमो यस्य तृतीयश्चरणो भवेत्।
द्वितीयस्तुर्यवद् वृत्तं तदर्धसममुच्यते ॥ (वृत्तरत्नाकर १.१५)

'द्वितीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् (आ) प्रत्यय ला कर सवर्णदीर्घ करने से 'द्वितीया' बनेगा।

अब 'त्रि' से भी पूरण अर्थ में तीयप्रत्यय तथा उस के साथ त्रि को सम्प्रसारण का भी विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८०) त्रेः सम्प्रसारणं च ।५।२।५५॥

तृतीयः ॥

अर्थः—संख्यावाचक 'त्रि' प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'तीय' प्रत्यय तथा 'त्रि' को सम्प्रसारण भी हो।

व्याख्या—त्रेः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। तीयः ।१।१। (**द्वेस्तीयः** सूत्र से)। संख्यायाः ।५।१। (**संख्याया गुणस्य निमाने मयट्** सूत्र से)। 'तस्य' और 'पूरणे' पदों की अनुवृत्ति **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्र से होती है। 'त्रेः' पद की आवृत्ति की जाती है और एक को पञ्चम्यन्त तथा दूसरे को षष्ठ्यन्त माना जाता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(संख्यायाः) संख्यावाचक (तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (त्रेः) 'त्रि' प्रातिपदिक से परे (पूरणे) पूरण अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तीयः) तीय प्रत्यय हो जाता है (च) और (त्रेः) त्रि के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण भी हो जाता है।

यह भी **तस्य पूरणे डट्** (११७५) से प्राप्त डट् प्रत्यय का अपवाद है। 'त्रि' को सम्प्रसारण करना है। **इग्यणः सम्प्रसारणम्** (२५६) के अनुसार यण् के स्थान पर होने वाले इक् (इ, उ, ऋ, लृ) को सम्प्रसारण कहते हैं। अतः त्रिशब्द के यण्=रेफ के स्थान पर इक्=ऋकार करना ही सम्प्रसारण होगा। उदाहरण यथा—

त्रयाणां पूरणः—तृतीयः (तीन संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् तीसरा)। यहां 'त्रि आम्' इस संख्यावाचक षष्ठ्यन्त से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) से प्राप्त डट् प्रत्यय का बाध कर **त्रेः सम्प्रसारणं च** (११८०) सूत्रद्वारा तीय प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा त्रि को सम्प्रसारण अर्थात् त्रि के रेफ को ऋकार आदेश करने से—तृइ+तीय। अब **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से 'ऋ+इ' के स्थान पर 'ऋ' यह पूर्वरूप एकादेश हो कर 'तृतीय' शब्द निष्पन्न होता है। विभक्ति लाने से 'तृतीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] स्त्रीत्व में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो कर 'तृतीया' बनेगा। ध्यान रहे कि तीयप्रत्ययान्त इन द्वितीय तृतीय शब्दों की ङित् विभक्तियों में **तीयस्य ङित्सु वा** (वा० १६) द्वारा सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्पविधान किया जा चुका है।

---

१. **द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।** (मनु० ५.१६९)

२. तृतीयशब्द का प्रयोग यथा—

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे गतं न शोचामि कृतं न मन्ये।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्! किं कारणं भोज! भवामि मूर्खः॥

(किंवदन्ती)

शङ्का—'त्रि' को सम्प्रसारण और पूर्वरूप कर चुकने पर 'तृ+तीय' इस स्थिति में अङ्ग के अवयव हल् से परे सम्प्रसारण को हलः (८१६) सूत्रद्वारा दीर्घ होना चाहिये था ?

समाधान—हलः (८१६) सूत्र में पूर्वपादस्थ **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** (११२) सूत्र से 'अणः' की अनुवृत्ति ला कर 'हल् से परे सम्प्रसारण जो अण् उसे दीर्घ हो' ऐसा अर्थ करेंगे। अण् प्रत्याहार **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) सूत्र को छोड़ सर्वत्र पूर्व णकार से ही लिया जाता है। अतः ऋकार के अण् के अन्तर्गत न होने से हलः (८१६) द्वारा दीर्घ न होगा। अथवा—अण् के अनुवर्त्तन की आवश्यकता ही नहीं। **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५), **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** (९२५), **विभाषा तृतीयादिष्वचि** (२०७) इत्यादि अनेक निर्देशों से यहां सम्प्रसारण को दीर्घ न करना ज्ञापित हो जायेगा।

यदि डट्प्रकरण के तीन और सूत्र समझ लिये जायें तो प्रत्येक संख्या का पूरणप्रत्ययान्त रूप छात्रों को आसानी से समझ में आ सकता है। वे तीन सूत्र इस प्रकार हैं—

(१) **विंशत्यादिभ्यस्तमँडन्यतरस्याम्** (५.२.५६)।

अर्थः—विंशति आदि से परे डट् को विकल्प से तमँट् का आगम हो जाता है। तमँट् डट्=तम् अ=तम। इस तरह विंशति आदि से परे 'तम' लग कर पूरणप्रत्ययान्त रूप सिद्ध हो जाता है। यथा—विंशतितमः, एकविंशतितमः, त्रिंशत्तमः, एकत्रिंशत्तमः, चत्वारिंशत्तमः, एकचत्वारिंशत्तमः, पञ्चाशत्तमः, एकपञ्चाशत्तमः आदि। जहाँ तमँट् का आगम न होगा वहां डट् के परे रहते विंशति में तो भसंज्ञक 'ति' का (११७७) तथा अन्यत्र भसंज्ञक टि का (२४२) लोप हो जायेगा। यथा—विंशः, एकविंशः, त्रिंशः, एकत्रिंशः, चत्वारिंशः, एकचत्वारिंशः, पञ्चाशः, एकपञ्चाशः आदि।

(२) **षष्ट्यादेश्चाऽसंख्यादेः** (५.२.५८)।

अर्थः—षष्टि आदि संख्याओं से परे डट् को तमँट् का आगम नित्य होता है परन्तु ये षष्टि आदि संख्याएं जुड़वां संख्याएं न होनी चाहियें। अन्यथा पूर्वसूत्र से तमँट् की वैकल्पिक प्रवृत्ति होगी। यथा—षष्टितमः, सप्ततितमः, अशीतितमः, नवतितमः। जुड़वां संख्याओं से तमँट् का विकल्प होगा। यथा—एकषष्टितमः-एकषष्टः, एकसप्ततितमः, एकसप्ततः, एकाशीतितमः—एकाशीतः, एकनवतितमः-एकनवतः।

(३) **शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च** (५.२.५७)।

अर्थः—शत आदि संख्याएं चाहे जुड़वां या अजुड़वां हों इन से परे डट् को नित्य तमँट् का आगम हो जाता है। यथा—शततमः, एकशततमः, सहस्रतमः, अयुततमः। लक्षतमः इत्यादि।

छात्रों के अभ्यास के लिये एक से लेकर सौ संख्याओं के पूरणप्रत्ययान्त रूपों की यहां एक तालिका दी जा रही है—

सङ्ख्याएं	[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप] (पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
एक[1]	प्रथमः	प्रथमा	प्रथमम्
द्वि	द्वितीयः	द्वितीया	द्वितीयम्
त्रि	तृतीयः	तृतीया	तृतीयम्
चतुर्	चतुर्थः	चतुर्थी	चतुर्थम्
	तुरीयः	तुरीया	तुरीयम्
	तुर्यः	तुर्या	तुर्यम्
पञ्चन्	पञ्चमः	पञ्चमी	पञ्चमम्
षष्	षष्ठः	षष्ठी	षष्ठम्
सप्तन्	सप्तमः	सप्तमी	सप्तमम्
अष्टन्	अष्टमः	अष्टमी	अष्टमम्
नवन्	नवमः	नवमी	नवमम्
दशन्	दशमः	दशमी	दशमम्
एकादशन्	एकादशः	एकादशी	एकादशम्
द्वादशन्	द्वादशः	द्वादशी	द्वादशम्
त्रयोदशन्	त्रयोदशः	त्रयोदशी	त्रयोदशम्
चतुर्दशन्	चतुर्दशः	चतुर्दशी	चतुर्दशम्
पञ्चदशन्	पञ्चदशः	पञ्चदशी	पञ्चदशम्
षोडशन्	षोडशः	षोडशी	षोडशम्
सप्तदशन्	सप्तदशः	सप्तदशी	सप्तदशम्
अष्टादशन्	अष्टादशः	अष्टादशी	अष्टादशम्
नवदशन्	नवदशः	नवदशी	नवदशम्
एकोनविंशति	एकोनविंशतितमः	एकोनविंशतितमी	एकोनविंशतितमम्
	एकोनविंशः	एकोनविंशी	एकोनविंशम्
विंशति	विंशतितमः	विंशतितमी	विंशतितमम्
	विंशः	विंशी	विंशम्
एकविंशति	एकविंशतितमः	एकविंशतितमी	एकविंशतितमम्
	एकविंशः	एकविंशी	एकविंशम्
द्वाविंशति	द्वाविंशतितमः	द्वाविंशतितमी	द्वाविंशतितमम्
	द्वाविंशः	द्वाविंशी	द्वाविंशम्
त्रयोविंशति	त्रयोविंशतितमः	त्रयोविंशतितमी	त्रयोविंशतितमम्
	त्रयोविंशः	त्रयोविंशी	त्रयोविंशम्
चतुर्विंशति	चतुर्विंशतितमः	चतुर्विंशतितमी	चतुर्विंशतितमम्
	चतुर्विंशः	चतुर्विंशी	चतुर्विंशम्
पञ्चविंशति	पञ्चविंशतितमः	पञ्चविंशतितमी	पञ्चविंशतितमम्

१. एकसंख्या अपने आप में पूर्ण है अतः इस से परे पूरणप्रत्यय नहीं होता । हिन्दी में प्रयुक्त 'पहला' शब्द का अनुवाद संस्कृत में 'प्रथमः, आद्यः, आदिमः' से किया जाता है ।

सङ्ख्याएं	[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]		
	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
	पञ्चविंशः	पञ्चविंशी	पञ्चविंशम्
षड्विंशति	षड्विंशतितमः	षड्विंशतितमी	षड्विंशतितमम्
	षड्विंशः	षड्विंशी	षड्विंशम्
सप्तविंशति	सप्तविंशतितमः	सप्तविंशतितमी	सप्तविंशतितमम्
	सप्तविंशः	सप्तविंशी	सप्तविंशम्
अष्टाविंशति	अष्टाविंशतितमः	अष्टाविंशतितमी	अष्टाविंशतितमम्
	अष्टाविंशः	अष्टाविंशी	अष्टाविंशम्
नवविंशति	नवविंशतितमः	नवविंशतितमी	नवविंशतितमम्
	नवविंशः	नवविंशी	नवविंशम्
एकोनत्रिंशत्	एकोनत्रिंशत्तमः	एकोनत्रिंशत्तमी	एकोनत्रिंशत्तमम्
	एकोनत्रिंशः	एकोनत्रिंशी	एकोनत्रिंशम्
त्रिंशत्	त्रिंशत्तमः	त्रिंशत्तमी	त्रिंशत्तमम्
	त्रिंशः	त्रिंशी	त्रिंशम्
एकत्रिंशत्	एकत्रिंशत्तमः	एकत्रिंशत्तमी	एकत्रिंशत्तमम्
	एकत्रिंशः	एकत्रिंशी	एकत्रिंशम्
द्वात्रिंशत्	द्वात्रिंशत्तमः	द्वात्रिंशत्तमी	द्वात्रिंशत्तमम्
	द्वात्रिंशः	द्वात्रिंशी	द्वात्रिंशम्
त्रयस्त्रिंशत्	त्रयस्त्रिंशत्तमः	त्रयस्त्रिंशत्तमी	त्रयस्त्रिंशत्तमम्
	त्रयस्त्रिंशः	त्रयस्त्रिंशी	त्रयस्त्रिंशम्
चतुस्त्रिंशत्	चतुस्त्रिंशत्तमः	चतुस्त्रिंशत्तमी	चतुस्त्रिंशत्तमम्
	चतुस्त्रिंशः	चतुस्त्रिंशी	चतुस्त्रिंशम्
पञ्चत्रिंशत्	पञ्चत्रिंशत्तमः	पञ्चत्रिंशत्तमी	पञ्चत्रिंशत्तमम्
	पञ्चत्रिंशः	पञ्चत्रिंशी	पञ्चत्रिंशम्
षट्त्रिंशत्	षट्त्रिंशत्तमः	षट्त्रिंशत्तमी	षट्त्रिंशत्तमम्
	षट्त्रिंशः	षट्त्रिंशी	षट्त्रिंशम्
सप्तत्रिंशत्	सप्तत्रिंशत्तमः	सप्तत्रिंशत्तमी	सप्तत्रिंशत्तमम्
	सप्तत्रिंशः	सप्तत्रिंशी	सप्तत्रिंशम्
अष्टात्रिंशत्	अष्टात्रिंशत्तमः	अष्टात्रिंशत्तमी	अष्टात्रिंशत्तमम्
	अष्टात्रिंशः	अष्टात्रिंशी	अष्टात्रिंशम्
नवत्रिंशत्	नवत्रिंशत्तमः	नवत्रिंशत्तमी	नवत्रिंशत्तमम्
	नवत्रिंशः	नवत्रिंशी	नवत्रिंशम्
एकोनचत्वारिंशत्	एकोनचत्वारिंशत्तमः	एकोनचत्वारिंशत्तमी	एकोनचत्वारिंशत्तमम्
	एकोनचत्वारिंशः	एकोनचत्वारिंशी	एकोनचत्वारिंशम्
चत्वारिंशत्	चत्वारिंशत्तमः	चत्वारिंशत्तमी	चत्वारिंशत्तमम्
	चत्वारिंशः	चत्वारिंशी	चत्वारिंशम्
एकचत्वारिंशत्	एकचत्वारिंशत्तमः	एकचत्वारिंशत्तमी	एकचत्वारिंशत्तमम्
	एकचत्वारिंशः	एकचत्वारिंशी	एकचत्वारिंशम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
द्वाचत्वारिंशत्	द्वाचत्वारिंशत्तमः	द्वाचत्वारिंशत्तमी	द्वाचत्वारिंशत्तमम्
	द्वाचत्वारिंशः	द्वाचत्वारिंशी	द्वाचत्वारिंशम्
द्विचत्वारिंशत्	द्विचत्वारिंशत्तमः	द्विचत्वारिंशत्तमी	द्विचत्वारिंशत्तमम्
	द्विचत्वारिंशः	द्विचत्वारिंशी	द्विचत्वारिंशम्
त्रयश्चत्वारिंशत्	त्रयश्चत्वारिंशत्तमः	त्रयश्चत्वारिंशत्तमी	त्रयश्चत्वारिंशत्तमम्
	त्रयश्चत्वारिंशः	त्रयश्चत्वारिंशी	त्रयश्चत्वारिंशम्
त्रिचत्वारिंशत्	त्रिचत्वारिंशत्तमः	त्रिचत्वारिंशत्तमी	त्रिचत्वारिंशत्तमम्
	त्रिचत्वारिंशः	त्रिचत्वारिंशी	त्रिचत्वारिंशम्
चतुश्चत्वारिंशत्	चतुश्चत्वारिंशत्तमः	चतुश्चत्वारिंशत्तमी	चतुश्चत्वारिंशत्तमम्
	चतुश्चत्वारिंशः	चतुश्चत्वारिंशी	चतुश्चत्वारिंशम्
पञ्चचत्वारिंशत्	पञ्चचत्वारिंशत्तमः	पञ्चचत्वारिंशत्तमी	पञ्चचत्वारिंशत्तमम्
	पञ्चचत्वारिंशः	पञ्चचत्वारिंशी	पञ्चचत्वारिंशम्
षट्चत्वारिंशत्	षट्चत्वारिंशत्तमः	षट्चत्वारिंशत्तमी	षट्चत्वारिंशत्तमम्
	षट्चत्वारिंशः	षट्चत्वारिंशी	षट्चत्वारिंशम्
सप्तचत्वारिंशत्	सप्तचत्वारिंशत्तमः	सप्तचत्वारिंशत्तमी	सप्तचत्वारिंशत्तमम्
	सप्तचत्वारिंशः	सप्तचत्वारिंशी	सप्तचत्वारिंशम्
अष्टाचत्वारिंशत्	अष्टाचत्वारिंशत्तमः	अष्टाचत्वारिंशत्तमी	अष्टाचत्वारिंशत्तमम्
	अष्टाचत्वारिंशः	अष्टाचत्वारिंशी	अष्टाचत्वारिंशम्
अष्टचत्वारिंशत्	अष्टचत्वारिंशत्तमः	अष्टचत्वारिंशत्तमी	अष्टचत्वारिंशत्तमम्
	अष्टचत्वारिंशः	अष्टचत्वारिंशी	अष्टचत्वारिंशम्
नवचत्वारिंशत्	नवचत्वारिंशत्तमः	नवचत्वारिंशत्तमी	नवचत्वारिंशत्तमम्
	नवचत्वारिंशः	नवचत्वारिंशी	नवचत्वारिंशम्
एकोनपञ्चाशत्	एकोनपञ्चाशत्तमः	एकोनपञ्चाशत्तमी	एकोनपञ्चाशत्तमम्
	एकोनपञ्चाशः	एकोनपञ्चाशी	एकोनपञ्चाशम्
पञ्चाशत्	पञ्चाशत्तमः	पञ्चाशत्तमी	पञ्चाशत्तमम्
	पञ्चाशः	पञ्चाशी	पञ्चाशम्
एकपञ्चाशत्	एकपञ्चाशत्तमः	एकपञ्चाशत्तमी	एकपञ्चाशत्तमम्
	एकपञ्चाशः	एकपञ्चाशी	एकपञ्चाशम्
द्वापञ्चाशत्	द्वापञ्चाशत्तमः	द्वापञ्चाशत्तमी	द्वापञ्चाशत्तमम्
	द्वापञ्चाशः	द्वापञ्चाशी	द्वापञ्चाशम्
द्विपञ्चाशत्	द्विपञ्चाशत्तमः	द्विपञ्चाशत्तमी	द्विपञ्चाशत्तमम्
	द्विपञ्चाशः	द्विपञ्चाशी	द्विपञ्चाशम्
त्रयःपञ्चाशत्	त्रयःपञ्चाशत्तमः	त्रयःपञ्चाशत्तमी	त्रयःपञ्चाशत्तमम्
	त्रयःपञ्चाशः	त्रयःपञ्चाशी	त्रयःपञ्चाशम्
त्रिपञ्चाशत्	त्रिपञ्चाशत्तमः	त्रिपञ्चाशत्तमी	त्रिपञ्चाशत्तमम्
	त्रिपञ्चाशः	त्रिपञ्चाशी	त्रिपञ्चाशम्
चतुःपञ्चाशत्	चतुःपञ्चाशत्तमः	चतुःपञ्चाशत्तमी	चतुःपञ्चाशत्तमम्
	चतुःपञ्चाशः	चतुःपञ्चाशी	चतुःपञ्चाशम्
पञ्चपञ्चाशत्	पञ्चपञ्चाशत्तमः	पञ्चपञ्चाशत्तमी	पञ्चपञ्चाशत्तमम्
	पञ्चपञ्चाशः	पञ्चपञ्चाशी	पञ्चपञ्चाशम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
षट्पञ्चाशत्	षट्पञ्चाशत्तमः	षट्पञ्चाशत्तमी	षट्पञ्चाशत्तमम्
	षट्पञ्चाशः	षट्पञ्चाशी	षट्पञ्चाशम्
सप्तपञ्चाशत्	सप्तपञ्चाशत्तमः	सप्तपञ्चाशत्तमी	सप्तपञ्चाशत्तमम्
	सप्तपञ्चाशः	सप्तपञ्चाशी	सप्तपञ्चाशम्
अष्टापञ्चाशत्	अष्टापञ्चाशत्तमः	अष्टापञ्चाशत्तमी	अष्टापञ्चाशत्तमम्
	अष्टापञ्चाशः	अष्टापञ्चाशी	अष्टापञ्चाशम्
अष्टपञ्चाशत्	अष्टपञ्चाशत्तमः	अष्टपञ्चाशत्तमी	अष्टपञ्चाशत्तमम्
	अष्टपञ्चाशः	अष्टपञ्चाशी	अष्टपञ्चाशम्
नवपञ्चाशत्	नवपञ्चाशत्तमः	नवपञ्चाशत्तमी	नवपञ्चाशत्तमम्
	नवपञ्चाशः	नवपञ्चाशी	नवपञ्चाशम्
एकोनषष्टि	एकोनषष्टितमः	एकोनषष्टितमी	एकोनषष्टितमम्
	एकोनषष्टः	एकोनषष्टी	एकोनषष्टम्
षष्टि	षष्टितमः	षष्टितमी	षष्टितमम्
एकषष्टि	एकषष्टितमः	एकषष्टितमी	एकषष्टितमम
	एकषष्टः	एकषष्टी	एकषष्टम्
द्वाषष्टि	द्वाषष्टितमः	द्वाषष्टितमी	द्वाषष्टितमम्
	द्वाषष्टः	द्वाषष्टी	द्वाषष्टम्
द्विषष्टि	द्विषष्टितमः	द्विषष्टितमी	द्विषष्टितमम्
	द्विषष्टः	द्विषष्टी	द्विषष्टम्
त्रयःषष्टि	त्रयःषष्टितमः	त्रयःषष्टितमी	त्रयःषष्टितमम्
	त्रयःषष्टः	त्रयःषष्टी	त्रयःषष्टम्
त्रिषष्टि	त्रिषष्टितमः	त्रिषष्टितमी	त्रिषष्टितमम
	त्रिषष्टः	त्रिषष्टी	त्रिषष्टम्
चतुःषष्टि	चतुःषष्टितमः	चतुःषष्टितमी	चतुःषष्टितमम
	चतुःषष्टः	चतुःषष्टी	चतुःषष्टम्
पञ्चषष्टि	पञ्चषष्टितमः	पञ्चषष्टितमी	पञ्चषष्टितमम्
	पञ्चषष्टः	पञ्चषष्टी	पञ्चषष्टम्
षट्षष्टि	षट्षष्टितमः	षट्षष्टितमी	षट्षष्टितमम्
	षट्षष्टः	षट्षष्टी	षट्षष्टम्
सप्तषष्टि	सप्तषष्टितमः	सप्तषष्टितमी	सप्तषष्टितमम्
	सप्तषष्टः	सप्तषष्टी	सप्तषष्टम्
अष्टाषष्टि	अष्टाषष्टितमः	अष्टाषष्टितमी	अष्टाषष्टितमम्
	अष्टाषष्टः	अष्टाषष्टी	अष्टाषष्टम्
अष्टषष्टि	अष्टषष्टितमः	अष्टषष्टितमी	अष्टषष्टितमम्
	अष्टषष्टः	अष्टषष्टी	अष्टषष्टम्
नवषष्टि	नवषष्टितमः	नवषष्टितमी	नवषष्टितमम्
	नवषष्टः	नवषष्टी	नवषष्टम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
एकोनसप्तति	एकोनसप्ततितमः	एकोनसप्ततितमी	एकोनसप्ततितमम्
	एकोनसप्ततः	एकोनसप्तती	एकोनसप्ततम्
सप्तति	सप्ततितमः	सप्ततितमी	सप्ततितमम्
एकसप्तति	एकसप्ततितमः	एकसप्ततितमी	एकसप्ततितमम्
	एकसप्ततः	एकसप्तती	एकसप्ततम्
द्वासप्तति	द्वासप्ततितमः	द्वासप्ततितमी	द्वासप्ततितमम
	द्वासप्ततः	द्वासप्तती	द्वासप्ततम्
द्विसप्तति	द्विसप्ततितमः	द्विसप्ततितमी	द्विसप्ततितमम्
	द्विसप्ततः	द्विसप्तती	द्विसप्ततम्
त्रयःसप्तति	त्रयःसप्ततितमः	त्रयःसप्ततितमी	त्रयःसप्ततितमम्
	त्रयःसप्ततः	त्रयःसप्तती	त्रयःसप्ततम्
त्रिसप्तति	त्रिसप्ततितमः	त्रिसप्ततितमी	त्रिसप्ततितमम्
	त्रिसप्ततः	त्रिसप्तती	त्रिसप्ततम्
चतुःसप्तति	चतुःसप्ततितमः	चतुःसप्ततितमी	चतुःसप्ततितमम्
	चतुःसप्ततः	चतुःसप्तती	चतुःसप्ततम्
पञ्चसप्तति	पञ्चसप्ततितमः	पञ्चसप्ततितमी	पञ्चसप्ततितमम्
	पञ्चसप्ततः	पञ्चसप्तती	पञ्चसप्ततम्
षट्सप्तति	षट्सप्ततितमः	षट्सप्ततितमी	षट्सप्ततितमम्
	षट्सप्ततः	षट्सप्तती	षट्सप्ततम्
सप्तसप्तति	सप्तसप्ततितमः	सप्तसप्ततितमी	सप्तसप्ततितमम्
	सप्तसप्ततः	सप्तसप्तती	सप्तसप्ततम्
अष्टासप्तति	अष्टासप्ततितमः	अष्टासप्ततितमी	अष्टासप्ततितमम्
	अष्टासप्ततः	अष्टासप्तती	अष्टासप्ततम्
अष्टसप्तति	अष्टसप्ततितमः	अष्टसप्ततितमी	अष्टसप्ततितमम्
	अष्टसप्ततः	अष्टसप्तती	अष्टसप्ततम्
नवसप्तति	नवसप्ततितमः	नवसप्ततितमी	नवसप्ततितमम्
	नवसप्ततः	नवसप्तती	नवसप्ततम्
एकोनाशीति	एकोनाशीतितमः	एकोनाशीतितमी	एकोनाशीतितमम्
	एकोनाशीतः	एकोनाशीती	एकोनाशीतम्
अशीति	अशीतितमः	अशीतितमी	अशीतितमम्
एकाशीति	एकाशीतितमः	एकाशीतितमी	एकाशीतितमम्
	एकाशीतः	एकाशीती	एकाशीतम्
द्व्यशीति	द्व्यशीतितमः	द्व्यशीतितमी	द्व्यशीतितमम्
	द्व्यशीतः	द्व्यशीती	द्व्यशीतम्
त्र्यशीति	त्र्यशीतितमः	त्र्यशीतितमी	त्र्यशीतितमम्
	त्र्यशीतः	त्र्यशीती	त्र्यशीतम्
चतुरशीति	चतुरशीतितमः	चतुरशीतितमी	चतुरशीतितमम्
	चतुरशीतः	चतुरशीती	चतुरशीतम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिंग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
पञ्चाशीति	पञ्चाशीतितमः	पञ्चाशीतितमी	पञ्चाशीतितमम्
	पञ्चाशीतः	पञ्चाशीती	पञ्चाशीतम्
षडशीति	षडशीतितमः	षडशीतितमी	षडशीतितमम्
	षडशीतः	षडशीती	षडशीतम्
सप्ताशीति	सप्ताशीतितमः	सप्ताशीतितमी	सप्ताशीतितमम्
	सप्ताशीतः	सप्ताशीती	सप्ताशीतम्
अष्टाशीति	अष्टाशीतितमः	अष्टाशीतितमी	अष्टाशीतितमम्
	अष्टाशीतः	अष्टाशीती	अष्टाशीतम्
नवाशीति	नवाशीतितमः	नवाशीतितमी	नवाशीतितमम्
	नवाशीतः	नवाशीती	नवाशीतम्
एकोननवति	एकोननवतितमः	एकोननवतितमी	एकोननवतितमम्
	एकोननवतः	एकोननवती	एकोननवतम्
नवति	नवतितमः	नवतितमी	नवतितमम्
एकनवति	एकनवतितमः	एकनवतितमी	एकनवतितमम्
	एकनवतः	एकनवती	एकनवतम्
द्वानवति	द्वानवतितमः	द्वानवतितमी	द्वानवतितमम्
	द्वानवतः	द्वानवती	द्वानवतम्
द्विनवति	द्विनवतितमः	द्विनवतितमी	द्विनवतितमम्
	द्विनवतः	द्विनवती	द्विनवतम्
त्रयोनवति	त्रयोनवतितमः	त्रयोनवतितमी	त्रयोनवतितमम्
	त्रयोनवतः	त्रयोनवती	त्रयोनवतम्
त्रिनवति	त्रिनवतितमः	त्रिनवतितमी	त्रिनवतितमम्
	त्रिनवतः	त्रिनवती	त्रिनवतम्
चतुर्नवति	चतुर्नवतितमः	चतुर्नवतितमी	चतुर्नवतितमम्
	चतुर्नवतः	चतुर्नवती	चतुर्नवतम्
पञ्चनवति	पञ्चनवतितमः	पञ्चनवतितमी	पञ्चनवतितमम
	पञ्चनबतः	पञ्चनवती	पञ्चनवतम्
षण्णवति	षण्णवतितमः	षण्णवतितमी	षण्णवतितमम्
	षण्णवतः	षण्णवती	षण्णवतम्
सप्तनवति	सप्तनवतितमः	सप्तनवतितमी	सप्तनवतितमम्
	सप्तनवतः	सप्तनवती	सप्तनवतम्
अष्टानवति	अष्टानवतितमः	अष्टानवतितमी	अष्टानवतितमम्
	अष्टानवतः	अष्टानवती	अष्टानवतम्
अष्टनवति	अष्टनवतितमः	अष्टनवतितमी	अष्टनवतितमम्
	अष्टनवतः	अष्टनवती	अष्टनवतम्
नवनवति	नवनवतितमः	नवनवतितमी	नवनवतितमम्
	नवनवतः	नवनवती	नवनवतम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

संख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
एकोनशत	एकोनशततमः	एकोनशततमी	एकोनशततमम्
शत[1]	शततमः	शततमी	शततमम्

'शत' से आगे की संख्याओं का पूरणप्रत्ययान्त रूप डट्प्रत्यय को तमँट् का आगम नित्य करने से बनता है। यथा—एकशततमः, द्विशततमः, सहस्रतमः, अयुततमः आदि।

अब अग्रिमसूत्र में निपातनद्वारा श्रोत्रिय (वेद को पढ़ने वाला) शब्द की उपपत्ति दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८१)

श्रोत्रियँश्छन्दोऽधीते ।५।२।८४।।

श्रोत्रियः । वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।।

अर्थः—'वेद को पढ़ता है' इस अर्थ में 'श्रोत्रियन्' यह निपातित किया जाता है। **वेत्यनुवृत्तेः०**— 'वा' की अनुवृत्ति के कारण 'छान्दसः' प्रयोग भी बनेगा।

व्याख्या—श्रोत्रियन् इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। छन्दः ।२।१। अधीते इति क्रियापदम्। 'छन्दोऽधीते' इत्यर्थे श्रोत्रियन् इति शब्दो निपात्यते। अर्थः—('छन्दोऽधीते' इत्यर्थे) 'वेद को पढ़ता है' इस अर्थ में (श्रोत्रियन्) श्रोत्रियन् शब्द निपातित किया जाता है।

श्रोत्रियन् में नकार अनुबन्ध है जो **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्र से आद्युदात्तस्वर के लिये इसे जोड़ा गया है। प्रयोग में 'श्रोत्रिय' शब्द ही आयेगा।

श्रोत्रियशब्द के निपातन के द्वारा आचार्य यहां दो कार्यों का प्रधानतः विधान कर रहे हैं—पहला— द्वितीयान्त छन्दस् (वेद) शब्द से 'तदधीते' के अर्थ में घन् प्रत्यय तथा दूसरा छन्दस् को श्रोत्र सर्वादेश। अन्य कार्य सामान्यनियमों के अनुसार ही हो जायेंगे। तथाहि—'छन्दोऽधीते' इस विग्रह में 'छन्दस् अम्' से तद्धितसञ्ज्ञक घन् प्रत्यय, अनुबन्ध नकार का लोप, सुँब्लुक् तथा छन्दस् को 'श्रोत्र' सर्वादेश करने से 'श्रोत्र+घ' हुआ। अब **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से प्रत्यय के आदि घकार को इय् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्रोत्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस का साहित्य में प्रयोग यथा— **ते श्रोत्रियास्तत्त्वविनिश्चयाय भूरिश्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते** (मालतीमाधव १.५)।

---

१. एक से लेकर शत तक की गिनती जानने के लिये इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ समासप्रकरणान्तर्गत (९६०, ९६१) सूत्रों की व्याख्याओं तथा फुटनोटों का अवलोकन करना चाहिये।

इनिँ (meaning > मतुप्)

ध्यान रहे कि यहां **तदधीते तद्वेद** (१०५३) से अण् प्रत्यय प्राप्त था उस का यह निपातन अपवाद है।

वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।

प्रकृतसूत्र में मण्डूकप्लुतिन्याय से **तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा** (५.२.७७) सूत्र से 'वा' पद का अनुवर्त्तन होता है। इस से यह निपातन विकल्प से प्रवृत्त होता है। जिस पक्ष में निपातन प्रवृत्त नहीं होता वहां 'छन्दस् अम्' से 'अधीते' अर्थ में **तदधीते तद्वेद** (१०५३) सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रत्यय के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'छान्दसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **श्रोत्रियश्छान्दसौ समौ** इत्यमरः।

अब क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से कर्त्ता अर्थ में इनिँ प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८२) **पूर्वादिनिः** ।५।२।८६।।

पूर्वं कृतमनेन—पूर्वी ।।

अर्थः—क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से 'अनेन' (इस से) अर्थात् कर्ता अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक इनिँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—पूर्वात् ।५।१। इनिँः ।१।१। अनेन ।३।१। (**श्राद्धमनेन भुक्तमिनिँठनौ** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। व्याख्यानद्वारा 'पूर्वं कृतम्, पूर्वं भुक्तम्' इत्यादियों में क्रियाविशेषणरूपेण प्रयुक्त पूर्व-शब्द का यहां ग्रहण अभीष्ट है। क्रियाविशेषण सदा नपुंसक में द्वितीयैकवचनान्त प्रयुक्त होते हैं[1]। अतः यहां भी द्वितीयैकवचनान्त पूर्वशब्द से प्रत्यय की उत्पत्ति समझनी चाहिये। 'अनेन' में कर्तृतृतीया है अतः यहां कर्त्ता अर्थ में ही प्रत्यय अभीष्ट है। क्रिया के बिना न तो कोई कर्त्ता होता है और न क्रियाविशेषण, अतः यहां कृतम्, भुक्तम्, गतम् आदि किसी भी क्रिया को प्रकरणानुसार ऊपर से समझ लिया जाता है। अर्थः—(पूर्वात्) क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से (अनेन इत्यर्थे) कर्ता अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इनिँः) इनिँ प्रत्यय हो जाता है।

इनिँ में इकार उच्चारणार्थ एवं नकार को इत्सञ्ज्ञा से बचाने के लिये जोड़ा गया है। प्रत्यय का 'इन्' मात्र अवशिष्ट रहता है। उदाहरण यथा—

पूर्वं कृतम् अनेन—पूर्वी (पहले कर चुका व्यक्ति)। यहां 'पूर्व अम्' इस द्वितीयैकवचनान्त क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से 'अनेन' अर्थात् कर्त्ता अर्थ में **पूर्वादिनिः** (११८२) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक इनिँप्रत्यय, प्रत्यय के अनुनासिक इकार का लोप, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का भी लोप करने से—पूर्व्+इन्='पूर्विन्' यह इन्नन्त शब्द निष्पन्न होता है। इस की रूपमाला शार्ङ्गिन्शब्द के समान चलती

---

१. **क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं क्लीबता चेष्यते** (काशिका २.४.१८)। इस की व्याख्या समासप्रकरणस्थ **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) पर देखें।

इनि

है—पूर्वी, पूर्विणौ, पूर्विणः । प्रथमैकवचन में सुँविभक्ति ला कर **सौ च** (२८५) से उपधा-दीर्घ, हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप करने पर 'पूर्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पूर्वी देवदत्तः—अर्थात् किसी क्रिया को पहले कर चुका देवदत्त । यहां क्रिया का प्रयोग न होने पर भी कृतम्, भुक्तम्, पीतम्, श्रुतम् आदि किसी भी क्रिया का या तो शब्दान्तरसान्निध्य से अथवा प्रकरण से बोध हो जाया करता है[1] ।

अब पूर्वशब्दान्त से भी इसी इनिँप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११८३) सपूर्वाच्च ।५।२।८७।।**

विद्यमानपूर्वादपि पूर्वशब्दाद् अनेनेति कर्त्रर्थे तद्धित इनिँः प्रत्ययः स्यात्) । कृतपूर्वी ।।

अर्थः—जिस के पूर्व में कोई दूसरा पद विद्यमान हो तो ऐसे पूर्वशब्दान्त समस्त शब्द से परे भी 'अनेन' अर्थात् कर्त्ता अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक इनिँ प्रत्यय हो ।

व्याख्या—सपूर्वात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । पूर्वात् ।५।१। इनिँः ।१।१। (**पूर्वादिनिँः** सूत्र से) । अनेन ।३।१। (**श्राद्धमनेन भुक्तमिनिँठनौ** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। विद्यमानं पूर्वम् (पूर्व-पदम्) यस्य तत् सपूर्वम्, तस्मात्=सपूर्वात्, बहुव्रीहिसमासः । सहस्य स इत्यादेशः । पीछे केवल पूर्वशब्द से कर्ता अर्थ में इनिँ का विधान किया गया था परन्तु अब पूर्व-शब्दान्त से भी उस का विधान किया जा रहा है । अर्थः—(सपूर्वात्) जिस के साथ कोई पूर्वपद जुड़ा हुआ हो ऐसे (पूर्वात्) पूर्वशब्द से परे (च) भी (अनेन इत्यर्थे) कर्त्ता अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इनिँः) इनिँ प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

---

१. शब्दान्तरसान्निध्य से क्रिया का बोध यथा—'पूर्वी कटम्, पूर्वी ओदनम्, पूर्वी पयः' यहां कटादि पदों के सान्निध्य से क्रमशः कृतम्, भुक्तम्, पीतम् आदि क्रियाओं का बोध होता है । प्रकरण से क्रिया के बोध का एक सुन्दर उदाहरण वाल्मीकि-रामायण (३.१८.४) का यह पद्य है—

श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ।
अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः ।
अनुरूपश्च ते भर्त्ता रूपस्यास्य भविष्यति ।।

श्रीरामचन्द्र शूर्पणखा को कह रहे हैं कि यह सुन्दर युवा लक्ष्मण जिसने पहले कभी स्त्रीसुख को नहीं भोगा, तेरे रूप के अनुरूप तेरा पति बन जायेगा (अतः तू उसी के पास जा) । यहां प्रकरणतः 'अपूर्वी' की क्रिया का पता चल जाता है—पूर्वं भार्यासुखं ज्ञातमनेनेति पूर्वी, न पूर्वी अपूर्वी, **पूर्वादिनिँः** (५.२.८६) इति इनिँप्रत्ययः (देखें रामायण पर गोविन्दराजकृत भूषणटीका) ।

पूर्वं कृतम् अनेन—कृतपूर्वी (जो पहले कर चुका है ऐसा व्यक्ति)। यहां पहले 'पूर्वं कृतम्—कृतपूर्वम्' इस प्रकार 'भूतपूर्वः' की तरह सुँप्सुँपासमास (९०६) कर लेना चाहिये। अब 'कृतपूर्व सुँ' इस प्रकार पूर्वशब्दान्त प्रथमान्त से 'अनेन=इस से अर्थात् कर्ता' अर्थ में **सपूर्वाच्च** (११८३) सूत्र से इनिँप्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कृतपूर्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कृतपूर्वी कटं देवदत्तः (देवदत्त चटाई को पहले बना चुका है)।

इसी प्रकार—भुक्तं पूर्वमनेन—भुक्तपूर्वी। भुक्तपूर्वी सक्तून् यज्ञदत्तः। श्रुतं पूर्वमनेन—श्रुतपूर्वी कथां ब्रह्मदत्तः। इत्यादि।[1]

विशेष वक्तव्य—यहां 'कट' आदि कर्म का सम्बन्ध 'कृत' आदि क्तान्तों के साथ साक्षात् नहीं है अन्यथा सापेक्ष होने के कारण 'कृत' और 'पूर्व' शब्दों का न तो समास हो सकता और न ही तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति। अतः 'कृत' आदि में क्तप्रत्यय कर्म की अविवक्षा में **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) द्वारा भाव में ही समझना चाहिये। इस तरह समास और उस से परे तद्धितप्रत्यय के निर्बाध सिद्ध हो जाने के अनन्तर 'कृतपूर्वी किम्? कटम्' इत्यादि रीति से 'कृतपूर्वी' आदि पदों का 'कट' आदि के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। इस प्रकार 'कट' आदि अनुक्त कर्म रहते हैं क्योंकि न तो वे कृत् (क्त) द्वारा उक्त होते हैं और न ही तद्धितद्वारा (तद्धितप्रत्यय तो यहां कर्त्ता अर्थ में हुआ है)। तब इस अनुक्त कर्म में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) द्वारा द्वितीया विभक्ति हो जाती है जैसाकि ऊपर के उदाहरणों में दर्शाया गया है।

अब इष्टादिगणपठित प्रातिपदिकों से परे भी 'अनेन' अर्थात् कर्त्ता अर्थ में इनिँ प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि इन पूर्वशब्दान्तों से इनिँप्रत्यय तो **पूर्वादिनिः** (११८२) सूत्र से ही तदन्तविधि के आश्रयण से सिद्ध हो सकता था पुनः इस नये सूत्र के बनाने की क्या आवश्यकता? इस का उत्तर यह है कि आचार्य इस नये सूत्र को बना कर एक परिभाषा का ज्ञापन कराना चाहते हैं—

ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न (प०)।

अर्थात् जब किसी प्रातिपदिक का ग्रहण कर कोई विधि विधान की जाती है तो वह विधि उस प्रातिपदिक से तो होती है परन्तु तदन्तों से नहीं। यथा—**नडादिभ्यः फक्** (४.१.९९) सूत्रद्वारा नडादियों से गोत्रापत्य में फक् प्रत्यय का विधान किया गया है—नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः। परन्तु यह विधि नडाद्यन्तों से न होगी—सूत्रनडस्य गोत्रापत्यं सौत्रनाडिः, यहां फक् न हो कर **अत इञ्** (१०१४) से इञ् हो कर **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) से उभयपदवृद्धि हो जाती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११८४) इष्टादिभ्यश्च ।५।२।८८॥**

(प्रथमान्तेभ्य इष्टादिभ्योऽनेनेत्यर्थे तद्धित इनिँः प्रत्ययः स्यात्)। इष्टमनेन इष्टी । अधीती ॥

अर्थः—प्रथमान्त इष्ट आदि प्रातिपदिकों से 'अनेन' (इस से) अर्थात् कर्ता अर्थ में तद्धितसंज्ञक इनिँप्रत्यय हो।

व्याख्या— इष्टादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम्। इनिँः ।१।१। (**पूर्वादिनिः** सूत्र से)। अनेन ।३।१। (**श्राद्धमनेन भुक्तमिनिँठनौ** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—इष्टशब्द आदिर्येषान्ते इष्टादयः, तेभ्यः=इष्टादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। इष्टादि एक गण है जिस में क्तप्रत्ययान्त कुछ शब्द संगृहीत हैं[1]। यहां समर्थविभक्ति का निर्देश न होने पर भी सामर्थ्यात् प्रथमा को ही समर्थविभक्ति समझ लिया जाता है। अर्थः—(इष्टादिभ्यः) इष्ट आदि प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (अनेन इत्यर्थे) 'इस से' अर्थात् कर्ता अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इनिँः) इनिँ प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

इष्टमनेन—इष्टी (यज्ञ कर चुका व्यक्ति)। 'इष्ट' शब्द **यजँ देवपूजासंगतिकरण-दानेषु** ((भ्वा० उभय०) धातु से कर्म की अविवक्षा में भाव में **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) से क्तप्रत्यय, **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) द्वारा सम्प्रसारण, **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप तथा अन्त में षत्व (३०७) और ष्टुत्व (६४) करने से सिद्ध होता है। यहां 'इष्ट सुँ' इस प्रथमान्त से 'अनेन' अर्थात् कर्त्ता अर्थ में प्रकृत **इष्टादिभ्यश्च** (११८४) सूत्रद्वारा इनिँ प्रत्यय, अनुबन्ध इकार का लोप तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का भी लुक् करने पर—इष्ट+इन्। अब **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर 'इष्टिन्' शब्द उपपन्न हो जाता है। इस से परे प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय, उपधादीर्घ (२८५), हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा पदान्त नकार का भी लोप करने पर 'इष्टी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इष्टी, इष्टिनौ, इष्टिनः। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि जब क्तान्त से तद्धित इनिँप्रत्यय किया जाता है तब उस इन्नन्त के कर्म में **क्तस्येन्विष-**

---

१. इष्टादिगण यथा—

इष्ट। पूर्त्त। उपासादित (उपसादित)। निगदित। परिगदित। परिवादित। निकथित। निषादित। निपठित। संकलित। परिकलित। संरक्षित। परिरक्षित। अर्चित। गणित। अवकीर्ण। आयुक्त। गृहीत। आम्नात। श्रुत (आम्नातश्रुत)। अधीत। आसेवित। अवधारित। अवकल्पित। निराकृत। उपकृत। उपाकृत। अनुयुक्त। अनुगणित। अनुपठित। व्याकुलित। परिकथित। संकल्पित। विकलित। निपतित। पठित। पूजित। परिगणित। उपगणित। अपवारित। उपनत। निगृहीत। अपचित॥

यस्य कर्मण्युपसंख्यानम् (वा० २.३.३६) वार्त्तिकद्वारा सप्तमी विभक्ति हुआ करती है[1]। यथा—इष्टी अध्वरेषु (यज्ञों को कर चुका व्यक्ति)।

इस सूत्र का दूसरा मूर्धाभिषिक्त उदाहरण यथा—

अधीतमनेन—अधीती (जिस ने अध्ययन कर रखा है ऐसा व्यक्ति)। यहां 'अधीत सुँ' से 'अनेन' अर्थात् कर्ता अर्थ में **इष्टादिभ्यश्च** (११८४) से इनिँ प्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'अधीती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अधीती, अधीतिनौ, अधीतिनः। कर्म का योग होने पर पूर्वोक्त वार्त्तिक से कर्म में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होगा। यथा—अधीती व्याकरणे (जिस ने व्याकरण का अध्ययन कर रखा है ऐसा व्यक्ति)।

इष्टादियों से इनिँ के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) पठितमनेन—पठिती शास्त्रे।
(२) अर्चितमनेन—अर्चिती गोविन्दे।
(३) उपकृतमनेन—उपकृती मित्रेषु।
(४) कृतमनेन—कृती कृत्येषु।
(५) निराकृतमनेन—निराकृती शत्रुषु।
(६) आम्नातमनेन—आम्नाती निगमेषु।
(७) निगृहीतमनेन—निगृहीती शत्रुषु।
(८) परिगणितमनेन—परिगणिती ज्योतिषि।
(९) पूजितमनेन—पूजिती देवेषु।
(१०) संरक्षितमनेन—संरक्षिती भृत्यवर्गे।[2]

---

१. जब क्तान्त से तद्धितप्रत्यय इनिँ का विधान किया गया हो तो उस इनिँप्रत्ययान्त के कर्म में सप्तमी विभक्ति हो – यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है। यहां प्रकृत में 'इष्ट' इस क्तान्त से इनिँ प्रत्यय करने से 'इष्टिन्' शब्द बना है तो इस इष्टिन् के कर्म (अध्वर) में सप्तमी हो जाती है– इष्टी अध्वरेषु। 'कृतपूर्वी कटम्' में इस वार्त्तिकद्वारा 'कट' कर्म में सप्तमी नहीं होती, कारण कि वहां क्तान्त से इनिँ नहीं किया गया अपितु 'कृतपूर्व' से किया गया है।

२. नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में इस सूत्र के उदाहरण दो शार्दूलविक्रीडित पद्यों में इस प्रकार बद्ध किये हैं—

इष्टी सर्वमखे श्रुती श्रुतिशते तन्त्रे गृहीत्यर्चिती
गोविन्दे पठिती तथाऽनुपठिती शास्त्रेषु सर्वेष्वपि।
शत्रौ व्याकुलिती तथा खलजने दूरं निराकृत्यसौ
मित्रेषूपकृती विभाति नृपतिर्दीनेषु संरक्षिती ॥१॥
आम्नाती निगमे ग्रहेषु गणिती धर्मेऽवधारित्यसा-
वाचारे परिरक्षिती निकथिती श्रेयस्सु नित्यं नृणाम्।
न्यायेष्वप्यवकल्पिती परिकलित्युच्चैः कलाकौशले
वेद्ये संकलिती विराजति सुधीरासेविती केशवे ॥२॥

कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(क) **न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्** । (रघु० ३.५१)

(ख) **कृती श्रुती वृद्धमतेषु धीमां-**
स्त्वं पैतृकं चेद्वचनं न कुर्याः ।
विच्छिद्यमानेऽपि कुले परस्य
पुंसः कथं स्यादिह पुत्रकाम्या ॥ (भट्टि० ३.५२)

(ग) **अध्वरेष्विष्टिनां पाता पूर्ती कर्मसु सर्वदा ।**
पितुर्नियोगाद्राजत्वं हित्वा योऽभ्यगमद्वनम् ॥ (भट्टि० ५.७६)

अभ्यास [१२]

(१) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप ससूत्र सिद्ध करें—

१. तिलानां भवनं क्षेत्रम् । ८. षण्डा सञ्जाताऽस्य ।
२. तत् परिमाणमस्य । ९. उभाववयवौ अस्य ।
३. पञ्च अवयवा अस्य । १०. पूर्वं कृतमनेन ।
४. किं परिमाणमस्याः । ११. षण्णां पूरणः ।
५. भुक्तं पूर्वमनेन । १२. द्वयोः पूरणः ।
६. छन्दोऽधीते । १३. कतीनां पूरणः ।
७. इष्टम् अनेन । १४. इदं परिमाणमस्य ।

(२) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ प्रयोगों की सिद्धि करें—

१. तारकितं नभः । २. हैयङ्गवीनम् । ३. जानुदघ्नम् । ४. ऊरुद्वयसम् । ५. शालेयम् । ६. एतावान् । ७. मौद्गीनम् । ८. एकादशः । ९. पञ्चमः । १०. विंशः । ११. तृतीयः । १२. त्रितयम् । १३. चतुर्थः । १४. तुरीयः । १५. कृतपूर्वी कटम् । १६. चतुष्टयम् ।

(३) अधोलिखित सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. संख्याया अवयवे तयप् । २. तस्य पूरणे डट् । ३. नान्तादसंख्यादेर्मट् । ४. धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् । ५. पूर्वादिनिः । ६. सपूर्वाच्च । ७. यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप् । ८. प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः । ९. षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुँक् । १०. उभादुदात्तो नित्यम् । ११. तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् ।

(४) निम्नस्थ सूत्रों का केवल अर्थ लिखें—

१. इष्टादिभ्यश्च । २. श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते । ३. त्रेः सम्प्रसारणं च । ४. ति विंशतेर्डिति । ५. व्रीहिशाल्योर्ढक् । ६. किमिदम्भ्यां वो घः । ७. इदंकिमोरीश्की । ८. द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा । ९. द्वेस्तीयः । १०. हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम् ।

(५) एक से ले कर सौ तक की संख्याएं क्रमशः संस्कृत में लिखें ।

(६) निम्नस्थ संख्याओं के पूरणप्रत्ययान्त रूप पुं० और स्त्री० दोनों में निर्दिष्ट करें—
२, ३, ४, ५, ६, ७, ११, १२, १३, १६, १७, १८, १९, २०, २२, ४०, ४१, ५०, ५१, ५२, ६०, ७०, ८०, ८२, ८३, ८८, ९०, १००।

(७) निम्नलिखित वचनों की व्याख्या करें—
[क] भवत्यस्मिन्निति भवनम् ।
[ख] असंख्यादेः किम् ? एकादशः ।
[ग] नान्तात् किम् ? विंशः ।
[घ] कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकाड्डट् ।
[ङ] वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।
[च] दुह्यत इति दोहः क्षीरम् ।
[छ] चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च ।
[ज] ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न ।
[झ] प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ।

(८) इयत् की सिद्धि दर्शा कर इस पर सुप्रसिद्ध सुभाषित का सार्थ विवेचन करें ।

(९) निम्नस्थ युगलों में शुद्ध रूप का विवेचन करें—
हस्तमात्रः पटः, हस्तद्वयसः पटः । श्रोत्रियः, छान्दसः । तुरीयः, चतुर्थः । द्विसप्ततिः, द्विसप्ततः । एकनवतिः, एकनवती । तुर्यः, चतुर्थः । त्रयम्, त्रितयम् ।

(१०) इष्टादिगण के इनिँप्रत्ययान्त कोई से पाञ्च प्रयोग विग्रहपूर्वक दर्शाएं ।

(११) 'पूर्वी' में क्रिया का किस प्रकार बोध हो सकता है सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(१२) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उतर दीजिये—
[क] 'अधीती व्याकरणे' में कर्मणि सप्तमी कैसे हो जाती है ?
[ख] 'एकादशः' में डट् को मँट् का आगम क्यों नहीं होता ?
[ग] 'तृतीयः' में हलः द्वारा दीर्घ क्यों नहीं होता ?
[घ] **ति विंशतेर्डिति** में अलोऽन्त्यविधि क्यों प्रवृत्त नहीं होती ?
[ङ] असंख्यादिसंख्या का क्या अभिप्राय है ?
[च] 'विंशः' की तरह 'विंशतितमः' में ति का लोप क्यों नहीं ?
[छ] 'एक' का पूरणप्रत्ययान्त रूप क्या बनेगा ?
[ज] 'चतुष्टयम्' की तरह 'षट्तयम्' में ष्टुत्व क्यों नहीं होता ?
[झ] 'श्रुतपूर्वी वार्त्ताम्' यहां वार्त्ताम् में द्वितीया कैसे होगी ?

तदस्य अस्ति, तद् अस्मिन् अस्ति मतुँप्

[ज] 'हैयङ्गवीनम्' और 'श्रोत्रियः' में कौन कौन से कार्य निपातित किये गये हैं।

[लघु०] इति भवनाद्यर्थकाः ॥

(यहां पर भवनाद्यर्थक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है।)

——:०:——

अथ मत्वर्थीयाः

अब अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के द्वितीयपादस्थ मत्वर्थीय प्रत्ययों का सुव्यवस्थित प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। मतुँप् प्रत्यय के पकार अनुबन्ध का लोप करने पर 'मतुँ' रह जाता है, उसी का यहां ग्रहण अभीष्ट है। मतोरर्थः—मत्वर्थः, षष्ठी-तत्पुरुषः। मत्वर्थे भवा मत्वर्थीयाः। गहादियों (१०७८) के आकृतिगण होने के कारण यहां मत्वर्थशब्द से भव अर्थ में छ प्रत्यय हो कर छकार को ईय् आदेश (१०१३) करने से 'मत्वर्थीय' शब्द निष्पन्न होता है। इसे 'मतुबर्थीय' भी कहा जाता है। 'वह इस के पास है' या 'वह इस में है' इन अर्थों में मतुँप् प्रत्यय का विधान किया जाता है। यथा—शक्तिरस्त्यस्य अस्मिन् वा—शक्तिमान्, बुद्धिमान् आदि। मतुँप् के अतिरिक्त इसी अर्थ में होने वाले इनिँ, ठन्, लच्, श, न, इलच् आदि सब प्रत्यय मत्वर्थीय कहलाते हैं। प्रायः सब भारतीय भाषाओं में मत्वर्थीयों के प्रचुर प्रयोग पाये जाते हैं। संस्कृतसाहित्य में इन की पदे पदे उपलब्धि होती है। अतः विद्यार्थियों को यह प्रकरण भली-भान्ति हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

अब सर्वप्रथम मतुँप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (११८५)

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप् ।५।२।९४॥

(प्रथमान्तात् प्रातिपदिकाद् अस्यास्तीत्यर्थे अस्मिन्नस्तीत्यर्थे वा तद्धितसञ्ज्ञो मतुँप् प्रत्ययः स्यात्)। गावोऽस्यास्मिन् वा सन्ति—गोमान् ॥

अर्थः—'वह इस का है' अथवा 'वह इस में है' इन अर्थों में प्रथमान्त प्रातिपदिक से परे तद्धितसंज्ञक मतुँप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण तद् शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। अस्य ।६।१। अस्ति इति लँटि अस्-धातोः प्रथमपुरुषैकवचनान्तं क्रियापदम्। अस्मिन् ।७।१। इति इत्यव्ययपदम्। मतुँप् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'अस्ति' इस क्रियापद की आवृत्ति की जाती है। अर्थः—(तत्=तस्मात्=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से परे (अस्य अस्ति इत्यर्थे) 'वह इस के पास है' इस अर्थ में अथवा (अस्मिन् अस्ति

इत्यर्थे) 'वह इस में है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मतुँप्) मतुँप् प्रत्यय हो जाता है।

मतुँप् का पकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा तथा अनुनासिक उकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'मत्' मात्र शेष रहता है। पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) सूत्र से अनुदात्तस्वर के लिये तथा उकार अनुबन्ध **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) आदि उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

गावः सन्ति अस्य—गोमान्, अथवा—गावः सन्ति अस्मिन्—गोमान् (गौएं हैं जिस की अर्थात् गौओं वाला व्यक्ति, अथवा—गौएं हैं जिस में अर्थात् गौओं वाला प्रदेश आदि)। यहां 'गो जस्' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'सन्त्यस्य (इस की है)' इस अर्थ में अथवा 'सन्त्यस्मिन् (इस में हैं)' इस अर्थ में प्रकृत **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक मतुँप् प्रत्यय, उप् का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (जस्) का भी लुक् हो कर 'गोमत्' शब्द निष्पन्न होता है। अब विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में इस से परे प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम, **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से सुँ के अपृक्त सकार का लोप तथा अन्त में **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्त तकार का भी लोप करने पर 'गोमान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—धृतिमान्, शान्तिमान्, बुद्धिमान्, मातृमान्, पितृमान्, शक्तिमान् आदि की सिद्धि जाननी चाहिये। स्त्रीत्व की विवक्षा में मतुँबन्तों के उगित् होने के कारण **उगितश्च** (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो जाता है। यथा—गोमती शाला, धृतिमती वीराङ्गना, बुद्धिमती आर्या, शक्तिमती दुर्गा इत्यादि।

प्रकृतसूत्र में मतुँप् के 'तदस्त्यस्य' और 'तदस्त्यस्मिन्' ये दो अर्थ बताये गये हैं। दोनों में 'अस्ति' द्वारा एकवचन का प्रयोग किया गया है, परन्तु यहां एकत्व विवक्षित नहीं, लक्ष्य में एकत्व, द्वित्व और बहुत्व कुछ भी हो सकता है। इसीप्रकार 'अस्य' द्वारा एकत्वनिर्देश में भी यही समझना चाहिये। परन्तु 'अस्ति' के कारण वर्त्तमानकाल की विवक्षा तो रहेगी ही। अतः गत या भावी धन के कारण कोई व्यक्ति 'धनवान्' नहीं कहा जायेगा। वर्त्तमान में धन होने से ही वह धनवान् होगा।

यहां सूत्र में मतुँप् के यद्यपि दो ही अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं तथापि 'इति' ग्रहण के कारण इस के इन दो मुख्य अर्थों के साथ साथ अन्य भी अनेक अनिर्दिष्ट अर्थ संगृहीत समझने चाहियें। 'इति' शब्द के द्वारा लोकप्रसिद्ध विवक्षा की ओर संकेत किया गया है। भाष्यकार ने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत करते हुए उन अर्थों को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥[1]

'अस्ति' की विवक्षा में होने वाले मतुँप् आदि प्रत्ययों के प्रयोगों में प्रायः ये छः विषय पाये जाते हैं—

(१) भूमन् (बहुत्व) ।[2] अर्थात् होने वाली वस्तुओं का बाहुल्य । यथा—बह्वयो गावः सन्त्यस्य गोमान् । एक गाय के होने से कोई 'गोमान्' नहीं होता । इस के लिये गौओं की बहुतायत होनी चाहिये । हां ! यह बहुतायत अपेक्षाकृत हो सकती है । क्योंकि जहाँ पाञ्च-दस गौओं के होने से ही कोई व्यक्ति 'गोमान्' कहाता है वहां राजा सौ-दो सौ गौओं के होने से भी 'गोमान्' नहीं होता । इसी प्रकार—बहु धनमस्त्यस्य धनवान्, बहूनि द्वाराणि सन्त्यस्या द्वारवती पुरी (द्वारिका नगरी) आदि में समझना चाहिये ।

(२) निन्दा । निन्दा को व्यक्त करने के लिये भी क्वचित् मतुँप् आदि प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है । यथा—कुष्ठी पुरुषः (कोढ़ी मनुष्य) । ककुदावर्त्तिनी कन्या (ककुदावर्त्तों वाली लड़की) । सङ्खादकी (दान्तों वाला) । इत्यादि ।

(३) प्रशंसा । यथा -- प्रशस्तं रूपमस्त्यस्य रूपवान् । प्रशस्ता माताऽस्त्यस्य मातृमान् । पितृमान् । आचार्यवान् । इत्यादि ।

(४) नित्ययोग । यथा—नित्यं क्षीरमस्त्येषाम्—क्षीरिणो वृक्षाः । कण्टकिनो द्रुमाः । यहां क्षीर या कांटों का वृक्षों के साथ नित्ययोग विवक्षित है ।

(५) अतिशायन (आधिक्य) । यथा—अतिशयितम् उदरम् अस्त्यस्या उदरिणी कन्या (बढ़े हुए पेट वाली कन्या) । बलवान् मल्लः (अधिक बल वाला पहलवान) ।

(६) सम्बन्ध (संयोग) । यथा—दण्डोऽस्त्यस्य दण्डी, छत्त्रमस्त्यस्य छत्त्री । यहां दण्ड और छत्त्र का व्यक्ति के साथ संयोग व्यक्त होता है । घर में रखे दण्ड और छत्त्र से कोई व्यक्ति दण्डी या छत्त्री नहीं कहलाता ।[3]

विशेष वक्तव्य—यहां एक बात विशेषतः ध्यातव्य है कि जब एक बार कोई मतुँबर्थीय प्रत्यय कहीं हो चुकता है तो वहां पुनः दूसरी बार मतुँबर्थ में वह प्रत्यय या

---

१. येऽस्तिविवक्षायां मतुँबादयो विधीयन्ते ते भूमादिषु विषयेषु भवन्तीति वाक्यार्थः—इति शेखरे नागेशः ।

२. बहोर्भावो भूमा । बहु + इमनिँच् = बहु + इमन् । **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२७) सूत्र से इमनिँच् के आदि इकार का लोप तथा 'बहु' को 'भू' आदेश हो जाता है—भू + मन् = भूमन् = भूमा । इमनिँच्प्रत्ययान्त पुंलिङ्ग होते हैं ।

३. सम्बन्ध (संयोग) यद्यपि उभयनिष्ठ होता है तथापि मतुँप् आदि प्रत्यय दण्ड आदि से ही किये जाते हैं पुरुष आदि से नहीं । क्योंकि 'पुरुषवान् दण्डः' इत्यादि प्रकारेण लोक में व्यवहार नहीं देखा जाता । यह सब सूत्रगत 'इति' शब्द का ही माहात्म्य है कि लोकप्रसिद्धि का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता ।

उसके समान रूप वाला कोई दूसरा प्रत्यय नहीं होता। यथा—धनमस्यास्तीति धनवान्। यहां धनप्रातिपदिक से मतुँप् प्रत्यय कर उस के मकार को वकार आदेश करने से 'धनवत्' शब्द बना है। अब इस से धनवानस्यास्तीति इस विग्रह में पुनः मतुँप् प्रत्यय नहीं होगा। कारण कि दोनों मतुँबर्थीय प्रत्यय समानरूप हैं। हां ! यदि कोई दूसरा विरूप मत्वर्थीय प्रत्यय प्राप्त होता है तो वह अवश्य हो जाता है। उदाहरण यथा—दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, दण्डशब्द से **अत इनिँठनौ** (११९१) सूत्रद्वारा मत्वर्थीय इनिँ प्रत्यय करने से 'दण्डिन्' शब्द बना है। इस से 'दण्डिनः सन्त्यस्या इति दण्डिमती शाला' इस प्रकार दुबारा मत्वर्थ में दूसरा प्रत्यय (मतुँप्) हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि पहले हुए मत्वर्थीय इनिँ प्रत्यय से यह मतुँप् प्रत्यय स्पष्टतः विरूप है। कहा भी है —

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते॥

इस कारिका की व्याख्या पीछे शैषिकप्रकरणस्थ **शेषे** (१०६८) सूत्र पर की जा चुकी है वह यहां पुनर्ध्यातव्य है।

नोट—यहां मतुँप् के प्रकरण में पूर्वपठित **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) सूत्र का भी ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। इस सूत्र द्वारा मकारान्त, अवर्णान्त, मकारोपध तथा अवर्णोपध प्रातिपदिकों से परे मतुँप् के मकार को वकार आदेश हो जाता है परन्तु यवादिगणपठित शब्दों से परे नहीं होता।

मकारान्तों से यथा—शम् (कल्याणम्) अस्त्यस्य—शंवान्। किंवान्। अवर्णान्तों से यथा—गुणाः सन्त्यस्यास्मिन् वा गुणवान्। ज्ञानवान्। वृक्षवान्। मालावान्। विद्यावान्। प्रज्ञावान्। मकारोपधों से यथा—लक्ष्मीरस्त्यस्य लक्ष्मीवान्। शमीवान्। अवर्णोपधों से यथा—पयोऽस्त्यस्य पयस्वान्। यशस्वान्। भास्वान्।

यवादियों से परे नहीं होता। यथा—यवाः सन्त्यस्य यवमान्। भूमिमान्। कृमिमान्। ऊर्मिमान्। ककुद्मान्। इत्यादि।

इस के अतिरिक्त **झयः** (१०६४) सूत्र द्वारा झयन्त से परे भी मतुँप् के मकार को वकार आदेश हो जाता है। यथा—मरुत्वान्। विद्युत्वान्। उदश्वित्वान्। अग्निचित्वान्। दृषद्वान्। इत्यादि।[1]

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि मतुँबर्थीयों का विग्रह शब्दों के हेरफेर से कई प्रकार से किया जाता है। निदर्शनार्थ 'गोमान्' का विग्रह यथा—
१. गावः सन्त्यस्य गोमान्। २. गावः सन्त्यस्येति गोमान्। ३. गावो विद्यन्तेऽस्य गोमान्। ४. गावो विद्यन्तेऽस्येति गोमान्। ५. गावः सन्त्यस्मिन् गोमान्। ६. गावः सन्त्यस्मिन्निति गोमान्। ७. गावो विद्यन्तेऽस्मिन् गोमान्। ८. गावो विद्यन्तेऽस्मिन्निति गोमान्। ९. गावः सन्त्यत्र गोमान्। १० गावः सन्त्यत्रेति गोमान्। ११. गावो विद्यन्तेऽत्र गोमान्। १२. गावो विद्यन्तेऽत्रेति गोमान्।
सन्ति, विद्यन्ते, अस्मिन् आदि के स्थान पर अन्य समानार्थक शब्द लगाने या इन को आगे पीछे करने से भी विग्रह दर्शाया जाता है। यथा—गावोऽस्य विद्यन्ते इति गोमान्, गावोऽत्र विद्यन्त इति गोमान्। कभी कभी 'गोयुक्ता गोमन्तः, गोस्वामिनो गोमन्तः' इत्यादिप्रकारेण भी विग्रह दर्शाया जाता है।

अब पदसंज्ञामूलक जश्त्व आदि का निषेध करने के लिये मत्वर्थीय प्रत्यय के परे रहते तकारान्त और सकारान्त की भसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[**लघु०**] सञ्ज्ञासूत्रम्—(**११८६**) **तसौ मत्वर्थे** ।१।४।१९।।

तान्त-सान्तौ भसञ्ज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। गरुत्मान्। वसोः सम्प्रसारणम् (३५३)—विदुष्मान् ।।

अर्थः—मतुँप् के अर्थ वाला कोई प्रत्यय परे हो तो तकारान्त और सकारान्त प्रातिपदिक भसञ्ज्ञक हो जाते हैं।

व्याख्या—तसौ ।१।२। मत्वर्थे ।७।१। भम् ।१।१। (**यचि भम्** से)। तश्च स् च तसौ, इतरेतरद्वन्द्वः। तकारादकार उच्चारणार्थः। मत्वर्थप्रत्ययद्वारा आक्षिप्त प्रकृति (प्रातिपदिक) का विशेषण होने से 'तसौ' से तदन्तविधि हो जाती है—तकारान्तं सकारान्तं च यत् प्रातिपदिकम्। मतोरर्थः—मत्वर्थः, तस्मिन्=मत्वर्थे, षष्ठी-तत्पुरुषः। अर्थः—(मत्वर्थे) मतुँप् के अर्थ में कोई प्रत्यय परे हो तो (तसौ) तकारान्त और सकारान्त प्रातिपदिक (भम्) भसञ्ज्ञक हो जाते हैं। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा प्राप्त पदसञ्ज्ञा का यह अपवाद है। **आ कडारादेका सञ्ज्ञा** (१६६) इस अधिकार के कारण दो सञ्ज्ञाओं का एक में समावेश निषिद्ध होने से भसञ्ज्ञा अनवकाशता के कारण पदसंज्ञा का बाध कर लेती है।

तकारान्त का उदाहरण यथा—

गरुतौ (पक्षौ) स्तोऽस्येति गरुत्मान् (दो पंख हैं इस के, अर्थात् पक्षी या गरुड़)।[1] यहां 'गरुत् औ' इस प्रथमान्त से 'स्तोऽस्य' के अर्थ में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्रद्वारा मतुँप् प्रत्यय हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (औ) का लुक् करने से—गरुत्+मत्। यहां **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा गरुत् की पदसञ्ज्ञा प्राप्त थी परन्तु एकसंज्ञाधिकार के कारण **तसौ मत्वर्थे** (११८६) इस प्रकृतसूत्रद्वारा उस का बाध कर भसंज्ञा प्रवृत्त हो जाती है। इस से पदान्तमूलक **झलां जशोऽन्ते** (६७) से तकार को जश्त्वेन दकार नहीं होता—गरुत्मत्।[2] अब विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय लाकर पूर्ववत् उपधादीर्घ (३४३), नुँम् (२८६), हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा अन्त में **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) द्वारा संयोगान्तलोप करने से 'गरुत्मान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। गरुत्मान्, गरुत्मन्तौ, गरुत्मन्तः। धीमत् शब्द की तरह रूपमाला चलती है।

इसीप्रकार—विद्युत्वान्, मरुत्वान् आदि की प्रक्रिया होती है। केवल **झयः** (८.२.१०) सूत्रद्वारा वत्व विशेष है। गरुत् शब्द का यवादियों में पाठ होने से इस से परे मतुँप् के मकार को वत्व नहीं होता।

---

१. **नीडोद्भवा गरुत्मन्तः पित्सन्तो नभसंगमा** इत्यमरः।
गरुत्मान् गरुडस्ताक्ष्यो वैनतेयः खगेश्वर इत्यमरः।

२. किञ्च पदत्वाभाव के कारण **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) द्वारा अनुनासिक भी नहीं होता।

सकारान्त का उदाहरण यथा—

विद्वांसः सन्त्यस्य अस्मिन् वा विदुष्मान् (जिस के विद्वान् लोग हैं ऐसा वंश आदि, अथवा जिस में विद्वान् हैं ऐसा देश, प्रदेश आदि)। यहां 'विद्वस् + जस्' से 'सन्त्यस्य' या 'सन्त्यस्मिन्' अर्थों में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् करने से— विद्वस् + मत्। अब **तसौ मत्वर्थे** (११८६) से पदसञ्ज्ञा की अपवाद भसञ्ज्ञा के हो जाने से **वसुँ-स्रंसुँ-ध्वंस्वनडुहां दः** (२६२) द्वारा सकार को पदमूलक दत्व नहीं होता। पुनः **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) से वसुँ के वकार को सम्प्रसारण इकार तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर विदुस् + मत्। अन्त में **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से सकार को मूर्धन्य षकार[1] आदेश कर पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से 'विदुष्मान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—वपुष्मान्, आयुष्मान्, चक्षुष्मान्, ज्योतिष्मान्, धनुष्मान् आदियों में भसञ्ज्ञा के कारण रुँत्व नहीं होता।

अब गुणवाचकों से मतुँप् के लुक् का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(९०) गुणवचनेभ्यो मतुँपो लुगिष्टः ॥

शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः। कृष्णः ॥

अर्थः— गुणवचन प्रातिपदिकों से परे मतुँप् प्रत्यय का लुक् इष्ट है।

व्याख्या—यह वार्तिक महाभाष्य में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये। गुणमुक्तवन्त इति गुणवचनाः, **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण यहां भूतकाल में कर्तरि ल्युट् प्रत्यय किया गया है। जो शब्द पहले गुण को कह कर बाद में उस गुण से युक्त द्रव्य को भी उसी अभिन्न रूप से कहने लग जाये तो उसे गुणवचन कहा जाता है। शुक्ल, नील, कृष्ण आदि शब्दों की ओर यहां स्पष्ट संकेत किया गया है क्योंकि ये शब्द गुण और गुणी को समानरूप से कहते हैं। रूप, रस, गन्ध आदि शब्द गुणों को तो कहते हैं परन्तु गुणी को नहीं[2] अतः उन का यहां ग्रहण अभीष्ट नहीं। सूत्र के उदाहरण यथा—

शुक्लः (गुणः) अस्यास्तीति शुक्लः पटः (सुफेदगुणवाला अर्थात् सुफेद कपड़ा आदि)। यहां 'शुक्ल सुँ' से 'अस्यास्ति' के अर्थ में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्रद्वारा मतुँप् प्रत्यय होकर सुँप् (सुँ) का लुक् हो जाता है—शुक्ल + मतुँप्। अब **गुणवचनेभ्यो**

---

१. **विद ज्ञाने** (अदा० परस्मै०) धातु से शतृँ प्रत्यय कर उस के स्थान पर **विदेः शतुर्वसुः** (८३३) से वसुँ आदेश करने से 'विद्वस्' शब्द बना है। स्थानिवद्भाव के कारण शतृँ के स्थान पर होने वाला वसुँ आदेश प्रत्यय माना जाता है। अतः प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व हो जाता है।

२. लोक में रूपवान् के लिये रूपशब्द का एवं रसवान् के लिये रसशब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता।

मतुँपो लुगिष्टः (वा० ६०) इस प्रकृत वार्त्तिक से मतुप् का भी लुक् कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'शुक्लः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि मतुँप् का लुक् हो जाने पर भी उस का अर्थ शेष रहता है। कहा भी है—**यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी** (जो शेष रहता है वह लुप्त होने वाले के अर्थ का भी वाचक होता है)।

इसीप्रकार—'कृष्णः पटः, नीलो घटः' आदि के विषय में भी समझना चाहिये।

नोट—गुणवाची शुक्ल आदि शब्द केवल पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु जब मतुँप् प्रत्यय किया जाता है तब वे तद्गुणयुक्त द्रव्य का ही लिङ्ग धारण कर लेते हैं। जैसाकि अमरकोष में कहा है—**गुणे शुक्लादयः पुंसि, गुणिलिङ्गास्तु तद्वति**। शुक्लः पटः, शुक्ला शाटिका, शुक्लं रजतम् आदि। स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रत्ययलक्षणद्वारा मतुँप् को मान कर **उगितश्च** (१२५०) से ङीप् नहीं होता, कारणकि ङीप् उगिल्लक्षण है प्रत्ययलक्षण नहीं। अतः वहां **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् की ही प्रवृत्ति होती है—शुक्ला शुक्तिः, कृष्णा शाटिका आदि।

अब मत्वर्थीय लच् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८७)

प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ।५।२।९६॥

चूडालः, चूडावान्। प्राणिस्थात् किम् ? शिखावान् दीपः। प्राण्यङ्गादेव, नेह—मेधावान् ॥

अर्थः—प्राणियों के अङ्गवाचक प्रथमान्त आकारान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में विकल्प कर के तद्धितसञ्ज्ञक लच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्राणिस्थात् ।५।१। आतः ।५।१। लच् ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। प्राणिषु तिष्ठतीति प्राणिस्थम्, तस्मात्=प्राणिस्थात्, प्राणिस्थवाचकादिति भावः। 'आतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(प्राणिस्थात्) प्राणियों में स्थित वस्तु के वाचक (तत्=तस्मात्=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (आदन्तात् प्रातिपदिकात्) आदन्त प्रातिपदिक से परे (तदस्यास्त्यस्मिन् इति) 'वह इस के पास है' या 'वह इस में है' इन अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (लच्) लच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है।

सार यह है कि मत्वर्थ में ऐसे प्रातिपदिक से लच् प्रत्यय विकल्प से हो जाता है जिस में निम्नस्थ तीनों शर्तें पाई जायें—

(१) वह प्रातिपदिक प्राणिस्थवस्तु का वाचक होना चाहिये।

(२) वह प्रातिपदिक आकारान्त होना चाहिये।

(३) वह प्रातिपदिक प्रथमाविभक्त्यन्त होना चाहिये।

यह सूत्र पूर्वोक्त मतुँप् प्रत्यय का अपवाद है, अतः इस के अभावपक्ष में वही मतुँप् हो जायेगा। लच् का चकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ल' मात्र शेष रहता है। **लशक्वतद्धिते** (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण प्रत्यय के आद्य लकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। चकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है।[1]

सूत्र का उदाहरण यथा—

चूडाऽस्त्यस्येति चूडालः, चूडावान् वा (चूडा है इस का अर्थात् चुटियावाला)। चूडाशब्द प्राणिस्थ चोटी का वाचक है और आदन्त भी है अतः 'चूडा सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में प्रकृत **प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्** (११८७) सूत्र से विकल्प से लच् प्रत्यय हो कर अनुबन्ध चकार का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् करने पर—चूडा+ल=चूडाल। रामशब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'चूडालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। लच् के अभाव में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से मकार को वकार आदेश कर श्रीमत्शब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'चूडा-वान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस तरह 'चूडालः' और 'चूडावान्' दो रूप बन जाते हैं।

इसीप्रकार—जङ्घाऽस्त्यस्येति जङ्घालो जङ्घावान् वा। जिह्वाऽस्त्यस्येति जिह्वालो जिह्वावान् वा। ग्रीवाऽस्त्यस्येति ग्रीवालो ग्रीवावान् वा।

प्राणिस्थात् किम् ? शिखावान् दीपः।

शिखावान् दीपः (शिखावाला दीपक)। दीपक प्राणी नहीं अतः शिखा शब्द से यहां प्रकृतसूत्रद्वारा मत्वर्थ में लच् प्रत्यय न होगा। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से केवल मतुँप् प्रत्यय हो कर **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) द्वारा मतुँप् के मकार को वकार आदेश हो जायेगा। सूत्र में यदि 'प्राणिस्थ' न कहते तो यहां पर 'शिखालो दीपः' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जाता।

प्राण्यङ्गादेव, नेह—मेधावान्।

भाष्यकार का कथन है कि सूत्रगत 'प्राणिस्थात्' का 'प्राण्यङ्गात्' ही अभिप्राय समझना चाहिये।[2] इस से 'मेधास्त्यस्येति मेधावान्' यहां मेधाप्रातिपदिक से लच् न होगा, क्योंकि मेधा यद्यपि प्राणियों में तो रहती है। तथापि मूर्त्तरूप न होने से प्राणियों का अङ्ग नहीं होती। अतः पूर्वसूत्र से मतुँप् हो कर मकार को वकार आदेश (१०६५) हो जाता है। इसीप्रकार – चिकीर्षाऽस्त्यस्येति चिकीर्षावान्, जिहीर्षाऽस्त्यस्येति जिहीर्षा-वान्, शोभावान् नरः, इच्छावान् पुरुषः इत्यादियों में समझना चाहिये।

---

१. प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धेऽन्तोदात्ते 'चूडालोऽसि' इत्यादौ **स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ** (८.२.६) इति स्वरितबाधनार्थश्चकार इति सिद्धान्तकौमुद्यां दीक्षितः।

२. यह सब पूर्वसूत्र से 'इति' के अनुवर्त्तन से लौकिकी विवक्षा के कारण सम्भव होता है।

श, न, इलच्

प्रकृतसूत्रद्वारा आदन्त प्राण्यङ्ग से ही लच् का विधान किया गया है। अतः 'हस्तौ स्तोऽस्येति हस्तवान्' इत्यादियों में 'हस्त' आदि के आदन्त न होने से लच् नहीं होता, मतुँप् हो जाता है।

अब मत्वर्थ में श, न और इलच् प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८८)

लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः ।५।२।१००॥

(मत्वर्थे)—लोमादिभ्यः शः—लोमशः, लोमवान्। रोमशः, रोमवान्। पामादिभ्यो नः—पामनः। अङ्गात् कल्याणे (गणसूत्रम्)—अङ्गना। लक्ष्म्या अच्च (गणसूत्रम्)—लक्ष्मणः। पिच्छादिभ्य इलच्—पिच्छिलः, पिच्छवान्॥

अर्थः—(मत्वर्थ में) लोमादियों से 'श' प्रत्यय, पामादियों से 'न' प्रत्यय और पिच्छादियों से 'इलच्' ये तद्धितप्रत्यय विकल्प से हों।

व्याख्या—लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः ।५।३। श-न-इलचः ।१।३। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से तथा 'अन्यतरस्याम्' पद का **प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्** (११८७) सूत्र से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। समासः—लोमन्शब्द आदिर्येषां ते लोमादयः, पामन्शब्द आदिर्येषां ते पामादयः, पिच्छशब्द आदिर्येषां ते पिच्छादयः, सर्वत्र तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। लोमादयश्च पामादयश्च पिच्छादयश्च तेभ्यः=लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। शश्च नश्च इलच्च शनेलचः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः) लोमादि, पामादि तथा पिच्छादि गणपठित प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (शनेलचः) श, न और इलच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाते हैं। दूसरी अवस्था में मतुँप् होता है।

श और न प्रत्ययों में कोई अनुबन्ध नहीं परन्तु इलच् के अन्त्य में चकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है। सावधान रहें कि 'श' तद्धित प्रत्यय है अतः **लशक्वतद्धिते** (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण इस के आद्य शकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। प्रकृत में तीन गण हैं और तीन ही प्रत्यय कहे गये हैं अतः यथासंख्यपरिभाषा से प्रत्ययों का क्रमशः विधान होगा।

(१) लोमादियों[1] से मत्वर्थ में 'श' प्रत्यय विकल्प से हो जायेगा। उदाहरण यथा—

लोमानि सन्त्यस्येति लोमशो लोमवान् वा पुरुषः (लोम हैं इस के, अर्थात् लोमों वाला व्यक्ति)। यहां 'लोमन् जस्' से मत्वर्थ में प्रकृत **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः**

---

१. लोमादिगण यथा—

लोमन्। रोमन्। बभ्रु। हरि। गिरि। कर्क। कपि। मुनि। तरु॥

शनेलचः (११८८) सूत्र से लोमादित्वात् वैकल्पिक 'श' प्रत्यय हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा सुँप् (जस्) का लुक् करने से—लोमन् + श । अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'लोमशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस पक्ष में 'श' प्रत्यय नहीं होता वहां **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, नकारलोप तथा **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से मकार को वकार आदेश और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'लोमवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार 'लोमशः' और लोमवान्' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।[1]

इसीतरह—रोमाणि सन्त्यस्येति रोमशो रोमवान् वा। गिरिरस्त्यस्येति गिरिशो गिरिमान् वा। कपिशः कपिमान् वा। इत्यादि।

(२) पामादिगणपठित शब्दों से मत्वर्थ में 'न' प्रत्यय विकल्प से होता है।[2] उदाहरण यथा—

पाम अस्त्यस्येति पामनः पामवान् वा (पामन् अर्थात् गीलीखुजलीवाला व्यक्ति)। यहां 'पामन् सुँ' से मत्वर्थ में **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः** (११८८) सूत्र से पामादित्वात् विकल्प से 'न' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) द्वारा पदान्त नकार का भी लोप कर—पाम + न = पामन। अब रामशब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'पामनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'न' प्रत्यय के अभाव में मतुँप्-प्रत्यय लाने पर सुँब्लुक्, पदान्त नकार का लोप तथा **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से मतुँप् के मकार को वकार आदेश करने से—पामवत्। धीमत् शब्द की तरह विभक्तिकार्य करने पर 'पामवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार 'पामनः' और 'पामवान्' दो रूप बनते हैं।

इसीतरह—हेम (सुवर्णम्) अस्त्यस्येति हेमनो हेमवान् वा। श्लेष्मा (कफः) अस्त्यस्येति श्लेष्मणः श्लेष्मवान् वा। ऊष्म (गरमी) अस्त्यस्येति ऊष्मण ऊष्मवान् वा। कृमयः सन्त्यस्येति कृमिणः कृमिमान्[3] वा।

अङ्गशब्द भी पामादियों में परिगणित है परन्तु **अङ्गात् कल्याणे** इस गणसूत्र से कल्याण (सुन्दर) अर्थ में ही इस से 'न' प्रत्यय उत्पन्न होता है। कल्याणानि अङ्गानि सन्त्यस्या इति अङ्गना (शुभ वा सुन्दर अङ्गों वाली स्त्री)। यहां कल्याण अर्थ में

---

१. **स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।** (महाभाष्य ४.१.३)

२. पामादिगण यथा—

पामन्। वामन्। वेमन्। हेमन्। श्लेष्मन्। कद्रू। बलि। श्रेष्ठ। पलल। सामन्। ऊष्मन्। कृमि। **अङ्गात् कल्याणे** (गणसूत्रम्)। **शाकी-पलाली-दद्र्वां ह्रस्वत्वं च** (गणसूत्रम्)। **विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः** (गणसूत्रम्)। **लक्ष्म्या अच्च** (गणसूत्रम्)॥

३. यवादित्वाद् वत्वं नेति बोध्यम्।

वर्त्तमान प्रथमान्त 'अङ्ग जस्' से मत्वर्थ में प्रकृत **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः** (११८८) सूत्र से पामादित्वात् 'न' प्रत्यय, सुँब्लुक्, स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप्, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से 'अङ्गना' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'न' के अभाव में 'अङ्गवती' बनेगा परन्तु उस से कल्याण अर्थ की प्रतीति न होगी जैसे कि 'अङ्गना' से होती है। वस्तुतः अङ्गनाशब्द सुन्दर स्त्री के अर्थ में योगरूढ है।

लक्ष्मीशब्द भी पामादियों में परिगणित है परन्तु **लक्ष्म्या अच्च** इस गणसूत्रद्वारा 'न' प्रत्यय के परे रहते इसे अकार अन्तादेश भी हो जाता है। तथाहि—लक्ष्मीरस्त्यस्येति लक्ष्मणो लक्ष्मीवान् वा (धनवान्)। यहां 'लक्ष्मी सुँ' से मत्वर्थ में प्रकृत **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः** (११८८) सूत्रद्वारा वैकल्पिक 'न' प्रत्यय, सुँब्लुक्, **लक्ष्म्या अच्च** इस गणसूत्र से 'लक्ष्मी' को अकार अन्तादेश, **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से णत्व तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'लक्ष्मणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'न'प्रत्यय के अभावपक्ष में मतुँप् हो कर '**मादुपधायाश्च०** (१०६५) द्वारा मतुँप् के मकार को वकार आदेश करने से 'लक्ष्मीवान्' प्रयोग भी सिद्ध होता है।

(३) पिच्छ आदियों से मत्वर्थ में विकल्प से इलच् (इल) प्रत्यय हो जाता है।[1] उदाहरण यथा—

पिच्छमस्त्यस्येति पिच्छिलः (मोरपंखवाला, अथवा रपटनवाला मार्ग आदि, अथवा माण्डयुक्त भक्ष्य पदार्थ, यद्वा मलाईदार दधि आदि पदार्थ)। यहां 'पिच्छ सुँ' से मत्वर्थ में प्रकृत **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः** (११८८) सूत्रद्वारा वैकल्पिक इलच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर—पिच्छ्+इल=पिच्छिल। विभक्तिकार्य विशेष्यानुसार होगा। पुंलिङ्ग में रामशब्दवत् 'पिच्छिलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] इलच् के अभाव में मतुँप् ला कर **मादुपधायाश्च०** (१०६५) से वत्व करने पर 'पिच्छवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—उरोऽस्यास्तीति उरसिल उरस्वान् वा (चौड़ी छाती वाला)।[3]

---

१. पिच्छादिगण यथा—

पिच्छ। उरस्। ध्रुवका। क्षुवका। **जटा-घटा-कालात् क्षेपे** (गणसूत्रम्)। वर्ण। उदक। पङ्क। प्रज्ञा॥

२. पिच्छिलशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कण्ठिताऽसि तरले! नहि नहि सखि! पिच्छिलः पन्थाः॥

(साहित्यदर्पण-दशमे)

तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि।
अल्पव्ययेन सुन्दरि! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति॥ (वृत्तरत्नाकर १.११)

३. **तसौ मत्वर्थे** (११८६) इति भत्वात् सकारस्य रुँत्वं न।

पङ्कोऽस्यास्तीति पङ्किलः पङ्कवान् वा (कीचड़वाला मार्ग आदि)।

अब उन्नतोपाधिक दन्तशब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८९) दन्त उन्नत उरच् ।५।२।१०६।।

(उन्नतोपाधिकात् प्रथमान्ताद् दन्तप्रातिपदिकान्मत्वर्थे उरच् तद्धितः स्यात्)। उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य—दन्तुरः ।।

अर्थः—दान्तों का उन्नत होना गम्यमान हो तो प्रथमान्त दन्तप्रातिपदिक से मत्वर्थ में तद्धितसंज्ञक उरच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—दन्ते ।७।१। उन्नते ।७।१। उरच् ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। यहां दन्तशब्द की आवृत्ति कर उसे पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है। समर्थविभक्ति प्रथमा है जो प्रकरणतः ज्ञात है। अर्थः—(दन्ते उन्नते) दान्तों का उन्नत होना गम्यमान हो तो (प्रथमान्तात् दन्तप्रातिपदिकात्) प्रथमान्त दन्तप्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (उरच्) उरच् प्रत्यय हो जाता है। उरच् में चकार अनुबन्ध है जो स्वरार्थ जोड़ा गया है, 'उर' मात्र अवशिष्ट रहता है। उदाहरण यथा—

उन्नता दन्ताः सन्त्यस्येति दन्तुरः (उन्नत दान्तों वाला)।[1] यहां उन्नत-उपाधि में वर्त्तमान 'दन्त जस्' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में **दन्त उन्नत उरच्** (११८९) सूत्रद्वारा उरच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (जस्) का भी लुक् करने से—दन्त+उर। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दन्तुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यदि दान्तों के उन्नतत्व की विवक्षा न होगी, केवल सामान्यतः 'दान्तों वाला' कहना ही अभीष्ट होगा तो उरच् प्रत्यय न हो कर मतुँप् हो जायेगा। तब **मादुपधायाश्च०** (१०६५) द्वारा मतुँप् के मकार को वत्व आदेश कर 'दन्ताः सन्त्यस्येति दन्तवान्' बनेगा।

निम्नोन्नत (ऊँची-नीची) भूमि के लिये जो 'दन्तुरा' का प्रयोग देखा जाता है वह उपचार (सादृश्य) के कारण लाक्षणिक समझना चाहिये।

अब केशप्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९०) केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ।५।२।१०९।।

(प्रथमान्तात् केशप्रातिपदिकाद् मत्वर्थे तद्धितसञ्ज्ञो 'व' प्रत्ययो वा स्यात्)। केशवः। केशी। केशिकः। केशवान् ।।

---

१. यहां उन्नत दान्तों का अभिप्राय आगे की ओर झुके हुए दान्तों से है। इस प्रकार के दान्त ओष्ठों से प्रायः बाहर निकले रहते हैं। लोक में ऐसे व्यक्ति को 'उछले दान्तों वाला' कहा जाता है।

अर्थः—प्रथमान्त 'केश' प्रातिपदिक से मत्वर्थ में विकल्प से तद्धितसञ्ज्ञक 'व' प्रत्यय हो।

व्याख्या—केशात् ।५।१। वः ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। इस सम्पूर्ण प्रकरण में समर्थविभक्ति प्रथमा ही है। अर्थः—(केशात्) प्रथमान्त केशप्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वः) 'व' प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाता है।

मतुँप् के संग्रहार्थ पीछे **प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्** (११८७) सूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ ही रही थी पुनः यहां दुबारा 'अन्यतरस्याम्' क्यों कहा गया है ? इस का उत्तर यह है कि आचार्य यहां केवल मतुँप् का ही संग्रह नहीं चाहते अपितु 'व' के अभाव में **अत इनिँठनौ** (११९१) से प्राप्त होने वाले इनिँ और ठन् प्रत्ययों को भी संगृहीत करना चाहते हैं। इस तरह मत्वर्थ में 'केश' प्रातिपदिक से व, इनिँ, ठन् और मतुँप् ये चार प्रत्यय हो जायेंगे। उदाहरण यथा—

केशाः सन्त्यस्येति केशवः (केशों वाला)। यहां 'केश जस्' से मत्वर्थ में प्रकृत **केशाद्वोऽन्यतरस्याम्** (११९०) सूत्रद्वारा 'व' प्रत्यय विकल्प से होकर सुँब्लुक् और विभक्तिकार्य करने से 'केशवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'व' के अभाव में **अत इनिँठनौ** (११९१) से इनिँ (इन्) और ठन् (ठ) प्रत्यय भी विकल्प से हो जाते हैं। इनिँ (इन्) प्रत्यय के परे रहते भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर—केश्+इन्=केशिन्। अब शार्ङ्गिन्शब्द की तरह सुँविभक्ति में **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा पदान्त नकार का भी **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप कर देने से 'केशी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ठन् (ठ) के पक्ष में **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश कर **यस्येति च** लोप करने से 'केशिकः' प्रयोग निष्पन्न हो जाता है। इनिँ और ठन् के अभाव में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय कर **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से मतुँप् के मकार को वकार आदेश और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'केशवान्' प्रयोग उत्पन्न हो जाता है। इसतरह—(१) केशवः, (२) केशी, (३) केशिकः और (४) केशवान् ये चार रूप सिद्ध हो जाते हैं।

अब इस वप्रत्यय के प्रकरण में एक वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(९१) **अन्येभ्योऽपि दृश्यते।**

मणिवः ॥

अर्थः—('केश' के अतिरिक्त) अन्य प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय देखा जाता है।

व्याख्या—अन्येभ्यः ।५।३। अपि इत्यव्ययपदम्। दृश्यते इति दृशेः कर्मणि लँटि क्रियापदम्। यह वार्त्तिक **केशाद्वोऽन्यतरस्याम्** (११९०) सूत्र पर महाभाष्य में प्रकारा-

न्तरेण पढ़ा गया है । केशप्रातिपदिक के अतिरिक्त अन्य प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय देखा जाता है —यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है । उदाहरण यथा —

मणिरस्त्यस्येति मणिवः (मणिवाला सर्पविशेष) । यहां 'मणि सुँ' से मत्वर्थ में प्रकृत **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (वा० ९१) वार्त्तिकद्वारा 'व' प्रत्यय, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'मणिवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यह रूढशब्द है अतः पक्ष में इस का मतुँबन्त रूप नहीं बनता ।

इसीप्रकार—हिरण्यमस्यास्तीति हिरण्यवः (निधिविशेष) । इत्यादि ।

अब इसीप्रकरण में काशिकोक्त एक अन्य वार्त्तिक का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(९२) अर्णसो लोपश्च ।

अर्णवः ।।

अर्थः—अर्णस् (जल) प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय तथा अर्णस् के अन्त्य अल्=सकार का लोप भी हो जाता है ।

व्याख्या—अर्णसः ।६।१। लोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । यह वार्त्तिक **केशाद्वोऽन्यतरस्याम्** (११९०) सूत्र पर काशिका में पढ़ा गया है अतः यह भी इसी वप्रकरण से सम्बद्ध है। अर्णस्शब्द जलवाचक है और नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है । प्रथमान्त अर्णस्शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय तथा इस के साथ अर्णस् का लोप भी हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप अर्णस् के अन्त्य अल् सकार का ही होता है । उदाहरण यथा —

प्रभूतम् अर्णोऽस्त्यस्मिन्निति अर्णवः (बहुतजलवाला अर्थात् समुद्र) ।[1] यहां 'अर्णस् सुँ' से मत्वर्थ में प्रकृत **अर्णसो लोपश्च** (वा० ९२) वार्त्तिक से 'व' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा अर्णस् के सकार का भी लोप कर विभक्ति लाने से 'अर्णवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2] यह भी समुद्रार्थक रूढ शब्द है अतः पक्ष में इस का मतुँबन्त रूप नहीं बनता ।

अब मत्वर्थप्रकरण के सुप्रसिद्ध इनिँ और ठन् प्रत्ययों का अवतरण करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९१) अत इनि-ठनौ ।५।२।११५।।

(अदन्तात् प्रातिपदिकान्मत्वर्थे इनिँठनौ तद्धितप्रत्ययौ वा स्तः) । दण्डी, दण्डिकः ।।

अर्थः—प्रथमान्त अदन्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक इनिँ और ठन् प्रत्यय विकल्प से हों ।

व्याख्या—अतः ।५।१। इनिँठनौ ।१।२। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः**, **परश्च**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अन्यतरस्याम् ।७।१। (**प्राणि-**

---

१. **उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः** इत्यमरः ।
२. **तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान्** । (नैषध० १.१३०)

स्थादातो लजन्यतरस्याम् सूत्र से)। 'अतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है। समर्थविभक्ति सम्पूर्ण मत्वर्थप्रकरण में प्रथमा ही है। अर्थः —(अतः = अदन्तात् प्रातिपदिकात्) प्रथमान्त अदन्त प्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (इनिँ-ठनौ) इनिँ और ठन् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाते हैं। पक्ष में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् का संग्रह हो जायेगा।

इनिँप्रत्यय में इकार अनुबन्ध नकार को इत् करने से बचाने के लिये तथा ठन् में नकार स्वरार्थ जोड़ा गया है। ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। इनिँ का इन् और ठन् का ठ् शेष रहता है। **ठस्येकः** (१०२७) से ठकार को 'इक' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा --

दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी दण्डिको वा (दण्ड वाला)। दण्ड शब्द अदन्त प्रातिपदिक है अतः 'दण्ड सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में प्रकृत **अत इनिँठनौ** (११९१) सूत्र से इनिँ और ठन् प्रत्यय हो जाते हैं। इनिँपक्ष में अनुबन्ध इकार का लोप एवं सुँब्लुक् करने से—दण्ड + इन्। **यस्येतिच**लोप हो कर 'दण्डिन्' शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमा के एकवचन में सुँविभक्ति लाने पर **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा पदान्त नकार का भी **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप करने पर 'दण्डी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ठन्प्रत्यय के पक्ष में नकार और अकार अनुबन्धों का लोप, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से ठकार को 'इक' आदेश एवं **यस्येतिच**लोप कर विभक्ति लाने से 'दण्डिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इनिँ और ठन् के अभाव में मतुँप् प्रत्यय, सुँब्लुक्, **मादुपधायाश्च०** (१०६५) से मतुँप् के मकार को वकार आदेश तथा अन्त में धीमत्शब्द की तरह विभक्तिकार्य करने से 'दण्डवान्' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार 'दण्डी, दण्डिकः, दण्डवान्' ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। एवम् —छत्त्रमस्यास्तीति छत्त्री, छत्त्रिकः, छत्त्रवान्। धनमस्त्यस्येति धनी, धनिकः, धनवान् इत्यादि।

सूत्र में 'अतः' कहा है इसलिये आकारान्त प्रातिपदिकों से इनिँ और ठन् नहीं होते, मतुँप् ही होता है। यथा —खट्वाऽस्त्यस्येति खट्वावान्, मतुँप् ही हुआ है।

इस सूत्र पर महाभाष्य में एक श्लोकवार्त्तिक इस प्रकार पढ़ा गया है—

एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ।

अर्थात् एकाक्षर प्रातिपदिक से, कृदन्त प्रातिपदिक से और जातिवाचक प्रातिपदिक से इनिँ-ठन् नहीं होते किञ्च सप्तमी के अर्थ में भी इन की प्रवृत्ति नहीं होती, मतुँप् हो जाता है। उदाहरण यथा—

एकाक्षर से—स्वम् (धनम्) अस्त्यस्येति स्ववान् (धनवान्)।
कृदन्त से—कारकोऽस्त्यस्येति कारकवान्। हारकवान्।
जातिवाचक से—व्याघ्रोऽस्त्यस्येति व्याघ्रवान्। सिंहवान्।
सप्तम्यर्थ में—दण्डाः सन्त्यस्यामिति दण्डवती शाला।

यह नियम प्रायिक है । क्वचित् इस की प्रवृति नहीं भी देखी जाती । यथा—कार्यमस्यास्तीति कार्यी कार्यिको वा । हार्यी हार्यिको वा । यहां कृदन्त से भी इनिँ और ठन् हो जाते हैं ।[1]

अब कुछ अदन्तेतर प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में इनिँ और ठन् प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९२) व्रीह्यादिभ्यश्च ।५।२।११६।।

(व्रीह्यादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यो मतुँबर्थे इनिँ-ठनौ स्तः) । व्रीही, व्रीहिकः ।।

अर्थः—व्रीहिआदिगणपठित प्रथमान्त प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में इनिँ और ठन् तद्धितप्रत्यय हों ।

व्याख्या—व्रीह्यादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । इनिँ-ठनौ ।१।२। (**अत इनिँ-ठनौ** सूत्र से) । **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों की अनुवृत्ति होती है । अन्यतरस्याम् ।७।१। (**प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—व्रीहिशब्द आदिर्येषान्ते व्रीह्यादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । व्रीहिआदि एक गण है ।[2] अर्थः—(व्रीह्यादिभ्यः) व्रीहिआदिगणपठित प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (च) भी (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (इनिँ-ठनौ) इनिँ और ठन् (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाते हैं। दूसरी अवस्था में मतुँप् भी हो जाता है ।

सम्पूर्णप्रकरण में 'इति' के अनुवर्त्तन के कारण शिष्टानुसरण मुख्य बात रहती है । अतः सब व्रीह्यादियों से इनिँ और ठन् इष्ट नहीं अपितु शिखा-माला-सञ्ज्ञा आदियों से केवल इनिँ ही इष्ट है, ठन् नहीं । यवखद आदियों से ठन् प्रत्यय होता है इनिँ नहीं। शेष व्रीहिआदियों से दोनों इष्ट हैं ।[3] उदाहरण यथा—

व्रीहयः सन्त्यस्यास्मिन् वा—व्रीही, व्रीहिकः व्रीहिमान् वा (धानवाला) । यहां

---

१. **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र में 'इति' का ग्रहण सम्पूर्ण प्रकरण में व्याप्त रहता है । वह अभिधानमूलकता का द्योतक है । अतः शिष्टप्रयोगों के अनुसार ही इन प्रत्ययों की व्यवस्था समझी जाती है। इस के लिये व्याकरण को भी कई जगह ढील देनी पड़ जाती है ।

२. व्रीह्यादिगण यथा—
व्रीहि । माया । शिखा । मेखला । सञ्ज्ञा । बलाका । माला । वीणा । वडवा । अष्टका । पताका । कर्मन् । चर्मन् । वर्मन् । हंसा । यवखद । कुमारी । नौ । **शीर्षान्नञः** (गणसूत्रम्) । दंष्ट्रा । केका । शाला ।।

३. **शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु । परिशिष्टेभ्य उभयम्**—इति काशिका । [इकन्प्रत्यय का अभिप्राय ठन् से है ।]

'व्रीहि जस्' से मत्वर्थ में **व्रीह्यादिभ्यश्च** (११९२) सूत्रद्वारा इनिँ और ठन् प्रत्यय हो जाते हैं। इनिँपक्ष में अनुबन्धलोप तथा सुँब्लुक् हो कर—व्रीहि+इन्। **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने से—व्रीह्+इन्=व्रीहिन्। विभक्ति लाने से—व्रीही, व्रीहिणौ, व्रीहिणः। ठन्पक्ष में **ठस्येकः** (१०२७) से ठकार को इक आदेश एवं **यस्येति**चलोप करने पर—व्रीहिकः, व्रीहिकौ, व्रीहिकाः। 'अन्यतरस्याम्' के अनुवर्त्तन से मतुँप् भी संगृहीत हो जाता है—व्रीहिमान्, व्रीहिमन्तौ, व्रीहिमन्तः।

इसीप्रकार—

(१) मायाऽस्त्यस्येति मायी, मायिकः, मायावान् (मायावाला)।
(२) शिखाऽस्त्यस्येति शिखी, शिखावान् (चोटीवाला, मोर)।
(३) मालाऽस्त्यस्येति माली, मालावान् (मालावाला)।
(४) सञ्ज्ञाऽस्त्यस्येति सञ्ज्ञी, सञ्ज्ञावान् (नामवाला)।
(५) केकाऽस्त्यस्येति केकी, केकावान् (केकाध्वनिवाला, मोर)।
(६) मेखलाऽस्त्यस्येति मेखली, मेखलावान् (मेखलावाला)।
(७) पताकाऽस्त्यस्येति पताकी, पताकावान् (पताकावाला)।
(८) यवखदः (यवसारः) अस्त्यस्येति यवखदिकः, यवखदवान्।
(९) नौरस्त्यस्येति नाविकः, नौमान्। इत्यादि।

अब मत्वर्थ में विनिँप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९३)

अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः ।५।२।१२१॥

(असन्ताद् माया-मेधा-स्रज् इत्येतेभ्यश्च मत्वर्थे विनिँः तद्धितः स्यात्)। यशस्वी, यशस्वान्। मायावी। मेधावी। स्रग्वी॥

अर्थः—असन्त (अस्शब्द जिस के अन्त में है, यथा—यशस् आदि), माया, मेधा और स्रज्—इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक विनिँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—अस्-माया-मेधा-स्रजः ।५।१। विनिँः ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः**, **परश्च**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—अस् च माया च मेधा च स्रक् चैषां समाहारः—अस्मायामेधास्रक्, तस्मात्=अस्-माया-मेधा-स्रजः, समाहारद्वन्द्वे समासान्ताभावः सौत्रः। 'अस्' से यहां यशस्, पयस् आदि अस्शब्दान्त प्रातिपदिकों का ग्रहण अभीष्ट है। प्रकरणतः समर्थविभक्ति प्रथमा ही समझनी चाहिये। अर्थः—(अस्-माया-मेधा-स्रजः) असन्त, माया, मेधा और स्रज् इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (विनिँः) विनिँ प्रत्यय हो जाता है। मतुँप् के संग्रह के लिये 'अन्यतरस्याम्' की भी पूर्ववत् अनुवृत्ति होती है।

विनिँ में नकारोत्तर इकार अनुबन्ध है जो नकार को इत् सञ्ज्ञा से बचाने के लिये जोड़ा गया है। विनिँ का 'विन्' शेष रहता है।

असन्त प्रातिपदिक से विनिँ का उदाहरण यथा—

यशोऽस्यास्तीति यशस्वी, यशस्वान् वा (यशवाला, कीर्तिवाला, प्रसिद्ध)। यशस्-शब्द के अन्त में 'अस्' आता है अतः यह असन्त प्रातिपदिक है। 'यशस् सुँ' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में प्रकृत **अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः** (११९३) सूत्र से विनिँप्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् करने से—यशस्+विन्=यशस्विन्। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से प्राप्त पदसञ्ज्ञा का बाध कर **तसौ मत्वर्थे** (११८६) से भसञ्ज्ञा हो जाती है। इस से सकार को **ससजुषो रुँः** (१०५) द्वारा पदमूलक रुँत्व नहीं होता। अब विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय के लाने पर **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप (१७९) एवं पदान्त नकार का भी **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप करने से 'यशस्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'अन्यतरस्याम्' के अनुवर्त्तन के कारण मतुँप् प्रत्यय भी संगृहीत हो जाता है। मतुँप्पक्ष में सुँब्लुक् हो कर 'यशस्+मत्' इस स्थिति में पूर्ववत् भसञ्ज्ञा के कारण पदमूलक रुँत्व नहीं होता। अकारोपध होने से यशस् से परे **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) द्वारा मतुँप् के मकार को वकार आदेश हो जाता है—यशस्वत्। सुँविभक्ति ला कर **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधा-दीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम, हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्तलोप करने से 'यशस्वान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार 'यशस्वी' और 'यशस्वान्' ये दो प्रयोग निष्पन्न हो जाते हैं।

इसीतरह—पयस्वी, पयस्वान्। तेजस्वी,[1] तेजस्वान्। ओजस्वी, ओजस्वान्। महस्वी, महस्वान्। मेदस्वी। वर्चस्वी। मनस्वी[2] आदि समझने चाहियें।

'माया' से विनिँ का उदाहरण यथा—

मायाऽस्त्यस्येति मायावी, मायी, मायिकः, मायावान् वा (मायावाला, कपटी)। 'माया सुँ' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में **अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः** (११९३) सूत्र से विनिँ प्रत्यय ला कर सुँब्लुक् करने से—माया+विन्=मायाविन्। विभक्ति ला कर 'मायावी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। व्रीह्यादिगण में पाठ के कारण **व्रीह्यादिभ्यश्च** (११९२) सूत्रद्वारा इस से परे इनिँ और ठन् प्रत्यय भी हो जाते हैं। इनिँपक्ष में—माया+इन्, भसंज्ञक आकार का लोप कर—मायिन्, विभक्ति लाने से 'मायी' बनता है[3]। ठन्पक्ष में - ठ् को **ठस्येकः** (१०२७) से इक आदेश होकर भसंज्ञक आकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने से 'मायिकः' प्रयोग निष्पन्न होता है। 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति के कारण मतुँप् भी संगृहीत हो जाता है—मायावान् (१०६५)।

---

१. **न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते।** (उत्तरराम० ६ १४)

२. **मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।**
अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम्॥ (हितोप० १.१३३)

३. **व्रजन्ति ते मूढतमाः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।** (किरात० १.३०)

मेधा (धारणावती बुद्धि)[1] शब्द से विनिँ का उदाहरण यथा—

मेधाऽस्यास्तीति मेधावी मेधावान् वा (बुद्धिमान्)। 'मेधा सुँ' से मत्वर्थ में **अस्मायामेधास्रजो विनिँः** (११९३) सूत्र से विनिँ, इकार-लोप और सुँप् का भी लुक् कर देने पर —मेधाविन्। यकारादि वा अजादि प्रत्यय के परे न होने के कारण भसञ्ज्ञा न होने से **यस्येति च** (२३६) द्वारा आकार का लोप नहीं होता। विभक्तिकार्य करने से 'मेधावी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। मतुँप् का भी संग्रह हो जाता है। मेधा + मत्, वत्व (१०६५) हो कर 'मेधावान्' बनता है।

स्रज् (जकारान्त स्त्रीलिङ्ग, माला) शब्द से विनिँ का उदाहरण यथा—

स्रग् अस्यास्तीति स्रग्वी स्रग्वान् वा (मालावाला)। 'स्रज् सुँ' से मत्वर्थ में **अस्मायामेधास्रजो विनिँः** (११९३) सूत्र से विनिँ प्रत्यय हो कर सुँप् का लुक् कर देने से—स्रज् + विन्। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पदत्व के कारण **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) द्वारा कुत्वेन जकार को गकार करने पर —स्रग्विन्। विभक्तिकार्य करने से 'स्रग्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[3]। पक्ष में मतुँप् ला कर कुत्व कर देने से 'स्रग्वान्' भी बनेगा।

अब वाच् (वाणी) प्रातिपदिक से मत्वर्थ में ग्मिनिँप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९४) वाचो ग्मिनिँः ।५।२।१२४।।

(प्रथमान्ताद् 'वाच्' इति प्रातिपदिकान्मत्वर्थे ग्मिनिँस्तद्धितप्रत्ययः स्यात्)। वाग्मी ।।

अर्थः— प्रथमान्त वाच्प्रातिपदिक से मत्वर्थ में तद्धितसंज्ञक ग्मिनिँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—वाचः ।५।१। ग्मिनिँः ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों की अनुवृत्ति होती है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समर्थविभक्ति प्रथमा प्रकरणतः उपलब्ध है। अर्थः—(वाचः) प्रथमान्त वाच् प्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मतुँप् के अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ग्मिनिँः) ग्मिनिँ प्रत्यय हो जाता है।

ग्मिनिँ का अन्त्य इकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ग्मिन्' मात्र शेष रहता है। नकार को इत्सञ्ज्ञा से बचाने के लिये अन्त में इकार जोड़ा गया है। ग्मिन् तद्धित है अतः **लशक्वतद्धिते** (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण इस के आदि कवर्ग-गकार की इत्-सञ्ज्ञा नहीं होती। उदाहरण यथा—

---

१. **धीर्धारणावती मेधा**—इत्यमरः।

२. **यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु।।** (यजुः० ३२.४)

३. **स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा।** (मनु० ३.३)

प्रशस्ता वाग् अस्त्यस्येति वाग्ग्मी (प्रशस्त वाणी वाला, बोलने में चतुर[1])। 'वाच् सुँ' इस प्रथमान्त से प्राशस्त्यविषयक मत्वर्थ में प्रकृत **वाचो ग्मिनिः** (११६४) सूत्र से ग्मिनिँप्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप और **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् करने पर — वाच् + ग्मिन्। अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पदत्व के कारण **चोः कुः** (३०६) से पदान्त चकार को ककार तथा **झलां जशोऽन्ते** (६७) से ककार को गकार करने पर — वाग् + ग्मिन् = वाग्ग्मिन्। प्रथमा के एक-वचन में शार्ङ्गिन्शब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'वाग्ग्मी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। ध्यान रहे कि 'वाग्ग्मी' में दो गकार हैं, **झरो झरि सवर्णे** (७३) द्वारा दूसरे गकार का लोप नहीं होता क्योंकि झर् परे नहीं। इसीतरह प्रथम गकार का भी लोप नहीं होता क्योंकि वह हल् से परे नहीं। अतः 'वाग्ग्मी' को 'वाग्मी' लिखना वैयाकरणों की दृष्टि में अशुद्ध है[3]।

अब मत्वर्थ में अच् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६५) अर्शआदिभ्योऽच् ।५।२।१२७।।

(अर्शआदिभ्यः प्रथमान्तेभ्यो मत्वर्थेऽच् तद्धितः प्रत्ययः स्यात्)। अर्शोऽस्य विद्यते—अर्शसः। आकृतिगणोऽयम्॥

अर्थः—अर्शस्आदि प्रथमान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में तद्धितसंज्ञक अच् प्रत्यय हो।

---

१. **यो हि सम्यग्बहु भाषते वाग्ग्मीत्येव भवति**—इति भाष्यम्। **वाचोयुक्तिपटुर्वाग्ग्मी**—इत्यमरः। अनापशनाप बहुत बोलने वाले के अर्थ में **आलजाटचौ बहुभाषिणि** (५.२.१२५) सूत्र से आलच् और आटच् प्रत्यय होकर 'वाचालः' और 'वाचाटः' प्रयोग बनते हैं जो कुत्सित बहुभाषी के वाचक होते हैं। **स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्**—इत्यमरः।

२. **साकारो निःस्पृहो वाग्ग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः।**
परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते॥ (पञ्च० ३.८६)
अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्ग्मिनो वृथा। (माघ० २.२७)

३. परन्तु कुछेक वैयाकरण 'वाग्मी' इस एकगकारघटितरूप को भी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध मानते हैं। वे लोग **वाचो ग् मिनिँः** इसप्रकार सूत्र का छेद कर 'वाच्शब्द से परे मत्वर्थ में मिनिँ प्रत्यय तथा वाच् को गकार अन्तादेश हो' इस तरह अर्थ प्रतिपादन करते हैं। वाच् को गकार अन्तादेश के सामर्थ्य से **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) द्वारा अनुनासिक की प्रवृत्ति नहीं होती, इस तरह 'वाग्मी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। परन्तु भाष्यकार इस प्रकार के झगड़े में न पड़ते हुए द्विगकार और एकगकार रूपों के श्रवण में कुछ भी अन्तर नहीं मानते। जैसाकि महाभाष्य में कहा है—

नहि व्यञ्जनपरस्य एकस्यानेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति।
(महाभाष्य ६.४.२२; ७.१.७२)

व्याख्या—अर्शआदिभ्यः ।५।३। अच् ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों की अनुवृत्ति आती है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्शस्शब्द आदिर्येषां तानि अर्शआदीनि, तेभ्यः=अर्शआदिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्शस्आदि एक गण है जो गणपाठ में पढ़ा गया है[1] । समर्थविभक्ति प्रथमा प्रकरणतः उपलब्ध है । अर्थः—(अर्शआदिभ्यः) अर्शस् आदि प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अच्) अच् प्रत्यय हो जाता है ।

अच्प्रत्यय में चकार इत् है । उस का लोप हो कर 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है । चित्करण स्वरार्थ किया गया है । उदाहरण यथा—

अर्शांसि (गुदकीलकाः, मस्से) विद्यन्तेऽस्येति अर्शसः (बवासीर के मस्सों वाला रोगी अर्थात् अर्शोरोग से पीडित व्यक्ति) । अर्शस्शब्द सकारान्त नपुंसक है—अर्शः, अर्शसी, अर्शांसि । पयस्शब्द की तरह रूपमाला चलती है । 'अर्शस् जस्' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में प्रकृत **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) सूत्र से अच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (जस्) का भी लुक् करने पर—अर्शस्+अ=अर्शस । पुनः विभक्ति ला कर 'अर्शसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां **अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः** (११९३) से विनिँ प्रत्यय प्राप्त था उस का बाधक यह अच् प्रत्यय विधान किया गया है ।

अर्शआदियों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) उरोऽस्त्यस्येति उरसः (चौड़ी छाती वाला, बलवान्[2]) ।
(२) तुन्दमस्त्यस्येति तुन्दः (बड़ी तोन्द वाला)[3] ।
(३) अभ्राणि सन्त्यस्मिन्निति अभ्रं नभः (मेघाच्छन्न आकाश) ।
(४) कर्दमोऽस्त्यस्मिन्निति कर्दमः प्रदेशः (कीचड़वाला प्रदेश) ।

---

१. बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् होकर 'अर्शस्+आदि' इस अवस्था में पदान्त सकार को रुँत्व, रेफ को यत्व तथा यकार का पुनः वैकल्पिक लोप हो जाता है । यह लोप त्रिपाद्यसिद्ध है अतः सवर्णदीर्घ नहीं होता । अर्शआदिगण यथा—
अर्शस् । उरस् । तुन्द । चतुर । पलित । जटा । घटा । अभ्र । कर्दम । अम्ल । लवण । **स्वाङ्गाद् हीनात्** (गणसूत्रम्) । **वर्णात्** (गणसूत्रम्) । आकृतिगणोऽयम् ॥

२. उरसा बलं लक्ष्यत इति गणरत्नमहोदधौ वर्धमानः ।

३. तुन्द आदि अदन्त शब्दों से परे प्रकृत मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप हो जाता है । तब प्रत्यय (अ) के मिल जाने से पुनः वह शब्द अदन्त बन जाता है, उस के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता परन्तु अर्थ बदल जाता है । ध्यान रहे कि इसी अर्थ में तुन्दशब्द से **तुन्दादिभ्य इलच्च** (५.२.११७) सूत्रद्वारा इलच्, इनिँ, ठन् और मतुँप् प्रत्यय भी होते हैं—तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान् ।

(५) अम्लो रसोऽस्त्यस्येति अम्लं फलम् (खट्टा फल)।

(६) लवणो रसोऽस्त्यस्येति लवणः (नमकीन पदार्थ)।

(७) पलितं (केशश्वैत्यम्) अस्त्यस्येति पलितं शिरः (सुफेदकेशों वाला सिर)।[1]

इस गण में दो गणसूत्रों का भी उल्लेख किया गया है। तथाहि—

[क] **स्वाङ्गाद् हीनात्** (गणसूत्रम्)

अर्थः—हीन अर्थात् विकृत स्वाङ्ग वाचक प्रातिपदिक से मत्वर्थ में अर्शआदित्वात् अच् तद्धितप्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) काणमक्षि अस्त्यस्येति काणः (पुरुषः)।

(२) खञ्जः पादोऽस्त्यस्येति खञ्जः (पुरुषः)।

(३) कुण्ठः पाणिरस्त्यस्येति कुण्ठः (पुरुषः)।

(४) खल्वाटं शिरोऽस्त्यस्येति खल्वाटः (पुरुषः)।

[ख] **वर्णात्** (गणसूत्रम्)।

अर्थः—वर्ण अर्थात् रङ्गवाचक प्रातिपदिक से मत्वर्थ में अर्शआदित्वात् अच् तद्धितप्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) शुक्लो वर्णोऽस्त्यस्येति शुक्लः पटः।[2]

(२) नीलो वर्णोऽस्त्यस्येति नीलो घटः।

आकृतिगणोऽयम्—यह अर्शआदि आकृतिगण है अर्थात् जहां कहीं किसी शब्द में परिवर्त्तन के विना 'तद्वान्=उस वाला' अर्थ प्रतीत हो तो उस शब्द को भी अर्शआदियों में परिगणित कर अच्प्रत्ययान्त समझ लेना चाहिये[3]। यथा—

(१) पद्मम् अस्त्यस्या इति पद्मा=लक्ष्मीः।[4]

(२) कमलम् अस्त्यस्या इति कमला=लक्ष्मीः।

(३) पापमस्त्यस्येति पापः पुरुषः (पापी)।[5]

(४) बलमस्यास्तीति बलः पुरुषः (बलवान् या बलराम)।

(५) तिमिरमस्त्यस्या इति तिमिरा निशा (अन्धेरी रात)।

(६) समानाधिकरणे पदे स्तोऽस्येति समानाधिकरणस्तत्पुरुषः।[6]

---

१. **न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।**
यो युवा वाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ (मनु० २.१५६)

२. **गुणवचनेभ्यो मतुँपो लुगिष्टः** (वा० ६०) इत्येव सिद्धे स्वरभेदार्थमिह पुनरुपादानं बोध्यम्।

३. यत्राभिन्नरूपेण शब्देन तद्वतोऽभिधानं तत्सर्वमिह (अर्शआदिषु) बोध्यम् इति गणरत्नमहोदधौ वर्धमानः।

४. **लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया** इत्यमरः।

५. **पापं पापाः कथयत कथं शौर्यराशेः पितुर्मे।** (वेणीसंहार ३.८)

६. **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (१.२.४२)

(७) मृगाणां तृष्णा मृगतृष्णा, मृगतृष्णाऽस्त्यस्यामिति मृगतृष्णा = मरुमरीचिका।[1]

(८) पृषन्ति (बिन्दवः) सन्त्यस्मिन्निति पृषतो मृगः।

(९) आलस्यमस्त्यस्येति आलस्यः (आलसी पुरुष)। इत्यादि।

अब मत्वर्थ में युस् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९६) अहंशुभमोर्युस् ।५।२।१४०॥

(अहम्, शुभम् इत्येताभ्यामव्ययाभ्यां मत्वर्थे तद्धितो युस्-प्रत्ययः स्यात्)। अहंयुरहङ्कारवान्। शुभंयुः शुभान्वितः॥

अर्थः—अहम् (अहङ्कार) और शुभम् (शुभ, कल्याण) इन दो अव्ययों से परे मत्वर्थ में तद्धितसंज्ञक युस् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अहं-शुभमोः ।६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी)। युस् ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववतः अधिकृत हैं। अहम् और शुभम् दोनों विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय हैं। इन की विस्तृत व्याख्या पीछे अव्यय-प्रकरणस्थ स्वरादिगण के अन्तर्गत की जा चुकी है। अहं च शुभं च अहंशुभमौ, तयोः = अहंशुभमोः, इतरेतरद्वन्द्वः। पञ्चम्यर्थे षष्ठीप्रयोगः सौत्रः। अर्थः—(अहंशुभमोः = अहंशुभम्भ्याम्) अहम् और शुभम् अव्ययों से परे (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (युस्) युस् प्रत्यय हो जाता है।

युस् का सकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'यु' मात्र शेष रहता है। इसे सित् करने का प्रयोजन सित् के परे रहते **सिति च** (१.४.१६)[2] सूत्रद्वारा पूर्व की पदसञ्ज्ञा करना है। इस से पदसञ्ज्ञामूलक अनुस्वार और परसवर्ण हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

अहम् (अहंकारः) अस्त्यस्येति अहंयुः (अहंकार रखने वाला, घमण्डी)। 'अहम्' यहां अहंकार अर्थ में मकारान्त अव्यय है, इसे अस्मद्शब्द का प्रथमैकवचनान्त रूप समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। इस से परे मत्वर्थ में प्रकृत **अहंशुभमोर्युस्** (११९६) सूत्रद्वारा युस् प्रत्यय ला कर सकार अनुबन्ध का लोप करने से—अहम् + यु। अब **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसञ्ज्ञा प्राप्त होती है परन्तु **सिति च** (१.४.१६) सूत्र से उस का बाध हो पदसञ्ज्ञा हो जाती है। पदत्व के कारण अहम् के पदान्त मकार को **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार एवं **वा पदान्तस्य** (८०) से अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण अर्थात् यँ आदेश कर विभक्ति लाने से 'अहय्ँयुः' और 'अहंयुः' ये दो प्रयोग

---

१. **मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृङ्गधनुर्धृतः।**
एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः॥ (सुभाषित)

२. **सिति च** (१.४.१६)। अर्थः—सित् प्रत्यय परे होने पर पूर्व पदसञ्ज्ञक होता है। यह **यचि भम्** (१६५) का पुरस्तादपवाद है।

सिद्ध हो जाते हैं। अहंयुशब्द की रूपमाला पुंलिङ्ग में भानुशब्दवत् चलेगी—अहंयुः, अहंयू, अहंयवः।

इसीप्रकार—शुभम् (कल्याणम्) अस्त्यस्येति शुभंयुः (शुभवाला, कल्याणवाला)। 'शुभम्' भी मकारान्त विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है जो शुभ का वाचक है। इस से परे भी मत्वर्थ में प्रकृत **अहंशुभमोर्युस्** (११९६) सूत्रद्वारा युस् प्रत्यय, सकार अनुबन्ध का लोप, **सिति च** (१.४.१६) से पदसञ्ज्ञा तथा पूर्ववत् अनुस्वार और वैकल्पिक परसवर्ण कर विभक्ति लाने से 'शुभय्ँयुः' और 'शुभंयुः' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। इस की रूपमाला भी पुं० में भानुवत् चलेगी—शुभंयुः, शुभंयू, शुभंयवः।[1]

विशेष वक्तव्य—न कर्मधारयाद् मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः (भाष्ये)। अर्थात् उस कर्मधारयसमास से मत्वर्थ प्रत्यय नहीं करना चाहिये जहां मत्वर्थ बहुव्रीहि से व्यक्त हो सकता है। यथा—'महारथः' इस कर्मधारयसमास से मत्वर्थ में इनिँप्रत्यय (११९१) हो कर 'महारथी' नहीं बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'महान् रथो यस्य स महारथः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो जाता है। 'सर्वशक्तिः' इस कर्मधारयसमास से मतुँप् होकर 'सर्वशक्तिमान्' न बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'सर्वाः शक्तयो यस्य यस्मिन् वा स सर्वशक्तिः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो जाता है। 'महाधनम्' इस कर्मधारय से मत्वर्थ में इनिँ हो कर 'महाधनी' नहीं बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'महद् धनं यस्य स महाधनः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो सकता है। 'निवृत्ताभिमानः' इस कर्मधारयसमास से मत्वर्थ में इनिँ प्रत्यय हो कर 'निवृत्ताभिमानी' नहीं बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'निवृत्तोऽभिमानो यस्य स निवृत्ताभिमानः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो जाता है।

परन्तु यदि मत्वर्थ के साथ **भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने**—इत्यादि विषय भी विवक्षित होंगे तो वे बहुव्रीहिद्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते, अतः ऐसी अवस्था में कर्मधारय से भी मत्वर्थीय प्रत्यय हो जायेगा। यथा—सर्वशक्तयो नित्यं सन्त्यस्य—सर्वशक्तिमान्। यहां मतुँप् हो जाता है क्योंकि यह अर्थ बहुव्रीहि से व्यक्त नहीं हो सकता।

अभ्यास [१३]

(१) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि करें—

---

१. **अहङ्कारवानहंयुः शुभंयुस्तु शुभान्वित** इत्यमरः।
इन दोनों का साहित्यगत प्रयोग यथा—
स शुश्रुवांस्तद्वचनं मुमोह राजाऽसहिष्णुः सुतविप्रयोगम्।
अहंयुनाऽथ क्षितिपः शुभंयुरूचे वचस्तापसकुञ्जरेण॥ (भट्टि० १.२०)
अर्थः—महाराज दशरथ विश्वामित्र के उन वचनों को सुन कर पुत्रवियोग को सहन न करते हुए मोह को प्राप्त हो गये। तब अहंकारवान् तापसश्रेष्ठ विश्वामित्र ने अपना कल्याण चाहने वाले राजा को यह वचन कहा।

१. गोमान् । २. अर्णवः । ३. केशवः । ४. मेधावी । ५. दन्तुरः । ६. लोमशः । ७. विदुष्मान् । ८. व्रीहिकः । ९. पामनः । १०. पिच्छिलः । ११. यशस्वी । १२. वाग्मी । १३. अर्शसः । १४. अहंयुः । १५. चूडालः । १६. लक्ष्मणः । १७. अङ्गना । १८. शुक्लः (पटः) । १९. मणिवः । २०. दण्डी । २१. गरुत्मान् । २२. स्रग्वी । २३. पङ्किलः ।

(२) सूत्रों की व्याख्या करें—

१. अर्शआदिभ्योऽच् । २. तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप् । ३. अत इनिँठनौ । ४. प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् । ५. लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः । ६. अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः । ७. दन्त उन्नत उरच् । ८. तसौ मत्वर्थे । ९. अहंशुभमोर्युस् । १०. सिति च । ११. व्रीह्यादिभ्यश्च ।

(३) निम्नस्थ वचनों की व्याख्या करें—

[क] भूमनिन्दाप्रशंसासु—।

[ख] एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ ।

[ग] न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः ।

[घ] प्राणिस्थात् किम् ? शिखावान् दीपः ।

[ङ] प्राण्यङ्गादेव, नेह—मेधावान् ।

[च] शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु ।

[छ] अङ्गात् कल्याणे ।

[ज] लक्ष्म्या अच्च ।

[झ] अन्येभ्योऽपि दृश्यते ।

[ञ] अर्णसो लोपश्च ।

[ट] स्वाङ्गाद् हीनात् ।

[ठ] वर्णात् ।

(४) अधोलिखित प्रश्नों के सहेतुक उत्तर दीजिये—

[क] 'यवमान्' में वत्व क्यों नहीं होता ?

[ख] 'गरुत्मान्' में जश्त्व क्यों नहीं होता ?

[ग] 'पयस्वान्' में पदमूलक रुँत्व क्यों नहीं हुआ ?

[घ] लच्प्रत्यय के लकार की इत्सञ्ज्ञा क्यों नहीं हुई ?

[ङ] युस् को सित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[च] 'मायावी' में विन् के परे रहते यस्येतिचलोप क्यों नहीं होता ?

[छ] किस शब्द से मतुँप् का लुक् इष्ट है ?

[ज] **तदस्यास्त्यस्मिन्निति॰** सूत्र में 'इति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

[झ] अदन्त न होने पर भी 'शिखी' में इनिँ कैसे हो जाता है ?

(५) सहेतुक अशुद्धिशोधन कीजिये—
१. दण्डिनी शाला। २. दृषद्मान् (पर्वतः)। ३. ऊर्मिवान् (समुद्रः)। ४. शुक्लवान् (पटः)। ५. शिखालो (दीपः)। ६. महारथिनः। ७. विद्युन्मान् (बलाहकः)। ८. भूमिमान्। ९. पितृवान्। १०. निवृत्ताभिमानी।

(६) 'वाग्मी' प्रयोग के शुद्धाशुद्धत्व का विवेचन करें।

(७) अधोलिखित युगलों में अर्थ का अन्तर स्पष्ट करें—
सर्वशक्तिः, सर्वशक्तिमान्। दन्तुरः, दन्तवान्। अङ्गना, अङ्गवती। वाग्मी, वाचाटः।

(८) अर्शआद्यच् के कोई से पाञ्च उदाहरण दीजिये।

(९) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप लिखें—
१. नौरस्त्यस्य। २. शुभमस्त्यस्य। ३. पद्ममस्त्यस्याः। ४. काणमक्षि अस्त्यस्य। ५. नीलो वर्णोऽस्त्यस्य। ६. वर्चोऽस्त्यस्य। ७. रोमाणि सन्त्यस्य। ८. दण्डाः सन्त्यस्याम्।

[लघु०] इति मत्वर्थीयाः ।।

(यहां मत्वर्थीय प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:०:—

अथ प्राग्दिशीयाः

अब अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के तृतीयपादस्थ प्रत्ययों का वर्णन प्रारम्भ होने जा रहा है। इस पाद का सत्ताईसवां सूत्र है—**दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः** (५.३.२७)। इस सूत्र के 'दिक्' शब्द को अवधि मान कर इस से पूर्व के २६ सूत्रों में जो प्रत्यय विधान किये गये हैं उन्हें 'प्राग्दिशीय' (दिक्-शब्द से पहले होने वाले) प्रत्यय कहा जाता है।[1] ये सब स्वार्थिक प्रत्यय हैं।[2] अब इन की व्याख्या की जायेगी।

सर्वप्रथम इन प्रत्ययों की विभक्तिसञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] संज्ञाधिकारसूत्रम्—**(११९७) प्राग्दिशो विभक्तिः ।५।३।१।।**

दिक्शब्देभ्यः० (५.३.२७) इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्ति-सञ्ज्ञाः स्युः ।।

---

१. दिशः प्राक् प्राग्दिशम्, तत्र भवाः प्राग्दिशीयाः।

२. स्वकीयप्रकृतेरर्थे भवाः स्वार्थिकाः। तसिँलादिषु अर्थनिर्देशाभावात् ते स्वार्थिका उच्यन्ते। उक्तञ्च—**अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्तीति।**

अर्थः—यहां से ले कर **दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः** (५.३.२७) इस सूत्र से पूर्व पूर्व जो जो प्रत्यय कहे जायें वे विभक्तिसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम्। दिशः ।५।१। विभक्तिः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च** आदि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'दिशः' द्वारा **दिक्शब्देभ्यः०** सूत्र के दिक्शब्द की ओर संकेत किया गया है। यह संज्ञाविषयक अधिकारसूत्र है। अर्थः—यहां से ले कर (दिशः) **दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः** [५.३.२७] सूत्र से (प्राक्) पहले पहले जो जो प्रत्यय कहा जाये वह (विभक्तिः) विभक्तिसञ्ज्ञक हो।

प्राग्दिशीय प्रत्ययों की विभक्तिसञ्ज्ञा हो जाने से उन प्रत्ययों में **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) की प्रवृत्ति हो कर इत्सञ्ज्ञा का वारण हो जाता है। विभक्ति परे होने से **त्यदादीनामः** (१९३) द्वारा त्यदाद्यत्व आदि कार्य हो जाते हैं। यह सब आगे के उदाहरणों में स्पष्ट हो जायेगा।

यहां यह भी विशेषतः ध्यातव्य है कि **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) अधिकार के 'समर्थानाम्' और 'प्रथमात्' पदों के अधिकार की यहां निवृत्ति हो जाती है।[1] केवल 'वा' पद ही यथासम्भव अधिकृत रहता है, अतः आगे आने वाले प्रत्यय विकल्प से होते हैं पक्ष में विग्रहपद भी रहता है।

अब प्राग्दिशीय प्रत्ययों में प्रकृति को अधिकृत करते हैं—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रम्—(११९८)

किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ।५।३।२॥

किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ॥[2]

अर्थः—किम्, द्वि आदि से भिन्न सर्वनाम तथा बहु—इन शब्दों से परे ही प्राग्दिशीय प्रत्यय हों, यह अधिकृत किया जाता है।

व्याख्या—किं-सर्वनाम-बहुभ्यः ।५।३। अद्व्यादिभ्यः ।५।३। प्राक् इत्यव्ययपदम्। दिशः ।५।१। (**प्राग्दिशो विभक्तिः** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—किम् च सर्वनाम च बहुश्च तेभ्यः = किंसर्वनामबहुभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। द्विशब्द आदिर्येषान्ते द्व्यादयः, न द्व्यादयः = अद्व्यादयः, तेभ्यः = अद्व्यादिभ्यः, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः। यह अधिकारसूत्र है। **दिक्शब्देभ्यः०** (५.३.२७) सूत्र तक इस का अधिकार जाता है। वक्ष्यमाण प्राग्दिशीय प्रत्यय किस किस प्रकृति से किये जा सकते हैं—इस के लिये यह अधिकार चलाया गया है। सर्वनामशब्दों अर्थात् सर्वादिगण में द्व्यादि (द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतुँ, किम्) भी पढ़े गये हैं सो

१. स्वार्थिक प्रत्ययों में एक ही पद से प्रत्ययों के विधान के कारण सामर्थ्य और प्रथमत्व का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, अतः ये दोनों अधिकार इन में प्रवृत्त नहीं होते।

२. अस्यां वृत्तौ 'प्राग्दिशः' इति पञ्चम्यन्तं न तु प्रथमाबहुवचनान्तम्। 'इति अधिक्रियते' इत्यन्वयो बोध्यः।

सर्वनाम कहने से उन से भी प्रत्ययों की प्राप्ति थी अतः 'अद्व्यादिभ्यः' कह कर उन का निषेध कर दिया। किन्तु इस तरह किम्शब्द से भी प्रत्ययों का निषेध हो जाता है जबकि उस से प्रत्ययों का विधान अभीष्ट है। अतः उसे निषेध से बचाने के लिये 'किम्' का पृथक् निर्देश किया है। इस प्रकार द्वि, युष्मद्, अस्मद् और भवतुँ इन चार शब्दों को छोड़ कर शेष सब सर्वनाम यहां गृहीत समझने चाहियें। बहुशब्द का सर्वादिगण में पाठ न होने से पृथक् ग्रहण किया है। अर्थः—यहां से आगे (दिशः प्राक्) **दिक्शब्देभ्यः०** सूत्र से पूर्व तक जो प्रत्यय कहे जायें वे (किंसर्वनामबहुभ्यः) किम्, सर्वनाम और बहु शब्दों से परे ही हों परन्तु (अद्व्यादिभ्यः) द्व्यादि शब्दों से नहीं।[1]

बहुशब्द यहां संख्यावाचक ही अभीष्ट है वैपुल्यवाची नहीं—ऐसा वार्त्तिककार का आशय महाभाष्य में व्यक्त किया गया है—**बहुग्रहणे संख्याग्रहणम्** (वा०)।

प्रकृति के निश्चित हो जाने पर अब प्रत्ययों का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९९) पञ्चम्यास्तसिँल् ।५।३।७॥

पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिँल् वा स्यात् ॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त किम् आदि प्रातिपदिकों से तद्धितसंज्ञक तसिँल् प्रत्यय विकल्प से हो।

व्याख्या—पञ्चम्याः ।५।१। तसिँल् ।१।१। **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** यह अधिकृत है। वा इत्यव्ययपदम् (**समर्थानां प्रथमाद्वा** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। 'पञ्चम्याः' से तदन्तविधि हो कर वचनविपरिणाम करने से 'पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यः' बन जायेगा। अर्थः—(पञ्चम्याः =पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त जो (किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम्, द्व्यादिभिन्न सर्वनाम एवं बहुशब्द इन से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तसिँल्) तसिँल् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है।

तसिँल् में इकार और लकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'तस्' मात्र शेष रहता है। इकार उच्चारणार्थ तथा लकार **लिति** (६.१.१८७) सूत्रद्वारा उदात्तस्वरार्थ जोड़ा गया है। यहां तसिँल् प्रत्यय का कोई अर्थ निर्दिष्ट नहीं किया गया अतः **अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति** के अनुसार यह प्रत्यय स्वार्थ में होगा। अर्थात् प्रकृति का अपना जो अर्थ है प्रत्यय के हो जाने पर भी वह वैसा ही रहेगा उस में कुछ भी परिवर्त्तन न होगा। प्रत्यय से प्रकृति का अर्थ ही द्योतित होगा।

सर्वप्रथम किम्शब्द से तसिँल् का उदाहरण यथा—

कस्मात्=कुतः (किस से, किस कारण से)।[2] 'किम् ङसिँ' इस अलौकिकविग्रह

---

१. **किंशब्दाद् द्व्यादिवर्जाच्च सर्वनाम्नो बहोरपि।**
प्राग्दिशः प्रत्यया ज्ञेया नाऽपरेभ्यो भवन्त्यमी॥ (प्रक्रियासर्वस्वे)

२. यहां पर 'कुतः' का लौकिकविग्रह 'कस्मात्' समझना चाहिये। इसीप्रकार आगे भी जान लें।

में पञ्चम्यन्त 'किम्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) सूत्र से तद्धित-सञ्ज्ञक तसिँल् प्रत्यय विकल्प से हो जाता है। तसिँल् के अनुबन्धों का लोप करने पर 'किम् ङसिँ + तस्' इस स्थिति में तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा सुँप् (ङसिँ) का लुक् हो जाता है—किम् + तस्। तस्प्रत्यय **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) के अधिकार में पठित होने से विभक्तिसञ्ज्ञक है। अतः विभक्ति के परे रहते **किमः कः** (२७१) से 'किम्' के स्थान पर 'क' आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२००) कु तिहोः ।७।२।१०४।।

किमः कुः स्यात् तादौ हादौ च विभक्तौ परतः। कुतः, कस्मात् ।।

अर्थः—तकारादि या हकारादि विभक्ति परे हो तो 'किम्' के स्थान पर 'कु' यह आदेश हो।

व्याख्या—कु ।१।१। ति-होः ।७।२। विभक्तौ ।७।१। (**अष्टन आ विभक्तौ** सूत्र से)। किमः ।६।१। (**किमः कः** सूत्र से)। तिश्च ह् च तिहौ, तयोः = तिहोः, इतरेतर-द्वन्द्वः। तकाराद् इकार उच्चारणार्थः। 'तिहोः' यह 'विभक्तौ' का विशेषण है अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** द्वारा तदादिविधि हो कर 'तकारादौ हकारादौ च विभक्तौ' यह उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(ति-होः = तकारादौ हकारादौ च) तकारादि या हकारादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो (किमः) किम् के स्थान पर (कु) 'कु' यह शब्दस्वरूप आदेश हो जाता है। 'कु' आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा सर्वादेश होता है। यह **किमः कः** (२७१) सूत्र का अपवाद है।

'किम् + तस्' यहां 'तस्' यह तकारादि विभक्ति परे विद्यमान है अतः प्रकृत **कु तिहोः** (१२००) सूत्र से किम् के स्थान पर 'कु' यह सर्वादेश हो कर—कु + तस् = कुतस्। अब **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) द्वारा 'कुतस्' के अव्ययसञ्ज्ञक होने के कारण इस से परे सामान्यतः प्राप्त सुँ विभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'कुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तसिँल् के अभाव में किम् का पञ्चम्येकवचनान्त रूप 'कस्मात्' भी बनेगा। इस की सिद्धि पीछे सुँबन्त प्रकरण मे की जा चुकी है। द्विवचन और बहुवचन में भी तसिँल्पक्ष में यही 'कुतः' रूप बनेगा। यथा—काभ्याम् = कुतः। केभ्यः = कुतः। स्त्रीलिङ्ग में भी यही रूप बनता है। यथा—कस्याः = कुतः। काभ्याम् = कुतः। काभ्यः = कुतः। यहां **तसिँलादिष्वाकृत्वसुँचः** (६.३.३४) से पुंवद्भाव के कारण टाप् चला जाता है।[1]

सर्वनाम से तसिँल् का उदाहरण यथा—

---

१. **तसिँलादिष्वाकृत्वसुँचः** (६.३.३४)। **अर्थः**—अष्टाध्यायी में तसिँल् प्रत्यय से ले कर कृत्वसुँच् प्रत्यय के पूर्व तक जितने प्रत्यय कहे गये हैं उन के परे रहते भाषित-पुंस्क अनूङ् (जिस से ऊङ् नहीं हुआ) स्त्रीलिङ्गशब्द को पुंवत् हो जाता है।

तसिँल्

अस्मात् = इतः (इस से, इस कारण से)। 'इदम्' शब्द सर्वादिगण में परिगणित है अतः **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१५१) द्वारा इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। यहां 'इदम् ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त सर्वनाम से स्वार्थ में **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) द्वारा विकल्प से तद्धित तसिँल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण उस के अवयव सुँप् (ङसिँ) का भी लुक् कर देने से 'इदम्+तस्' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०१) इदम इश् ।५।३।३।।

प्राग्दिशीये परे। इतः ।।

अर्थः—प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते इदम् के स्थान पर इश् आदेश हो।

व्याख्या—इदमः ।६।१। इश् ।१।१। **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से 'प्राग्दिशः' का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च** दोनों पूर्वतः अधिकृत हैं। 'प्राग्दिशः' को प्रत्यय के साथ विशिष्ट कर विभक्तिविपरिणाम करने से 'प्राग्दिशीये प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(प्राग्दिशः = प्राग्दिशीये प्रत्यये) प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते (इदमः) इदम् के स्थान पर (इश्) इश् आदेश हो जाता है।

इश् का शकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'इ' मात्र शेष रहता है। इश् आदेश शित् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा यह सम्पूर्ण इदम् के स्थान पर प्रवृत्त होता है।

'इदम्+तस्' यहां प्राग्दिशीय तसिँल् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृत **इदम इश्** (१२०१) सूत्र से इदम् के स्थान पर इश् सर्वादेश हो कर अनुबन्धलोप तथा सुँब्लुक् आदि विभक्तिकार्य करने से—इ+तस् = इतस् = 'इतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में इदम् का पञ्चम्येकवचनान्त रूप 'अस्मात्' भी बनेगा। अन्य वचनों में भी तसिँल्प्रत्ययान्त का यही रूप बनेगा। यथा—आभ्याम् = इतः। एभ्यः = इतः। स्त्रीलिङ्ग में भी पुंवद्भाव हो कर यही 'इतः' रूप ही बनेगा।

सर्वनाम से तसिँल् का दूसरा उदाहरण यथा—

एतस्मात् = अतः (इस से, इस कारण से)। एतद्शब्द भी सर्वादियों में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है। अतः 'एतद् ङसिँ' से स्वार्थ में **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) से वैकल्पिक तसिँल्, अनुबन्धलोप तथा तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुँप् (ङसिँ) का भी लुक् कर देने से—एतद्+तस्। अब इस स्थिति में **त्यदादीनामः** (१९३) सूत्रद्वारा अत्व के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०२) अन् ।५।३।५।।

एतदः प्राग्दिशीये (अन् इत्यादेशः स्यात्)। अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः। अतः। अमुतः। यतः। बहुतः। द्वयादेस्तु—द्वाभ्याम् ।।

अर्थः—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते एतद्शब्द के स्थान पर 'अन्' आदेश हो। **अनेकाल्त्वात्**—अन् आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है।

व्याख्या—पाणिनि के **एतदोऽन्** (५.३.५) इस एक योग (सूत्र) के दो भाग किये जाते हैं—(१) एतदः । (२) अन् । यहां की प्रयोगसिद्धि में द्वितीयांश का उपयोग किया गया है। अन् ।१।१। एतदः ।६।१। (सूत्र के प्रथमांश से) । **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से 'प्राग्दिशः' का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च** आदि भी पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(प्राग्दिशः=प्राग्दिशीये प्रत्यये) प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते (एतदः) एतद् के स्थान पर (अन्) 'अन्' आदेश हो जाता है।

अन् के नकार की प्रयोजनाभाव से इत्सञ्ज्ञा नहीं होती अतः अनेकाल् होने से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा अन् आदेश सर्वादेश अर्थात् सम्पूर्ण एतद् के स्थान पर होता है।

'एतद्+तस्' यहां प्राग्दिशीय तसिँल् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृत **अन्** (१२०२) सूत्र से एतद् के स्थान पर अन् सर्वादेश हो जाता है—अन्+तस् । **स्वादिष्व-सर्वनामस्थाने** (१६४) से पदसञ्ज्ञा के कारण पदान्त नकार का **न लोपः प्रातिपदि-कान्तस्य** (१८०) से लोप हो कर—अ+तस्=अतस् । अब औत्सर्गिक सुँ विभक्ति ला कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् कर देने से—अतस्='अतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में त्यदाद्यत्व (१९३), पररूप (२७४) एवं **ङसिँङ्योः स्मात्स्मिनौ** (१५४) से ङसिँ को स्मात् आदेश करने से 'एतस्मात्' प्रयोग भी बनेगा।

सर्वनाम (अदस्) से तसिँल् का तीसरा उदाहरण यथा—

अमुष्मात्=अमुतः (उस से)। अदस्शब्द भी सर्वादियों में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है। 'अदस् ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त से स्वार्थ में पूर्ववत् तसिँल्, अनुबन्ध-लोप तथा अन्तर्वर्त्ती सुँप्प्रत्यय (ङसिँ) का भी लुक् करने पर—अदस्+तस्। तस् विभक्तिसञ्ज्ञक (११९७) है अतः विभक्ति के परे रहते **त्यदादीनामः** (१९३) से अदस् के सकार को अत्व एवम् **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश करने से—अद+तस्। पुनः **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) सूत्रद्वारा 'द' को 'मु' कर विभक्तिकार्य करने से 'अमुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तसिँल् के अभाव में—अदस्+ङसिँ, अद+ङसिँ (१९३), अद+स्मात् (१५४), 'अमुष्मात्' (३५६) प्रयोग भी बनेगा।

सर्वनाम (यद्) से तसिँल् का चौथा उदाहरण यथा—

यस्मात्=यतः (जिस से, जिस कारण से)। यद्शब्द भी सर्वादियों में परि-गणित होने से सर्वनाम है। 'यद् ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त सर्वनाम से स्वार्थ में पूर्ववत् तसिँल्, अनुबन्धलोप तथा अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति (ङसिँ) का लुक् करने से—यद्+तस्। त्यदाद्यत्व (१९३) और पररूप एकादेश (२७४) करने पर—य+तस्=यतस्। सुँविभक्ति ला कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् एवं प्रकृति के सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'यतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तसिँल् के अभाव में त्यदाद्यत्व, पररूप तथा **ङसिँङ्योः स्मात्स्मिनौ** (१५४) से ङसिँ को स्मात् आदेश करने पर 'यस्मात्' भी बनेगा।

इसीप्रकार—तस्मात् = ततः । एकस्मात् = एकतः । सर्वस्मात् = सर्वतः । इत्यादियों की प्रक्रिया समझनी चाहिये ।

बहुशब्द से तसिँल् का उदाहरण यथा—

बहुभ्यः = बहुतः (बहुतों से) । 'बहु भ्यस्' से स्वार्थ में **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) द्वारा तसिँल्प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से—बहुतस् = 'बहुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । तसिँल् के अभाव में 'बहुभ्यः' बनेगा ।[1]

'अद्वयादिभ्यः' कथन के कारण द्विआदि सर्वनामों से तसिँल् नहीं होता । अतः 'द्वाभ्याम्' के स्थान पर 'द्वितः' का प्रयोग नहीं होता ।[2]

अब परि और अभि अव्ययों से परे भी तसिँल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०३) पर्यभिभ्यां च ।५।३।९।।

आभ्यां तसिँल् स्यात् । परितः, सर्वत इत्यर्थः । अभितः, उभयत इत्यर्थः ।।

अर्थः—परि और अभि अव्ययों से परे भी स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तसिँल् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—पर्यभिभ्याम् ।५।२। च इत्यव्ययपदम् । तसिँल् ।१।१। (**पञ्चम्यास्तसिँल्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—परिश्च अभिश्च ताभ्याम् = पर्यभिभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(पर्यभिभ्याम्) 'परि' और 'अभि' अव्ययों से परे भी स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तसिँल्) तसिँल् प्रत्यय हो जाता है ।

सर्व-अर्थ में वर्त्तमान 'परि' अव्यय से तथा उभय (दोनों) अर्थ में वर्त्तमान 'अभि' अव्यय से यहां तसिँल् करना अभीष्ट है । जैसाकि वार्त्तिककार ने कहा है—**सर्वोभयार्थाभ्यामेव** (वा०) । उदाहरण यथा—

परि = परितः (सब ओर, चहुँ ओर) । अभि = अभितः (दोनों ओर) । यहां 'परि' अव्यय सर्वार्थक एवम् 'अभि' अव्यय उभयार्थक है अतः प्रकृत **पर्यभिभ्यां च** (१२०३) सूत्रद्वारा इन से तसिँल् प्रत्यय ला कर अनुबन्धलोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'परितः' और 'अभितः' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । इन के योग में **अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि** (वा०) इस वार्त्तिक से द्वितीया विभक्ति का विधान किया गया है । यथा—

अभितः केशवं गोपा गावस्तं परितः स्थिताः । (प्रक्रियासर्वस्वे)

नोट—समीप अर्थ में भी 'अभितः' बहुत प्रसिद्ध है परन्तु यह इस का लाक्ष-

---

१. ध्यान रहे कि संख्यावाचक बहुशब्द से ही तसिँल् इष्ट है वैपुल्यवाची से नहीं—यह पीछे (११९८) सूत्र पर बताया जा चुका है । अतः 'बहोः सूपात्' (विशाल छाज से) यहां तसिँल् नहीं होता ।

२. **नूनं मत्तः परं वंश्याः**—(रघु० १.६६) इत्यादिषु **आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्** (वा० ९६) इति सार्वविभक्तिकस्तसिर्बोध्यः ।

२जप्रमी त्रल्

णिक अर्थ समझना चाहिये क्योंकि जो दोनों ओर होता है वह समीप ही होता है। समीप अर्थ में प्रयोग यथा—

(क) **ततो राजाऽब्रवीद् वाक्यं सुमन्त्रमभितः स्थितम्** । (रामायण १.११.४)

(ख) **श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ** । (महाभारत विराट्० ३८.५)

अब प्राग्दिशीय त्रल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२०४) सप्तम्यास्त्रल्** ।५।३।१०॥

(सप्तम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्त्रल् वा स्यात्) । कुत्र । यत्र । तत्र । बहुत्र ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त किम् आदि पूर्वोक्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में विकल्प से त्रल् तद्धितप्रत्यय हो ।

व्याख्या—सप्तम्याः ।५।१। त्रल् ।१।१। **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** यह प्रकृति पूर्वतः अधिकृत है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । 'सप्तम्याः' से तदन्तविधि होकर बहुवचनान्ततया विपरिणाम करने से 'सप्तम्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(सप्तम्याः=सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त (किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम्, द्व्यादिभिन्न सर्वनाम तथा बहु—इन प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (त्रल्) त्रल् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है ।

त्रल् प्रत्यय का लकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'त्र' मात्र शेष रहता है । लकार अनुबन्ध **लिति** (६.१.१८७) सूत्रद्वारा उदात्तत्वविधान के लिये जोड़ा गया है ।

किम् से त्रल् का उदाहरण यथा—

कस्मिन्=कुत्र (किस पर, किस में, कहां पर) । 'किम् ङि' यहां सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) सूत्रद्वारा त्रल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **कु तिहोः** (१२००) से किम् के स्थान पर 'कु' यह सर्वादेश करने पर—कुत्र । विभक्ति (सुँ) लाने पर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा उस का लुक् हो जाने से 'कुत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में सुँबन्तप्रक्रिया के अनुसार 'कस्मिन्' प्रयोग भी रहेगा । अन्य वचनों एवं स्त्रीलिङ्ग में भी 'कुत्र' रूप निर्बाध रहेगा—कयोः=कुत्र, केषु=कुत्र, कस्याम्=कुत्र, कयोः=कुत्र, कासु=कुत्र ।

सर्वनाम (यद्) से त्रल् का उदाहरण यथा—

यस्मिन्=यत्र (जिस में, जिस पर, जहां पर) । यहां पर सप्तम्यन्त सर्वनाम 'यद् ङि' से स्वार्थ में **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुँप् (ङि) का भी लुक् (७२१) कर देने पर—यद्+त्र । 'त्र' प्रत्यय की **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से विभक्तिसञ्ज्ञा है अतः विभक्ति के परे रहते **त्यदादीनामः** (१९३) से यद् के दकार को अत्व तथा **अतो गुणे** (२७४) से पररूप

एकादेश करने पर 'यत्र' बना । अब इस से औत्सर्गिक सुँविभक्ति ला कर उस का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने से 'यत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । त्रल् के अभाव में 'यस्मिन्' भी रहेगा ।

सर्वनाम (तद्) से त्रल् का उदाहरण यथा—

तस्मिन्=तत्र (उस में, उस पर, वहां पर) । 'तद् ङि' से स्वार्थ में त्रल्, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, त्यदाद्यत्व, पररूप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'तत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—सर्वस्मिन्=सर्वत्र । अन्यस्मिन्=अन्यत्र । एकस्मिन्=एकत्र । उभयस्मिन्=उभयत्र । विश्वस्मिन्=विश्वत्र । एतस्मिन्=अत्र ।[1] अमुष्मिन्=अमुत्र ।[2] इत्यादि ।

द्वयादियों से यह त्रल् नहीं होता अतः 'द्वयोः' ही रहेगा, त्रल्प्रत्ययान्त रूप नहीं बनेगा ।

अब 'इदम्' सर्वनाम से त्रल् के अपवाद 'ह' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०५) **इदमो हः ।५।३।११।।**

(सप्तम्यन्ताद् इदमो हः प्रत्ययः स्यात्) । त्रलोऽपवादः । इह ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त 'इदम्' सर्वनाम से स्वार्थ में तद्धितसंज्ञक 'ह' प्रत्यय हो । यह पूर्वोक्त त्रल् का अपवाद है ।

व्याख्या—इदमः ।५।१। हः ।१।१। सप्तम्याः ।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(सप्तम्याः=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (इदमः) इदम् से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (हः) 'ह' प्रत्यय हो जाता है।

सर्वनाम होने से इदम्शब्द से पूर्वसूत्रद्वारा त्रल् प्राप्त था, उस का अपवाद यह 'ह' प्रत्यय विधान किया जा रहा है । उदाहरण यथा—

अस्मिन्=इह (इस में, इस पर, यहां पर) । 'इदम् ङि' से **सप्तम्यास्त्रल्** (१०२४) सूत्रद्वारा त्रल् प्राप्त था परन्तु उस का बाध कर प्रकृत **इदमो हः** (१२०५) सूत्र से 'ह' प्रत्यय हो जाता है—इदम् ङि+ह । प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् हो कर—इदम्+ह । 'ह' प्रत्यय प्राग्दिशीय है अतः इस के परे रहते **इदम् इश्** (१२०१) सूत्र से इदम् के स्थान पर इश् (इ) सर्वादेश हो जाता है—इश्+ह=इह । अब सुँविभक्ति ला कर उस का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने से 'इह' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'वा' अधिकार के कारण 'अस्मिन्' भी रहेगा ।

अब सप्तम्यन्त किम्शब्द से अत् प्रत्यय का भी विधान करते हैं—

---

१. **अन्** (१२०२) इत्यनेन एतदोऽन् इत्यादेशे नलोपः (१८०) ।

२. सप्तम्यन्ताद् अदस्शब्दात् त्रलि, सुँब्लुकि, त्यदाद्यत्वे, पररूपे, **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) इति मुत्वे च कृते रूपं सिध्यति ।

सप्तमी अत् त्रल्

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०६) **किमोऽत्** ।५।३।१२॥

वाग्रहणमपकृष्यते । सप्तम्यन्तात् किमोऽद्वा स्यात् । पक्षे त्रल् ॥

अर्थः— इस सूत्र में अग्रिमसूत्र से 'वा' पद का अपकर्षण किया जाता है । सप्तम्यन्त 'किम्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसंज्ञक अत् प्रत्यय विकल्प से हो । पक्ष में त्रल् हो जायेगा ।

व्याख्या—किमः ।५।१। अत् ।१।१। सप्तम्याः ।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से) । वा इत्यव्ययपदम् (**वा ह च च्छन्दसि** इस अग्रिमसूत्र से) ।[1] **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः—(सप्तम्याः=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (किमः) किम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अत्) अत् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है ।

अत् में तकार इत् है, 'अ' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध **तित्स्वरितम्** (६.१.१७६) सूत्रद्वारा स्वरितस्वरार्थ जोड़ा गया है ।[2]

अब अत्प्रत्यय के परे रहते 'किम्' को 'क्व' आदेश का विधान करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०७) **क्वाऽति** ।७।२।१०५॥

किमः 'क्व' इत्यादेशः स्यादति । क्व, कुत्र ॥

अर्थः—अत् प्रत्यय के परे रहते 'किम्' के स्थान पर 'क्व' आदेश हो ।

व्याख्या—क्व इतिलुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । अति ।७।१। किमः ।६।१। (**किमः कः** सूत्र से) । अर्थः—(अति) अत् प्रत्यय के परे रहते (किमः) किम् के स्थान पर (क्व) 'क्व' आदेश हो । यह **किमः कः** (२७१) द्वारा प्राप्त 'क' आदेश का अपवाद है ।

'क्व' आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा सम्पूर्ण किम् के स्थान पर होगा । उदाहरण यथा—

कस्मिन्=क्व, कुत्र (किस में, किस पर, कहां पर) । 'किम् ङि' इस सप्तम्यन्त से स्वार्थ में **किमोऽत्** (१२०६) सूत्र से अत् प्रत्यय, तकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाने से उस के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् (७२१) करने पर —किम्+अ । अब अत् प्रत्यय के परे रहते **क्वाऽति** (१२०७) सूत्र से किम् के स्थान पर क्व सर्वादेश हो कर **यस्येति च** (२३६) से वकारोत्तर भसंज्ञक अकार का

१. ध्यान रहे कि जैसे पूर्वसूत्रों से अगले सूत्रों में पदों का अनुवर्त्तन होता है वैसे अगले सूत्रों से पूर्व के सूत्रों में भी पदों का अपकर्षण हुआ करता है । परन्तु यह अपकर्षण विरल स्थानों पर प्रयोजनसिद्ध्यर्थ ही हुआ करता है सर्वत्र नहीं ।

२. ध्यातव्यं यदत्र **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) इति निषेधो न प्रवर्त्तते यत **इदमस्थमुँः** (१२१६) इति थमोरुकारेण मकारपरित्राणार्थेनास्यानित्यत्वं ज्ञाप्यते । [विस्तरस्तु तत्रस्थटिप्पणतोऽवगन्तव्यः] ।

लोप करने से[1]—क्व्+अ=क्व । सुँविभक्ति ला कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् करने पर 'क्व' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । अत् प्रत्यय विकल्प से होता है अतः अत् के अभावपक्ष में **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् प्रत्यय हो कर **कु तिहोः** (१२००) से किम् को कु सर्वादेश करने से पूर्ववत् 'कुत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । **समर्थानां प्रथमाद्वा** (६६७) सूत्रोक्त 'वा' इस महाविभाषा के कारण 'कस्मिन्' यह सप्तम्यन्त प्रयोग भी रहता है ।

अब कुछ अन्यविभक्त्यन्तों से भी तसिँल् और त्रल् आदि पूर्वोक्त प्रत्ययों का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०८) इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ।५।३।१४।।

पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिँलादयो दृश्यन्ते । दृशिग्रहणाद् भवदादियोग एव । स भवान् । ततो भवान् । तत्रभवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्रभवन्तम् । एवं दीर्घायुः, देवानांप्रियः, आयुष्मान् ॥

अर्थः—पञ्चमी और सप्तमी के अतिरिक्त अन्यविभक्त्यन्त किम्आदियों से भी तसिँल् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं । **दृशिग्रहणात्**—'देखे जाते हैं' इस कथन के कारण भवतुँ (आप) आदि शब्दों के योग में ही इन प्रत्ययों की प्रवृत्ति समझनी चाहिये ।

व्याख्या—इतराभ्यः ।५।३। अपि इत्यव्ययपदम् । दृश्यन्ते इति दृशिधातोः कर्मणि लँटि प्रथमपुरुषबहुवचनान्तं रूपम् । तसिँलादयः ।१।३। (**पञ्चम्यास्तसिँल्, सप्तम्यास्त्रल्** आदि सूत्रों से) । **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** (११९८) यह अधिकृत है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं । **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) द्वारा पञ्चम्यन्त से तसिँल् तथा **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) द्वारा सप्तम्यन्त से त्रल् प्रत्यय का पीछे विधान कर चुके हैं । पञ्चमी और सप्तमी से भिन्न अन्यविभक्त्यन्तों से भी तसिँल् और त्रल् आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति के लिये यह सूत्र बनाया गया है । अर्थः—(इतराभ्यः) पञ्चमी और सप्तमी के अतिरिक्त जो अन्य विभक्तियां तदन्त (किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम् आदि प्रातिपदिकों से (अपि) भी (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (तसिँलादयः) तसिँल् त्रल् आदि पूर्वोक्त प्रत्यय (दृश्यन्ते) देखे जाते हैं ।

'दृश्यन्ते' कथन से यह सूचित होता है कि ये प्रत्यय जैसे शिष्टप्रयोगों में देखे जाते हैं वैसे ही प्रयुक्त करने चाहियें । शिष्टप्रयोगों में इतरविभक्त्यन्तों से ये प्रत्यय भवतुँ (आप), दीर्घायुष् (दीर्घ आयु वाला), देवानांप्रिय (देवताओं का प्यारा) तथा आयुष्मत् (बड़ी आयु वाला) इन चार शब्दों के योग में ही प्रायः[2] देखे जाते हैं, सो

१. कुछ लोग यहां **अतो गुणे** (२७४) सूत्रद्वारा पररूप किया करते हैं । परन्तु हमारे विचार में **वार्णादाङ्गं बलीयः** (५०) के अनुसार अङ्गकार्य **यस्येति च** (२३६) करना ही उचित है ।

२. प्रायः इसलिये कहा है कि कहीं कहीं भवतुँ आदि के योग के विना भी ये प्रत्यय देखे जाते हैं । यथा—**प्रायः पित्तलमम्लम् अन्यत्र दाडिमामलकात्** (चरक० सूत्र-स्थान २७.४) । यहां अन्यत्रशब्द अन्यत् इस प्रथमान्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

यहां भी इन चार भवतुँ आदि शब्दों के योग (सामानाधिकरण्य) में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति समझनी चाहिये।

भवतुँ (भवत्=आप) शब्द के योग में सर्वविभक्त्यन्त तद् शब्द से तसिँल्-त्रल् के उदाहरण यथा—

(प्रथमान्त से यथा) स भवान्—ततो भवान्। स भवान्—तत्रभवान्। यहां प्रथमान्त 'तद् सुँ' से भवतुँशब्द के योग में **इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते** (१२०८) सूत्र से तसिँल् और त्रल् प्रत्यय हो गये हैं। सुँप् का लुक् हो पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से ये रूप सिद्ध हुए हैं। इन के अभाव में 'स भवान्' यह भी रहेगा।

(द्वितीयान्त से यथा) तं भवन्तम्—ततो भवन्तम्। तं भवन्तम्—तत्रभवन्तम्। यहां द्वितीयान्त तद्शब्द से तसिँल् और त्रल् हो गये हैं। पक्ष में 'तं भवन्तम्' यह भी रहेगा।

(तृतीयान्त से यथा) तेन भवता—ततो भवता। तेन भवता—तत्रभवता। यहां तृतीयान्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तेन भवता' यह भी रहेगा।

(चतुर्थ्यन्त से यथा) तस्मै भवते—ततो भवते। तस्मै भवते—तत्रभवते। यहां चतुर्थ्यन्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्मै भवते' यह भी रहेगा।

(पञ्चम्यन्त से यथा) तस्माद् भवतः—ततो भवतः। तस्माद् भवतः—तत्रभवतः। यहां पञ्चम्यन्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्माद् भवतः' यह भी रहेगा।

(षष्ठ्यन्त से यथा) तस्य भवतः—ततो भवतः। तस्य भवतः—तत्रभवतः। यहां षष्ठ्यन्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्य भवतः' यह भी रहेगा।

(सप्तम्यन्त से यथा) तस्मिन् भवति—ततो भवति। तस्मिन् भवति—तत्रभवति। यहां सप्तम्यन्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्मिन् भवति' भी रहेगा।[1]

इन विभक्तियों के द्विवचन और बहुवचन में भी तसिँल् और त्रल् करने पर यही रूप बनते हैं। हां! भवतुँ आदि शब्दों में तथा विग्रहवचन में अन्तर तो होगा ही।

इसीप्रकार दीर्घायुष्[2] के योग में भी सर्वविभक्त्यन्त तद्शब्द से तसिँल् और त्रल् हो जायेंगे। यथा—

(प्रथमान्त से) स दीर्घायुः—ततो दीर्घायुः, तत्रदीर्घायुः।

(द्वितीयान्त से) तं दीर्घायुषम्—ततो दीर्घायुषम्, तत्रदीर्घायुषम्।

(तृतीयान्त से) तेन दीर्घायुषा—ततो दीर्घायुषा, तत्रदीर्घायुषा।

---

१. ऐसे स्थानों पर किस विभक्त्यन्त से तसिँल् या त्रल् किया गया है—इसे जानने के लिये संलग्न भवतुँ आदि शब्दों की विभक्ति को देखना चाहिये। भवतुँ आदि में जो विभक्ति होगी उसीविभक्त्यन्त से तसिँल् या त्रल् किया गया समझा जायेगा।

२. दीर्घम् आयुर्यस्य स दीर्घायुः। बहुव्रीहिसमासः।

(चतुर्थ्यन्त से) तस्मै दीर्घायुषे—ततो दीर्घायुषे, तत्रदीर्घायुषे ।
(पञ्चम्यन्त से) तस्माद् दीर्घायुषः—ततो दीर्घायुषः, तत्रदीर्घायुषः ।
(षष्ठ्यन्त से) तस्य दीर्घायुषः—ततो दीर्घायुषः, तत्रदीर्घायुषः ।
(सप्तम्यन्त से) तस्मिन् दीर्घायुषि—ततो दीर्घायुषि, तत्रदीर्घायुषि ।
इसीप्रकार 'देवानांप्रियः'[1] के योग में—
(प्रथमान्त से) स देवानांप्रियः—ततो देवानांप्रियः, तत्रदेवानांप्रियः ।
(द्वितीयान्त से) तं देवानांप्रियम्—ततो देवानांप्रियम्, तत्रदेवानांप्रियम् ।
(तृतीयान्त से) तेन देवानांप्रियेण—ततो देवानांप्रियेण, तत्रदेवानांप्रियेण ।
(चतुर्थ्यन्त से) तस्मै देवानांप्रियाय—ततो देवानांप्रियाय, तत्रदेवानांप्रियाय ।
(पञ्चम्यन्त से) तस्माद् देवानांप्रियात्—ततो देवानांप्रियात्, तत्रदेवानांप्रियात् ।
(षष्ठ्यन्त से) तस्य देवानांप्रियस्य—ततो देवानांप्रियस्य, तत्रदेवानांप्रियस्य ।
(सप्तम्यन्त से) तस्मिन् देवानांप्रिये—ततो देवानांप्रिये, तत्रदेवानांप्रिये ।
इसीप्रकार 'आयुष्मत्'[2] के योग में—
(प्रथमान्त से) स आयुष्मान्—तत आयुष्मान्, तत्रायुष्मान् ।
(द्वितीयान्त से) तम् आयुष्मन्तम्—तत आयुष्मन्तम्, तत्रायुष्मन्तम् ।
(तृतीयान्त से) तेनायुष्मता—तत आयुष्मता, तत्रायुष्मता ।
(चतुर्थ्यन्त से) तस्मै आयुष्मते—तत आयुष्मते, तत्रायुष्मते ।
(पञ्चम्यन्त से) तस्मादायुष्मतः—तत आयुष्मतः, तत्रायुष्मतः ।
(षष्ठ्यन्त से) तस्यायुष्मतः—तत आयुष्मतः, तत्रायुष्मतः ।
(सप्तम्यन्त से) तस्मिन्नायुष्मति—तत आयुष्मति, तत्रायुष्मति ।

उपर्युक्त ये सब तद्शब्द से प्रत्यय दर्शाए गये हैं । एतद्, इदम् आदियों से भी इसीप्रकार भवतु आदि के योग में प्रत्ययों की उत्पत्ति समझ लेनी चाहिये । यथा—एष भवान्—अतो भवान्, अत्रभवान् । एतम्भवन्तम्—अतो भवन्तम्, अत्रभवन्तम् । एतेन भवता—अतो भवता, अत्रभवता ।[3] एतस्मै भवते—अतो भवते, अत्रभवते । एत-

---

१. देवानां प्रियः—देवानांप्रियः । अलुक्समासः । **षष्ठ्या आक्रोशे** (६.३.२०) इतिसूत्रस्थेन **देवानांप्रिय इति च** इति वार्त्तिकेन षष्ठ्या अलुक् । मूर्खार्थे प्रसिद्धोऽयं शब्दः । मूर्खा हि देवानां प्रीतिं जनयन्ति देवपशुत्वादिति मनोरमायां दीक्षिताः । अयमाशयः—ब्रह्मज्ञानरहितत्वात् संसारिणो मूर्खाः । ते तु यागादिकर्माण्यनुतिष्ठन्तः पुरोडाशादिप्रदानद्वारा देवानामत्यन्तं प्रीतिं जनयन्ति । ब्रह्मज्ञानिनस्तु न तथा, तेषां यागाद्यनुष्ठानाभावात् । अतो गवादिस्थानापन्नत्वाद् मूर्खा एव देवपशव इति ।
२. अतिशयितम् आयुरस्त्यस्येति आयुष्मान् । **तसौ मत्वर्थे** (११८६) इति भत्वाद् रुँत्वं न ।
३. **ह्रीमताऽत्रभवतैव भूयते**—(माघ० १४.२)

काल   दा।

स्माद् भवतः—अतो भवतः, अत्रभवतः। एतस्य भवतः—अतो भवतः, अत्रभवतः। एतस्मिन् भवति—अतो भवति, अत्रभवति।

विशेष वक्तव्य—अत्रभवान्, तत्रभवान् आदि पूज्य अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।[1] पूज्य व्यक्ति यदि वक्ता के समक्ष हो तो 'अत्रभवान्' तथा दूर हो तो 'तत्रभवान्' का प्रयोग किया जाता है। काव्यकोश आदियों में ये एकशब्द के रूप में पढ़े जाते हैं। मल्लिनाथ ने अत्रभवान् तथा तत्रभवान् में सुँप्सुँपासमास माना है (देखें माघ० १४.२; किरात० ११.१८)।

अब प्राग्दिशीय 'दा' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०९)

सर्वैकाऽन्य-किं-यत्-तदः काले दा।५।३।१५॥

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात्॥

अर्थः—काल अर्थ में वर्त्तमान सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् इन सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'दा' प्रत्यय हो।

व्याख्या—सर्वैकाऽन्यकियत्तदः।५।१। काले।७।१। दा इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। सप्तम्याः।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—सर्वश्च एकश्च अन्यश्च किं च यत् च तत् चैषां समाहारः सर्वैकान्यकियत्तद्, तस्मात्=सर्वैकान्यकियत्तदः, समाहारद्वन्द्वः, समासान्ताभावः सौत्रः। अर्थः—(काले) काल अर्थ में वर्त्तमान (सर्वैकान्यकियत्तदः) सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् इन (सप्तम्याः=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (दा) 'दा' प्रत्यय हो जाता है। **अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति** के अनुसार यह प्रत्यय भी पूर्ववत् स्वार्थ में ही होता है।

'काले' कथन से यहां प्रत्यय का अर्थ नहीं कहा गया अपितु प्रातिपदिक की उपाधि वर्णित की गई है। तात्पर्य यह है कि सर्व आदि शब्द किसी भी विषय में प्रयुक्त हो सकते हैं, परन्तु जब काल के विषय में प्रयुक्त होंगे तो इन से 'दा' प्रत्यय होगा। अत एव लौकिकविग्रह में 'काले' शब्द का प्रयोग होता है किन्तु तद्धितवृत्ति में वृत्ति के अन्तर्गत हो जाने से उस का प्रयोग नहीं होता।

यह सूत्र **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) द्वारा प्राप्त त्रल् प्रत्यय का अपवाद है। काल से अतिरिक्त विषय में त्रल् ही होगा। उदाहरण यथा—

सर्वस्मिन् काले—सदा, सर्वदा (सब काल में अर्थात् हमेशा)। यहां सर्वशब्द काल में वर्त्तमान है अतः 'सर्व ङि' इस सप्तम्यन्त से **सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा** (१२०९) सूत्र से 'दा' प्रत्यय हो कर प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङि) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने से 'सर्व+दा' हुआ। अब इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. **पूज्ये तत्रभवानत्रभवांश्च भगवानपि**—इति हैमकोषः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१०)

सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ।५।३।६।।

दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात्। सर्वस्मिन् काले—सदा, सर्वदा। अन्यदा। कदा। यदा। तदा। काले किम्? सर्वत्र देशे।।

अर्थः—दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे हो तो सर्वशब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो।

व्याख्या—सर्वस्य।६।१। सः।१।१। अन्यतरस्याम्।७।१। दि।७।१। 'प्राग्दिशः' यह अधिकृत है। **प्रत्ययः** यह भी अधिकृत है। 'प्रत्ययः' को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर उस के साथ 'दि' को सम्बद्ध किया जाता है तब **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (५०) से तदादिविधि हो कर 'दकारादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। 'प्राग्दिशः' को भी इसी का विशेषण बना कर 'प्राग्दिशीये' कर लिया जाता है। अर्थः—(दि=दकारादौ) दकारादि (प्राग्दिशीये प्रत्यये) प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर (सर्वस्य) सर्वशब्द के स्थान पर (सः) 'स' यह सस्वर आदेश (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में 'सर्व' ही रहता है अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है।

'स' आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) से सम्पूर्ण 'सर्व' के स्थान पर होता है।

'सर्व+दा' यहां 'दा' यह दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे है अतः प्रकृत **सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि** (१२१०) सूत्र से 'सर्व' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है—स+दा=सदा। पक्ष में—सर्व+दा=सर्वदा। दोनों की **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञा हो कर इन से परे आने वाले औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'सदा' और 'सर्वदा' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

एकस्मिन् काले—एकदा (एक काल में, एक बार)। यहां काल अर्थ में वर्त्तमान 'एक ङि' से **सर्वैकान्य०** (१२०६) सूत्र से स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय हो कर पूर्ववत् सुँब्लुक् और विभक्त्यादिकार्य करने से 'एकदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अन्यस्मिन् काले—अन्यदा (अन्य समय में)। यहां 'अन्य ङि' से **सर्वैकान्य०** (१२०६) सूत्रद्वारा 'दा' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् और विभक्त्यादिकार्य करने से 'अन्यदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कस्मिन् काले—कदा (किस काल में, कब)। यहां 'किम् ङि' से **सर्वैकान्यकिं०** (१२०६) सूत्रद्वारा 'दा' प्रत्यय हो जाता है। 'दा' प्रत्यय की **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११६७) से विभक्ति संज्ञा है। अतः सुँब्लुक् करने के अनन्तर 'दा' विभक्ति के परे रहते **किमः कः** (२७१) से 'किम्' को 'क' सर्वादेश हो कर—क+दा=कदा। अव्यय होने से सुँविभक्ति का लुक् करने पर 'कदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कदागुरोकसो भवन्तः? (कदा+अगुः+ओकसः+भवन्तः, आप लोग घर से कब गये?)।

सप्तमी
हिल्

यस्मिन् काले—यदा (जिस काल में, जब)। यहां 'यद् ङि' से **सर्वैकान्यकियत्तदः०** (१२०६) से स्वार्थ में दाप्रत्यय, सुँब्लुक् तथा 'दा' की विभक्तिसञ्ज्ञा कर उस के परे रहते **त्यदादीनामः** (१९३) द्वारा दकार को अत्व और **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश करने पर—य+दा=यदा। अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् करने से 'यदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

तस्मिन् काले—तदा (उस काल में, तब)। यहां 'तद् ङि' से स्वार्थ में **सर्वैकान्यकियत्तदः०** (१२०६) से दाप्रत्यय, सुँब्लुक्, त्यदाद्यत्व, पररूप तथा अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् करने से 'तदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सर्व आदि शब्द यदि काल अर्थ में वर्त्तमान न होंगे तो 'दा' न होगा। तब **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् ही होगा। यथा—सर्वत्र देशे। यहां देश में वर्त्तमान होने से 'सर्व ङि' से दाप्रत्यय न होकर त्रल् ही हुआ है। इसीप्रकार—एकत्र स्थाने, अन्यत्र प्रदेशे, कुत्र स्थाने, यत्र गृहे, तत्र ग्रामे आदियों में समझना चाहिये।

अब काल अर्थ में वर्त्तमान इदम्शब्द से 'हिल्' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२११) इदमो हिल्।५।३।१६॥

सप्तम्यन्तात् काल इत्येव॥

अर्थः—काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त 'इदम्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में हिल् प्रत्यय हो।

व्याख्या—इदमः।५।१। हिल्।१।१। काले।७।१। (**सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा** सूत्र से)। सप्तम्याः।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(काले) काल अर्थ में वर्त्तमान (सप्तम्याः=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (इदमः) इदम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (हिल्) हिल् प्रत्यय हो जाता है। **इदमो हः** (१२०५) सूत्र का यह अपवाद है।

हिल् में लकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है, 'हि' मात्र अवशिष्ट रहता है। लित्स्वर (६.१.१८७) के लिये लकार अनुबन्ध जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

अस्मिन् काले—एतर्हि (इस काल में, अब)। यहां काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त 'इदम् ङि' से स्वार्थ में प्रकृत **इदमो हिल्** (१२११) सूत्र से हिल् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप एवं सुँप् का भी लुक् कर देने से—इदम्+हि। अब **इदम इश्** (१२०१) से इदम् के स्थान पर इश् आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का बाधक अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१२) एतेतौ रथोः।५।३।४॥

इदम्शब्दस्य एत-इत् इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये। अस्मिन् काले—एतर्हि। काले किम्? इह देशे॥

अर्थः—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते इदम् के स्थान पर 'एत' और 'इत्' आदेश हों।

व्याख्या—एतेतौ ।१।२। रथोः ।७।२। इदमः ।६।१। (**इदम इश्** सूत्र से)। 'प्राग्दिशः' का अनुवर्त्तन चल रहा है। **प्रत्ययः, परश्च** आदि अधिकृत हैं। समासः—एतश्च इत् च एतेतौ, इतरेतरद्वन्द्वः। रश्च थ् च रथौ, तयोः = रथोः, इतरेतरद्वन्द्वः। रेफादकार उच्चारणार्थः। 'प्रत्ययः' को विभक्ति और वचन के विपरिणाम से 'प्रत्यययोः' बना लिया जाता है। 'रथोः' यह 'प्रत्यययोः' का विशेषण है अतः **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प०) से तदादिविधि हो कर 'रेफादौ थकारादौ च प्रत्यये' उपपन्न हो जाता है। अर्थः—(प्राग्दिशः = प्राग्दिशीये) प्राग्दिशीय (रेफादौ थकारादौ च प्रत्यये) रेफादि और थकारादि प्रत्यय के परे रहते (इदमः) 'इदम्' के स्थान पर (एत-इतौ) 'एत' और 'इत्' आदेश हो जाते हैं।

यथासंख्यपरिभाषा से रेफादि परे होने पर 'एत' आदेश तथा थकारादि परे रहते 'इत्' आदेश होता है। यह **इदम इश्** (१२०१) का अपवाद है। ध्यान रहे कि एत आदेश अदन्त है और इत् आदेश तकारान्त। अनेकाल् होने से दोनों सर्वादेश हो जाते हैं।

'इदम्+र्हि' यहां रेफादि र्हिल् प्रत्यय परे है, यह प्राग्दिशीय भी है, अतः प्रकृत **एतेतौ रथोः** (१२१२) सूत्र से इदम् के स्थान पर 'एत' सर्वादेश हो कर—एत+र्हि= एतर्हि। पुनः **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञा हो कर अव्यय से परे आये हुए सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने पर 'एतर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त इसी इदम् शब्द से **अधुना** (५.३.१७) सूत्र-द्वारा 'अधुना' प्रत्यय तथा **इदम इश्** (१२०१) सूत्र से इदम् के स्थान पर इश् सर्वादेश कर **यस्येति च** (२३६) से उस का लोप करने से प्रत्ययमात्रावशिष्ट 'अधुना' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीतरह **दानीं च** (५.३.१८) सूत्रद्वारा इदम् से दानीम् प्रत्यय तथा **इदम इश्** (१२०१) से इश् सर्वादेश कर 'इदानीम्' प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार कालवाची सप्तम्यन्त इदम्शब्द से र्हिल्, अधुना और दानीम् ये तीन प्रत्यय हो कर क्रमशः एतर्हि, अधुना और इदानीम् ये तीन रूप बनते हैं।[2]

काल अर्थ में वर्त्तमान न होने पर इदम् से परे र्हिल् आदि प्रत्यय न होंगे। **इदमो हः** (१२०५) से 'ह' प्रत्यय हो कर **इदम इश्** (१२०१) से इश् सर्वादेश करने से 'इह' बनेगा। यथा—इह देशे।

अब अनद्यतनकाल में किम् आदियों से भी र्हिल् प्रत्यय का वैकल्पिक विधान करते हैं—

---

१. **भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हितं**
विवर्त्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः
शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः॥ (किरात० १.३२)

२. **एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा** इत्यमरः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१३)

अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ।५।३।२१॥

अनद्यतनकालवृत्तिभ्यः किमादिभ्यो र्हिल् प्रत्ययो वा स्यात् । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा ।

अर्थः—अनद्यतनकाल[1] में वर्त्तमान किम् आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञक र्हिल् प्रत्यय विकल्प से हो ।

व्याख्या—अनद्यतने ।७।१। र्हिल् ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। सप्तम्याः ।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से) । **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** यह अधिकृत है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः— (अनद्यतने) अद्यतन से भिन्न काल में वर्त्तमान (किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम्, द्व्यादिभिन्न सर्वनाम तथा बहु इन (सप्तम्याः=सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (र्हिल्) र्हिल् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाता है । इस के यथासम्भव उदाहरण यथा[2]—

कस्मिन् अनद्यतने काले— कर्हि, कदा (किस अनद्यतन काल में, कब) । यहां 'किम् ङि' इस अनद्यतनकालवर्त्ती सप्तम्यन्त किम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में **अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्** (१२१३) सूत्रद्वारा विकल्प से र्हिल् प्रत्यय, लकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक् तथा र्हिल् की विभक्तिसञ्ज्ञा (११९७) होने से **किमः कः** (२७१) सूत्र से किम् को 'क' सर्वादेश तथा अन्त में अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'कर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । र्हिल् के अभाव में **सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा** (१२०९) से दा प्रत्यय हो कर किम् को क आदेश (२७१) करने से 'कदा' प्रयोग बनेगा ।

यस्मिन् अनद्यतने काले—यर्हि, यदा (जिस अनद्यतन काल में, जब) । यहां अनद्यतनकाल में वर्त्तमान 'यद् ङि' से **अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्** (१२१३) सूत्रद्वारा विकल्प से र्हिल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, त्यदाद्यत्व (१९३), पररूप (२७४) तथा अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'यर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में **सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा** (१२०९) से दाप्रत्यय हो कर त्यदाद्यत्व, पररूप और विभक्तिकार्य करने से 'यदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार— तस्मिन् अनद्यतने काले—तर्हि, तदा (उस अनद्यतन काल में, तब) ।

एतस्मिन् अनद्यतने काले— एतर्हि, अत्र (इस अनद्यतन काल में, अब) । यहां अनद्यतनकाल में वर्त्तमान 'एतद् ङि' से **अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्** (१२१३) सूत्रद्वारा

---

१. **अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतनः कालः** (काशिका) । अद्यतन-अनद्यतन की व्याख्या पीछे (३९१) सूत्राङ्क पर विस्तार से की जा चुकी है; वह यहां पुनर्ध्यातव्य है ।

२. **विधिरयं किंयत्तदन्येभ्य एवेति** भोजः । परं पाणिनीया एतदोऽपीच्छन्ति ।

विकल्प से र्हिल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङि) का भी लुक् कर देने से—एतद्+र्हि । अब इस अवस्था में एतद् के स्थान पर **अन्** (१२०२) सूत्रद्वारा अन् आदेश प्राप्त होता है । इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र **प्रवृत्त होता है—**

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१४) एतदः ।५।३।५।।

एतद एत-इत् एतौ स्तो रेफादौ थादौ च प्राग्दिशीये । एतस्मिन् (अनद्यतने) काले—एतर्हि ।।

अर्थः—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते एतद् के स्थान पर क्रमशः एत और इत् आदेश हों ।

व्याख्या—योगाविभागद्वारा पाणिनीय **एतदोऽन्** (५.३.५) सूत्र के दो खण्ड किये जाते हैं । पहला खण्ड है—**एतदः** । और दूसरा खण्ड है—अन् ।[1] द्वितीखण्ड की व्याख्या (१२०२) सूत्राङ्क पर की जा चुकी है । यहां प्रथमखण्ड की व्याख्या प्रस्तुत है । एतदः ।६।१। एतेतौ ।१।२। रथोः ।७।२। (**एतेतौ रथोः** सूत्र से) । प्राग्दिशीय प्रत्ययों का प्रकरण चल रहा है अतः 'रथोः' को उस का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये' ऐसा उपपन्न हो जाता है । अर्थः—(रथोः=रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये) रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते (एतदः) एतद् के स्थान पर (एतेतौ) एत और इत् आदेश हो जाते हैं । यथासंख्यपरिभाषा (२३) के अनुसार रेफादिप्रत्यय के परे रहते 'एत' आदेश तथा थकारादि प्रत्यय के परे रहते 'इत्' आदेश होगा । उदाहरण यथा—

---

१. पाणिनि ने **एतदोऽन्** (५.३.५) यह एक सूत्र बनाया है । जिस का अर्थ है—एतद्-शब्द के स्थान पर 'अन्' सर्वादेश हो प्राग्दिशीयप्रत्यय के परे रहते । इस से—'एतस्मात्=अतः, एतस्मिन्=अत्र' ये सिद्ध हो जाते हैं । परन्तु रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीयों में इदम्शब्द की तरह (देखें १२१२) एतद् को भी क्रमशः एत और इत् आदेश करने अभीष्ट हैं – एतस्मिन् काले एतर्हि, एतेन प्रकारेण इत्थम् । इन दोनों अर्थों की सिद्धि के लिये महाभाष्य में **एतदोऽन्** (५.३.५) इस एक सूत्र के दो खण्ड किये गये हैं जिसे योगविभाग (योग=सूत्र का विभाग) कहते हैं । इस का प्रथम खण्ड है—**एतदः** । इस में **एतेतौ रथोः** (१२१२) सूत्र का अनुवर्त्तन हो कर यह अर्थ उपलब्ध हो जाता है—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीयों के परे रहते एतद् को क्रमशः एत और इत् आदेश हो जाते हैं । द्वितीय खण्ड है—**अन्** । यहां 'एतदः' का अनुवर्त्तन हो कर यह अर्थ हो जाता है—एतद् के स्थान पर अन् आदेश हो प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते ।
इस प्रकार योगविभागद्वारा दोनों अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो कर यथेष्ट रूप उपपन्न हो जाते हैं कोई दोष नहीं आता ।

प्रकार वचने थाल्

'एतद् + र्हि' यहां रेफादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे है अतः प्रकृत **एतदः** (१२१४) से 'एतद्' के स्थान पर 'एत' सर्वादेश हो कर—एत + र्हि = एतर्हि। अब अव्ययसञ्ज्ञा (३६८) के कारण सुँविभक्ति का लुक् करने से 'एतर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस पक्ष में र्हिल् न होगा वहां **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, **अन्** (१२०२) सूत्रद्वारा एतद् के स्थान पर अन् सर्वादेश, **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का लोप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'अत्र' बनेगा।

थकारादि में एतद् को इत् आदेश का उदाहरण 'इत्थम्' है। इस की सिद्धि आगे (१२१६) सूत्र पर देखें।

अब प्रकार में वर्त्तमान किम् आदियों से प्राग्दिशीय थाल् (था) प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१५) प्रकारवचने थाल् ।५।३।२३॥

प्रकारवृत्तिभ्यः[1] किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे। तेन प्रकारेण—तथा। यथा॥

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान किम् आदियों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थाल् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्रकारवचने ।७।१। (पञ्चम्यर्थे सप्तमीति नागेशः)। थाल् ।१।१। **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** यह अधिकृत है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दिशो विभक्तिः** इत्यादि भी पूर्ववत् अधिकृत हैं। उच्यतेऽनेनेति वचनम्। प्रकारस्य वचनम् प्रकारवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। सामान्यस्य भेदको विशेषोऽत्र प्रकारः। बहुभिः प्रकारैर्भुङ्क्त इत्यतो बहुभिर्विशेषैरित्यवगमात्। सादृश्यं तु नेह गृह्यते, सर्वथेत्यादौ तदप्रतीतेः। यथा हरिस्तथा हर इत्यादौ यत्प्रकारवान् हरिस्तत्प्रकारवान् हर इति बोधे जाते हरिसदृशो हर इति फलति। तदभिप्रायेण यथाशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वोक्तिः। अर्थः—(प्रकारवचने = प्रकारवद्वृत्तिभ्यः) प्रकारवान् अर्थ में वर्त्तमान (किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम्, द्व्यादिभिन्न सर्वनाम तथा बहु प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (थाल्) थाल् प्रत्यय हो जाता है।[2]

थाल् में लकार इत् है, 'था' मात्र अवशिष्ट रहता है। लकार अनुबन्ध लित्स्वर (६.१.१८७) के लिये जोड़ा गया है। सूत्र के उदाहरण यथा—

तेन प्रकारेण (विशिष्टः)[3]—तथा (उस विशेष से विशिष्ट, उस प्रकार वाला, वैसा)। यहां 'तद् टा' इस प्रकारवद्वृत्ति तद् सर्वनाम से **प्रकारवचने थाल्** (१२१५) सूत्र से थाल् प्रत्यय, अनुबन्ध लकार का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से

---

१. वचनग्रहणात् प्रकारवद्वृत्तिभ्य इत्यर्थ इति शेखरे नागेशः।

२. यहां समर्थ विभक्ति नहीं कही गई। परन्तु अभिधानवशात् तृतीया को ही समर्थ-विभक्ति मान लिया जाता है।

३. तेन प्रकारेणेत्यस्य विशिष्ट इति शेष इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः।

प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का भी लुक् हो कर—तद्+था। थाल् प्रत्यय **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से विभक्तिसञ्ज्ञक है अतः विभक्ति के परे रहते **त्यदादीनामः** (१९३) से दकार को अकार आदेश एवम् **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश करने से—त+था=तथा। अब **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) सूत्र से अव्ययसञ्ज्ञा हो कर उस से परे सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने से 'तथा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—येन प्रकारेण (विशिष्टः)—यथा (जिस विशेष से विशिष्ट, जिस प्रकार वाला, जैसा)। यहां 'यद् टा' से पूर्ववत् थाल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, त्यदाद्यत्व, पररूप तथा तद्धितान्त की अव्ययसञ्ज्ञा हो कर उस से परे सुँविभक्ति का लुक् करने से 'यथा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

सर्वैः प्रकारैः (विशिष्टः)—सर्वथा।

अन्येन प्रकारेण (विशिष्टः)—अन्यथा।

उभयेन प्रकारेण (विशिष्टः)—उभयथा।

इतरेण प्रकारेण (विशिष्टः)—इतरथा। इत्यादि।

अब 'इदम्' से थाल् के अपवाद थमुँ (थम्) प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२१६**) **इदमस्थमुँः** ।५।३।२४।।

(प्रकारवृत्तेरिदमस्थमुँः प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे)। थालोऽपवादः ।।

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान इदम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थमुँप्रत्यय हो। **थालोऽपवादः**—यह थाल् प्रत्यय (१२१५) का अपवाद है।

व्याख्या—इदमः ।५।१। थमुँः ।१।१। प्रकारवचनात् ।५।१। (**प्रकारवचने थाल्** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। **प्रत्ययः**, **परश्च**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **तद्धिताः**, **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) इत्यादि सब पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(प्रकारवचनात्) प्रकार-वान् अर्थ में वर्त्तमान (इदमः) इदम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (थमुँः) थमुँ प्रत्यय हो जाता है। यह पूर्वोक्त थाल्प्रत्यय (१२१५) का अपवाद है।

थमुँ में उकार इत् (२८) होकर लुप्त हो जाता है, 'थम्' मात्र शेष रहता है। **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा मकार को इत् से बचाने के लिये उकार अनुबन्ध जोड़ा गया है।[1]

---

१. यदि 'थम्' मात्र ही प्रत्यय कहते तो भी अन्त्य मकार की इत्संज्ञा न होती, क्योंकि थम् विभक्तिसञ्ज्ञक (११९७) है और **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) से विभक्तिस्थ तवर्ग-सकार-मकार को इत् करने का निषेध कहा गया है। तो पुनः उकार अनु-बन्ध का जोड़ना **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) इस निषेध की अनित्यता का ज्ञापन कराता है। इस से **किमोऽत्** (१२०६) द्वारा विहित अत्प्रत्यय के तकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, अनित्य होने से निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती।

इस सूत्र का उदाहरण तथा उस की सिद्धि अग्रिम वार्त्तिक पर देखनी चाहिये।

अब यही प्रत्यय एतद् से भी विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(९३) एतदोऽपि वाच्यः ॥

अनेन एतेन वा प्रकारेण—इत्थम् ॥

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान एतद् प्रातिपदिक से भी स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थमुँ प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **एतदोऽन्** (५.३.५) सूत्र पर महाभाष्य में **एतदश्च थम उपसंख्यानम्** इस रूप में पढ़ा गया है। यह भी थाल् प्रत्यय का अपवाद है। इस तरह प्रकारवृत्ति इदम् और एतद् दोनों प्रातिपदिकों से स्वार्थ में थमुँ प्रत्यय हो जाता है।

सर्वप्रथम इदम् से थमुँ का उदाहरण यथा—

अनेन प्रकारेण (विशिष्टः)—इत्थम् (इस प्रकार से विशिष्ट, इस प्रकार वाला, ऐसा)। यहां 'इदम् टा' से **इदमस्थमुँः** (१२१६) सूत्रद्वारा स्वार्थ में थमुँप्रत्यय, उकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, तथा थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते **एतेतौ रथोः** (१२१२) सूत्र से इदम् के स्थान पर इत् सर्वादेश हो जाता है—इत्+थम्=इत्थम्।[1] तद्धितान्त की अव्ययसंज्ञा (३६८) हो जाने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'इत्थम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

एतद् से थमुँ का उदाहरण यथा—

एतेन प्रकारेण (विशिष्टः)—इत्थम् (इस प्रकार से विशिष्ट, इस प्रकार वाला, ऐसा)। यहां 'एतद् टा' से **एतदोऽपि वाच्यः** (वा० ९३) वार्त्तिक से स्वार्थ में थमुँप्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **एतदः** (१२१४) सूत्रद्वारा एतद् को 'इत्' सर्वादेश कर विभक्तिकार्य करने से 'इत्थम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—इदम् और एतद् दोनों से यद्यपि एक ही थमुँ प्रत्यय हो कर 'इत्थम्' प्रयोग की सिद्धि होती है तथापि इन दोनों की कार्यसिद्धि में सूत्रों के अन्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है।

अब प्रकारवृत्ति किम्प्रातिपदिक से भी थमुँ प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१७) किमश्च ।५।३।२५॥

(प्रकारवृत्तेः किमः स्वार्थे थमुँस्तद्धितः स्यात्। थालोऽपवादः)। केन प्रकारेण—कथम् ॥

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान किम् प्रातिपदिक से भी स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थमुँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—किमः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। प्रकारवचनात् ।५।१। (**प्रकारवचने**

---

१. अत्र **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) इति पदसञ्ज्ञायां **झलां जशोऽन्ते** (६७) इति जश्त्वेन तकारस्य दकारे **खरि च** (७४) इति चर्त्वेन दकारस्य पुनस्तकार इत्यप्यूह्यम्।

थाल् सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । थमुँः ।१।१। (**इदमस्थमुँः** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दिशो विभक्तिः** (११६७) इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(प्रकारवचनात्=प्रकारवृत्तेः) प्रकारवान् अर्थ में वर्त्तमान (किमः) किम् प्रातिपदिक से (च) भी स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (थमुँः) थमुँ प्रत्यय हो जाता है । यह भी **प्रकारवचने थाल्** (१२१५) द्वारा प्राप्त थाल् प्रत्यय का अपवाद है । उदाहरण यथा—

केन प्रकारेण (विशिष्टः)— कथम् (किस प्रकार से विशिष्ट, किस प्रकार वाला, कैसा) । यहां प्रकारवृत्ति 'किम् टा' से स्वार्थ में **किमश्च** (१२१७) सूत्रद्वारा थमुँ प्रत्यय, उकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (टा) का भी लुक् कर देने पर—किम्+थम् । **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११६७) से थम् विभक्तिसञ्ज्ञक है । अतः विभक्ति के परे रहते **किमः कः** (२७१) द्वारा 'किम्' को 'क' सर्वादेश करने से—क+थम्=कथम् । अब अव्ययसञ्ज्ञा हो कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँविभक्ति का लुक् कर देने पर 'कथम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अभ्यास [१४]

(१) प्राग्दिशीय प्रत्यय किसे कहते हैं ? कोई से सात प्राग्दिशीय प्रत्यय सोदाहरण निर्दिष्ट करें ।

(२) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—

१. किंसर्वनामबहु०	६. प्रकारवचने थाल् ।
२. इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ।	७. पञ्चम्यास्तसिँल् ।
३. सर्वैकान्यकियत्तदः०	८. सप्तम्यास्त्रल् ।
४. एतेतौ रथोः	९. इदमस्थमुँः ।
५. अनद्यतने र्हिलन्य०	१०. एतदोऽपि वाच्यः (वा०)

(३) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्त रूप सिद्ध करें—
१. तस्मिन् । २. तस्मिन् काले । ३. अनेन प्रकारेण । ४. एतेन प्रकारेण । ५. स भवान् । ६. अस्मात् । ७. एतस्मात् । ८. बहुषु । ९. अस्मिन् । १०. कस्मिन् (स्थाने, काले) ।

(४) अधोलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. क्व । २. अत्र । ३. परितः । ४. सदा । ५. इह । ६. अमुतः । ७. इतः । ८. कुतः । ९. यदा । १०. कथम् ।

(५) किम्, इदम्, एतद्, तद्, यद्, अन्य, सर्व—इन शब्दों के प्रकारार्थक रूप दर्शा कर प्रत्ययों और तद्विधायक सूत्रों का भी निर्देश करें ।

(६) इदम् और एतद् दोनों का थमुँ में 'इत्थम्' रूप बनता है परन्तु विधायक सूत्रों में अन्तर रहता है—इस का विवेचन करें ।

(७) प्राग्दिशीयों की प्रकृति पर विवेचनात्मक टिप्पण लिखें ।

(८) सप्रमाण अशुद्धिशोधन कीजिये—
 १. अन्यदा देशे । २. एतर्हि ग्रामे । ३. बहुतः सूपात् । ४. क्व काले ।

(९) अधोलिखित सूत्र किस किस के अपवाद हैं ?
 १. इदमो र्हिल् । २. सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा । ३. एतेतौ रथोः । ४. क्वाति । ५. कु तिहोः । ६. किमोऽत् । ७. किमश्च । ८. इदमस्थमुँः ।

(१०) **एतदोऽन्** सूत्र का योगविभाग क्यों और कैसे किया जाता है ?

(११) निम्नस्थ प्रश्नों के युक्तियुक्त उत्तर दीजिये—
 [क] 'द्वि' से प्राग्दिशीय प्रत्यय क्यों नहीं होता ?
 [ख] प्राग्दिशीयों की विभक्तिसंज्ञा क्यों की जाती है ?
 [ग] **किंसर्वनाम०** में किम् के पृथक् उल्लेख का क्या कारण है ?
 [घ] **न विभक्तौ०** द्वारा अत् के तकार की इत्संज्ञा का निषेध क्यों नहीं ?
 [ङ] थमुँ के उकार अनुबन्ध से क्या ज्ञापित होता है ?
 [च] 'सर्वत्र देशे' यहां 'दा' प्रत्यय क्यों नहीं हुआ ?
 [छ] 'इह देशे' यहां 'र्हिल्' क्यों नहीं हुआ ?
 [ज] 'बहोः सूपात्' तहां 'तसिँल्' क्यों नहीं हुआ ?
 [झ] **इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते** में 'दृश्यन्ते' से क्या अभिप्रेत है ?

(१२) सूत्रनिर्देशपूर्वक उत्तर दीजिये—

[क]	रेफादि	प्राग्दिशीय	परे	रहते	इदम्	को	क्या	आदेश	होगा	?
[ख]	थकारादि	,,	,,	,,	एतद्	,,	,,	,,	,,	?
[ग]	दकारादि	,,	,,	,,	सर्व	,,	,,	,,	,,	?
[घ]	तकारादि	,,	,,	,,	किम्	,,	,,	,,	,,	?
[ङ]	हकारादि	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	?
[च]	'अत्'	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	?

(१३) इदम् और एतद् दोनों से 'एतर्हि' निष्पन्न होता है, क्या इन के अर्थों में व्याकरणदृष्ट्या कोई विशेष है ? सप्रमाण स्पष्ट करें ।[1]

[लघु०] इति प्राग्दिशीयाः ॥

(यहां प्राग्दिशीय प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

——:०:——

१. इदम् से बना 'एतर्हि' प्रयोग अद्यतन वा अनद्यतन दोनों कालों में प्रयुक्त हो सकता है क्योंकि **इदमो र्हिल्** (१२११) सूत्रद्वारा कालसामान्य में र्हिल् का विधान किया गया है । परन्तु एतद् से **अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्** (१२१३) द्वारा अनद्यतनकाल में ही र्हिल् विधान किया गया है अतः वह अद्यतन में प्रयुक्त न होगा—यही दोनों में व्याकरणरीत्या अन्तर है । [किन्तु इस अन्तर का व्यवहारदशा में कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि 'एतर्हि' से अद्यतन-अनद्यतन दोनों प्रकार के कालों का बोध हो सकता है] ।

अथ प्रागिवीयाः

प्राग्दिशीयप्रत्ययों के बाद प्रागिवीय तद्धितप्रत्ययों का विवेचन प्रारम्भ होता है। अष्टाध्यायी में प्राग्दिशीयप्रत्ययों के अनन्तर **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) सूत्र से पूर्व पूर्व जो प्रत्यय कहे गये हैं उन को यहां प्रागिवीय कहा गया है। सब से प्रथम आतिशायनिक (अतिशयद्योतक) तुलनार्थक प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२१८)**

अतिशायने तमबिष्ठनौ ।५।३।५५॥

अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः। अयमेषाम् अतिशयेन आढ्यः—आढ्यतमः। लघुतमः। लघिष्ठः॥

अर्थः—प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तमप् और इष्ठन् प्रत्यय हों।

व्याख्या—अतिशायने ।७।१। तमबिष्ठनौ ।१।२। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्; तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अतिपूर्वक **शीङ् स्वप्ने** (अदा० आत्मने०) धातु प्रकर्षद्वारा दूसरे को अभिभूत करने या लाङ्घने अर्थ में प्रयुक्त होती है।[1] इस धातु से भाव में ल्युट् करने पर 'अतिशयन' शब्द निष्पन्न होता है। इसी 'अतिशयन' को सूत्र में निपातनद्वारा दीर्घ कर 'अतिशायन' कहा गया है—अतिशयनमेव अतिशायनम्। लोक में भी 'अतिशायन' शब्द प्रसिद्ध हो चला है। **अबाधकान्यपि निपातनानि** (प०[2]) इस के अनुसार 'अतिशयन' शब्द भी साधु है। दोनों का लोक में प्रयोग होता है अर्थ एक ही रहता है। यहां सूत्रोक्त 'अतिशायन' से अतिशयविशिष्ट का ग्रहण अभिप्रेत है।[3] अर्थः—(अतिशायने) प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (तमबिष्ठनौ) तमप् और इष्ठन् प्रत्यय हो जाते हैं। प्रकर्षविशिष्टता प्रकृति का अर्थ है जो प्रत्ययद्वारा द्योतित किया जाता है अतः प्रत्यय स्वार्थ में हुए समझे जाते हैं।

तमप्प्रत्यय का पकार तथा इष्ठन् प्रत्यय का नकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'तम' और 'इष्ठ' ही शेष रहते हैं। पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (३.१.४) द्वारा अनुदात्तस्वर के लिये तथा नकार अनुबन्ध **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) द्वारा उदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है।

---

१. इस अर्थ में यह सकर्मक होती है यथा—**पूर्वान् महाभाग तयाऽतिशेषे** (रघु० (५.१४)। **कृष्णमतिशेते कृष्णतरः, शुक्लमतिशेते शुक्लतरः** (महाभाष्य **५**.३.५५)।

२. निपातन क्वचित् बाधक नहीं भी होते।

३. नागेशभट्ट अतिशायन में बाहुलकात् कर्त्ता में ल्युट् मान कर यही अर्थ प्राप्त करते हैं।

प्रकर्ष किसी की अपेक्षा से हुआ करता है । अतः दो या दो से अधिक वस्तुओं के समुदाय में से किसी एक का अतिशय या प्रकर्ष अभिव्यक्त करने में ये प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं । परन्तु दो के समुदाय में यदि किसी एक का प्रकर्ष प्रकट करना हो तो वक्ष्यमाण **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा इन के अपवाद तरप् और ईयसुँन् प्रत्ययों का विधान किया गया है । अतः यहां दो से अधिक वस्तुओं के समुदाय में से जब किसी एक का प्रकर्ष कहना अभीष्ट होगा तभी तमप् और इष्ठन् प्रत्ययों की प्रवृत्ति होगी ।

यहां पर यह बात विशेष ध्यातव्य है कि तमप् प्रत्यय तो प्रत्येक प्रातिपदिक से निर्बाध किया जा सकता है परन्तु इष्ठन् प्रत्यय केवल गुणवाचकों से ही होता है ।[1]

उदाहरण यथा—

अयम् एषाम्[2] अतिशयेन[3] आढ्यः—आढ्यतमः (सब से अधिक धनी) ।[4] यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'आढ्य सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रकृत **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् करने से—आढ्य+तम=आढ्यतम । अब विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर पुंलिङ्ग में 'आढ्यतमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। आढ्यशब्द लघु-गुरु आदि शब्दों की तरह गुणवाची नहीं अतः इस से इष्ठन् प्रत्यय नहीं होता ।

इसीप्रकार—अयमेषामतिशयेन दर्शनीयः—दर्शनीयतमः (सब से अधिक सुन्दर) । अयमेषामतिशयेन सुकुमारः—सुकुमारतमः (सब से अधिक कोमल) । अयमेषामतिशयेन विद्वान्—विद्वत्तमः[5] (सब से अधिक विद्वान्) । अयमेषामतिशयेन दुष्टः—दुष्टतमः (सब से अधिक दुष्ट) । अयमेषामतिशयेन महान्—महत्तमः (सब से अधिक महान्) । अयमेषामतिशयेन दीर्घः—दीर्घतमः (सब से अधिक दीर्घ) । इत्यादि ।

दूसरा उदाहरण यथा—

---

१. **अजादी गुणवचनादेव** (५.३.५८) । अर्थः—आतिशायनिक अजादि प्रत्यय (इष्ठन् और ईयसुँन्) गुणवाचकों से ही होते हैं अन्यों से नहीं ।

२. यहां **यतश्च निर्धारणम्** (२.३.४१) सूत्र से निर्धारण में षष्ठी विभक्ति हुई है, सप्तमी का भी प्रयोग हो सकता है । इस सूत्र की व्याख्या इस ग्रन्थ के कारक-प्रकरणान्तर्गत परिशिष्ट में (४८) सूत्राङ्क पर देखें ।

३. **प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्** (वा०) से यहां तृतीया हुई है । इस वार्त्तिक की व्याख्या भी कारकप्रकरणान्तर्गत परिशिष्ट में (१८) सूत्राङ्क पर देखें ।

४. इस विग्रह को इस प्रकार भी दर्शाया जा सकता है—अयम् आढ्यः, अयम् आढ्यः, अयम् आढ्यः, अयमेषामतिशयेन आढ्यः—आढ्यतमः । अथवा—सर्वे इमे आढ्याः, अयमेषामतिशयेनाढ्यः—आढ्यतमः ।

५. **वसुँ-स्रंसुँ-ध्वंस्वनडुहां दः** (२६२) इति सकारस्य पदान्तस्य दत्वे चर्त्वम् ।

अयम् एषामतिशयेन लघुः—लघुतमो लघिष्ठो वा (सब से अधिक छोटा वा हल्का)। यहां प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान गुणवाची 'लघु सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रकृत **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्र से तमप् और इष्ठन् प्रत्यय हो जाते हैं। तमप्पक्ष में अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'लघुतमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इष्ठन्पक्ष में अनुबन्ध नकार का लोप कर सुँप् (सुँ) का भी लुक् कर देने से—लघु + इष्ठ। अब **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक टि (उकार) का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'लघिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् हो कर (१२४९) 'लघुतमा' तथा 'लघिष्ठा' बनेगा। इसीप्रकार—अयमेषामतिशयेन पटुः—पटुतमः पटिष्ठो वा (सब से अधिक चतुर)।

अब सुँबन्तों की तरह तिङन्तों से भी आतिशायनिक प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२१९) तिङश्च ।५।३।५६॥**

तिङन्ताद् अतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् ॥

अर्थः—अतिशय के द्योत्य होने पर तिङन्त से भी तद्धितसञ्ज्ञक तमप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तिङः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्र का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) इस अधिकार के कारण सुँबन्तों से ही आतिशयनिक प्रत्ययों की उत्पत्ति हो सकती है तिङन्तों से नहीं। परन्तु लोक में तिङन्तों से भी ये प्रत्यय देखे जाते हैं, इसलिये इस सूत्र का निर्माण किया गया है। अर्थः—(अतिशायने) प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान (तिङः=तिङन्तात्) तिङन्त से (च) भी (तमबिष्ठनौ[1]) तमप् तद्धित प्रत्यय हो जाता है।

यहां भी पूर्ववत् दो से अधिक तिङन्तक्रियाओं के समुदाय से ही एक का अतिशय द्योत्य होने पर तमप् होगा। दो क्रियाओं के समुदाय में एक का अतिशय द्योत्य होने पर तो अग्रिम अपवाद **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा तरप् ही होगा।

इस सूत्र के उदाहरण देने से पूर्व तरप्-तमप् प्रत्ययों की प्रयोजनवशात घसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु]० सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(१२२०) तरप्तमपौ घः ।१।१।२१॥**

एतौ घसञ्ज्ञौ स्तः ॥

---

१. इष्ठन् की अनुवृत्ति आने पर भी उसे यहां सम्बद्ध नहीं किया जाता, कारण कि **अजादी गुणवचनादेव** (५.३.५८) नियम के अनुसार वह गुणवाचकों से ही होता है क्रियाप्रधान तिङन्तों से नहीं।

अर्थः —तरप् और तमप् प्रत्यय 'घ' सञ्ज्ञक हों ।

व्याख्या—तरप्तमपौ ।१।२। घः ।१।१। तरप् च तमप् च तरप्तमपौ, इतरेतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(तरप्तमपौ) तरप् और तमप् प्रत्यय (घः) घसञ्ज्ञक हों ।

अब घसञ्ज्ञा करने का फल दर्शाते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२२१**)

किमेत्तिङव्यय-घादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ।५।४।११।।

किम एदन्तात् तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्ताद् आमुँः स्यात्, न तु द्रव्यप्रकर्षे । किन्तमाम् । प्राह्णेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्य-प्रकर्षे तु—उच्चैस्तमस्तरुः ।।

अर्थः—किम्, एदन्त, तिङन्त और अव्यय - इन चार से विहित जो घसञ्ज्ञक प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से परे स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक आमुँ प्रत्यय हो, परन्तु द्रव्य के प्रकर्ष में नहीं ।

व्याख्या—किमेत्तिङव्ययघाद् ।५।१। आमुँ इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । अद्रव्यप्रकर्षे ।७।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधि-कृत हैं । समासः—किम् च एत् च तिङ् च अव्ययं च किमेत्तिङव्ययानि, तेभ्यो विहितः —किमेत्तिङव्ययविहितः, किमेत्तिङव्ययविहितो यो घः किमेत्तिङव्ययघः, तस्मात् = किमेत्तिङव्ययघात् । द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषे कृते शाकपार्थिवादिवन्मध्यमपदलोपिसमासः । 'प्रातिपदिकात्' अधिकार के कारण 'एत्' से तदन्तविधि हो कर 'एदन्तात्' बन जाता है । **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** परिभाषाद्वारा तिङ् से तदन्तविधि हो कर 'तिङन्तात्' बन जाता है । अर्थः—(किमेत्तिङव्ययघात्) किम्, एदन्त प्रातिपदिक, तिङन्त तथा अव्यय—इन से विहित जो घसंज्ञक प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (आमुँः) आमुँ प्रत्यय हो जाता है (अद्रव्यप्रकर्षे) परन्तु द्रव्य का प्रकर्ष द्योत्य हो तो नहीं होता ।

आमुँ के उकार की इत्सञ्ज्ञा (२८) हो कर लोप हो जाता है, 'आम्' मात्र शेष रहता है । उकार अनुबन्ध आमुँ को नुँट् आगम से बचाने के लिये जोड़ा गया है ।[1] आमुँप्रत्ययान्त शब्द **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसंज्ञक हो जाते हैं, इसे ध्यान में रखना चाहिये ।

सर्वप्रथम घप्रत्ययान्त 'किम्' से उदाहरण यथा—

---

१. यदि आमुँ न कह कर केवल 'आम्' ही विधान करते तो 'कितम+आम्, प्राह्णे-तर+आम्' इत्यादियों में आम् को **ह्रस्वनद्यापो नुँट्** (१४८) सूत्रद्वारा नुँट् का आगम होने लगता जो स्पष्टतः अनिष्ट था । अब आमुँ के विधान से यह दोष प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि **निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य** (प०) परिभाषाद्वारा षष्ठीबहुवचन निरनुबन्ध आम् के उपलब्ध होने पर आमुँ इस सानुबन्ध में नुँड्विधि प्रसक्त नहीं होती ।

इदमेषामतिशयेन किम्—किन्तमाम् (सब से अधिक कुत्सित वस्तु)।[1] यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'किम् सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्र से तमप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप एवं सुँब्लुक् करने से—किम् + तम। पदसञ्ज्ञा (१६४) के कारण **मोऽनुस्वारः** (७७) से पदान्त मकार को अनुस्वार हो कर—किंतम। तरप् और तमप् प्रत्ययों की **तरप्तमपौ घः** (१२२०) से घसञ्ज्ञा की गई है, इस तरह यहां किम्शब्द से परे 'तम' यह घसञ्ज्ञक प्रत्यय विद्यमान है। अतः **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्रद्वारा इस से परे स्वार्थ में ही आमुँप्रत्यय ला कर उस के उकार अनुबन्ध का लोप करने से—किंतम + आम्। अब **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य अर्थात् अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् (३७२) कर देने से 'किंतमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अनुस्वार को **वा पदान्तस्य** (८०) से वैकल्पिक परसवर्ण करने से 'किन्तमाम्, किंतमाम्' ये दो रूप बन जाते हैं।

घप्रत्ययान्त एदन्त से उदाहरण यथा—

अतिशयिते प्राह्णे—प्राह्णेतमाम्, अतिशयिते पूर्वाह्णे—पूर्वाह्णेतमाम् (दिन के अतीव पूर्वभाग में)।[2] अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्राह्ण ङि' तथा 'पूर्वाह्ण ङि' इन सप्तम्यन्त समस्त शब्दों से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय करने पर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङि) के लुक् की प्राप्ति होती है, परन्तु **घकालतनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६)[3] सूत्र से उस का

१. कुत्सित अर्थ में किम्शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। यथा—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं
हितान्न यः संशृणुते स किम्प्रभुः ॥ (किरात० १.५)

अथवा—'किन्तमां स उवाच' इत्यादि स्थलों पर 'उसने विशेष ज़ोर दे कर किसे कहा ?' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये।

२. प्रथमं च तदहः प्राह्णः। अत्र अहःशब्दस्तदवयवे वर्त्तते। प्रादिसमासे **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) इति टच् समासान्तः। **अह्नोऽह्न एतेभ्यः** (५.४.८८) इति अहन्शब्दस्य स्थाने 'अह्न' इत्यादेशः। **अह्नोऽदन्तात्** (८.४.७) इत्यह्नशब्दस्य नकारस्य णत्वम्। **यस्येति च** (२३६) इति भस्याकारस्य लोपः। **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) इति पुंस्त्वम्।

पूर्वोऽह्नः पूर्वाह्णः। **पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** (९३२) इत्येकदेशिसमासः। शेषं पूर्ववत्।

३. **घकालतनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६)। अर्थः—घसंज्ञकप्रत्यय, कालशब्द तथा तनप्रत्यय के परे रहते कालवाचक शब्दों से परे सप्तमी का विकल्प से अलुक् हो। घ—पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे; पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे। काल—पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले। तन—पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने। इत्यादि।

अलुक् हो जाता है—प्राह्णेतम, पूर्वाह्णेतम। अब इस स्थिति में एदन्त से परे घसञ्ज्ञक (१२२०) तमप् प्रत्यय के विद्यमान रहने से **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्रद्वारा स्वार्थ में आमुँप्रत्यय, उस के उकार अनुबन्ध का लोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य अर्थात् अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'प्राह्णेतमाम्, पूर्वाह्णेतमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। यज्ञदत्तः प्राह्णे जागर्त्ति, तत्पिता प्राह्णेतरे, परं तत्पितामहस्तु प्राह्णेतमे। यज्ञदत्त सवेरे जागता है, उस का पिता उस से भी सवेरे। परन्तु उस के दादाजी तो और भी सवेरे जागते हैं।[1]

घप्रत्ययान्त तिङन्त से उदाहरण यथा—

आसामियमतिशयेन पचति— पचतितमाम् (इन सब में यह बढ़िया पकाती है)। अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'पचति' इस तिङन्त से **तिङश्च** (१२१९) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय करने से 'पचतितम' बना। अब यहां तिङन्त से परे घसञ्ज्ञक तमप् प्रत्यय विद्यमान है अतः प्रकृत **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्र से स्वार्थ में आमुँ प्रत्यय ला कर उस के उकार अनुबन्ध का लोप, **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप तथा **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (३६८) द्वारा अव्ययसञ्ज्ञा के कारण सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'पचतितमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

घप्रत्ययान्त अव्यय से उदाहरण यथा—

अतिशयेन उच्चैः—उच्चैस्तमाम् (अत्यधिक ऊँचे)। यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'उच्चैस्' अव्यय से अतिशायने **तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप, पदान्त सकार को रुँत्वविसर्ग हो कर **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से विसर्ग को पुनः सकार आदेश कर देने से—उच्चैस्तम। अब यहां अव्यय से परे घसञ्ज्ञक तमप् प्रत्यय विद्यमान है अतः **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्र से स्वार्थ में आमुँ प्रत्यय हो कर उकार अनुबन्ध का लोप, **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक अकार का लोप एवं **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञा के हो जाने से इस से परे सुँविभक्ति का लुक् (३७२) कर देने से 'उच्चैस्तमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] अयमुच्चैराक्रोशति, इयमुच्चैस्तराम्। परमनयोर्माता तु उच्चैस्तमाम्।

इसीप्रकार—नीचैस्तराम्, नीचैस्तमाम्। प्रातस्तराम्, प्रातस्तमाम्। अतितराम्, अतितमाम्। सुतराम्, सुतमाम्। नितराम्, नितमाम्। इत्यादि।

द्रव्यप्रकर्षे तु—उच्चैस्तमस्तरुः।

---

१. पूर्वावयवगतप्रकर्षादह्नः प्रकर्षो बोध्यः। अत्र अहर्न द्रव्यम्, सूर्योदयादारभ्य सूर्यास्तमयावधिकस्यैव कालस्य अहन्शब्दार्थत्वात्। तस्य च उदयादिक्रियाघटितत्वान्न द्रव्यत्वम्। तेन अद्रव्यप्रकर्षे इति निषेधो न।

२. अतिशयेन उच्चैराक्रोशनादिक्रियेत्यर्थः। अत्रापि क्रियाया एव प्रकर्षो न तु द्रव्यस्य।

सूत्र में 'अद्रव्यप्रकर्षे' कहा गया है अतः द्रव्य के प्रकर्ष के द्योत्य होने पर यह आमुँ प्रत्यय नहीं होता। यथा—उच्चैस्तमस्तरुः (यह वृक्ष सब से ऊँचा है)। यहां ऊँचाई के प्रकर्ष से वृक्ष का प्रकर्ष प्रतीत होता है। वृक्ष स्पष्टतः द्रव्य है अतः यहां आमुँ नहीं हुआ।[1]

अब दो में से एक के प्रकर्षकथन में तमप्-इष्ठन् के अपवाद तरप् और ईयसुँन् प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२२)

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ ।५।३।५७।।

द्वयोरेकस्य अतिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुँप्तिङन्तादेतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयमनयोरतिशयेन लघुः—लघुतरः, लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः॥

अर्थः—दो अर्थों के प्रतिपादक शब्द के उपपद होने पर अथवा विभक्तव्य के उपपद होने पर अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त और तिङन्त से तरप् और ईयसुँन् प्रत्यय हों। **पूर्वयोरपवादः**—यह पूर्वसूत्रों (१२१८, १२१९) का अपवाद है।

व्याख्या—द्विवचनविभज्योपपदे ।७।१। तरबीयसुँनौ ।१।२। सुँपः ।५।१। (सुँबन्तादेव तद्धितोत्पत्तिरिति सिद्धान्ताश्रयणात्)। तिङः ।५।१। (**तिङश्च** सूत्र से)। अतिशायने ।७।१। (**अतिशायने तमबिष्ठनौ** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। उच्यतेऽनेनेति वचनम्, करणे ल्युट्। द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः। द्व्यर्थप्रतिपादकमित्यर्थः। विभक्तुं योग्यं विभज्यम्। एतत्सूत्रनिपातनाद् **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) इति ण्यतं बाधित्वा यत्प्रत्ययः। विभक्तव्यमित्यर्थः। द्विवचनं च विभज्यं च द्विवचनविभज्यम्, समाहारद्वन्द्वः। द्विवचनविभज्यं च तद् उपपदम्—द्विवचनविभज्योपपदम्, तस्मिन्=द्विवचनविभज्योपपदे, कर्मधारयसमासः। 'उपपद' से यहां शास्त्रीय (पारिभाषिक) उपपद नहीं लिया जाता क्योंकि इस तद्धितप्रकरण में उस का पाया जाना सम्भव नहीं। अतः 'उप=समीपे उच्चारितं पदम् उपपदम्' इसप्रकार 'समीप में पढ़ा पद' इस का अभिप्राय समझना चाहिये। तरप् च ईयसुँन् च तरबीयसुँनौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(द्विवचनविभज्योपपदे) दो अर्थों का प्रतिपादक शब्द यदि समीप में उच्चारित किया गया हो या समीप में विभक्तव्य पद पढ़ा गया हो तो (अतिशायने) अतिशयनविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान (सुँपः=सुँबन्तात्) सुँबन्त और (तिङः=तिङन्तात्) तिङन्त से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (तरबीयसुँनौ) तरप् और ईयसुँन् प्रत्यय हो जाते हैं स्वार्थ में।

---

१. उच्चैःशब्दोऽत्र उच्चत्वगुणवत्परः। द्रव्यस्य स्वतः प्रकर्षाऽभावेऽपि द्रव्यनिष्ठगुणादिप्रकर्ष एव द्रव्यप्रकर्ष इति बोध्यम्। अत्र उच्चैस्त्वप्रकर्षस्य तरौ द्रव्ये भानाद् आम्नेति भावः।

यद्यपि यहां सुँबन्त और तिङन्त दो प्रकृति हैं, द्विवचन और विभज्य दो उपपद हैं, तरप् और ईयसुँन् दो प्रत्यय हैं तथापि यथासंख्य नहीं होता--ऐसा व्याख्यानद्वारा आकरग्रन्थों में निर्णीत किया गया है ।

अतिशायने तमबिष्ठनौ (१२१८) तथा **तिङश्च** (१२१९) सूत्रों से प्रकर्ष-सामान्य में तमप् और इष्ठन् प्रत्ययों का विधान किया गया है परन्तु इस प्रकृतसूत्रद्वारा दो में से किसी एक का अपेक्षाकृत प्रकर्ष बताना हो तो तरप् और ईयसुँन् प्रत्यय कहे गये हैं । इस तरह यह सूत्र उन दोनों प्रत्ययों का अपवाद है । अतः दो के मध्य प्रकर्ष-कथन में तरप्-ईयसुँन् प्रत्यय तथा दो से अधिक के मध्य प्रकर्ष बतलाने में पूर्वोक्त तमप्-इष्ठन् प्रत्यय होते हैं—यह समझना चाहिये ।

तरप् का पकार एवम् ईयसुँन् के उकार और नकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं । 'तर' और 'ईयस्' मात्र अवशिष्ट रहते हैं । तरप् में पकार अनुदात्तस्वर के लिये तथा ईयसुँन् का नकार उदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । ईयसुँन् का उकार उगित्कार्यों के लिये समझना चाहिये ।

द्विवचन के उपपद रहते सुँबन्त का उदाहरण यथा—

अयमनयोरतिशयेन लघुः—लघुतरः, लघीयान् वा (इन दोनों में अधिक छोटा) । यहां 'अनयोः' यह द्विवचन अर्थात् दो वस्तुओं का प्रतिपादक पद समीप में पढ़ा गया है अतः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'लघु सुँ' से स्वार्थ में तमप्-इष्ठन् प्रत्ययों का बाध कर प्रकृत **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्र से तरप् और ईयसुँन् प्रत्यय हो जाते हैं । प्रथम तरप्पक्ष में पकार अनुबन्ध का लोप हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् कर देने से—लघु + तर = लघुतर । अब विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने से 'लघुतरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । [स्त्रीलिङ्ग में **अजाद्यष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'लघुतरा' बनेगा] । ईय-सुँन्पक्ष में प्रत्यय के उकार नकार अनुबन्धों का लोप कर सुँब्लुक् कर देने से—लघु + ईयस् । **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक उकार का लोप हो कर—लघ् + ईयस् = लघीयस् । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँविभक्ति ला कर **उगिदचां सर्वनाम-स्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् आगम, **सान्तमहतः संयोगस्य** (३४२) द्वारा सान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ करने पर 'लघीयान्स् + स्' इस स्थिति में हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्तलोप करने से 'लघीयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता । लघी-यान्, लघीयांसौ, लघीयांसः—इस तरह श्रेयस्शब्द की तरह रूपमाला चलेगी । [स्त्रीलिङ्ग में **उगितश्च** (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर 'लघीयसी' बनेगा] ।

इसीप्रकार—अयमनयोः पटुः—पटुतरः, पटीयान् । अयमनयोः साधुः—साधुतरः, साधीयान् । अयमनयोर्महान्—महत्तरः, महीयान् । अयमनयोरणुः—अणुतरः, अणीयान् । अयमनयोस्तनुः—तनुतरः, तनीयान् । इत्यादि ।

द्विवचन के उपपद रहते तिङन्त का उदाहरण यथा—

इयमनयोरतिशयेन पचति — पचतितराम् (इन दो में यह बढ़िया पकाती है)। यहां 'अनयोः' यह दो वस्तुओं का प्रतिपादक शब्द उपपद में स्थित है अतः अतिशय अर्थ में वर्त्तमान 'पचति' इस तिङन्त से **तिङश्च** (१२१६) सूत्रद्वारा प्राप्त तमप् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्र से तरप् प्रत्यय हो कर 'पचतितर' इस स्थिति में **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्र से आमुँ प्रत्यय ला कर **यस्येतिच**लोप करने से — पचतितराम्। **तद्धितश्चाऽसर्व-विभक्तिः** (३६८) से यह अव्ययसञ्ज्ञक है अतः **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) सूत्रद्वारा इस से परे सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'पचतितराम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—जल्पतितराम्, विजयतेतराम् आदि।

विशेष वक्तव्य—प्रकृत (१२२२) सूत्रोक्त 'द्विवचन' से यहां व्याकरणपरि-भाषितद्विवचन का ग्रहण नहीं करना चाहिये अपितु उपर्युक्त 'दो अर्थों का प्रतिपादक शब्द' इस यौगिक अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा 'दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः (दान्तों और होठों में दान्त अधिक स्निग्ध है), पाणिपादस्य पाणी सुकुमार-तरौ (हाथों और पैरों में हाथ अधिक कोमल हैं)' ऐसे स्थानों पर 'दन्तौष्ठस्य' और 'पाणिपादस्य' में द्विवचन न होने के कारण तरप् दुर्लभ हो जायेगा। परन्तु अब यौगिक अर्थ करने से समासवृत्ति में दो पदार्थों की उक्ति होने से कोई दोष नहीं आता। इसीप्रकार—अस्माकं देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतरः (मुझ में और देवदत्त में देवदत्त अधिक रूपवान् है)। यहां 'अस्माकम्' में **अस्मदो द्वयोश्च** (१.२.५९) से एकत्व में बहुवचन हुआ है। अतः द्विवचन ही उपपद है, निर्धारण में षष्ठी हुई है।

परुत् भवान् पटुरासीद् ऐषमस्तु पटुतरः (पिछले वर्ष आप चतुर थे परन्तु इस वर्ष उस से भी अधिक चतुर हैं)। यहां एक ही व्यक्ति में तत्तत्कालकृत भेद के आश्रयण से द्विवचन की कल्पना कर तरप् हो जाता है। वामन आचार्य का कथन है कि साक्षात् प्रयोग के विना भी बुद्धिस्थ द्विवचन आदि के कारण तरप्-तमप् आदि आतिशायनिक प्रत्यय हो जाते हैं।[१] यथा—बहुलतरं प्रेम, घनतरं पयः, **अल्पाच्तरम्** (९८९), **गुरु-र्धरित्री क्रियतेतरां त्वया** (माघ० १.३६) इत्यादि।

विभज्य (विभक्तव्य = पृथक्करणीय) के उपपद रहते उदाहरण यथा—

उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः पटीयांसो वा (उत्तरीलोग पूर्वीलोगों की अपेक्षा अधिक निपुण होते हैं)। यहां उदीच्यों से प्राच्यों को पृथक् करना है अतः प्राच्य विभज्य = विभक्तव्य = पृथक्करणीय हैं, **पञ्चमी विभक्ते** (२.३.४२) सूत्र से इस में

---

१. **बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामप्यातिशायनिकाः॥**

(वामनकाव्यालंकारसूत्र निर्णयसागर पृष्ठ ७५)

पञ्चमी विभक्ति हुई है ।[1] इस विभज्य के उपपद रहते अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'पटु जस्' से **द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा तरप् और ईयसुँन् हो कर पूर्ववत् सिद्धि होती है ।

इसीप्रकार—

(१) माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः (मथुरावासी पाटलिपुत्रवासियों की अपेक्षा अधिक धनी हैं) । यहां 'पाटलिपुत्रकेभ्यः' यह विभज्य उपपद है ।

(२) माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः साङ्काश्येभ्यश्च आढ्यतराः । यहां उपपद में दो विभज्य हैं ।

(३) **मतिरेव बलाद् गरीयसी ।** (हितोप० २.८६)

(४) **स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ।** (विक्रमो० ४.१५)

(५) **कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।** (गीता ३.८)

(६) **ततो दुःखतरं नु किम् ?** (गीता २.३६)

(७) **पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं**
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य ।
दत्ते खले नु निखिलं खलु येन दुग्धं
नित्यं ददाति महिषी ससुतापि पश्य ।। (पञ्च० २.५५)

अब इस प्रकरण के एक अत्युपयोगी सूत्र को जिसे संक्षेपरुचि लघुकौमुदीकार ने छोड़ दिया है, यहां निर्दिष्ट कर रहे हैं—

अजादी गुणवचनादेव (५.३.५८) ।।

अर्थः—पूर्वोक्त (तमप्, इष्ठन्, तरप् और ईयसुँन्) चार प्रत्ययों में जो दो अजादि प्रत्यय हैं वे केवल गुणवाचकों से ही होते हैं अन्यों से नहीं । इष्ठन् और ईयसुँन् ही अजादि प्रत्यय हैं वे गुणवाचकों से ही होते हैं अन्यों से नहीं । यथा —लघु और पटु शब्द गुणवाचक हैं, इन से इष्ठन् और ईयसुँन् हो जायेंगे—एषामयमतिशयेन लघुः—लघिष्ठः, एषामयमतिशयेन पटुः —पटिष्ठः, अनयोरयमतिशयेन लघुः—लघीयान्, अनयोरयमतिशयेन पटुः—पटीयान् । पाचक शब्द क्रियापद है गुणवाचक नहीं अतः इससे ये न होंगे तमप् और तरप् ही होंगे । एषामयमतिशयेन पाचकः—पाचकतमः, अनयोरयमतिशयेन पाचकः—पाचकतरः । ध्यान रहे कि गुणवाचकों से अजादि प्रत्यय तो होते

---

१. प्रकृत उदाहरण में उदीच्य और प्राच्य यद्यपि पारस्परिक दृष्टि से दोनों विभज्य हैं तथापि यहां अतिशय्यमान विभज्य को ही उपपद में रखना उचित ठहरता है कारण कि अतिशयिता से तो प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । अत एव न्यासकार ने कहा है— **यः पुनरतिशय्यमानस्तस्योपपदत्वं नातिशयितुः, ततः प्रत्ययविधानात्** । तात्पर्य यह है कि विभाग के अवधिभूत पञ्चम्यन्त को ही यहां 'विभज्य' मान कर उस के उपपद रहते अतिशयिता से आतिशायनिक प्रत्ययों का विधान किया जाता है ।

इष्ठन् , ईयसुँन्

ही हैं परन्तु तमप्-तरप् भी हो जाते हैं, इन को रोकने वाला कोई सूत्र नहीं । यथा— लघुतमः, लघुतरः । पटुतमः, पटुतरः ।

अब आतिशायनिक अजादि प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'श्र' आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२३) **प्रशस्यस्य श्रः** ।५।३।६०।।

अस्य श्रादेशः स्यादजाद्योः परतः ।।

अर्थः—अजादि अर्थात् इष्ठन् और ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'श्र' आदेश हो ।

व्याख्या—प्रशस्यस्य ।६।१। श्रः ।१।१। अजाद्योः ।७।२। (**अजादी गुणवचनादेव** सूत्र से 'अजादी' का अनुवर्त्तन कर उसे सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है)। प्रत्यययोः ।७।२। (**प्रत्ययः** अधिकार के विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर लिया जाता है) । अर्थः—(प्रशस्यस्य) प्रशस्यशब्द के स्थान पर (श्रः) 'श्र' यह आदेश हो जाता है (अजाद्योः प्रत्यययोः) अजादि प्रत्ययों के परे रहते । इस आतिशायनिक प्रकरण में दो ही अजादि प्रत्यय कहे गये हैं—इष्ठन् और ईयसुँन् । अतः इन के परे रहते 'प्रशस्य' को 'श्र' आदेश हो जाता है । आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'प्रशस्य' के स्थान पर आदेश हो जायेगा । उदाहरण अग्रिमसूत्र पर देखें ।

अब 'श्र' आदेश के प्रकृतिभाव का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२४) **प्रकृत्यैकाच्** ।६।४।१६३।।

इष्ठादिषु एकाच् प्रकृत्या स्यात् । श्रेष्ठः । श्रेयान् ।।

अर्थः—इष्ठन् आदि प्रत्ययों के परे रहते एक अच् वाला भसञ्ज्ञक अङ्ग प्रकृतिभाव को प्राप्त हो ।

व्याख्या—प्रकृत्या ।३।१। एकाच् ।१।१। इष्ठेमेयःसु ।७।३। (**तुरिष्ठेमेयःसु** सूत्र से) । 'अङ्गस्य' और 'भस्य' दोनों अधिकृत हैं, विभक्तिविपरिणाम से 'अङ्गम् भम्' बन जाता है । एकोऽच् यस्य तद् एकाच्, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(इष्ठेमेयःसु) इष्ठन्, इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते (एकाच्) एक अच् वाला (भम् अङ्गम्) भसञ्ज्ञक अङ्ग (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है ।

यह सूत्र **अल्लोपोऽनः** (२४७), **नस्तद्धिते** (९१९), **यस्येति च** (२३६) और **टेः** (११५७) के प्रकरण में अष्टाध्यायी में पढ़ा गया है अतः उन का अपवाद है ।[1]

उदाहरण यथा—

अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः—श्रेष्ठः (सब से बढ़कर प्रशंसनीय, बढ़िया या उत्तम) । यहां अतिशायनविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्रशस्य सुँ' से **अतिशायने तमबिष्ठनौ**

---

१. इसीलिये 'श्रेष्ठः, श्रेयान्' आदियों में प्रकृतिभाव के कारण गुण आदियों के करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती ।

(१२१८) सूत्र से इष्ठन् प्रत्यय हो कर[1] सुँप् का लुक् (७२१) करने से—प्रशस्य + इष्ठ। अब **प्रशस्यस्य श्रः** (१२२३) सूत्र से इष्ठन् के परे रहते 'प्रशस्य' को 'श्र' सर्वादेश होकर – श्र + इष्ठ। **यचि भम्** (१६५) से 'श्र' की भसञ्ज्ञा है अतः इष्ठन् के परे रहते **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अङ्ग (श्र) की टि (अ) का लोप प्राप्त होता है, इस पर **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) सूत्र से एकाच् भसंज्ञक अङ्ग 'श्र' के प्रकृतिभाव को प्राप्त हो जाने से टिलोप नहीं होता। पुनः **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश कर विभक्ति लाने से 'श्रेष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में तमप् हो कर 'प्रशस्यतमः' भी बनेगा। यहां इष्ठन् के परे न रहने से प्रशस्य को श्र आदेश नहीं होता।

अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान् (दो में अधिक प्रशंसनीय या बढ़िया)। यहां 'अनयोः' यह द्विवचन उपपद में है अतः अतिशायनविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्रशस्य सुँ' से **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा ईयसुँन् प्रत्यय हो कर सुँप् का लुक् करने से—प्रशस्य + ईयस्। अब पूर्ववत् **प्रशस्यस्य श्रः** से प्रशस्य को श्र सर्वादेश हो कर **टेः** (११५७) द्वारा 'श्र' की टि (अ) का लोप प्राप्त होता है। इस पर **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) से प्रकृतिभाव के कारण टि का लोप नहीं होता—श्र + ईयस्। पुनः **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश हो कर 'लघीयान्, पटीयान्' की तरह विभक्तिकार्य (उगित्त्वान्नुँम्, नकार की उपधा को दीर्घ, हल्ङ्यादिलोप एवं संयोगान्तलोप) करने से 'श्रेयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में तरप् हो कर 'प्रशस्यतरः' भी बनेगा।

अब पक्ष में 'प्रशस्य' को 'ज्य' आदेश का भी विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२५) **ज्य च** ।५।३।६१।।

प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्याद् इष्ठेयसोः। ज्येष्ठः ॥

अर्थः—अजादि अर्थात् इष्ठन् और ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'ज्य' आदेश भी हो।

व्याख्या—ज्य इतिलुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। च इत्यव्ययपदम्। प्रशस्यस्य ।६।१। (**प्रशस्यस्य श्रः** सूत्र से)। अजाद्योः ।७।२। (**अजादी गुणवचनादेव** सूत्र से प्राप्त 'अजादी' पद को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है)। प्रत्यययोः ।७।२। (**प्रत्ययः** अधिकार के विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर लिया जाता है)। अर्थः—(प्रशस्यस्य) प्रशस्यशब्द के स्थान पर (ज्य) 'ज्य' यह आदेश (च) भी हो जाता है

---

१. इष्ठन् प्रत्यय अजादि है, **अजादी गुणवचनादेव** (५.३.५८) नियम के अनुसार यह गुणवाचकों से ही होना चाहिये। यहां 'प्रशस्य' शब्द गुणवाचक नहीं पुनः इस से इष्ठन् कैसे हो जायेगा ? इस का उत्तर यह दिया जाता है कि जब आचार्य इष्ठन् के परे रहते प्रशस्य को श्र आदेश का विधान करते हैं तो इस से स्पष्ट ज्ञापित हो जाता है कि वे गुणवाचक न होते हुए भी इस शब्द से परे इष्ठन् का विधान मानते हैं।

(अजाद्योः प्रत्यययोः) अजादि प्रत्ययों के परे रहते। इस प्रकरण में दो ही अजादि प्रत्यय कहे गये हैं—इष्ठन् और ईयसुँन्। अतः इन के परे रहते 'प्रशस्य' को 'ज्य' आदेश होता है। 'ज्य' अनेकाल् है अतः सर्वादेश (४५) होगा। 'च' ग्रहण के कारण पूर्वोक्त 'श्र' आदेश के साथ इस का भी समावेश समझना चाहिये।

इष्ठन् में उदाहरण यथा—

सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेतेषामतिशयेन प्रशस्यः—ज्येष्ठः (सब से बढ़ कर प्रशंसनीय, बढ़िया या उत्तम)। यहां पर अतिशायनविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्रशस्य सुँ' से पूर्ववत् इष्ठन् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रकृत **ज्य च** (१२२५) सूत्र से 'प्रशस्य' को 'ज्य' सर्वादेश हो कर—ज्य+इष्ठ। अब **टेः** (११५७) से प्राप्त टिलोप का **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण वारण हो जाता है। पुनः **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश कर विभक्ति लाने से 'ज्येष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में 'श्रेष्ठः' और 'प्रशस्यतमः' ये दोनों पूर्वोक्त प्रयोग भी रहेंगे।

ईयसुँन् में उदाहरण यथा—

इमौ द्वावपि प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः—ज्यायान् (दोनों में अधिक प्रशंसनीय, अच्छा या बढ़िया)। यहां 'अनयोः' यह दो अर्थों का वाचक उपपद में है अतः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्रशस्य सुँ' से **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा ईयसुँन्, सुँब्लुक् तथा प्रकृत **ज्य च** (१२२५) सूत्र से 'प्रशस्य' को 'ज्य' सर्वादेश हो कर 'ज्य+ईयस्' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२६) ज्यादादीयसः ।६।४।१६०।।

(ज्यात् परस्य ईयस आकार आदेशः स्यात्)। आदेः परस्य (७२)—ज्यायान्।।

अर्थः—'ज्य' से परे ईयस् के ईकार को आकार आदेश हो।

व्याख्या—ज्यात्।५।१। आत्।१।१। ईयसः।६।१। अर्थः—(ज्यात्) ज्य से परे (ईयसः) ईयस् के स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है। यह आदेश अलोऽन्त्य-परिभाषा से ईयस् के सकार के स्थान पर प्राप्त होता है परन्तु **आदेः परस्य** (७२) परिभाषाद्वारा उसे न हो कर ईयस् के आदि वर्ण ईकार के स्थान पर हो जाता है। इस प्रकार 'ईयस्' का 'आयस्' बन जाता है।

'ज्य+ईयस्' यहां **आदेः परस्य** (७२) की सहायता से प्रकृत **ज्यादादीयसः** (१२२६) सूत्रद्वारा ईयस् के आदि वर्ण ईकार को आकार आदेश हो कर—ज्य+आयस्। अब **टेः** (११५७) से प्राप्त टिलोप का **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव के कारण वारण हो कर **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ एकादेश करने से—ज्य् आ यस्=ज्यायस्। अब 'श्रेयान्' की तरह विभक्तिकार्य करने पर 'ज्यायान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में पूर्वोक्त 'श्रेयान्' तथा 'प्रशस्यतरः' प्रयोग भी रहेंगे।

इमनिँच्, ईयसुँन्

अष्टाध्यायी में **ज्य च** (५.३.६१) सूत्र से आगे इसीप्रकार का एक अन्य सूत्र भी पढ़ा गया है—

वृद्धस्य च (५.३.६२) ॥

अर्थः—अजादि प्रत्यय (इष्ठन् और ईयसुँन्) के परे होने पर 'वृद्ध' शब्द के स्थान पर भी 'ज्य' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

अयमेषाम् अतिशयेन वृद्धः—ज्येष्ठः (सब से अधिक आयु वाला या बूढ़ा)। अयमनयोरतिशयेन वृद्धः—ज्यायान् (दोनों में अधिक आयु वाला या बूढ़ा)। इन की सिद्धि पूर्ववत् होती है परन्तु अर्थ में अन्तर है।

अब ईयसुँन् के परे रहते बहुशब्द को विशेषकार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२७)

बहोर्लोपो भू च बहोः ।६।४।१५८॥

बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्याद् बहोश्च भूरादेशः । भूमा । भूयान् ॥

अर्थः—बहुशब्द से परे इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्ययों का लोप हो तथा बहुशब्द के स्थान पर 'भू' आदेश भी हो।

व्याख्या—बहोः ।५।१। लोपः ।१।१। भू इतिलुप्तप्रथमैकवचनान्तम्पदम् । च इत्यव्ययपदम् । बहोः ।६।१। इमेयसोः ।७।२। (**तुरिष्ठेमेयस्सु** सूत्र से[1])। अर्थः—(बहोः) बहुशब्द से परे (इमेयसोः) इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्ययों का (लोपः) लोप हो जाता है तथा (बहोः) 'बहु' के स्थान पर (भू) 'भू' यह आदेश (च) भी हो जाता है।[2]

'बहु' से परे इमनिँच् और ईयसुँन् का लोप कहा गया है परन्तु **आदेः परस्य** (७२) परिभाषा के अनुसार यह लोप इन प्रत्ययों के आदिवर्ण इकार और ईकार का ही होता है। बहुशब्द के स्थान पर भू आदेश **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा सर्वादेश होता है।

इमनिँच् में उदाहरण यथा—

बहोर्भावः—भूमा (बहुतपना, बहुतायत)। यहां 'बहु ङस्' से भाव में **पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा** (११५५) सूत्रद्वारा इमनिँच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुँप् (ङस्) का भी लुक् करने से—बहु + इमन् । अब **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२७) इस प्रकृतसूत्र से इमन् के इकार का लोप एवं बहुशब्द के स्थान पर 'भू' सर्वादेश हो कर—भूमन्। विभक्ति लाने पर 'राजन्' शब्द की तरह सुँबन्तप्रक्रिया करने से 'भूमा' प्रयोग सिद्ध

---

१. यद्यपि यहां 'इष्ठेमेयस्सु' द्वारा इष्ठन्-इमनिँच्-ईयसुँन् इन तीनों की अनुवृत्ति आ रही है तथापि इष्ठन् का उत्तरसूत्र में पृथक् उल्लेख के कारण यहां दो को ही सम्बद्ध किया जाता है।

२. **बहोरिति पुनर्ग्रहणं स्थानिवत्त्वप्रतिपत्त्यर्थम् । अन्यथा हि प्रत्ययानामेव भूभावः स्यात्** । (काशिका)

हो जाता है । भूमा, भूमानौ, भूमानः । इमनिँच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं यह पीछे बताया जा चुका है ।

ईयसुँन् में उदाहरण यथा—

अयम्बहुः, अयम्बहुः, अयमनयोरतिशयेन बहुः—भूयान् (दो में अधिक विपुल या विशाल) । यहां 'अनयोः' यह द्विवचन उपपद में है अतः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'बहु सुँ' से **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) से ईयसुँन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं सुँप् का भी लुक् करने से—बहु + ईयस् । अब **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२७) इस प्रकृतसूत्र से ईयस् के ईकार का लोप तथा बहुशब्द को भू सर्वादेश हो कर[1]—भू + यस = भूयस् ।[2] अब 'श्रेयान्' की तरह विभक्तिकार्य करने से 'भूयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब बहुशब्द से परे इष्ठन् के लिये विशेष कार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२८) **इष्ठस्य यिट् च** ।६।४।१५९।।

बहोः परस्य इष्ठस्य लोपः स्याद् यिडागमश्च । भूयिष्ठः ।।

अर्थः—बहुशब्द से परे इष्ठन् का लोप हो तथा उस इष्ठन् को यिट् का आगम भी हो किञ्च बहुशब्द के स्थान पर भू आदेश भी हो ।

व्याख्या—इष्ठस्य ।६।१। यिट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२७) इस पिछले सूत्र की अनुवृत्ति होती है । अर्थः—(बहोः) बहुशब्द से परे (इष्ठस्य) इष्ठन् प्रत्यय का (लोपः) लोप हो जाता है तथा उसे (यिट्) यिट् का आगम भी हो जाता है । किञ्च (भू च बहोः) बहु के स्थान पर 'भू' आदेश भी हो जाता है । बहुशब्द से परे इष्ठन् का लोप कहा है अतः **आदेः परस्य** (७२) द्वारा इष्ठन् के आदि इकार का ही लोप होगा । यिट् में टकार इत् है, 'यि' मात्र शेष रहता है । **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार यिट् का आगम इष्ठन् का आद्यवयव बनता है । उदाहरण यथा—

अयं बहुरयं बहुरयं बहुः । अयमेषामतिशयेन बहुः—भूयिष्ठः (सब में अधिक विपुल या विशाल) । यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'बहु सुँ' से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्रद्वारा इष्ठन् प्रत्यय हो कर सुँप् का लुक् करने से 'बहु + इष्ठ' हुआ । अब प्रकृत **इष्ठस्य यिट् च** (१२२८) सूत्र से इष्ठन् के आदि इकार का लोप, प्रत्यय को यिट् का आगम तथा बहु के स्थान पर 'भू' सर्वादेश कर देने से—भू +

---

१. यदि यहां 'भु' इस प्रकार ह्रस्वान्त आदेश करते तो भी **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (४८३) से यकारादि प्रत्यय के परे रहते दीर्घ हो कर 'भूयस्' बन सकता था पुनः यहां दीर्घान्त आदेश क्यों किया गया है ? इस का उत्तर यह है कि 'भूयस्' के सिद्ध हो जाने पर भी 'भूमन्' की सिद्धि न हो सकती थी अतः मुनि को दीर्घान्त आदेश करना पड़ा है ।

२. अत्र भूभावस्य आभीयत्वेन असिद्धत्वाद् **ओर्गुणः** (१००५) इति गुणो न ।

यिष्ठ=भूयिष्ठ । विभक्ति लाने से 'भूयिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोट—कुछ वैयाकरण 'इष्ठन् को यिंट् का आगम हो' इसे आदिलोप का अपवाद मानते हैं। उन के मतानुसार यिंट् में इकार और टकार दोनों इत् हैं, इस प्रकार यिंट् का 'य्' मात्र शेष रहता है—भू+य्इष्ठ=भूयिष्ठः । महाभाष्य में दोनों पक्ष स्वीकृत हैं ।

अब इष्ठन् और ईयसुँन् के परे रहते मत्वर्थीय विन् और मतुँप् प्रत्ययों के लुक् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२६) विन्मतोर्लुक् ।५।३।६५।।

विनो मतुँपश्च लुक् स्यादिष्ठेयसोः । अतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठः । स्रजीयान् । अतिशयेन त्वग्वान्—त्वचिष्ठः । त्वचीयान् ।।

अर्थः—इष्ठन् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते विन् और मतुँप् प्रत्ययों का लुक् हो ।

व्याख्या—विन्मतोः ।६।२। लुक् ।१।१। अजाद्योः ।७।२। (**अजादी गुणवचनादेव** सूत्र से 'अजादी' की अनुवृत्ति ला कर उसे सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है) । विन् च मत् च विन्मतौ, तयोः=विन्मतोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अजाद्योः प्रत्यययोः) अजादि प्रत्ययों अर्थात् इष्ठन् और ईयसुँन् के परे रहते (विन्मतोः) विनिँ और मतुँप् प्रत्ययों का (लुक्) लुक् हो जाता है । विनिँप्रत्यय का विधान **अस्माया-मेधास्रजो विनिँः** (११९३) आदि सूत्रों के द्वारा तथा मतुँप् प्रत्यय का विधान **तदस्या-स्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) आदि सूत्रों से पीछे दर्शाया जा चुका है । **प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः** (१८९) के अनुसार लुक् पूरे प्रत्यय का ही हुआ करता है अतः अलोऽन्त्य-विधि (२१) न हो कर विन् और मत् इन पूरे प्रत्ययों का ही लुक् होगा ।

प्रथम विन् (विनिँ) प्रत्यय के लुक् के उदाहरण यथा—

सर्वे इमे स्रग्विणः, अयमेषामतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठः (सब मालावालों में अधिक मालावाला) । प्रथमान्त स्रज्शब्द से मत्वर्थ में **अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः** (११९३) सूत्रद्वारा विनिँ प्रत्यय ला कर सुँब्लुक् तथा पदान्त में **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) द्वारा कुत्व करने से 'स्रग्विन्' शब्द निष्पन्न होता है । अब अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'स्रग्विन् सुँ' से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) द्वारा इष्ठन्प्रत्यय, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक्, **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) इस प्रकृतसूत्र से इष्ठन् के परे रहते विन्प्रत्यय का भी लुक् कर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** न्याय के अनुसार कुत्व के दूर हो जाने से 'स्रज्+इष्ठ' हुआ । **यचि भम्** (१६५) सूत्रद्वारा यहां 'स्रज्' की भसञ्ज्ञा है, अतः **टेः** (११५७) से टि (अज्) का लोप प्राप्त होता है । इस पर **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण उस का वारण हो जाता है । अब भत्व के कारण कुत्व की प्रवृत्ति नहीं होती । इस प्रकार 'स्रजिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इमौ द्वावपि स्रग्विणौ, अयमनयोरतिशयेन स्रग्वी स्रजीयान् (दो मालावान् व्यक्तियों में अधिक मालावान् व्यक्ति)। यहां द्विवचन 'अनयोः' के उपपद में रहते **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्र से ईयसुँन् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) से विन् का भी लुक् हो जाता है—स्रज्+ईयस्। अब **टेः** (११५७) द्वारा प्राप्त टिलोप का **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) से प्रकृतिभाव के कारण वारण हो कर—स्रजीयस्। विभक्तिकार्य करने से 'स्रजीयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मतुँप् प्रत्यय के लुक् के उदाहरण यथा—

सर्वे इमे त्वग्वन्तः, अयमेषामतिशयेन त्वग्वान्—त्वचिष्ठः (सब त्वचावालों में अधिक त्वचावान्)। प्रथमान्त त्वच्शब्द से **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र-द्वारा मतुँप् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से मतुँप् के मकार को वत्व तथा **चोः कुः** (१०६) से कुत्वादि करने से 'त्वग्वत्' (प्रशस्त त्वचा वाला) शब्द निष्पन्न होता है। अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'त्वग्वत् सुँ' से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) से इष्ठन्, सुँब्लुक् तथा **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) से मतुँप् का भी लुक् कर कुत्वादि के हट जाने से—त्वच्+इष्ठ। अब भसञ्ज्ञा के कारण **टेः** (११५७) द्वारा प्राप्त टिलोप का **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) से प्रकृतिभाव के कारण वारण हो कर 'त्वचिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अयमनयोरतिशयेन त्वग्वान्—त्वचीयान्। यहां द्विवचन 'अनयोः' के उपपद में रहते **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) द्वारा ईयसुँन् प्रत्यय करने पर **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) से मतुँप् का लुक् हो जाने से—त्वच्+ईयस्। अब **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण **टेः** (११५७) से टि का लोप नहीं होता—त्वचीयस्। विभक्तिकार्य करने से 'त्वचीयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—
मतिमत्—मतिष्ठः, मतीयान्।
धनवत्—धनिष्ठः, धनीयान्।
मेधाविन्—मेधिष्ठः, मेधीयान्।
बलवत्—बलिष्ठः, बलीयान्।[1]

अतिशायनिक (तुलनार्थक) प्रत्ययों के इस प्रसङ्ग में कुछ अन्य उपयोगी सूत्रों का जानना भी आरम्भिक विद्यार्थियों के लिये परम आवश्यक है। अतः उन सूत्रों का संक्षेप से कुछ विवरण यहां उपस्थित किया जा रहा है—

---

१. इन सब में मतुँप् या विन् का लुक् हो जाने पर **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा टि का लोप हो जाता है। एकाच् न होने से **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) से प्रकृतिभाव नहीं होता। (शेखरकारेणात्र अन्यविधं प्रतिपादितम्, विशेषबुभुत्सुभिस्तत्तु तत्रैव द्रष्टव्यम्)।

(१) **स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः** (६.४.१५६) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र और क्षुद्र इन छः शब्दों के यण् से ले कर परले भाग का लोप हो जाता है किञ्च यण् से पूर्व इकार उकार के स्थान पर गुण भी हो जाता है। यथा—

स्थूल (मोटा)—स्थो + इष्ठन् = स्थविष्ठः। स्थवीयान्।
दूर (दूर)—दो + इष्ठन् = दविष्ठः। दवीयान्।
युवन् (जवान)—यो + इष्ठन् = यविष्ठः। यवीयान्।
ह्रस्व (छोटा)—ह्रस् + इष्ठन् = ह्रसिष्ठः। ह्रसीयान्।
क्षिप्र (शीघ्र)—क्षेप् + इष्ठन् = क्षेपिष्ठः। क्षेपीयान्।
क्षुद्र (छोटा)—क्षोद् + इष्ठन् = क्षोदिष्ठः। क्षोदीयान्।[1]

(२) **युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्** (५.३.६४) ॥

अर्थः—इष्ठन् या ईयसुँन् प्रत्यय के परे रहते युवन् और अल्प शब्दों के स्थान पर विकल्प से कन् सर्वादेश होता है। यथा—

युवन् (जवान)—कन् + इष्ठन् = कनिष्ठः। कनीयान्।
पक्षे—यविष्ठः। यवीयान्। (स्थूलदूरयुव०)
अल्प (थोड़ा)—कन् + इष्ठन् = कनिष्ठः। कनीयान्।
पक्षे—अल्पिष्ठः। अल्पीयान्।

(३) **अन्तिक-बाढयोर्नेदसाधौ** (५.३.६३) ॥

अर्थः—इष्ठन् या ईयसुँन् प्रत्यय के परे रहते अन्तिक को नेद तथा बाढ को साध आदेश होता है। यथा—

अन्तिक (निकट)—नेद + इष्ठन् = नेदिष्ठः। नेदीयान्।
बाढ (दृढ़, अच्छा)—साध + इष्ठन् = साधिष्ठः। साधीयान्।

(४) **प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्-बंहि-गर्-वर्षि-त्रब्-द्राघि-वृन्दाः** (६.४.१५७) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ और वृन्दारक इन दस शब्दों के स्थान पर क्रमशः प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि और वृन्द ये दस आदेश हो जाते हैं।[2] यथा—

---

१. इमनिँच् में इन के उदाहरण पीछे **त्वतलोरधिकारः** के अन्तर्गत (११५८) सूत्राङ्क पर दिये जा चुके हैं, वहीं देखें।

२. वर्षि-बंहि-द्राघिषु इकार उच्चारणार्थ इति नागेशः।

प्रिय (प्यारा)—प्र + इष्ठ = प्रेष्ठः । प्रेयान् ।

स्थिर (स्थायी)—स्थ + इष्ठ = स्थेष्ठः । स्थेयान् ।

स्फिर (बहुत)—स्फ + इष्ठ = स्फेष्ठः । स्फेयान् ।

उरु (विशाल) —वर् + इष्ठ = वरिष्ठः । वरीयान्

बहुल (बहुत)—बंहि + इष्ठ = बंहिष्ठः । बंहीयान् ।

गुरु (भारी)—गर् + इष्ठ = गरिष्ठः । गरीयान् ।

वृद्ध (बूढ़ा)—वर्षि + इष्ठ = वर्षिष्ठः । वर्षीयान् ।

तृप्र (सन्तुष्ट)—त्रप् = इष्ठ = त्रपिष्ठः । त्रपीयान् ।

दीर्घ (लम्बा) = द्राघि + इष्ठ = द्राघिष्ठः । द्राघीयान् ।

वृन्दारक (सुन्दर)[1]—वृन्द + इष्ठ = वृन्दिष्ठः । वृन्दीयान् ।

(५) **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते हलादि लघु ऋकार को 'र' आदेश हो जाता है। इमनिँच् में उदाहरण इसी सूत्र पर पीछे दिये जा चुके हैं। इष्ठन् और ईयसुँन् में उदाहरण यथा—

पृथु (विशाल, चौड़ा) —प्रथु + इष्ठन् = प्रथिष्ठः । प्रथीयान् ।

मृदु (कोमल)—म्रदु + इष्ठन् = म्रदिष्ठः । म्रदीयान् ।

भृश (अधिक) —भ्रश + इष्ठन् = भ्रशिष्ठः । भ्रशीयान् ।

कृश (कमज़ोर) —क्रश + इष्ठन् = क्रशिष्ठः । क्रशीयान् ।

दृढ (मज़बूत)—द्रढ + इष्ठन् = द्रढिष्ठः । द्रढीयान् ।

परिवृढ (प्रधान, स्वामी)—परिव्रढ + इष्ठन् = परिव्रढिष्ठः । परिव्रढीयान् ।

(६) **तुरिष्ठेमेयःसु** (६.४.१५४) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते 'तृ' का लोप हो जाता है। यहां सम्पूर्ण 'तृ' का ही लोप होता है, केवल ऋकार का नहीं, वह तो **टेः** (११५७) द्वारा सिद्ध था ही। उदाहरण यथा—

कर्तृ (करने वाला)—कर् + इष्ठ = करिष्ठः । करीयान् ।

विजेतृ (जीतने वाला)—विजे + इष्ठ = विजयिष्ठः । विजयीयान् ।

स्तोतृ (स्तोता)—स्तो + इष्ठ = स्तविष्ठः । स्तवीयान् ।[2]

विद्यार्थियों के सुखबोध के लिये यहां आतिशायनिक (तुलनार्थक) प्रत्ययों की एक तालिका दे रहे हैं। तरप्-तमप् प्रत्ययान्त रूप सरल होते हैं अतः उन का यहां संग्रह नहीं किया गया। ईयसुँन् और इष्ठन्प्रत्ययान्तों की ही तालिका यहां दी जा रही है—

---

१. **वृन्दारकः सुरे पुंसि मनोज्ञश्रेष्ठयोस्त्रिषु** इति मेदिनी ।

२. 'तृ' का लोप हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षण के कारण धातु को गुण हो जाता है।

शब्द Positive	दो में उत्कृष्ट Comparative	सब में उत्कृष्ट Superlative
१. पटु (चतुर)	पटीयान्	पटिष्ठः
२. लघु (छोटा)	लघीयान्	लघिष्ठः
३. प्रशस्य (प्रशंसनीय)	श्रेयान्, ज्यायान्	श्रेष्ठः, ज्येष्ठः
४. महत् (बड़ा)	महीयान्	महिष्ठः
५. बहु (बहुत)	भूयान्	भूयिष्ठः
६. स्रग्विन् (मालावाला)	स्रजीयान्	स्रजिष्ठः
७. त्वग्वत् (छालवाला)	त्वचीयान्	त्वचिष्ठः
८. स्थूल (मोटा)	स्थवीयान्	स्थविष्ठः
९. दूर (दूर)	दवीयान्	दविष्ठः
१०. युवन् (जवान)	कनीयान्, यवीयान्	कनिष्ठः, यविष्ठः
११. ह्रस्व (छोटा)	ह्रसीयान्	ह्रसिष्ठः
१२. क्षिप्र (शीघ्र)	क्षेपीयान्	क्षेपिष्ठः
१३. क्षुद्र (तुच्छ)	क्षोदीयान्	क्षोदिष्ठः
१४. अल्प (थोड़ा)	कनीयान्, अल्पीयान्	कनिष्ठः, अल्पिष्ठः
१५. अन्तिक (समीप)	नेदीयान्	नेदिष्ठः
१६. बाढ (दृढ़, अच्छा)	साधीयान्	साधिष्ठः
१७. प्रिय (प्यारा)	प्रेयान्	प्रेष्ठः
१८. स्थिर (स्थिर)	स्थेयान्	स्थेष्ठः
१९. स्फिर (बहुत)	स्फेयान्	स्फेष्ठः
२०. उरु (विशाल)	वरीयान्	वरिष्ठः
२१. बहुल (बहुत)	बंहीयान्	बंहिष्ठः
२२. गुरु (बड़ा)	गरीयान्	गरिष्ठः
२३. वृद्ध (आयु में बड़ा)	ज्यायान्, वर्षीयान्	ज्येष्ठः, वर्षिष्ठः
२४. तृप्र (सन्तुष्ट)	त्रपीयान्	त्रपिष्ठः
२५. दीर्घ (लम्बा)	द्राघीयान्	द्राघिष्ठः
२६. वृन्दारक (सुन्दर)	वृन्दीयान्	वृन्दिष्ठः
२७. पृथु (विशाल, चौड़ा)	प्रथीयान्	प्रथिष्ठः
२८. मृदु (कोमल)	म्रदीयान्	म्रदिष्ठः
२९. भृश (अधिक)	भ्रशीयान्	भ्रशिष्ठः
३०. कृश (पतला, कमजोर)	क्रशीयान्	क्रशिष्ठः
३१. दृढ (मज़बूत)	द्रढीयान्	द्रढिष्ठः
३२. परिवृढ (स्वामी, प्रधान)	परिव्रढीयान्	परिव्रढिष्ठः
३३. तनु (पतला)	तनीयान्	तनिष्ठः
३४. साधु (ठीक, युक्त)	साधीयान्	साधिष्ठः
३५. कर्तृ (करने वाला)	करीयान्	करिष्ठः
३६. अणु (अणु)	अणीयान्	अणिष्ठः

तुलनार्थकों के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।**[1]

(२) **बलीयसा हीनबलो विरोधं**
न भूतिकामो मनसापि वाञ्छेत् ।[2] (पञ्चतन्त्र ३.१२६)

(३) **नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम् ।**[3]
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्ड्यन्ते चन्दनद्रुमाः ॥ (भामिनी० १.८८)

(४) **त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः ।**
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः ॥[4] (किरात० ११.१०)

(५) **मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः ।**
द्राघीयसा वयोऽतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना ॥[5] (किरात० ११.२)

(६) **कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे ।**
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥[6] (रघु० १२.३४)

(७) **विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥**[7] (भामिनी० १.६८)

(८) **यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।**
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥[8] (माघ० २.१३)

(९) **अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत् ।**[9]

(१०) **यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।**
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वाम्प्रपन्नम् ॥[10] (गीता २.७)

---

१. गरीयसी = गुरुतरा । ईयसुँनि गुरुशब्दस्य गर् इत्यादेशः (**प्रियस्थिर०**) ।

२. बलीयसा = बलवत्तरेण । **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) इति मतोर्लुक् ।

३. साधीयः = साधुतरम् । ईयसुँनि **टेः** (११५७) इति टेर्लोपः ।

४. वर्षीयान् = वृद्धतरः । ईयसुँनि वृद्धशब्दस्य वर्ष् इत्यादेशः ।

५. द्राघीयसा = दीर्घतरेण अध्वना परिक्लान्तः । ईयसुँनि दीर्घशब्दस्य द्राघ् इत्यादेशः ।

६. शूर्पणखां प्रति रामस्योक्तिरियम् । कनीयांसम् = युवतरं लक्ष्मणम् । **युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्** (५.३.६४) इति युवशब्दस्य कन् इत्यादेशः ।

७. दवीयः = दूरतरम् । ईयसुँनि दूरशब्दस्य यणादिपरभागस्य लोपे पूर्वस्य उकारस्य गुणे च कृतेऽवादेशः । [विद्वानों के सब कार्य वाणी से दूर अर्थात् अनिर्वचनीय होते हैं ।]

८. महीयांसः = महत्तराः । ईयसुँनि महच्छब्दस्य टेर्लोपः ।

९. पापीयान् = पापतरः, दुष्टतरः । ईयसुँनि टेर्लोपः ।

१०. श्रेयः = प्रशस्यतरम् । ईयसुँनि **प्रशस्यस्य श्रः** (१२२३) इति श्रादेशः ।

(११) **कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः** ।[1] (गीता ३.८)

(१२) **निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति** । (शतपथब्राह्मणे)[2]
(स्वीकार किया गया पाप कम हो जाता है ।)

(१३) **बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा** ।।[3] (माघ० २.१००)

(१४) **यतिर्वशिष्ठो यमिनां वरिष्ठः** ।[4] (भट्टि० १.१५)

(१५) **अणोरणीयान् महतो महीयान्** ।[5]
आत्मास्य जन्तोर्निहितं गुहायाम् । (केन उपनिषद्)

(१६) **अश्वः पशूनाम् आशिष्ठः** ।[6] (शतपथब्राह्मणे)

(१७) **वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता** ।[7] (ऐतरेयब्राह्मणे)

(१८) **इयं हि—अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्** ।[8] (शाकुन्तलप्रस्तावना)

(१९) **तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते** ।[9] (माघ० २.५१)

(२०) **पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः** [10] । (परिभाषा)

विशेष वक्तव्य—प्रकर्षप्रत्ययान्त से पुनः दूसरा प्रकर्षप्रत्यय नहीं होता—ऐसा

---

१. ज्यायः=प्रशस्यतरम् । ईयसुँनि **ज्य च** (१२२५) इति प्रशस्यस्य ज्यादेशः । **ज्यादादीयसः** (१२२६) इति आकारादेशः ।

२. कनीयः=अल्पतरम् । ईयसुँनि **युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्** (५.३.६४) इति अल्पशब्दस्य कनादेशः ।

३. क्षोदीयान्=क्षुद्रतरः । ईयसुँनि क्षुद्रशब्दस्य यणादिपरभागे लुप्ते पूर्वस्य च गुणे रूपसिद्धिः ।

४. वरिष्ठः=उरुतमः=महत्तमः । इष्ठनि महत्पर्यायस्य उरुशब्दस्य वर् इत्यादेशः ।

५. अणीयान्=अणुतरः, सूक्ष्म इति भावः । महीयान्=महत्तरः । उभयत्र ईयसुँनि टेर्लोपः ।

६. आशिष्ठः=आशुतमः=शीघ्रतमः । इष्ठनि टेर्लोपः (११५७) ।

७. क्षेपिष्ठा=क्षिप्रतमा । इष्ठनि क्षिप्रशब्दस्य यणादिपरभागे लुप्ते पूर्वस्य इकारस्य च गुणे स्त्रियां टापि रूपं सिध्यति ।

८. अभिरूपाः=विद्वांसो भूयिष्ठाः=बहुतमा यस्यां सा तथोक्ता, विद्वद्बहुलेति भावः । बहुशब्दाद् इष्ठनि तस्यादेरिकारस्य लोपे यिडागमे बहोश्च भू इत्यादेशे च कृते भूयिष्ठशब्दः सिध्यति (१२२८) ।

९. दवीयान्=दूरतरः । सिद्धिरुक्तपूर्वा ।

१०. बलीयः=बलवत्तरम् । **विन्मतोर्लुक्** (१२२९) ।

अनेक वैयाकरणों का मन्तव्य है।[1] परन्तु काशिकाकार का मत है कि जब प्रकर्षवानों में भी पुनः प्रकर्ष की विवक्षा हो तो आतिशयनिकप्रत्ययान्तों से भी दूसरा प्रकर्ष-प्रत्यय आ सकता है। यथा—**देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे** (यजु:० १.१); **युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्** (अनुपलब्धमूलम्)। यहां 'श्रेष्ठ' इस आतिशयनिकप्रत्ययान्त से दूसरा आतिशयनिक तमप् प्रत्यय किया गया है।[2] परन्तु निषेध मानने वालों का कथन है कि प्रथम उदाहरण वैदिक है। इस में अतिशयनिकप्रत्ययान्त 'श्रेष्ठ' शब्द से स्वार्थ में तमप् प्रत्यय आया है। दूसरे लौकिक उदाहरण को वे लोग असाधु मानते हैं।

अब ईषदसमाप्ति (कुछ न्यूनत्व) अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त और तिङन्त दोनों से कल्पप् आदि प्रत्ययों का विधान करते हैं।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३०)

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ।५।३।६७॥

(ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् सुँबन्तात्तिङन्ताच्च कल्पब्देश्य-देशीयरः प्रत्ययाः स्युः)। ईषदूनो विद्वान् विद्वत्कल्पः। विद्वद्देशीयः। पचतिकल्पम् ॥

अर्थः—कुछन्यूनताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त या तिङन्त से स्वार्थ में कल्पप्, देश्य और देशीयर् ये तद्धित प्रत्यय हों।

व्याख्या—ईषदसमाप्तौ ।७।१। कल्पब्देश्यदेशीयरः ।१।३। तिङः ।५।१। (**तिङश्च** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। न समाप्तिः—असमाप्तिः, नञ्तत्पुरुषः। ईषच्चासावसमाप्तिः—ईषदसमाप्तिः, तस्याम् =ईषदसमाप्तौ, कर्मधारयसमासः। पदार्थों की पूर्णता को समाप्ति कहा जाता है, उस में कुछ कमी या न्यूनता रह गई हो तो उसे ईषदसमाप्ति कहेंगे। कल्पप् च देश्यश्च देशीयर् च कल्पब्देश्य-देशीयरः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(ईषदसमाप्तौ) कुछन्यू-नताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात्=सुँबन्तात्) सुँबन्त और (तिङः= तिङन्तात्) तिङन्त से स्वार्थ में (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (कल्पब्देश्यदेशीयरः) कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय हो जाते हैं।

कल्पप्प्रत्यय का अन्त्य पकार तथा देशीयर्प्रत्यय का अन्त्य रेफ इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं। ये स्वरार्थ जोड़े गये हैं।

सुँबन्त से उदाहरण यथा—

---

१. आतिशायनिकप्रत्ययान्ताद् आतिशायनिको न, अनभिधानात्। 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इत्यादिकं तु छान्दसत्वात् स्वार्थे साधु। (लघुशब्देन्दुशेखरे)

२. यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपर आतिशायनिकः प्रत्ययो भवत्येव। **देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणामिति।** (काशिका ५.३.५५)

ईषदूनो विद्वान्—विद्वत्कल्पः, विद्वद्देश्यः, विद्वद्देशीयो वा (कुछ कम विद्वान्, लगभग विद्वान्, विद्वान् के सदृश, विद्वत्तुल्य आदि)। यहां ईषद्-असमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'विद्वस्+सुँ' इस सुँबन्त से प्रकृत **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** (१२३०) सूत्रद्वारा स्वार्थ में कल्पप्, देश्य और देशीयर् ये तद्धित प्रत्यय हो जाते हैं। अब तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक्, पदत्वात् **वसुँ-स्रंसुँ-ध्वंस्वनडुहां दः** (२६२) से सकार को दकार तथा **खरि च** (७४) से चर्त्व कर विभक्ति लाने से 'विद्वत्कल्पः, विद्वद्देश्यः,विद्वद्देशीयः, ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। अन्तिम दो में खर् परे न होने के कारण चर्त्व नहीं होता।[1]

तिङन्त से उदाहरण यथा—

ईषदूनं पचति—पचतिकल्पम् पचतिदेश्यं पचतिदेशीयं वा (कुछ न्यून पाकक्रिया करता है, कुछ कम पकाता है)। यहां 'पचति' यह तिङन्त ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान है अतः **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** (१२३०) इस प्रकृतसूत्रद्वारा कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय हो कर लोकानुसार नपुंसकलिङ्ग के प्रथमैकवचन में विभक्ति-कार्य करने से पचतिकल्पम्, पचतिदेश्यम् तथा पचतिदेशीयम् ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार—पञ्चवर्षकल्पः, पञ्चवर्षदेश्यः, पञ्चवर्षदेशीयो वा (जो पाञ्च वर्ष से कुछ कम वयः का है, पूरे पाञ्च वर्ष का नहीं, लगभग पाञ्च वर्षों वाला)। पञ्च वर्षाणि[2] भूतः—यहां 'भूतः' (हो चुका) इस तद्धितार्थ की विवक्षा में 'पञ्चन् शस्+वर्ष शस्' में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) से द्विगुसमास हो कर विभक्तियों का लुक् तथा पदान्त नकार का भी लोप कर देने से 'पञ्चवर्ष' बना। अब इस से **तमधीष्टो भृतो भूतो भावी** (५.१.७९)[3] सूत्रद्वारा 'भूतः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय ला

---

१. **स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते** (स्वार्थिकप्रत्ययान्त शब्द अपनी प्रकृति के लिङ्ग और वचनों का अनुसरण किया करते हैं) इस वचन के अनुसार 'विद्वत्कल्पः' आदि में प्रकृति (विद्वस्) के समान लिङ्ग और वचन हो जाते हैं। परन्तु कहीं कहीं इस नियम का उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा—गुडकल्पा द्राक्षा, शर्कराकल्पो गुडः, तैलकल्पा प्रसन्ना (सुरा)। इन में प्रकृति का लिङ्ग न हो कर अभिधेयवत् लिङ्ग हुआ है। अत एव कहा भी है—**क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते।**

२. यहां **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (२.३.५) सूत्र से द्वितीयाविभक्ति का प्रयोग हुआ है।

३. **तमधीष्टो भृतो भूतो भावी** (५.१.७९)। अर्थः—द्वितीयान्त कालवाची प्रातिपदिक से अधीष्ट (सत्कारपूर्वक प्रेरित), भृत (वेतन से खरीदा हुआ), भूत (हो चुका हुआ), भावी (होने वाला)—इन चार अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो जाता है। यथा—मासमधीष्टः—मासिकोऽध्यापकः। मासं भृतः—मासिकः कर्मकरः। मासं भूतः—मासिको व्याधिः। मासं भावी—मासिक उत्सवः। इन उदाहरणों में कालवाचक मासशब्द से **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (२.३.५) द्वारा द्वितीया विभक्ति हुई है।

कर उस का **चित्तवति नित्यम्** (५.१.८८)[1] से लुक् हो जाता है—पञ्चवर्षः (पूरे पाञ्च वर्ष की वयः वाला)। अब ईषदूनः पञ्चवर्षः—पञ्चवर्षकल्पः, पञ्चवर्षदेश्यः इत्यादि प्रकृत सूत्रद्वारा सिद्ध हो जाते हैं। देवदत्तः पञ्चवर्षकल्पो न तु पञ्चवर्षः, देवदत्त लगभग पाञ्च वर्ष का है पूरे पाञ्च वर्ष का नहीं।

कल्पप् आदि प्रत्ययों के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

[क] **स पुण्यकीर्तिः शतमन्युकल्पो महेन्द्रलोकप्रतिमां समृद्ध्या।**
अध्यास्त सर्वर्त्तुसुखामयोध्यामध्यासितां ब्रह्मभिरिद्धबोधैः॥
(भट्टि० १.५)

[ख] **तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्।**
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात् प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण॥
(रघु० १८.३९)

[ग] **ऐक्षेतामाश्रमादाराद् गिरिकल्पं पतत्रिणम्।**
तं सीताघातिनं मत्वा हन्तुं रामोऽभ्यधावत॥
(भट्टि० ६.४१)

[घ] **वनानि तोयानि च नेत्रकल्पैः पुष्पैस्सरोजैश्च विलीनभृङ्गैः।**
परस्परं विस्मयवन्तिलक्ष्मीमालोकयाञ्चक्रुरिवादरेण॥
(भट्टि० २.५)

[ङ] **शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।**
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥
(रघु० ३.२)

अब इसी अर्थ में सुँबन्त प्रकृति से पूर्व बहुच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२३१**)

विभाषा सुँपो बहुच् पुरस्तात्तु ।५।३।६८॥

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुँबन्ताद् बहुज्वा स्यात्, स च प्रागेव न तु परतः। ईषदूनः पटुः—बहुपटुः। पटुकल्पः। सुँपः किम्? यजतिकल्पम्॥

अर्थः—कुछ न्यूनताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त से विकल्प कर के बहुच् तद्धितप्रत्यय हो, परन्तु वह प्रत्यय प्रकृति से परे न हो कर उस से पूर्व में ही हो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। सुँपः ।५।१।[2] बहुच् ।१।१। पुरस्तात् इत्यव्ययपदम्।

---

१. **चित्तवति नित्यम्** (५.१.८८)। अर्थः—वर्षशब्दान्त द्विगु से अधीष्ट आदि अर्थों में हुए तद्धितप्रत्यय का नित्य लुक् हो, यदि चेतन अभिधेय हो तो।

२. हरदत्त, दीक्षित, नागेशभट्ट आदि अनेक प्रमुख वैयाकरण 'सुँपः' को पञ्चम्यन्त न मान कर षष्ठ्यन्त ही मानते हैं। उनके अनुसार 'पुरस्तात्' के योग में **षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन** (२.३.३०) सूत्रद्वारा इस में षष्ठी हुई है। विस्तार के लिये इस स्थल पर तत्त्वबोधिनी आदि का अवलोकन करें।

तु इत्यप्यव्ययपदम् । ईषदसमाप्तौ ।७।१। (**ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** सूत्र से) । **प्रत्ययः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(ईषद-समाप्तौ) कुछ न्यूनत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान (सुँपः) सुँबन्त से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (बहुच्) बहुच् प्रत्यय (विभाषा) विकल्प से हो जाता है, परन्तु यह प्रत्यय (पुरस्तात्) सुँबन्त से पूर्व (तु) ही प्रयुक्त होता है।

अष्टाध्यायी में समस्त प्रत्यय **प्रत्ययः** (३.१.१), **परश्च** (३.१.२) अधिकारों के कारण प्रकृति से परे ही विधान किये जाते हैं, परन्तु प्रकृत बहुच् प्रत्यय ही अकेला एक ऐसा प्रत्यय है जो प्रकृति से पहले जोड़ा जाता है।

बहुच्प्रत्यय का अन्त्य चकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'बहु' मात्र अवशिष्ट रहता है। चकार अनुबन्ध अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है।

उदाहरण यथा—

ईषदूनः पटुः—बहुपटुः (कुछ कम चतुर, चतुरसदृश)। यहां ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'पटु सुँ' इस सुँबन्त से **विभाषा सुँपो बहुच् पुरस्तात्तु** (१२३१) इस प्रकृत सूत्र से विकल्प कर बहुच् प्रत्यय प्रकृति से पूर्व में रखने पर—बहु पटु सुँ। अब **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (११६) से समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर[1] **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् करने से—बहुपटु। अब प्रातिपदिकत्वात् विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'बहुपटुः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस पक्ष में बहुच् प्रत्यय नहीं होता वहां **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** (१२३०) इस पूर्वसूत्र से कल्पप् आदि प्रत्यय हो कर 'पटुकल्पः, पटुदेश्यः, पटुदेशीयः' ये प्रयोग भी उपपन्न हो जाते हैं।[2]

---

१. ध्यान रहे कि तद्धितसञ्ज्ञक बहुच् प्रत्यय प्रकृति के आदि में किया जाता है, इस से 'बहुपटु सुँ' यह तद्धितान्त नहीं होता। तद्धितान्त न होने से **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो नहीं सकती। इसलिये **अर्थवदधा-तुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (११६) सूत्र से ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जा रही है। इस सूत्र में भी यद्यपि प्रत्ययान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध कहा गया है तथापि यहां अन्त में स्थित सुँप्रत्यय पटु से विधान किया गया है बहुपटु से नहीं, इस तरह वह प्रत्यय समुदाय का नहीं माना जा सकता। अतः प्रत्ययान्त न होने से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा निर्बाध हो जाती है। विशेष जिज्ञासु यहां पर बालमनोरमाटीका का अवलोकन करें।

२. **क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते**। (प०)—स्वार्थिक प्रत्यय यद्यपि कहीं कहीं प्रकृति के लिङ्गवचनों का अतिक्रमण भी कर लिया करते हैं तथापि यह बात बहुच्प्रत्यय से जुड़े शब्दों पर लागू नहीं होती। बहुच् करने पर प्रकृति के लिङ्गवचनों का ही सदा अनुसरण करना चाहिये ऐसा भाष्यकार का मन्तव्य है। अत एव कहा भी है—

स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच् प्रकृतिलिङ्गता।

अज्ञात क, अकँच्

इस सूत्र में 'सुँपः' इसलिये कहा है कि यह प्रत्यय तिङन्त से न हो कर केवल सुँबन्त से ही हो। यद्यपि ङ्याप्प्रातिपदिकात् (११९) अधिकार के कारण यह प्रत्यय स्वतः ही सुँबन्त से सिद्ध था तथापि पीछे से 'तिङः' का अनुवर्त्तन चले आने और आगे भी चले जाने से कहीं यह भी तिङन्त से न हो जाये इसलिए सूत्र में 'सुँपः' का पुनः ग्रहण किया गया है। अतः यह प्रत्यय 'यजति' आदि तिङन्तों से कभी नहीं होता, वहां **तिङश्च** (१२१९) सूत्र से कल्पप् आदि तीन प्रत्यय ही होते हैं—यजतिकल्पम्, यजतिदेश्यम्, यजतिदेशीयम्।

बहुच्प्रत्यय के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

(१) **स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि।**
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः॥ (माघ० २.५०)

(२) **कीर्णा रेजे साजिभूमिस्समन्तादप्राणद्भिः प्राणभाजां प्रतीकैः।**
बह्वारब्धैरर्धसंयोजितैर्वा रूपैः स्रष्टुः सृष्टिकर्मान्तशाला॥
(माघ० १८.७९)

अब 'क' प्रत्यय का अधिकार चलाते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—**(१२३२) प्रागिवात् कः।५।३।७०॥**

इवे प्रतिकृतौ (५.३.९६) इत्यतः प्राक् काधिकारः॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में इस सूत्र से ले कर **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) सूत्र से पूर्व 'क' प्रत्यय अधिकृत किया जाता है।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम्। इवात् ।५।१। कः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'इवात्' से यहां **इवे प्रतिकृतौ** (१२३८) सूत्र की ओर संकेत किया गया है। अर्थः—यहां से ले कर (इवात्) **इवे प्रतिकृतौ** सूत्र से (प्राक्) पहले (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (कः) 'क' प्रत्यय अधिकृत किया जाता है।

यह अधिकारसूत्र है। यहां से ले कर अष्टाध्यायी में आगे आने वाले **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) सूत्र से पूर्व तक जो जो सूत्र कहे जायेंगे उन में 'क' प्रत्यय का विधान समझा जायेगा। यथा—**अज्ञाते** (१२३४), अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'क' प्रत्यय हो। अज्ञातोऽश्वः—अश्वकः, गर्दभकः, उष्ट्रकः। इसीप्रकार अन्य सूत्रों में भी 'क' प्रत्यय का अधिकार समझा जायेगा।

अब इस काधिकार के अपवाद एक अन्य अधिकार का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—**(१२३३)**
अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः।५।३।७१॥

कापवादः। तिङश्चेत्यनुवर्त्तते॥

अर्थः—यहां से ले कर **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) से पूर्व के सूत्रों में अव्ययों, सर्वनामों तथा तिङन्तों की टि से पूर्व तद्धितसञ्ज्ञक अकँच् प्रत्यय हो (क प्रत्यय नहीं)।

यह सूत्र पूर्वोक्त 'क' प्रत्यय का अपवाद है। यहां **तिङश्च** सूत्र का भी पीछे से अनुवर्त्तन होता है।

व्याख्या—अव्ययसर्वनाम्नाम् ।६।३। अकँच् ।१।१। प्राक् इत्यव्ययपदम् । टेः ।५।१। **प्रागिवात्कः** से 'प्रागिवात्' का तथा **तिङश्च** (१२१९) इस पूरे सूत्र का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अव्ययानि च सर्वनामानि च अव्ययसर्वनामानि, तेषाम्=अव्ययसर्वनाम्नाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(प्राग् इवात्) यहां से ले कर **इवे प्रतिकृतौ** सूत्र से पूर्व के सूत्रों में (अव्ययसर्वनाम्नाम्) अव्ययों, सर्वनामों तथा (तिङः=तिङन्तानां च) तिङन्त शब्दों की (टेः) टि[1] से (प्राक्) पूर्व (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अकँच्) अकँच् प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वोक्त अधिकार (१२३२) के द्वारा **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) सूत्र से पूर्व 'क' प्रत्यय अधिकृत किया गया था उस का यह अकँच् प्रत्यय अपवाद है। क और अकँच् प्रत्ययों में स्वरूप का तो अन्तर है ही परन्तु इस के अतिरिक्त दोनों में अन्य भी दो बड़े अन्तर हैं। तथाहि—

(१) 'क' प्रत्यय प्रकृति से परे होता है परन्तु अकँच् प्रत्यय अव्यय आदि की टि से पूर्व।

(२) 'क' प्रत्यय तिङन्तों से नहीं होता किन्तु अकँच् प्रत्यय तिङन्तों से भी हो जाता है।

अकँच् प्रत्यय में अन्त्य चकार तथा उस से पूर्व वाला अकार इत्सञ्ज्ञक है, अतः इन का लोप हो कर 'अक्' मात्र शेष रहता है। चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७) सूत्रद्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये तथा अकार उच्चारणार्थ जोड़ा गया है।

इस सूत्र में 'सुँपः' और 'प्रातिपदिकात्' दोनों का अनुवर्त्तन होता है।[2] अतः यह प्रत्यय प्रयोगानुसार कहीं तो सुँबन्त की टि से पूर्व और कहीं प्रातिपदिक की टि से पूर्व होता है। युष्मद् और अस्मद् शब्दों को छोड़ सर्वत्र यह प्रातिपदिक की टि से पूर्व ही होता है। युष्मद्-अस्मद् शब्दों में यह उभयविध देखा जाता है। इस की व्यवस्था अग्रिमसूत्रस्थ वार्त्तिक (वा० ९४) द्वारा करेंगे।

उदाहरणप्रदर्शन से पूर्व अब इस प्रकरण में अर्थ का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२३४**) **अज्ञाते ।५।३।७३॥**

(अज्ञातविशिष्टार्थात् प्रातिपदिकात् तथैव च तिङन्तात् स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्)। कस्यायमश्वोऽश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके॥

---

१. **अचोऽन्त्यादि टि** (३९)। किसी शब्द के अन्त्य अच् से ले कर अग्रिम सारा भाग 'टि' कहाता है। यथा—युष्मद्, अस्मद् शब्दों में 'अद्' टि है, पचति में 'इ' मात्र टि है, इसी प्रकार सर्व में 'अ' टि है।

२. 'सुँपः' का अनुवर्त्तन **विभाषा सुँपो बहुच् पुरस्तात्तु** (१२३१) सूत्र से होता है और 'प्रातिपदिकात्' तो **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) द्वारा अधिकृत है ही।

अर्थः—अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से अथवा तिङन्त से यथाप्राप्त (क और अकँच्) प्रत्यय हों।

व्याख्या—अज्ञाते ।७।१। कः ।१।१। अकँच् ।१।१। (दोनों पूर्वसूत्रों से अधिकृत हैं)। **तिङश्च** (१२१६) सूत्र से 'तिङः' का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(अज्ञाते) अज्ञातत्व-विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिकों एवं तिङन्तों से यथाविहित (कः, अकँच्) 'क' अथवा 'अकँच्' ये (तद्धितौ) तद्धित प्रत्यय हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

कस्यायम्[1] अश्वः—अश्वकः (जिस का स्वामी विदित नहीं ऐसा घोड़ा)। यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'अश्व सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से **प्रागिवात् कः** (१२३२) के अधिकार में **अज्ञाते** (१२३४) सूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक 'क' प्रत्यय हो कर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् हो जाता है—अश्व+क=अश्वक। अब विभक्ति लाने से 'अश्वकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अज्ञातो गर्दभः—गर्दभकः। अज्ञात उष्ट्रः—उष्ट्रकः। इत्यादि।

अव्ययों से अज्ञात अर्थ में अकँच् यथा—

अज्ञातमुच्चैः—उच्चकैः (अज्ञात ऊँचा)। 'उच्चैस्' शब्द स्वरादिगण में पाठ के कारण **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) से अव्ययसंज्ञक है। अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान इस से काधिकार के अपवाद **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः** (१२३३) के अधिकार में **अज्ञाते** (१२३४) सूत्रद्वारा टि (ऐस्) से पूर्व अकँच् प्रत्यय हो जाता है—उच्च्+अकँच्+ऐस्=उच्च्+अक्+ऐस्=उच्चकैस्। अब इस से आगे लाये गये 'सुँ' का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश (९२) करने पर 'उच्चकैः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अज्ञातं नीचैः—नीचकैः। अज्ञातं शनैः—शनकैः। इत्यादि।

सर्वनामों से अज्ञात अर्थ में अकँच् यथा—

अज्ञाताः सर्वे—सर्वके (अज्ञात सब)। यहां 'सर्व जस्' इस प्रथमान्त सर्वनाम से **अज्ञाते** (१२३४) के अर्थ में **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) सूत्रद्वारा टि (अ) से पूर्व अकँच् प्रत्यय हो कर **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (११६) से प्राति-पदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा सुँप् (सुँ) का लुक् हो जाता है—सर्व्+अकँच्+अ=सर्व्+अक्+अ=सर्वक। अब प्रथमा के बहुवचन में जस् प्रत्यय

---

१. अश्व की अज्ञातता को प्रकट करने के लिये 'कस्यायम्' शब्दावली का प्रयोग किया गया है। इस का वस्तुतः विग्रह 'अज्ञातोऽश्वः—अश्वकः' इस प्रकार करना चाहिये। स्वरूपेण ज्ञात पदार्थ में जब सम्बन्धविशेष आदि की अज्ञातता रहती है तब इस प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसाकि काशिकाकार ने कहा है— **स्वेन रूपेण ज्ञाते पदार्थे विशेषरूपेणाज्ञाते प्रत्ययविधानमेतत्।**

ला कर उसे जसः शी (१५२) से शी सर्वादेश, शकार अनुबन्ध का लोप तथा आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश करने से 'सर्वके' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—विश्वके। उभकौ। इत्यादि।

युष्मद् और अस्मद् सर्वनामों की टि से पूर्व अकँच् करना हो तो निम्नप्रकारेण व्यवस्था समझनी चाहिये।

[लघु०] वा०—(६४) **ओकार-सकार-भकारादौ सुँपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकँच्, अन्यत्र सुँबन्तस्य ॥**

युष्मकाभिः। युवकयोः। त्वयका॥

अर्थः—ओकारादि, सकारादि और भकारादि सुँब्विभक्ति के परे रहते मूल सर्वनामशब्द की टि से पूर्व अकँच् प्रत्यय होता है परन्तु अन्य सुँब्विभक्तियों में सुँबन्त सर्वनाम की ही टि से पूर्व अकँच् होता है।[1]

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य के अनुसार ऊहित किया गया है, साक्षात् महाभाष्य में पढ़ा नहीं गया। यहां सर्वनाम से केवल युष्मद्-अस्मद् शब्दों का ही ग्रहण अभीष्ट है अन्य सर्वनामों का नहीं, कारण कि महाभाष्य में इन दोनों के ही यहां उदाहरण दिये गये है।[2]

ओकारादि सकारादि और भकारादि सुँब्विभक्तियां ओस्, सुप्, भ्याम्, भिस् और भ्यस् ही हैं। इन के परे रहते मूल युष्मद्-अस्मद् शब्द की टि से पूर्व अकँच् होगा। अन्य विभक्तियों के विषय में विभक्त्यन्त युष्मद्-अस्मद् की टि से पूर्व अकँच् किया जायेगा।

भकारादि सुँब्विभक्ति में उदाहरण यथा—

अज्ञातैर्युष्माभिः—युष्मकाभिः (अज्ञात तुम सब से)। यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान युष्मद्शब्द से भिस् विभक्ति लाई गई है—युष्मद्+भिस्। अब यहां **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः** (१२३३) से अकँच् प्रत्यय करना है। **ओकार-सकार-भकारादौ सुँपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकँच् अन्यत्र सुँबन्तस्य** (वा० ६४) इस प्रकृत वार्त्तिक से भकारादि विभक्ति के परे रहते शुद्ध सर्वनाम की टि से पूर्व अकँच् किया जायेगा—युष्म् अकँच् अद्+भिस्=युष्म् अक् अद्+भिस्=युष्मकद्+भिस्। पुनः **युष्मदस्मदोरनादेशे** (३२१) सूत्र से दकार को आकार तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—युष्मकाभिस्='युष्मकाभिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार 'अस्म-

---

१. इसे प्रक्रियासर्वस्व में इस तरह श्लोकबद्ध किया गया है—

साद्योदादिभकारादिसुप्सु स्यात् प्रकृतेरकच्।
अन्यत्र तु सुबन्तस्येत्याहुर्भोजहरादयः॥

२. इदं वाक्यं युष्मदस्मच्छब्दमात्रविषयम्, भाष्ये तथैवोदाहरणात्। अन्येषां तु सर्वनाम्नां प्रातिपदिकटेरेव प्राग् अकँच् इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः।

काभि:' की सिद्धि जाननी चाहिये ।[1]

ओकारादि सुँब्विभक्ति में उदाहरण यथा—

अज्ञातयोर्युवयो:—युवकयो: (अज्ञात तुम दो का या अज्ञात तुम दो में) । यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान युष्मद् शब्द से षष्ठी या सप्तमी का द्विवचन 'ओस्' प्रत्यय लाया गया है—युष्मद्+ओस् । अब **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टे:** (१२३३) से अकँच् प्रत्यय करना है । **ओकार-सकार-भकारादौ सुँपि सर्वनाम्नष्टे: प्रागकँच्, अन्यत्र सुँबन्तस्य** (वा० ८४) इस वार्त्तिक से ओकारादि सुँप् विभक्ति के परे रहते शुद्ध सर्वनाम की टि से पूर्व अकँच् किया जायेगा—युष्म् अकँच् अद्+ओस् । =युष्म् अक् अद्+ओस्=युष्मकद्+ओस् । पुन: **युवावौ द्विवचने** (३१४) से मपर्यन्त भाग को 'युव' आदेश, **अतो गुणे** (२७४) से पररूप तथा **योऽचि** (३२०) द्वारा दकार को यकार आदेश हो कर—युवकय्+ओस्='युवकयो:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी-प्रकार—अज्ञातयोरावयो:—'आवकयो:' की सिद्धि समझनी चाहिये ।[2]

सकारादि सुँब्विभक्ति में उदाहरण यथा—

अज्ञातेषु युष्मासु—युष्मकासु (अज्ञात तुम सब में) । यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान युष्मद् शब्द से सप्तमी का बहुवचन सुप्प्रत्यय लाया गया है—युष्मद्+सुप्=युष्मद्+सु । अब **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टे:** (१२३३) से अकँच् प्रत्यय करना है । **ओकारसकारभकारादौ०** (वा० ८४) इस वार्त्तिक से सकारादि सुप् प्रत्यय के परे रहते शुद्ध सर्वनाम की टि (अद्) से पूर्व अकँच् किया जायेगा—युष्म् अकँच् अद्+सु=युष्म् अक् अद्+सु=युष्मकद्+सु । पुन: **युष्मदस्मदोरनादेशे** (३२१) से दकार को आकार कर सवर्णदीर्घ (४२) करने से 'युष्मकासु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—अज्ञातेष्वस्मासु—'अस्मकासु' की सिद्धि समझनी चाहिये ।[3]

उपर्युक्त सुँब्विभक्तियों से भिन्न अन्य सुँब्विभक्तियों में सुँबन्त युष्मद्-अस्मद् की टि से पूर्व ही अकँच् होगा । यथा—अज्ञातेन त्वया—त्वयका, अज्ञातेन मया—मयका । यहां 'त्वया, मया' इन सुँबन्तों की टि (आ) से पूर्व अकँच् हो गया है—त्वय् अकँच् आ=त्वय् अक् आ=त्वयका । मय् अकँच् आ=मय् अक् आ=मयका ।

अब यहां विद्यार्थियों के सुखबोधार्थ अकँच्प्रत्यययुक्त युष्मद्-अस्मद् शब्दों की समग्र रूपमाला कोष्ठकों में दी जा रही है—

---

१. ध्यान रहे कि यदि सुँबन्त की टि से पूर्व अकँच् किया जाता तो 'युष्माभकि:, अस्माभकि:' ऐसे अनिष्ट रूप बनते । अत: इन से बचने के लिये उपर्युक्त वार्त्तिक की रचना की गई है ।

२. यदि यहां सुँबन्त की टि से पूर्व अकँच् किया जाता तो 'युवयको:, आवयको:' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते । अत: इन से बचने के लिये वार्त्तिक बनाया गया है ।

३. यदि यहां सुँबन्त युष्मद्-अस्मद् की टि से पूर्व अकँच् किया जाता तो 'युष्मासकु, अस्मासकु' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते । अत: इन से बचने के लिये वार्त्तिक बनाया गया है ।

युष्मद्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	त्वम् (त्वकम्)	युवाम् (युवकाम्)	यूयम् (यूयकम्)
द्वि०	त्वाम् (त्वकाम्)	युवाम् (युवकाम्)	युष्मान् (युष्मकान्)
तृ०	त्वया (त्वयका)	युवाभ्याम् (युवकाभ्याम्)†	युष्माभिः (युष्मकाभिः)†
च०	तुभ्यम् (तुभ्यकम्)	युवाभ्याम् (युवकाभ्याम्)†	युष्मभ्यम् (युष्मकभ्यम्)†
प०	त्वत् (त्वकत्)	युवाभ्याम् (युवकाभ्याम्)†	युष्मत् (युष्मकत्)
ष०	तव (तवक)	युवयोः (युवकयोः)†	युष्माकम् (युष्माककम्)
स०	त्वयि (त्वयकि)	युवयोः (युवकयोः)†	युष्मासु (युष्मकासु)†

अस्मद्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	अहम् (अहकम्)	आवाम् (आवकाम्)	वयम् (वयकम्)
द्वि०	माम् (मकाम्)	आवाम् (आवकाम्)	अस्मान् (अस्मकान्)
तृ०	मया (मयका)	आवाभ्याम् (आवकाभ्याम्)†	अस्माभिः (अस्मकाभिः)†
च०	मह्यम् (मह्यकम्)	आवाभ्याम् (आवकाभ्याम्)†	अस्मभ्यम् (अस्मकभ्यम्)†
प०	मत् (मकत्)	आवाभ्याम् (आवकाभ्याम्)†	अस्मत् (अस्मकत्)
ष०	मम (ममक)	आवयोः (आवकयोः)†	अस्माकम् (अस्माककम्)
स०	मयि (मयकि)	आवयोः (आवकयोः)†	अस्मासु (अस्मकासु)†

†यहां प्रातिपदिक की टि से पूर्व अकँच् होता है, अन्यत्र सुँबन्त की टि से पूर्व ।

अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः (१२३३) सूत्र में 'तिङः' की भी अनुवृत्ति आती है, अतः अज्ञात आदि अर्थों में तिङन्त की टि से पूर्व भी अकँच् हो जाता है । यथा—'पचति' इस तिङन्त की टि (इ) से पूर्व अकँच् प्रत्यय करने पर—पचत् अकँच् इ=पचत् अक् इ='पचतकि' (अज्ञात पकाता है) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—जल्पतकि आदि ।

अब इस प्रकरण में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**१२३५**) **कुत्सिते** ।५।३।७४॥

कुत्साविशिष्टार्थात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । कुत्सितोऽश्वः—अश्वकः ॥

अर्थः—निन्दाविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से या तिङन्त से स्वार्थ में यथाविहित (क और अकँच्) तद्धितप्रत्यय हो ।

व्याख्या—कुत्सिते ।७।१। कः ।१।१। अकँच् ।१।१। (दोनों अधिकृत हैं) । **तिङश्च** (१२१९) सूत्र से 'तिङः' पद का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि भी पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः—(कुत्सिते) निन्दाविशिष्ट

अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से तथा (तिङः=तिङन्तात्) तिङन्त से स्वार्थ में यथाविहित (कः, अकँच्) क और अकँच् ये (तद्धितौ) तद्धितप्रत्यय हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

कुत्सितोऽश्वः—अश्वकः (निन्दित घोड़ा)[1]। यहां कुत्सा अर्थात् निन्दा-विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'अश्व सुँ' से **प्रागिवात् कः** (१२३२) के अधिकार में **कुत्सिते** (१२३५) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'क' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से अन्तर्वर्त्ती सुँप् (सुँ) का लुक् हो जाता है—अश्व+क=अश्वक। अब विभक्ति लाने से 'अश्वकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—कुत्सितो गर्दभः—गर्दभकः। कुत्सित उष्ट्रः—उष्ट्रकः।

अव्ययों, सर्वनामों तथा तिङन्तों से कुत्सित अर्थ में **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) सूत्रद्वारा टि से पूर्व अकँच् हो कर पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धि होती है। यथा—कुत्सितमुच्चैः—उच्चकैः। कुत्सितं नीचैः—नीचकैः। कुत्सिताः सर्वे—सर्वके। कुत्सितैर्युष्माभिः—युष्मकाभिः। कुत्सितयोर्युवयोः—युवकयोः। कुत्सितेन त्वया—त्वयका। कुत्सितं पचति—पचतकि। कुत्सितं जल्पति—जल्पतकि। इत्यादि।

इसीप्रकरण में **अल्पे** (५.३.८५) और **ह्रस्वे** (५.३.८६) सूत्रोंद्वारा अल्पत्व-विशिष्ट और ह्रस्वत्वविशिष्ट अर्थों में वर्त्तमान शब्दों से भी यही (क और अकँच्) प्रत्यय होते हैं। यथा—अल्पं तैलम्—तैलकम्। अल्पं घृतम्—घृतकम्। अल्पं सर्वम्—सर्वकम्। अल्पमुच्चैः—उच्चकैः। अल्पं पचति—पचतकि। इसीप्रकार—ह्रस्वो वृक्षः—वृक्षकः। ह्रस्वः प्लक्षः—प्लक्षकः। ह्रस्वः स्तम्भः—स्तम्भकः। इत्यादि।

अब दो में से एक के निर्धारण में डतरच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(१२३६)

किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ।५।३।९२।।[2]

(द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्ये किम्, यद्, तद् इत्येतेभ्यो डतरच् तद्धित-प्रत्ययः स्यात्)। अनयोः कतरो वैष्णवः। यतरः। ततरः।।

अर्थः—दो में से एक का निर्धारण गम्य होने पर किम्, यद् और तद् इन निर्धार्यमाण सर्वनामों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक डतरच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—किंयत्तदः ।५।१। निर्धारणे ।७।१। द्वयोः ।६।२। (निर्धारणे षष्ठी)[3]।

---

१. धावन (दौड़ने) आदि में अयोग्य वा असमर्थ होने के कारण घोड़े को कुत्सित कहा जाता है। इसी की अभिव्यक्ति यहां 'क' प्रत्यय से की जाती है।

२. अनेक स्थानों पर यह सूत्र **किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्** इस प्रकार अशुद्ध मुद्रित प्राप्त होता है।

३. **यतश्च निर्धारणम्** (२.३.४१) इति षष्ठी अत्र बोध्या।

एकस्य ।६।१। डतरच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। किम् च यच्च तच्च कियत्तत्, तस्मात् = कियत्तदः, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(द्वयोः) दो में से (एकस्य) एक के (निर्धारणे) निर्धारण के गम्य होने पर (कियत्तदः) किम्, यद् और तद् इन प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (डतरच्) डतरच् प्रत्यय हो जाता है।

डतरच् में **चुटू** (१२९) द्वारा डकार एवं **हलन्त्यम्** (१) द्वारा चकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अतर' मात्र शेष रहता है। डकार अनुबन्ध **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टिलोप के लिये तथा चकार अनुबन्ध अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। यह सूत्र **अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः** (१२३३) द्वारा प्राप्त होने वाले अकच् प्रत्यय का अपवाद है।

जब किसी समुदाय में से जाति, गुण, क्रिया या सञ्ज्ञा के द्वारा किसी एकदेश का पृथक् निर्देश किया जाता है तो उसे निर्धारण कहते हैं [1]। जब दो में से किसी एक के निर्धारण का विषय हो तो निर्धार्यमाणवाची किम्, यद् और तद् सर्वनामों से डतरच् (अतर) प्रत्यय लाया जाता है। यह इस सूत्र का तात्पर्य है। उदाहरण यथा—

अनयोः को वैष्णवः—अनयोः कतरो वैष्णवः (इन दो में से कौन सा विष्णु-भक्त है)। यहां दो में से गुणद्वारा एक का निर्धारण करना है अतः 'किम् + सुँ' इस निर्धार्यमाणवाची से प्रकृत **किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्** (१२३६) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक डतरच् प्रत्यय, अनुबन्धों का लोप एवं तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् कर देने से—किम् + अतर। अब प्रत्यय के डित्त्व के कारण **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा किम् की टि (इम्) का लोप कर—क् + अतर = कतर। विभक्ति लाने से 'कतरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है [2]। **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) से 'वा' का अधिकार आ रहा है। अतः

१. निर्धारण में समुदायवाचकशब्द से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है। यथा—(जातिद्वारा) नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। यहां नृसमुदाय में से उस के एकदेश ब्राह्मणजाति का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है अतः समुदायवाचक नृशब्द से षष्ठी या सप्तमी का प्रयोग किया गया है। (गुणद्वारा) गवां गोषु वा कृष्णा बहु-क्षीरा। (क्रियाद्वारा) गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। (सञ्ज्ञाद्वारा) छात्त्राणां छात्त्रेषु वा मैत्रः पटुः। इन सब का विवेचन पीछे विभक्त्यर्थपरिशिष्ट में **यतश्च निर्धारणम्** (४८) सूत्राङ्क पर किया जा चुका है।

२. कतरशब्द डतरप्रत्ययान्त होने से **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१५१) द्वारा सर्वनाम-सञ्ज्ञक है। कतरः, कतरौ, कतरे। स्त्रीलिङ्ग में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो कर 'कतरा' शब्द बनेगा। तब इस का उच्चारण सर्वाशब्दवत् होगा। नपुंसक-लिङ्ग में इस से परे सुँ और अम् को **अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः** (२४१) से अद्ड् आदेश हो कर टिलोप (२४२) हो जाता है—कतरत्, कतरे, कतराणि। इन सब का विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ सुँबन्तप्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है।

महाविभाषा के कारण डतरच् के अभाव में किम्शब्द का भी प्रयोग हो सकता है—अनयोः को वैष्णवः ।

इसीप्रकार—अनयोर्योऽध्यापकः—अनयोर्यतरोऽध्यापकः (इन दो में जो अध्यापक) । अनयोः स देवदत्तः—अनयोस्ततरो देवदत्तः (इन दो में वह देवदत्त है) । यहां क्रमशः यद् और तद् शब्दों से डतरच्, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा डित्वात् टिलोप कर विभक्ति लाने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

यह प्रत्यय निर्धार्यमाण से ही लोक में प्रसिद्ध है अतः 'कयोरन्यतरो देवदत्तः, तयोरन्यतरोऽध्यापकः, ययोरन्यतरो मूर्खः' इत्यादियों में किम् आदियों से यह प्रत्यय नहीं होता । ध्यान रहे कि अन्यतर और अन्यतम शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं यह पीछे सर्वादिगण की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं ।

अब बहुतों में से एक के निर्धारण में डतमच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(१२३७)

वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ।५।३।९३।।

बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज्वा स्यात् । 'जातिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातमाकरे । कतमो भवतां कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणम् अकँजर्थम्—यकः । सकः ।।

अर्थः—बहुतों में से किसी एक के निर्धारण के गम्य होने पर किम्, यद् और तद् इन निर्धार्यमाण प्रातिपदिकों से स्वार्थ में विकल्प कर डतमच् प्रत्यय हो । **जातिपरिप्रश्ने**—सूत्रगत 'जातिपरिप्रश्ने' अंश का आकर अर्थात् व्याकरणमहाभाष्य[१] में खण्डन किया गया है । सूत्र में 'वा' का ग्रहण, पक्ष में अकँच्प्रत्यय की प्रवृत्ति के लिये किया गया है ।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम् । बहूनाम् ।६।३। (निर्धारणे षष्ठी) । जातिपरिप्रश्ने ।७।१। डतमच् ।१।१। कियत्तदः ।५।१। (**कियत्तदो निर्धारणे**० सूत्र से) । पूर्वसूत्र से 'एकस्य निर्धारणे' इन पदों का भी अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । सूत्रगत 'जातिपरिप्रश्ने' इस अंश का महाभाष्य में खण्डन किया गया है अतः अर्थ करते समय इस अंश का उपयोग नहीं

---

१. आकरशब्द मुख्यतः खान (MINE) के अर्थ में सुप्रसिद्ध है—**खनिः स्त्रियामाकरः स्यादित्यमरः** । प्रयोग यथा—**दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ** (रघु० ३.१८), **आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ?** (हितोप० प्रस्तावना) । जिस से कोई वस्तु उत्पन्न हो उसे भी लाक्षणिकदृष्टचा उस वस्तु का 'आकर' कह दिया जाता है, यथा—रत्नाकरः (समुद्रः) । व्याकरण के समस्त सिद्धान्त व्यक्त या अव्यक्तरीत्या महाभाष्य से ही प्रसूत होते हैं अतः पातञ्जल महाभाष्य को व्याकरणशास्त्र का आकरग्रन्थ कहा जाता है ।

करना चाहिये —ऐसा कौमुदीकार का कथन है[1] । अर्थः—(बहूनाम् एकस्य निर्धारणे) बहुतों में से एक के निर्धारण के गम्य होने पर (किंयत्तदः) किम्, यद् और तद् सर्वनामों से स्वार्थ में (वा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (डतमच्) डतमच् प्रत्यय हो जाता है।

डतमच्प्रत्यय में भी डकार और चकार पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अतम' मात्र शेष रहता है । डकार अनुबन्ध का प्रयोजन **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप करना तथा चकार अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है।

यह प्रत्यय विकल्प से किया जाता है । अतः पक्ष में अकँच्प्रत्यय भी हो जाता है[2] । उदाहरण यथा—

को भवतां कठः[3]— कतमो भवतां कठः (आप लोगों में कौन वैदिककठशाखा का अध्येता है ?) । यहां बहुतों में से एक के निर्धारण का विषय है अतः निर्धार्यमाण 'किम् सुँ' से प्रकृत **वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्** (१२३७) सूत्रद्वारा विकल्प से डतमच् प्रत्यय, अनुबन्ध डकार और चकार का लोप, सुँब्लुक् तथा प्रत्यय के डित्त्व के

---

१. अभिप्राय यह है कि इस के द्वारा प्रतिपादित डतमच् प्रत्यय केवल जातिपरिप्रश्न में ही नहीं अपितु अन्यत्र भी देखा जाता है । अतः 'जातिपरिप्रश्ने' अंश को छोड़कर सामान्यतः ही इस सूत्र की प्रवृत्ति समझनी चाहिये । चाहे जातिपरिप्रश्न का विषय हो या न हो, बहुतों में से एक के निर्धारण में इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है ।

२. यदि यह कहा जाये कि यहां **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) इस सूत्रोक्त महाविभाषा के कारण 'वा' तो उपलब्ध था ही पुनः 'वा' का ग्रहण क्यों किया गया है ? तो इस का उत्तर यह है कि महाविभाषा वाला विकल्प उत्सर्ग और अपवाद प्रत्ययों के लिये नहीं हुआ करता, वह तो तद्धित के अभाव में वाक्यप्रयोग के लिये हुआ करता है । अतः यहां सूत्र में 'वा' के ग्रहण से प्रकृत डतमच्प्रत्यय के अभावपक्ष में उत्सर्ग अकँच्प्रत्यय भी हो जायेगा । हां ! महाविभाषा से वाक्य भी बना रहेगा जैसाकि उदाहरण के विग्रह में दर्शाया गया है ।

३. कठेन प्रोक्तमधीते इति कठः (कठऋषिप्रोक्त वेदशाखा को पढ़ने वाला) । यहां ऋषिवाचक 'कठ' शब्द से **तेन प्रोक्तम्** (११०८) के अर्थ में **कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च**(४.३.१०४) सूत्र से णिनिँप्रत्यय हो कर **कठचरकाल्लुक्** (४.३.१०७) से उस का लुक् हो जाता है । कठ अर्थात् कठऋषिप्रोक्तवेदशाखा। पुनः इसी कठशब्द से तदधीते के अर्थ में **तदधीते तद्वेद** (१०५३) द्वारा अण्प्रत्यय करने पर **प्रोक्ताल्लुक्** (४.२.६३) से उस का लुक् हो जाता है । अब 'कठ' शब्द का अथ हो गया—कठऋषिप्रोक्त वैदिकशाखाविशेष का अध्ययन करने वाला । **गोत्रं च चरणैः सह** (१२६९ सूत्र पर उद्धृत कारिका) के अनुसार 'कठ' यह जातिवाचक प्रातिपदिक है ।

कारण **टे:** (२४२) सूत्र से भसञ्ज्ञक टि (इम्) का भी लोप हो जाने से—क्+अतम =कतम। विभक्ति ला कर 'कतम:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस पक्ष में डतमच् नहीं होगा वहां मूल किम्शब्द की टि से पूर्व **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टे:** (१२३३) सूत्रद्वारा अकँच् प्रत्यय हो कर—क् अक् इम्=ककिम्। अब इस से परे सुँविभक्ति ला कर **किम: क:** (२७१) द्वारा अकँच्सहित किम् के स्थान पर 'क' आदेश हो कर[1] सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'क:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

इसीप्रकार—यो भवतां पटुः—यतमो भवतां पटुः (आप लोगों में जो चतुर)। स भवतां पटुः—ततमो भवतां पटुः (आप लोगों में वह चतुर)। यहां यद् और तद् सर्वनामों से पूर्ववत् डतमच् प्रत्यय हो कर डित्त्व के कारण भसञ्ज्ञक टि (अद्) का लोप करने से—य्+अतम=यतम=यतम:। त्+अतम=ततम:। डतमच्के अभावपक्ष में यद् और तद् की टि से पूर्व **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टे:** (१२३३) से अकँच् प्रत्यय हो कर—य् अक् अद्=यकद्, त् अक् अद्=तकद्। अब सुँविभक्ति ला कर त्यदाद्यत्व (१९३) और पररूप (२७४) करने से 'यक:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'तकद्+सुँ' में भी त्यदाद्यत्व और पररूप करने के बाद **तदो: स: सावनन्त्ययो:** (३१०) से तकार को सकार हो कर 'सक:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3] यको भवतां पटुः, सक

---

१. **किम: क:** (२७१)। अर्थ:—विभक्ति परे रहते किम् के स्थान पर 'क' आदेश हो। इस सूत्र के महाभाष्य में अकँच्सहित किम् को भी 'क' आदेश करने का विधान किया गया है—**कादेश: खल्वप्यवश्यं साकच्कार्थो वक्तव्य:** (महाभाष्य ७.२.१०२)।

२. अकँच् के करने का यहां यद्यपि कुछ भी फल दिखाई नहीं पड़ता, तथापि आगे यद् और तद् में इसे स्पष्ट देखा जा सकेगा।

३. यहां पर एक शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि तद्शब्द से डतर या डतम प्रत्ययों के करने पर 'ततर:, ततम:' में **तदो: स: सावनन्त्ययो:** (३१०) से तकार को सकार आदेश नहीं होता परन्तु तद्शब्द से अकँच् प्रत्यय करने पर 'सक:' में उस की प्रवृत्ति हो जाती है, इस प्रक्रियाभेद का क्या कारण है? इस का समाधान यह है कि **तदो: स:०** (३१०) सूत्र में सुँ के परे रहते त्यदादियों के अनन्त्य तकार दकार को सकार आदेश करने का विधान किया गया है। डतर-डतम करने पर त्यदादि अर्थात् तद्शब्द ही नहीं रहता, डतर-डतमप्रत्ययान्त नया शब्द आ जाता है जिस का पाठ त्यदादियों में नहीं अत: यहां **तदो: स:०** (३१०) की प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु अकँच् प्रत्यय तद्शब्द की टि से पूर्व अर्थात् तद्शब्द के मध्य में होता है, अत: **तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते** (किसी शब्द के बीच यदि कोई आ जाये तो उस के ग्रहण से उस का भी ग्रहण हो जाता है) इस परिभाषाद्वारा उसे भी तद्शब्द ही माना जाता है। इस से यहां **तदो: स:०** (३१०) द्वारा सत्व करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

इहागच्छतु (जो आप में चतुर है वह यहां आये)। महाविभाषा के कारण उपर्युक्त वाक्य भी रहेगा ।

यहां पर एक अन्य सूत्र का जानना भी छात्रों के लिये बहुत सरल तथा उपयोगी रहेगा —

एकाच्च प्राचाम् (५.३.९४)

अर्थः—'एक' शब्द से भी पूर्वोक्तसूत्रद्वय के विषय में क्रमशः डतरच् और डतमच् प्रत्यय विकल्प से हो जाते हैं । यथा—अनयोरेको देवदत्तः, अनयोरेकतरो देवदत्तः (इन दोनों में एक देवदत्त है)। एषामेको देवदत्तः—एषामेकतमो देवदत्तः (इन सब में एक देवदत्त है) ।

अभ्यास [१५]

(१) निम्नस्थ सूत्रों की उदाहरण दर्शाते हुए व्याख्या करें—

१. ईषदसमाप्तौ० । २. बहोर्लोपो भू च बहोः । ३. अतिशायने तमबिष्ठनौ । ४. तिङश्च । ५. किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे । ६. ज्यादादीयसः । ७. प्रकृत्यैकाच् । ८. अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः । ९. इष्ठस्य यिट् च । १०. विन्मतोर्लुक् । ११. किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् । १२. वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् । १३. अज्ञाते । १४. कुत्सिते । १५. अजादी गुणवचनादेव ।

(२) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. पचतकि । २. कतरः । ३. कतमः । ४. सकः । ५. युष्मकाभिः । ६. त्वयका । ७. बहुपटुः । ८. विद्वत्कल्पः । ९. त्वचीयान् । १०. भूयिष्ठः । ११. ज्यायान् । १२. श्रेष्ठः । १३. ज्येष्ठः । १४. श्रेयान् । १५. पचतितमाम् । १६. उच्चैस्तराम् । १७. लघुतमः । १८. लघिष्ठः । १९. आढ्यतमः । २०. किन्तमाम् । २१. अतितराम् । २२. एकतमः । २३. अश्वकः । २४. यकः ।

(३) क्या पाणिनीयव्याकरण में ऐसा भी कोई प्रत्यय है जो प्रकृति से परे न हो कर उस से पूर्व में किया जाता हो ? यदि है तो उस का सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करें ।

(४) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप लिखिये—

१. कुत्सित उष्ट्रः ।	७. अयमेषामतिशयेन वृद्धः ।
२. अज्ञाताः सर्वे ।	८. अयमनयोरतिशयेन बलवान् ।
३. ईषदूनं जल्पति ।	९. अयमनयोरतिशयेन पटुः ।
४. अज्ञातमुच्चैः ।	१०. अयमनयोरतिशयेन साधुः ।
५. ह्रस्वो वृक्षः।	११. बहोर्भावः ।
६. अल्पं तैलम् ।	१२. अज्ञातो गर्दभः ।

(५) अन्यतर और अन्यतम शब्द क्या डतर-डतमप्रत्ययान्त हैं ? विवेचन कीजिये ।

(६) **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** सूत्र की व्याख्या करते हुए 'विभज्य' का अभिप्राय खोल कर अपने शब्दों में प्रस्तुत करें।

(७) अधोलिखित वचनों की व्याख्या करें।

[क] वाग्रहणमकँजर्थम्।

[ख] जातिपरिप्रश्ने इति प्रतिख्यातमाकरे।

[ग] ओकारसकारभकारादौ सुँपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकँच्, अन्यत्र सुँबन्तस्य।

[घ] द्रव्यप्रकर्षे तु उच्चैस्तमस्तरुः।

[ङ] सुँपः किम्? यजतिकल्पम्।

[च] स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते।

[छ] क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्तेऽपि।

[ज] आतिशायनिकप्रत्ययान्ताद् आतिशायनिको न, अनभिधानात्।

[झ] यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपर आतिशायनिकः प्रत्ययो भवत्येव।

[ञ] कादेशः खल्वप्यवश्यं साकच्कार्थो वक्तव्यः।

[ट] अबाधकान्यपि निपातनानि।

(८) ईयसुँन् और इष्ठन् प्रत्ययों के परे रहते किस अङ्ग को प्रकृतिभाव हो जाता है और इस से रूपसिद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(९) निम्नस्थ प्रयोगों का विग्रह दर्शाते हुए प्रकृति, प्रत्यय और अर्थ का विवेचन कीजिये—

१. यविष्ठः। २. बंहिष्ठः। ३. स्थेष्ठः। ४. क्रशीयान्। ५. प्रथीयान्। ६. भूमा। ७. म्रदिष्ठः। ८. द्रढीयान्। ९. क्षोदिष्ठः। १०. कनीयान्। ११. करिष्ठः। १२. तनीयान्।

(१०) अजादि आतिशायनिक प्रत्ययों के परे रहते किस किस प्रकृति के स्थान पर ये आदेश होते हैं—

ज्य। श्र। भू। वर्षि। त्रप्। द्राघि। स्थ। प्र।

(११) अजादि आतिशायनिक प्रत्ययों के परे रहते निम्नस्थ शब्दों के स्थान पर क्या क्या आदेश होते हैं—

वृन्दारक। गुरु। उरु। स्फिर। बहु। वृद्ध। बहुल। प्रिय।

(१२) ईयसुँन् और इष्ठन् प्रत्ययों के परे रहते निम्नस्थ शब्दों के रूप लिखें—

१. पृथु। २. मृदु। ३. भृश। ४. कृश। ५. दृढ। ६. परिवृढ। ७. दूर। ८. क्षुद्र। ९. ह्रस्व। १०. युवन्। ११. अल्प। १२. अन्तिक। १३. बाढ। १४. क्षिप्र। १५. स्थूल। १६. कर्तृ। १७. महत्।

(१३) पञ्चवर्षः और पञ्चवर्षकल्पः का अन्तर व्याकरणरीत्या स्पष्ट करें।

प्रतिकृतौ कन्

(१४) सर्वनामों में अकँच् प्रत्यय कहां प्रकृति की टि से पूर्व और कहां सुँबन्त की टि से पूर्व होता है ? सोदाहरण विवेचन करें—

(१५) अकँच्प्रत्यययुक्त युष्मद्-अस्मद् शब्दों की सातों विभक्तियों में रूप-माला लिखें ।

(१६) लघुकौमुदीस्थ प्राग्विवीयप्रकरण के कोई से दस प्रत्यय ससूत्र निर्दिष्ट करें ।

(१७) समुचित उत्तर दीजिये—

[क] भूयान् में **ओर्गुणः** द्वारा गुण क्यों नहीं होता ?

[ख] 'घ' किसे कहते हैं ? इस का उपयोग कहां होता है ?

[ग] इष्ठन् और ईयसुँन् प्रत्यय प्रत्येक शब्द से क्यों नहीं होते ?

[घ] आमुँ में उकार अनुबन्ध का क्या प्रयोजन है ?

[ङ] निर्धारण किसे कहते हैं ? जिस समुदाय से निर्धारण किया जाये उस में कौन सी विभक्ति होती है ?

(१८) टिप्पणी करें ।

१. यिट् में अनुबन्धविषयक मतभेद । २. प्रागिवीय का नामकरण ।
३. श्रेष्ठतमः का शुद्धाशुद्धत्व । ४. अतिशयन और अतिशायन ।

(१९) **बहोर्लोपो भू च बहोः** सूत्र में 'भु' ही कह देते **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ हो जाता ?

(२०) अकँच्युक्त किम्शब्द की पुं० में सातों विभक्तियों में रूपमाला लिखें ।

(२१) बहुच्प्रत्यय करने पर शब्द तद्धितान्त नहीं होता तब **कृत्तद्धितसमासाश्च** द्वारा उस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कैसे हो सकती है ? विवेचन करें ।

(२२) जैसे 'सकः' में सत्व की प्रवृत्ति होती है वैसे 'ततरः, ततमः' में क्यों नहीं होती ?

[लघु०] इति प्रागिवीयाः ॥

(यहां पर प्रागिवीयप्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:o:—

अथ स्वार्थिकाः

अब कुछ अन्य स्वार्थिक तद्धितप्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२३८) इवे प्रतिकृतौ ।५।३।९६॥**

कन् स्यात् । अश्व इव प्रतिकृतिरश्वकः ॥

अर्थः—'इव' के अर्थ अर्थात् सादृश्य में वर्त्तमान प्रातिपदिक से परे स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक कन् प्रत्यय हो, यदि वह सदृश वस्तु प्रतिकृति (प्रतिमा, मूर्त्ति) हो तो ।

व्याख्या—इवे ।७।१। प्रतिकृतौ ।७।१। कन् ।१।१। (**अवक्षेपणे कन्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्; तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(इवे) 'इव' के अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (कन्) कन् प्रत्यय हो जाता है (प्रतिकृतौ) यदि वह सदृश वस्तु प्रतिकृति हो तो ।

घास-फूस-चर्म-काष्ठादि से निर्मित प्रतिमा (मूर्त्ति) को 'प्रतिकृति' कहते हैं । ये प्रतिकृतियां जानवरों पक्षियों मनुष्यों या देवी-देवता आदियों की बनाई जाती हैं । इस प्रकार की वाच्यता में प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति होती है । 'इव' का अर्थ है सादृश्य या उपमानत्व । उस उपमानत्व में वर्त्तमान अश्व आदि प्रातिपदिकों से प्रतिकृति अर्थात् उपमेय के अभिधेय होने पर कन् प्रत्यय किया जाता है ।[1] तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु की प्रतिकृति (प्रतिमा) हो तद्वाचक शब्द से कन् प्रत्यय ला कर ऐसा शब्द निष्पन्न हो जाता है जो उस की प्रतिकृति का वाचक होता है । यथा—अश्व की प्रतिकृति कहनी अभीष्ट हो तो अश्वशब्द से कन् प्रत्यय ला कर नकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण विभक्ति लाने से 'अश्वकः' (अश्व इव प्रतिकृतिः, घोड़े के समान प्रतिमा) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2] यहां तद्धितवृत्ति में अश्वशब्द 'अश्व इव प्रतिकृतिः' के अर्थ में लाक्षणिक है । कन्प्रत्यय के द्वारा यह अर्थ व्यक्त किया जाता है अतः प्रत्यय स्वार्थ में हुआ माना जाता है ।

इसीप्रकार—

उष्ट्र इव प्रतिकृतिः—उष्ट्रकः (ऊँट की प्रतिमा) ।

गर्दभ इव प्रतिकृतिः—गर्दभकः (गधे की प्रतिमा) ।

प्रतिकृति अभिधेय न होने पर यह कन् नहीं होता । यथा—गौरिव गवयः (गौ के समान गवय होता है) । यहां इव का अर्थ सादृश्य या उपमानत्व तो है परन्तु प्रतिकृति अभिधेय नहीं अतः यह प्रत्यय नहीं हुआ ।

विशेष वक्तव्य—यदि कोई प्रतिमा जीविका के अर्जन के लिये बनाई गई हो परन्तु प्रतिमा को बेचा न जा रहा हो तो ऐसी अवस्था में प्रकृतसूत्रद्वारा होने वाले कन् प्रत्यय का **जीविकार्थे चाऽपण्ये** (५.३.९९) सूत्र से लुप् हो जाता है ।[3] जैसे कोई देवल (देवोपजीवी भिक्षुक) व्यक्ति राम, लक्ष्मण, सीता, शिव, वासुदेव आदि की मूर्त्ति को ले कर घर घर घूमता हुआ जीविका का अर्जन तो करता है परन्तु उन मूर्त्तियों को

---

१. ध्यान रहे कि अश्वकः (अश्व की प्रतिकृति) में अश्व उपमान है और उस की प्रतिकृति उपमेय । उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम् । उपमातुं योग्यमुपमेयम् ।

२. 'अश्वकः' विशेषण है । इस का विशेष्य है—प्रतिकृतिः । प्रतिकृतिशब्द स्त्रीलिङ्ग है, परन्तु 'अश्वकः' शब्द स्त्रीलिङ्ग को धारण नहीं करता । इस का कारण वही पूर्वोक्त परिभाषा है—**स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते ।**

३. **जीविकार्थे चाऽपण्ये** (५.३.९९) । अर्थः—जो प्रतिकृति जीविकार्थ तो हो परन्तु बेची न जा रही हो तो उस की वाच्यता में कन् प्रत्यय का लुप् हो जाता है ।

बेचता नहीं है तो इन मूर्त्तियों की वाच्यता में कन् प्रत्यय का लुप् हो जायेगा । तब—राम इव प्रतिकृतिः रामः, सीतेव प्रतिकृतिः सीता, लक्ष्मण इव प्रतिकृतिर्लक्ष्मणः, शिव इव प्रतिकृतिः शिवः, वासुदेव इव प्रतिकृतिर्वासुदेवः । यहां राम आदि से **इवे प्रतिकृतौ** (१२३८) द्वारा होने वाले कन् प्रत्यय का **जीविकार्थे चाऽपण्ये** (५.३.९९) से लुप् हो कर विभक्ति लाने से 'रामः, लक्ष्मणः, सीता, शिवः, वासुदेवः' आदि बनेंगे । परन्तु यदि उन मूर्त्तियों को बेच कर जीविका-अर्जन की जायेगी तो कन् का लुप् न होगा । तब इन प्रतिमाओं को रामकः, लक्ष्मणकः, सीतकः[1], शिवकः, वासुदेवकः आदि कहा जायेगा । इस पर एक सुभाषित बहुत प्रसिद्ध है—

> **रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे**
> **विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग् धिक् ।**
> **अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति**
> **व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग्धिक् ॥**[2]

यहां प्रतिमाओं को जीविकार्थ बेचा जाता है अतः कन् का लुप् नहीं होना चाहिये । 'रामकं सीतकं लक्ष्मणकम्' इस प्रकार प्रयोग करना चाहिये था—यही इस में अपशब्दता या अशुद्धि है ।

अब एक अन्यविध अत्यन्तस्वार्थिक कन् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(९५) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् ॥

अश्वकः ॥

अर्थः—प्रत्येक प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक कन् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यह वार्तिक महाभाष्य में कहीं पढ़ा नहीं गया, परन्तु पाणिनीय **न सामिवचने** (५.४.५) सूत्र पर काशिका में ऊहित किया गया है ।[3] यहां अत्यन्त स्वार्थ में कन् प्रत्यय का विधान किया गया है अतः इस प्रत्यय के करने पर प्रत्येक प्रातिपदिक का अर्थ वही रहता है जो प्रत्यय करने से पहले होता है । उदाहरणार्थ यथा—

---

१. **अत्र केऽणः** (७.४.१३) इति ह्रस्वत्वं बोध्यम् ।

२. अर्थात् जो व्यक्ति जीविका के लिये राम, लक्ष्मण और सीता की मूर्त्तियों को बेचता है उसे बार बार धिक्कार है । परन्तु इस पद्यार्ध में जो अपशब्द को न पहचान सके ऐसे व्यर्थबुद्धि पण्डित को भी बार-बार लानत है ।

३. **न सामिवचने** (५.४.५) । अर्थः—सामि (अर्ध) वाचक उपपद होने पर क्तान्त से कन् प्रत्यय नहीं होता । उदाहरण यथा—सामिकृतम्, अर्धकृतम्, नेमकृतम् । यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन उदाहरणों में किसी पूर्वसूत्रद्वारा कन् प्रत्यय तो प्राप्त था नहीं पुनः निषेध कैसा ? इस का उत्तर यही दिया जाता है कि यह सूत्र पूर्वोक्त कन् का निषेधक नहीं अपितु प्रातिपदिक मात्र से होने वाले अत्यन्तस्वार्थिक कन् प्रत्यय का निषेध करता है । इस से वैयाकरणों ने उपर्युक्त वार्तिक का ऊहन कर लिया है ।

अश्व एव अश्वकः (घोड़ा ही 'अश्वक' कहाएगा)। यहां अश्वप्रातिपदिक से अत्यन्त स्वार्थ में प्रकृत वार्तिक से कन् प्रत्यय, नकार अनुबन्ध का लोप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'अश्वकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—बहुतरमेव बहुतरकम्। सुकरतरमेव सुकरतरकम्।

नोट—कुछ लोग इस वार्त्तिक का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। उन का कथन है कि उपर्युक्त उदाहरण यावादियों के आकृतिगण होने से **यावादिभ्यः कन्** (५.४.२९) द्वारा ही सिद्ध हो सकते हैं। इन के लिये प्रत्येक प्रातिपदिक से कन् की कल्पना करना अयुक्त है।

अब प्राचुर्यद्योतक मयट् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३९) **तत्प्रकृतवचने मयट्**।५।४।२१॥

प्राचुर्येण प्रस्तुतम् प्रकृतम्, तस्य वचनम्=प्रतिपादनम्। भावे, अधिकरणे वा ल्युट्। आद्ये—प्रकृतमन्नम् अन्नमयम्। अपूपमयम्। द्वितीये तु—अन्नमयो यज्ञः। अपूपमयं पर्व॥

अर्थः—इस सूत्र का द्विविध अर्थ होता है—

(१) प्राचुर्य (आधिक्य) से विद्यमान वस्तु के वाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक मयट् प्रत्यय हो।

(२) प्राचुर्य से विद्यमान वस्तु के वाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से अधिकरण की वाच्यता में तद्धितसञ्ज्ञक मयट् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत्।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण तद्शब्द से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। प्रकृतवचने।७।१। मयट्।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। इस सूत्र में 'वचन' शब्द की द्विविध व्युत्पत्ति के कारण सूत्र के दो अर्थ हो जाते हैं। दोनों ही अर्थ वैयाकरणों को सदा से मान्य रहे हैं।[1] 'वचन' शब्द की पहली व्याख्या—वचनशब्द वच्धातु से **ल्युट् च** (८७१) सूत्र-द्वारा भाव में ल्युट् प्रत्यय करने से बना है। इस तरह इस का अर्थ होगा—वचनम्=कथनम्=प्रतिपादनम्। दूसरी व्याख्या—वचनशब्द **करणाधिकरणयोश्च** (३.३.११७) द्वारा अधिकरण में ल्युट् करने से बना है, उच्यतेऽस्मिन् इति वचनम्, जिस में कहा जाये वह। प्राचुर्येण कृतम्=प्रस्तुतम् प्रकृतम् (अधिकता से प्रस्तुत)। जो वस्तु बहुतायत से प्रस्तुत या विद्यमान रहे उसे यहां 'प्रकृत' कहा गया है। प्रकृतस्य वचनं प्रकृतवचनम् तस्मिन्=प्रकृतवचने, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रथम अर्थ—(प्रकृतवचने) प्रचुरता से प्रस्तुत या विद्यमान वस्तु के कथन में (तत्=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय हो जाता है। मयट् में टकार इत् है जो **टिड्ढाणञ्**० (१२५१) द्वारा स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय करने के लिये जोड़ा गया है। प्रथम अर्थ का उदाहरण यथा—

---

१. **द्वयमपि प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्** (काशिका ५.४.२१)।

प्रकृतम् (प्राचुर्येण प्रस्तुतम्) अन्नम्-- अन्नमयम् (अधिकता से विद्यमान अन्न)। यहां प्रचुरता से विद्यमान उपाधि से विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'अन्न सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से **तत्प्रकृतवचने मयट्** (१२३९) सूत्रद्वारा मयट् प्रत्यय होकर टकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण उस के अवयव सुँप् (सुँ) का भी **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् कर देने पर=अन्न+मय=अन्नमय। अब स्वार्थिक प्रत्ययान्त होने से प्रकृति (अन्न) के अनुसार[1] विभक्तिवचन लाने से 'अन्नमयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **अत्रान्नमयं वर्त्तते**—यहां अन्न की प्रचुरता है। इसीप्रकार—प्रकृताः (प्राचुर्येण प्रस्तुताः) अपूपाः अपूपमयम् (अधिकता से विद्यमान मालपूए)। यहां 'अपूप जस्' से मयट् ला कर सुँप् का लुक् करने से प्रयोग की सिद्धि होती है। यहां प्रकृति (अपूप) के पुंलिङ्ग होने पर भी पुंस्त्व नहीं हुआ कारणकि स्वार्थिकों में कहीं कहीं प्रकृति के लिङ्ग और वचनों का अतिक्रमण भी देखा जाता है—**क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्तेऽपि** (प०)।

द्वितीय अर्थ—(प्रकृतवचने—प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनम्, तस्मिन्) प्रचुरता से विद्यमान वस्तु जिस में कही या पाई जाये उस अधिकरण की वाच्यता में (तत्=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय हो जाता है। यथा—प्रकृतम् (प्राचुर्येण विद्यमानम्) अन्नं यस्मिन् सोऽन्नमयो यज्ञः। जिस में अन्न की बहुतायत हो ऐसा यज्ञ। यहां 'अन्न सुँ' से अधिकरण में मयट् प्रत्यय ला कर सुँप् का लुक् करने से—अन्नमय। अब विशेष्यानुसार लिङ्ग विभक्ति और वचन लाने पर 'अन्नमयो यज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] इसीप्रकार—प्रकृता अपूपा यस्मिन् तद् अपूपमयं पर्व। जिस में मालपुओं का प्राचुर्य हो ऐसा उत्सव या त्यौहार। ध्यान रहे कि मयट् प्रत्यय टित् है अतः विशेष्य के स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय लाकर **यस्येति च** लोप एवं विभक्ति-कार्य करने से——अन्नमयी यात्रा, अपूपमयी रथ्या आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

सार यह है कि प्रथम अर्थ में केवल प्राचुर्यविशिष्ट वस्तु का बोध होता है परन्तु दूसरे अर्थ में प्राचुर्यविशिष्ट वस्तु जिस में पाई जाती है उस अधिकरण का। बस इन दोनों अर्थों में यही अन्तर है।

अब स्वार्थ में अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४०) **प्रज्ञादिभ्यश्च** ।५।४।३८॥

अण् स्यात्। प्रज्ञ एव प्राज्ञः। प्राज्ञी स्त्री। दैवतः। बान्धवः॥

---

१. **स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते** (प०)।

२. इस अर्थ में मयट् प्रत्यय स्वार्थिक नहीं होता। प्राचुर्ययुक्त वस्तु प्रकृत्यर्थ तथा उस का अधिकरण प्रत्ययार्थ होता है। अतः **स्वार्थिका प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते** वाला नियम यहां लागू नहीं होता, विशेष्य के अनुसार ही लिङ्ग, विभक्ति और वचन होंगे।

अर्थः—प्रज्ञ आदि प्रातिपदिकों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रज्ञादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। (**तद्युक्तात् कर्मणोऽण्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । प्रज्ञः (प्रज्ञशब्दः) आदिर्येषान्ते प्रज्ञादयः, तेभ्यः—प्रज्ञादिभ्यः[1], तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः— (प्रज्ञादिभ्यः) प्रज्ञ आदिगणपठित प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

अण् में णकार इत् है जो आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

प्रज्ञ[2] एव प्राज्ञः (जानकार, बुद्धिमान्, ज्ञाता) । यहां 'प्रज्ञ' प्रातिपदिक से स्वार्थ में **प्रज्ञादिभ्यश्च** (१२४०) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय, णकार अनुबन्ध का लोप, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने से—प्राज्ञ । अब विभक्ति ला कर **प्रथमैकवचन** में 'प्राज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त होने के कारण **टिड्ढाणञ्**० (१२५१) द्वारा ङीप् प्रत्यय ला कर **यस्येतिच**लोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'प्राज्ञी' (जानकार औरत) प्रयोग बनेगा ।[3]

---

१. प्रज्ञादिगण यथा—

प्रज्ञ । वणिज् । उशिज् । उष्णिह् । प्रत्यक्ष । विद्वस् । विदन् । षोडन् । षोडश । विद्या । मनस् । **श्रोत्र शारीरे** (गणसूत्रम्) । जुह्वत् । **कृष्ण मृगे** (गणसूत्रम्) । चिकीर्षत् । चोर । शत्रु । योध । वक्षस् । चक्षुस् । धूर्त्त । वसु । एत् । मरुत् । क्रुञ्च् । राजा । सत्वन्तु । दशार्ह । वयस् । आतुर । असुर । रक्षस् । पिशाच । अशनि । कार्षापण । देवता । बन्धु । आकृतिगणोऽयम् ॥

२. प्रजानातीति प्रज्ञः । **आतश्चोपसर्गे** (७८८) इति कप्रत्यये **आतो लोप इटि च** (४८९) इत्यातो लोपे च कृते 'प्रज्ञः' इति । स्त्रियाम् **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) इति टापि 'प्रज्ञा' इति ।

३. 'प्राज्ञा' रूप भी बनता है उस की सिद्धि इस तरह से समझनी चाहिये—

प्रज्ञानं प्रज्ञा (जानना), यद्वा प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा (जिस से जाना जाता है अर्थात् बुद्धि) । यहां प्रपूर्वक **ज्ञा अवबोधने** (क्र्या० परस्मै०) धातु से भाव अथवा करण में **आतश्चोपसर्गे** (३.३.१०६) से अङ्प्रत्यय होकर आकारलोप एवं स्त्रीत्व में टाप् करने से 'प्रज्ञा' शब्द सिद्ध होता है । प्रज्ञाऽस्त्यस्य इस विग्रह में **प्रज्ञा-श्रद्धाऽर्चाभ्यो णः** (५.२.१०१) से मत्वर्थ में ण (अ) प्रत्यय ला कर आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप करने से 'प्राज्ञः' (बुद्धिमान्) प्रयोग बनता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त न होने के कारण इस से ङीप् (१२५१) न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् ही होगा । इस प्रकार 'प्राज्ञा' बनेगा । अत एव अमरकोष में कहा है—**प्रज्ञा तु प्राज्ञी, प्राज्ञा तु धीमती ।**

देवता एव दैवतः (देवता)। देवताप्रातिपदिक से प्रज्ञादियों में पाठ के कारण **प्रज्ञादिभ्यश्च** (१२४०) द्वारा स्वार्थ में अण् प्रत्यय ला कर आदिवृद्धि एवं **यस्येतिच**लोप द्वारा आकार का लोप करने से— दैवत्+अ = दैवत। विभक्ति ला कर प्रथमा के एकवचन में 'दैवतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। दैवतशब्द नपुंसकलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है– दैवतम्। **वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियाम्** इत्यमरः।

बन्धुरेव बान्धवः (बन्धु, सम्बन्धी)। बन्धुप्रातिपदिक से स्वार्थ में **प्रज्ञादिभ्यश्च** (१२४०) द्वारा अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि (९३८), **ओर्गुणः** (१००५) से भसञ्ज्ञक उकार को ओकार गुण तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश कर विभक्तिकार्य करने से 'बान्धवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्रज्ञादियों से अण् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. (चोर) चोर एव चौरः [चोर]।
२. (वणिज्) वणिग् एव वाणिजः [बनिया]।
३. (योध) योध एव यौधः [योधा, लड़ाकू]।
४. (शत्रु) शत्रुरेव शात्रवः [शत्रु, दुश्मन]।
५. (मनस्) मन एव मानसम् [मन]।
६. (रक्षस्) रक्ष एव राक्षसः [राक्षस]।
७. (पिशाच) पिशाच एव पैशाचः [पिशाच]।
८. (असुर) असुर एव आसुरः [दैत्य]।
९. (मरुत्) मरुद् एव मारुतः [वायु]।
१०. (वयस्) वय एव वायसः [कौवा]।
११. (क्रुञ्च्) क्रुङेव क्रौञ्चः [क्रौञ्च पक्षी]।

प्रज्ञादि के आकृतिगण होने के कारण—

१२. (चर) चर एव चारः [गुप्तचर]।
१३. (कुतूहल) कुतूहलमेव कौतूहलम् [उत्सुकता]।
१४. (चरित्र) चरित्रमेव चारित्रम् [चरित्र]।
१५. (चण्डाल) चण्डाल एव चाण्डालः [चण्डाल]।
१६. (जेतृ) जेतैव जैत्रः [जीतने वाला]।

अब स्वार्थिक शस् तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४१)

बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् ।५।४।४२।।

(बह्वर्थाद् अल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनः प्रातिपदिकात् स्वार्थे तद्धितः शस् प्रत्ययः स्यादन्यतरस्याम्)। बहूनि ददाति– बहुशः। अल्पशः।।

अर्थः—बह्वर्थ और अल्पार्थ कारकाभिधायी प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक शस् प्रत्यय हो।

व्याख्या—बह्वल्पार्थात् ।५।१। शस् ।१।१। कारकात् ।५।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि अधिकृत हैं। समासः—बहुश्च अल्पश्च बह्वल्पौ, बह्वल्पौ अर्थौ यस्य तद् बह्वल्पार्थम् (प्रातिपदिकम्), तस्मात् = बह्वल्पार्थात् । द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। अर्थः— (बह्वल्पार्थात्)'बहुत' अर्थ वाले तथा 'थोड़ा' अर्थ वाले (कारकात्) कारकसञ्ज्ञक (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (शस्) शस् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में वाक्य ही रहेगा।[1]

बहु, भूरि, प्रभूत आदि बह्वर्थ एवम् अल्प, स्तोक, कतिपय आदि अल्पार्थ प्रातिपदिक हैं। **कारके** (१.४.२३) के अधिकार में कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक होते हैं। जब बह्वर्थ या अल्पार्थ प्रातिपदिक कारकरूपेण कहा जा रहा हो तो उस से स्वार्थ में शस् प्रत्यय हो जाता है।

शस् में शकार की **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, क्योंकि सूत्र में 'अतद्धिते' कहा गया है। सकार की भी प्रयोजनाभाव से **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। पूरा शस् प्रत्यय अविकल रहता है।

बह्वर्थ प्रातिपदिकों से शस् का उदाहरण यथा—

बहूनि (धनानि) ददाति—बहुशो ददाति (बहुत धन देता है)। यहां 'बहूनि' की जगह 'बहुशः' इस तद्धितान्त शब्द का प्रयोग हुआ है। बहुशब्द बह्वर्थ है, यहां यह दाधातु का कर्मकारक भी है, अतः प्रकृत **बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्** (१२४१) सूत्रद्वारा स्वार्थ में इस से परे तद्धित शस् प्रत्यय आ कर सुँप् का लुक् कर देने से बहु + शस् = बहुशस् । अब **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से इस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाने के कारण इस से परे आये औत्सर्गिक सुँप्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'बहुशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह प्रभूत, भूरि आदि शब्दों से भी शस् प्रत्यय समझ लेना चाहिये—प्रभूतशो ददाति, भूरिशो ददाति। कर्म के अतिरिक्त अन्य कारकों से भी इसीतरह प्रक्रिया होती है—(करणे) बहुभिर्ददाति, बहुशो ददाति। (सम्प्रदाने) बहुभ्यो ददाति, बहुशो ददाति। (अधिकरणे) बहुषु ददाति, बहुशो ददाति। इत्यादि।

अल्पार्थ प्रातिपदिकों से शस् का उदाहरण यथा—

अल्पानि (धनानि) ददाति—अल्पशो ददाति (थोड़ा धन देता है)। यहां भी पूर्ववत् कर्मकारक 'अल्प' प्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रकृतसूत्र से शस् प्रत्यय हो कर

---

१. यहां 'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण किसी अन्य प्रत्यय के संग्रहार्थ नहीं किया गया। पक्ष में वाक्य ही रहे—इतना मात्र ही इस से अभिप्रेत है। परन्तु यह सब तो महाविभाषा (**समर्थानां प्रथमाद्वा** ९९७) से ही सिद्ध था पुनः इस के लिये 'अन्यतरस्याम्' की क्या आवश्यकता ? इस का उत्तर यह है कि प्रकृतसूत्र से पूर्वस्थ विधि को नित्य ज्ञापित करने के लिये यहां विकल्प कहा गया है। विशेषजिज्ञासु इसे समझने के लिये काशिका का अवलोकन करें।

अव्यय से परे औत्सर्गिक सुँ प्रत्यय का लुक् हो जाता है। इसीतरह स्तोक आदि प्रातिपदिकों से भी समझ लेना चाहिये—स्तोकानि ददाति। स्तोकशो ददाति। स्तोकेभ्यो ददाति। स्तोकशो ददाति। इत्यादि।

कारकादिति किम्? बहूनां स्वामी। अल्पानां स्वामी। यहां सम्बन्ध में षष्ठी हुई है। सम्बन्ध कारक नहीं होता अतः यहां 'बहु' और 'अल्प' से शस् न होगा।

बह्वल्पार्थादिति किम्? गां ददाति। अश्वं ददाति। यहां 'गो' और 'अश्व' कर्मकारक तो हैं परन्तु बह्वर्थ या अल्पार्थ प्रातिपदिक नहीं, अतः इन से शस् नहीं होता।

विशेष वक्तव्य— बह्वल्पार्थात् मङ्गलाऽमङ्गलवचनम् (वा०)। वार्त्तिककार का कथन है कि बह्वर्थों से तभी शस् होता है जब मङ्गल गम्य हो और अल्पार्थों से तभी शस् होता है जब अमङ्गल गम्य हो, अन्यथा शस् नहीं होता। यथा— बहूनि ददाति श्राद्धेषु। यहां श्राद्ध अमङ्गल है अतः बह्वर्थ बहुशब्द से शस् नहीं होता। इसीतरह—अल्पं ददाति आभ्युदयिकेषु। यहां आभ्युदयिक कार्य मङ्गल हैं अतः अल्पार्थ अल्पशब्द से शस् नहीं होता। कुछ व्याख्याकार इस वार्त्तिक को प्रायिक मानते हैं क्योंकि आचार्य पाणिनि ने स्वयम् इस का पालन न करते हुए **अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः** (२.१.३७) सूत्र में 'अल्पा पञ्चमी' के अर्थ में 'अल्पशः' का प्रयोग किया है—अल्पा पञ्चमी समस्यते—अल्पशः समस्यते।

अब सुप्रसिद्ध सार्वविभक्तिक तसिँ तद्धितप्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(९६) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्॥

आदौ—आदितः। मध्यतः। अन्ततः। पार्श्वतः। आकृतिगणोऽयम्। स्वरेण—स्वरतः। वर्णतः॥

अर्थः—'आदि' शब्द जिस के आदि में है ऐसे गणपठित सुँबन्तों से स्वार्थ में तसिँ प्रत्यय का विकल्प से उपसंख्यान करना चाहिये।

व्याख्या—आद्यादिभ्यः ।५।३। तसेः ।६।१। उपसंख्यानम् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। आदिशब्द आदिर्येषान्ते आद्यादयः, तेभ्यः=आद्यादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। यह वार्त्तिक **प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः** (५.४.४४) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। यह प्रत्यय प्रत्येक विभक्त्यन्त प्रातिपदिक से परे हो सकता है अतः इसे सार्वविभक्तिक तसिँ कहा जाता है। **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) इस महाविभाषा के कारण यह प्रत्यय विकल्प से होता है अतः पक्ष में सविभक्तिक रूप भी रहता है।

तसिँ में अनुनासिक इकार इत्सञ्ज्ञक हो कर (२८) लुप्त हो जाता है, 'तस्' मात्र शेष रहता है। इकार अनुबन्ध सकार को इत् से बचाने के लिये जोड़ा गया है। तसिँप्रत्ययान्त शब्दों की **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (३६८)से अव्ययसंज्ञा हो जाती है, अतः इन से परे उत्पन्न विभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है।

उदाहरण यथा—

आदौ—आदितः (आदि में)। यहां 'आदि ङि' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से परे स्वार्थ में प्रकृत **आद्यादिभ्यस्तसेरुपसङ्ख्यानम्** (वा० ९६) वार्त्तिकद्वारा तसिँ-प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङि) का लुक् करने से—आदि+तस्=आदितस्। अब प्रातिपदिकत्वात् उत्पन्न औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् होकर सकार को रुँत्व तथा पदान्त रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने से 'आदितः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में सुँबन्तप्रक्रिया हो कर 'आदौ' का प्रयोग हो सकता है। यहां सप्तम्यन्त से तसिँ का प्रयोग दर्शाया गया है, अन्यविभक्त्यन्तों से भी यह हो सकता है। यथा—आदेः—आदितः। इत्यादि।

इसीप्रकार—मध्ये=मध्यतः (बीच में)। अन्ते=अन्ततः (अन्त में)। पार्श्वे=पार्श्वतः (पास में)। पृष्ठे=पृष्ठतः (पिछाड़ी में)।

आद्यादि आकृतिगण है। अतः गणपठित उपर्युक्त पाञ्च शब्दों के अतिरिक्त अन्यत्र भी शिष्टप्रयोगों में जहां जहां सार्वविभक्तिक तसिँ देखा जाये उसे आद्यादि-गणान्तर्गत समझ लेना चाहिये।

शिष्टप्रयोगों में इस के कुछ उदाहरण यथा—

[१] **तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्** (१.२.३२)।

इस पाणिनीयसूत्र में 'आदौ' के स्थान पर 'आदितः' का प्रयोग किया गया है।

[२] **दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा**
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ॥ (महाभाष्य पस्पशा.)

यहां स्वरेण=स्वरतः, वर्णेन=वर्णतः। इस प्रकार तृतीयान्त से तसिँ किया गया है।

[३] **स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते।** (प०)

प्रकृतेः=प्रकृतितः। यहां षष्ठ्यन्त से तसिँ का प्रयोग किया गया है।

[४] **नाम च धातुजमाह निरुक्ते**
व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थम्
प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥ (महाभाष्य ३.३.१)

प्रत्ययात्=प्रत्ययतः। यहां पञ्चम्यन्त से तसिँ का प्रयोग किया गया है।

[५] **विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्त्रियाणां च वीर्यतः।**
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ (मनु० २.१५५)

ज्ञानेन=ज्ञानतः। वीर्येण=वीर्यतः। धान्यधनैः=धान्यधनतः। जन्मना=जन्मतः। इन सब में निमित्ततृतीयान्त से तसिँ का प्रयोग किया गया है।

[६] **शिक्षितोऽस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ।** (महाभारत विराट० ४५.१८)

तीर्थेन (गुरुणा)=तीर्थतः। तृतीयान्त से तसिँ हुआ है।

[७] **यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि ।** (शाकुन्तल० ७)
नाम्ना = नामतः । तृतीयान्त से तसिँ हुआ है ।

[८] **वित्तेन क्षीणो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ।** (महाभारत वन०)
वृत्तेन = वृत्ततः । तृतीयान्त से तसिँ हुआ है ।

[९] **रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ।** (मनु० ४.७३)
यहां दूरशब्द से द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी या सप्तमी विभक्तियों में से किसी भी विभक्ति से परे तसिँ का प्रयोग माना जा सकता है ।

[१०] **यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम् ॥** (मालतीमाधव १)
अर्थे = अर्थतः । सप्तम्यन्त से तसिँ हुआ है ।

अब सुप्रसिद्ध च्विँ प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४२)

कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विँः ।५।४।५०॥

वा०—(९७) अभूततद्भावे इति वक्तव्यम् ॥

विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्त्तमानाद् विकारशब्दात् स्वार्थे च्विँर्वा स्यात् करोत्यादिभिर्योगे ॥

अर्थः—अभूततद्भाव[1] गम्य होने पर यह सूत्र प्रवृत्त होता है—ऐसा कहना चाहिये (वा०) । विकार को प्राप्त हो रही प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान जो विकार-वाचक शब्द उस से परे स्वार्थ में विकल्प कर के तद्धितसञ्ज्ञक च्विँप्रत्यय हो यदि उस का कृ, भू या अस् धातु के साथ योग हो तो ।

व्याख्या—कृभ्वस्तियोगे ।७।१। सम्पद्यकर्तरि ।७।१। च्विँः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । कृ, भू, अस्ति—इत्येतेषामितरेतरद्वन्द्वः कृभ्वस्तयः, तैर्योगः = कृभ्वस्तियोगः, तस्मिन् = कृभ्वस्तियोगे, तृतीयातत्पुरुषसमासः । सम्पदनं सम्पद्यः[2], तस्य कर्त्ता सम्पद्यकर्त्ता, तस्मिन् = सम्पद्य-

---

१. जो वस्तु पहले जिस रूप में न हो और बाद में वह उस रूप को प्राप्त कर ले तो इसे अभूततद्भाव कहते हैं । जैसे—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति—शुक्ली करोति (अशुक्ल शुक्ल हो जाता है—इस प्रकार करता है । अर्थात् अशुक्ल या मलिन को शुक्ल करता है) । यहां पहले जो वस्तु शुक्ल न थी वह अब शुक्लरूप को प्राप्त करती है । इस तरह यहां अभूत का तद्भाव कहा गया है । इस प्रकार के कथन में अभूतवस्तु प्रकृति या समवायिकारण होती है और उस का तद्भाव विकृति या कार्य होता है । दोनों में कारणकार्यभाव सम्बन्ध होता है ।

२. अस्मादेव निपातनाद् भावे कृत्सञ्ज्ञः शप्रत्ययः । दिवादित्वात् श्यन् । कुछ लोग निपातनद्वारा कर्त्ता में शप्रत्यय मान कर 'सम्पद्य' (सम्पन्न होने वाला) शब्द निष्पन्न करते हैं । उन के मतानुसार 'सम्पद्यश्चासौ कर्त्ता सम्पद्यकर्त्ता, तस्मिन् = सम्पद्यकर्त्तरि' इसप्रकार विशेषणसमास समझा जायेगा ।

कर्त्तरि, षष्ठीतत्पुरुषसमासः । अर्थः—(सम्पद्य-कर्तरि) 'सम्पद्य' धातु के कर्त्ता अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (च्विँः) च्विँ प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है (कृभ्वस्तियोगे) यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू या अस् धातु के साथ योग हो तो। इस सूत्र के अर्थ में वार्त्तिककार ने एक बात और जोड़ दी है—

अभूततद्भावे इति वक्तव्यम् (वा०)। अर्थात् इस सूत्र की प्रवृत्ति तभी होती है जब अभूततद्भाव गम्य हो। अभूतस्य = कार्यरूपेण अपरिणतस्य तद्भावः—तेन कार्यरूपेण भावोऽभूततद्भावः। तस्मिन् गम्ये इत्यर्थः। ध्यान रहे कि केवल न हो कर होने को अभूततद्भाव नहीं कहते, इसीलिये तो तद्शब्द का ग्रहण किया है। अब सूत्र का अर्थ इस प्रकार हो जाता है—अभूततद्भाव अर्थात् कार्यरूप में अपरिणत कारण की जब कार्यरूप में परिणति गम्य हो तो सम्पद्यते (बनता है, होता है) का कर्त्ता जो प्रातिपदिक, उस से स्वार्थ में विकल्प से च्विँप्रत्यय हो जाता है यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू या अस् किसी धातु के साथ योग हो तो। इस अर्थ का उदाहरण में समन्वय यथा—

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोतीति शुक्ली करोति। यहां जो वस्तु पहले शुक्ल नहीं अब वह शुक्ल की गई है अतः अभूततद्भाव तो स्पष्ट है ही। यहां सम्पद्य के दो कर्त्ता हैं—अशुक्लः और शुक्लः। परन्तु वक्ता को प्रमुखरूप से विकारवाचक 'शुक्लः' ही कर्तृत्वरूपेण कहना अभीष्ट है, किञ्च इस का कृधातु के साथ योग भी है क्योंकि यह उस का कर्म है। अतः शुक्लप्रातिपदिक से च्विँप्रत्यय हो कर वक्ष्यमाण प्रक्रिया के अनुसार 'शुक्ली' बन जाता है। इसीप्रकार—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानो भवतीति शुक्ली भवति। यहां सम्पद्य के कर्त्ता शुक्ल का भूधातु के साथ योग है। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानः स्याद् इति शुक्ली स्यात्। यहां सम्पद्य के कर्त्ता शुक्ल का अस् धातु के साथ योग है।

कौमुदीकार ने उपर्युक्त सम्पूर्ण सूत्रार्थ को आत्मसात् कर सरल शब्दों में इस का अर्थ इस प्रकार व्यक्त किया है—विकार को प्राप्त हो रही प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान जो विकारवाचक प्रातिपदिक, उस से परे स्वार्थ में विकल्प कर के च्विँ प्रत्यय हो यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू या अस् धातु के साथ योग हो तो। पक्ष में वाक्य भी रहेगा। इस अर्थ का उदाहरण में समन्वय यथा—

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोतीति शुक्ली करोति।[1] इस में अशुक्ल प्रकृति है वह शुक्लरूप विकार को प्राप्त हो रही है। कारणकार्य के अभेद के विवक्षित होने से विकारशब्द प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान है, इस का कृधातु के साथ योग भी है अतः इसी विकारवाचक शुक्लप्रातिपदिक से ही च्विँ की उत्पत्ति होती है।

---

१. कुछ लोग इस का विग्रह इस प्रकार भी करते हैं—
अशुक्लं शुक्लं सम्पद्यमानं करोतीति शुक्ली करोति। यहां भी सम्पद्यधातु का कर्त्ता शुक्ल ही रहता है चाहे वह अब कृधातु का कर्म क्यों न बन गया हो।

सार यह है कि च्विँप्रत्यय के करने में निम्नस्थ तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) अभूततद्भाव में ही च्विँ होता है, इस के विना च्विँ नहीं किया जाता। यथा—शुक्लं करोति, शुक्लो भवति, शुक्लः स्यात् इत्यादियों में कृ-भू-अस् का योग होने पर भी अभूततद्भाव के न होने से च्विँ नहीं होता।

(२) विकारवाचक प्रातिपदिक से ही च्विँ हुआ करता है प्रकृतिवाचक से नहीं। यथा—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति—शुक्ली करोति। यहां अशुक्ल प्रकृतिवाचक तथा शुक्ल विकारवाचक प्रातिपदिक है। च्विँप्रत्यय विकारवाचक शुक्ल-प्रातिपदिक से ही होगा।

(३) विकारवाचक प्रातिपदिक का योग कृ-भू-अस् धातुओं के साथ होना आवश्यक है तभी च्विँ होगा अन्यथा नहीं। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति—शुक्ली करोति। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानो भवति—शुक्ली **भवति**। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानः स्यात्। इन में विकारवाचक प्रातिपदिक 'शुक्ल' का क्रमशः कृ, भू और अस् के साथ योग है अतः च्विँ हुआ है। 'अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानो जायते' यहां जन्धातु के योग में नहीं होता।

च्विँप्रत्यय का आदि वर्ण चकार **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। यह **चितः** (६.१.१५७) सूत्रद्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। अन्त में इकार अनुबन्ध उच्चारणार्थ है। इस प्रकार च्विँ का 'व्' मात्र ही शेष रहता है। इस वकार का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप हो जाता है। इस तरह च्विँ का सर्वापहारलोप होता है।

अब च्विँ के उदाहरणों के लिये प्रक्रिया दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४३) अस्य च्वौ ।७।४।३२।।

अवर्णस्य ईत् स्याच्च्वौ। वेर्लोपः। च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम्।[1] अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति—कृष्णी करोति। ब्रह्मी भवति। गङ्गी स्यात्।।

अर्थः—च्विँ परे रहते अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश हो।

व्याख्या—अस्य ।६।१। च्वौ ।७।१। ईत् ।१।१। (**ई घ्राध्मोः** सूत्र से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। 'अस्य' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अवर्णान्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। अर्थः—(च्वौ) च्विँ प्रत्यय के परे रहते (अस्य=अवर्णान्तस्य) अवर्णान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (ईत्) ईकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्=अवर्ण के स्थान

---

१. **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) इत्यधिकारे **ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च** (९५०) इति निपातत्वे **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) इत्यव्ययत्वमित्यर्थः। अथवा—**तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) इत्यत्र 'तसिप्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः' इति परिगणितेष्वन्तर्भावादव्ययत्वमिति बोध्यम्।

पर ही ईकार आदेश होगा । उदाहरण यथा—

अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति[1]—कृष्णी करोति (जो कृष्ण नहीं उसे कृष्ण करता हैं) ।[2] यहां अकृष्ण प्रकृति तथा कृष्ण उस का विकार है । कारणकार्य में अभेद-विवक्षा के कारण कृष्णशब्द प्रकृति (अकृष्ण) में वर्त्तमान है, किञ्च इस का कृधातु के साथ योग भी है (क्योंकि यह कृधातु का कर्म है) । अतः विकारवाचक 'कृष्ण अम्' से **अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्** (वा० ९७) इस वार्त्तिक की सहायता से **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः** (१२४२) सूत्रद्वारा च्विँ तद्धितप्रत्यय हो जाता है । च्विँ के चकार की **चुटू** (१२९) तथा इकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप एवम् अवशिष्ट वकार का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप करने पर—कृष्ण अम् (करोति) । पुनः च्विँप्रत्ययान्तों की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् हो जाता है - कृष्ण (करोति) । अब **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) द्वारा च्विँ को परे मान कर **अस्य च्वौ** (१२४३) से अकार को ईकार आदेश करने पर-- कृष्णी (करोति) । यहां 'कृष्णी' शब्द च्विँप्रत्ययान्त है, अतः **ऊर्यादिच्विँडाचश्च** (९५०) से इस की गतिसञ्ज्ञा, **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) से निपातसञ्ज्ञा तथा **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है । अव्ययत्व के कारण इस से परे उत्पन्न औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर 'कृष्णी करोति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[3]

ध्यान रहे कि 'कृष्णी' और 'करोति' पदों का समास नहीं होता क्योंकि लोक में सुँबन्त का तिङन्त के साथ समास वर्जित है (९०६) । अतः इन दोनों को पृथक् पृथक् लिखना चाहिये मिला कर नहीं । हां यदि कृधातु क्त्वान्त होगी तो **कु-गति-प्रादयः** (९४९) से गतिसमास होकर क्त्वा को **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) से ल्यप् आदेश भी हो जायेगा – कृष्णीकृत्य । इसीप्रकार कृदन्त कृधातु के साथ भी समास हो जाता है--कृष्णीकृतः, कृष्णीकृतवान्, कृष्णीकर्त्तुम् आदि ।

भू के साथ योग का उदाहरण यथा--

अब्रह्म ब्रह्म सम्पद्यमानं भवति—ब्रह्मी भवति (जो ब्रह्म नहीं वह ब्रह्म सम्पन्न

---

१. अथवा--'अकृष्णं कृष्णं सम्पद्यमानं करोति' इस तरह विग्रह रखना चाहिये । कुछ लोग त्वरावश 'अकृष्णं कृष्णं करोति' इस प्रकार भी विग्रह प्रदर्शित करते हैं जो ठीक नहीं होता ।

२. रासलीला या नाटक आदियों में अकृष्ण को कृष्ण बनाया जाता है । अथवा—जो काला नहीं उसे काला करता है यह अभिप्राय यहां समझना चाहिये ।

३. ध्यान रहे कि 'कृष्णी करोति' प्रयोग को 'करोति कृष्णी' नहीं कहा जा सकता । कारणकि च्व्यन्त 'कृष्णी' की गतिसञ्ज्ञा (९५०) है, ते **प्राग्धातोः** (४१९) से गतिसञ्ज्ञक और उपसर्ग लोक में धातु से पूर्व ही प्रयुक्त करने चाहियें ।

होता है)। यहां अब्रह्म प्रकृति तथा ब्रह्म उस का विकार है। कारणकार्य के अभेद के कारण ब्रह्मन्‌शब्द अपनी प्रकृति (अब्रह्मन्) में वर्त्तमान है, किञ्च इस का भूधातु के साथ योग भी है। अतः 'ब्रह्मन् सुँ' से अभूततद्भाव में **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विँः** (१२४२) से तद्धितसञ्ज्ञक च्विँ प्रत्यय ला कर उस का सर्वापहारलोप, सुँब्लुक् एवम् अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को मान पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप हो **अस्य च्वौ** (१२४३) से अकार को ईकार आदेश करने पर— ब्रह्मी (भवति)।[1] अब अव्ययसञ्ज्ञा के कारण इस से परे आई सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाने से 'ब्रह्मी भवति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अस् धातु के साथ योग का उदाहरण यथा—

अगङ्गा गङ्गा सम्पद्यमाना स्याद्—गङ्गी स्यात् (जो गङ्गा नहीं वह गङ्गा हो जाये)। यहां अगङ्गा प्रकृति तथा गङ्गा उस का विकार है। कारणकार्य की अभेदविवक्षा के कारण विकारवाचक गङ्गाशब्द अपनी प्रकृति (अगङ्गा) में वर्त्तमान है, किञ्च इस का अस्‌धातु के साथ योग भी है। अतः 'गङ्गा सुँ' से अभूततद्भाव में **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विँः** (१२४२) सूत्रद्वारा च्विँप्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, **अस्य च्वौ** (१२४३) से आकार को ईकार आदेश तथा अन्त में प्रातिपदिक से परे उत्पन्न औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने पर 'गङ्गी स्यात्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

अब च्विँ के परे रहते अव्ययों के अवर्ण को ईकार आदेश करने का निषेध करते हैं—

[लघु०] वा०—(९८) **अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम्** ॥

दोषाभूतमहः। दिवाभूता रात्रिः ॥

---

१. यहां नकार का त्रैपादिक लोप **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) से असिद्ध होता हुआ भी ईत्व करने में बाधक नहीं होता। कारणकि **नलोपः सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु कृति** (२८२) द्वारा परिगणित विधियों में ही वह असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं। अतः नकारलोप के सिद्ध होने से ईत्व निर्बाध हो जाता है।

२. कृ और भू धातुओं का योग तो उदाहरणों में लँट् के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। जैसे—कृष्णी करोति, ब्रह्मी भवति आदि। परन्तु अस् (होना) धातु के योग को लँट् लकार के द्वारा प्रदर्शित न कर विधिलिङ् के द्वारा क्यों प्रदर्शित किया गया है? इस पर सब व्याख्याकार मौन धारण किये हुए हैं। केवल हरिनामामृतव्याकरण की बालतोषिणी व्याख्या में इस का समाधान इस तरह प्रस्तुत किया गया है—

अस्तेर्विध्यन्तस्यैव प्रयोगेऽभूततद्भावप्रतीतिः शब्दशक्तिस्वभावादिति सर्वशास्त्र-सम्मतमित्यतो विध्यन्तमुदाहृतम् ॥

अर्थः — च्विँप्रत्यय के परे रहते अव्यय के अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश न हो —ऐसा कहना चाहिये ।

व्याख्या —अव्ययस्य ।६।१। च्वौ ।७।१। ईत्वम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम् । इति इत्यप्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। अर्थः—(च्वौ) च्विँ परे रहते (अव्ययस्य अस्य) अव्यय के अवर्ण के स्थान पर (ईत्वम्) ईकार आदेश (न) न हो (इति वाच्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

यह वार्त्तिक महाभाष्य में कहीं पढ़ा नहीं गया। परन्तु **अव्ययीभावश्च** (१.१.४०) सूत्र के भाष्य में इस की ओर संकेत पाया जाता है। अतः कौमुदीकार ने इसे वार्त्तिकरूप से प्रस्तुत किया है। जिस प्रातिपदिक से च्विँ प्रत्यय किया जाये यदि वह प्रातिपदिक अव्यय हो तो उस के अन्त्य अवर्ण को **अस्य च्वौ** (१२४३) द्वारा ईत्व नहीं होता — यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है। उदाहरण यथा—

अदोषा दोषा सम्पद्यमानं भूतम्—दोषाभूतम् अहः (जो रात्रि न था परन्तु रात्रि हो गया ऐसा दिन) ।[1] यहां 'दोषा' यह विकारवाचक प्रातिपदिक अपनी प्रकृति (अदोषा) के अर्थ में वर्त्तमान है। इस का भू धातु (भूतम्) के साथ योग भी है। अतः अभूततद्भाव में दोषा अव्यय से **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विँः** (१२४२) सूत्रद्वारा च्विँ प्रत्यय कर — दोषा च्विँ (भूतम्) । अब च्विँ का सर्वापहारलोप हो कर **अस्य च्वौ** (१२४३) से दोषा के आकार को ईकार प्राप्त होता है। इस पर प्रकृत वार्त्तिक **अव्ययस्य च्वौ ईत्वं नेति वाच्यम्** (वा० ६८) से उस का निषेध हो जाता है क्योंकि दोषाशब्द अव्यय है — दोषा (भूतम्) । पुनः च्व्यन्त होने से गतिसञ्ज्ञा के कारण दोषा और भूत में गतिसमास हो कर दोषाभूतम् (अहः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अदिवा दिवा सम्पद्यमाना भूता—दिवाभूता रात्रिः (जो दिन न थी पर दिन बन गई ऐसी रात) ।[2] यहां भी पूर्ववत् अभूततद्भाव अर्थ में 'दिवा' अव्यय से च्विँ, उस का सर्वापहारलोप, ईत्वनिषेध तथा अन्त में गतिसमास हो जाता है।

सावधान—कई लोग —'अनेकत्र एकत्र सम्पद्यमानं भवति—एकत्री भवति । अनेकत्र एकत्र सम्पद्यमानं करोति—एकत्री करोति' इस प्रकार के प्रयोग किया करते हैं, ये सब सर्वथा अशुद्ध हैं। पहली बात तो यह है कि 'एकत्र' शब्द सम्पद्यधातु का कर्त्ता नहीं अपितु अधिकरण है, अतः इस से परे च्विँ प्रत्यय प्राप्त ही नहीं होता।

---

१. जब दिन में घने बादलों या कोहरा आदि के आ जाने से प्रकाश का अभाव हो कर अन्धकार छा जाता है तब इस प्रकार की उक्ति कही जाती है—दोषाभूत-महः अर्थात् दिन भी यह रात हो गया है। दोषा अव्यय रात्रिवाचक है, इस का विवेचन पीछे अव्ययप्रकरण में किया जा चुका है।

२. जब पूर्णचन्द्र आदि के कारण प्रकाशाधिक्य से रात भी दिन की तरह प्रकाशित हो उठती है तब इस प्रकार की उक्ति कही जाती है। यहां 'दिवा' अव्यय दिन का वाचक है, इस का विवेचन भी पीछे अव्ययप्रकरण में किया जा चुका है।

दूसरी बात यह है कि यदि च्विँ कर भी लें तो अव्यय होने से ईत्व न होगा (वा० ६८)। इसलिये ऐसे प्रयोग सर्वथा हेय हैं।

अब च्व्यर्थ में सातिँप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४४)

विभाषा सातिँ कार्त्स्न्ये ।५।४।५२।।

च्विँविषये सातिँर्वा स्यात् साकल्ये ।।

अर्थः—च्विँ के विषय में विकल्प से सातिँ प्रत्यय हो यदि सम्पूर्णता गम्य हो तो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। सातिँ इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। कार्त्स्न्ये ।७।१। अभूततद्भावे, कृभ्वस्तियोगे, सम्पद्यकर्तरि इन पदों का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। कृत्स्नस्य (सम्पूर्णस्य) भावः कार्त्स्न्यम्, भावे ष्यञ्। अर्थः—(अभूततद्भावे) अभूततद्भाव में (कृभ्वस्तियोगे) कृ, भू अथवा अस् धातु का योग होने पर (सम्पद्यकर्तरि) सम्पद्यधातु के कर्त्ता में वर्तमान प्रातिपदिक से (विभाषा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (सातिँ) सातिँ प्रत्यय हो जाता है (कार्त्स्न्ये) कृत्स्नता=सम्पूर्णता गम्य हो तो।

तात्पर्य यह है कि यदि कार्त्स्न्य अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृति का विकाररूप में परिणत होना गम्य हो तो च्विँ के विषय में सातिँ प्रत्यय विकल्प से प्रवृत्त हो जाता है। पक्ष में च्विँ भी हो जायेगा। महाविभाषा के अधिकार के कारण वाक्य भी रहेगा।

सातिँप्रत्यय का अन्त्य इकार अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक (२८) हो कर लुप्त हो जाता है। यह अनुबन्ध, तकार को इत् होने से बचाने के लिये जोड़ा गया है। सातिँप्रत्ययान्त शब्द **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं।

उदाहरण यथा—

कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते—अग्निसाद् भवति शस्त्रम् (सम्पूर्ण शस्त्र जो अग्नि नहीं आग हो जाता है अर्थात् जल जाता है)। यहां सम्पूर्ण शस्त्र जो अनग्नि है अग्निरूप विकार में परिणत हो रहा है अतः अभूततद्भाव की सम्पूर्णता में 'सम्पद्यते' के कर्त्ता विकारवाचक 'अग्नि सुँ' से **विभाषा सातिँ कार्त्स्न्ये** (१२४४) इस प्रकृतसूत्र-द्वारा सातिँ तद्धितप्रत्यय हो कर इकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् का भी लुक् कर देने से—अग्निसात् (भवति)। अब **तद्धितश्चाऽसर्व-विभक्तिः** (३६८) से सातिँप्रत्ययान्त के अव्ययसञ्ज्ञक हो जाने के कारण इस से परे उत्पन्न औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर **झलां जशोऽन्ते** (६७) से जश्त्वेन तकार को दकार करने से 'अग्निसाद् भवति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में **कृभ्वस्तियोगे०** (१२४२) से च्विँ ला कर उस का सर्वापहारलोप, सुँब्लुक् तथा वक्ष्यमाण **च्वौ च** (१२४६) से इकार को दीर्घ कर विभक्तिकार्य करने से 'अग्नी भवति' प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—कृत्स्नं लवणमुदकं सम्पद्यते—उदकसाद् भवति लवणं वर्षासु (बरसात में सारा नमक पानी बन जाता है)। पक्ष में 'उदकी भवति' भी बनेगा। कृत्स्नं गृहं भस्म सम्पद्यते—भस्मसाद् भवति गृहम्, (पक्षे) भस्मी भवति गृहम् (सारा घर राख हो रहा है)। **यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा** (गीता ४.३७)। **स भस्मसाच्चकारारीन्** (भट्टि० १४.८०)।

'अग्निसात्' प्रयोग में 'सात्' प्रत्यय है, इस का अवयव सकार अपदान्त है और इण्प्रत्याहार से परे भी विद्यमान है अतः **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से इसे मूर्धन्य अर्थात् षकार होना चाहिये था जो नहीं हुआ, इस का क्या कारण है ? इस शङ्का के समाधान के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४५) **सात्पदाद्योः** ।८।३।१११॥

सस्य षत्वं न स्यात्। दधि सिञ्चति। कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते—अग्निसाद् भवति॥

अर्थः—सातिँप्रत्यय के सकार को तथा पद के आदि में स्थित सकार को मूर्धन्य (षकार) आदेश न हो।

व्याख्या—सात्पदाद्योः ।६।२। सः ।६।१। (**सहेः साडः सः** सूत्र से)। मूर्धन्यः ।१।१। (**अपदान्तस्य मूर्धन्यः** सूत्र से)। न इत्यव्ययपदम् (**न रपरसृपिसृजि०** सूत्र से)। पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः। सात् च पदादिश्च सात्पदादी, तयोः=सात्पदाद्योः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(सात्पदाद्योः) सात् के तथा पदादि के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य षकार आदेश (न) नहीं होता। यह **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) सूत्र का अपवाद है।

पदादि सकार के स्थान पर षकार न होने का उदाहरण यथा—

दधि सिञ्चति (दही छिड़कता है)। यहां 'सिञ्चति' यह **षिच क्षरणे** (तुदा० उभय०) धातु के लँट् लकार के प्रथमपुरुष का एकवचनान्त रूप है। यहां **शे मुचादीनाम्** (६५४) सूत्र से नुँम् का आगम तथा **धात्वादेः षः सः** (२५५) से धातु के आदि षकार के स्थान पर सकार आदेश हुआ है। आदेशरूप सकार होने से ('दधि' के इकार=इण् से परे) इसे **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व प्राप्त होता था जो अब **सात्पदाद्योः** (१२४५) इस प्रकृत निषेध के कारण नहीं हुआ। इसीप्रकार—वारि सिञ्चति, मधु सेवते आदि में समझ लेना चाहिये।

सात् में षत्वनिषेध का प्रकृत उदाहरण यथा—

कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते—अग्निसाद् भवति। यहां 'अग्निसात्' में प्रत्यय का अवयव सकार विद्यमान है, यह इण् से परे भी है अतः **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व की प्राप्ति होती है उस का प्रकृत **सात्पदाद्योः** (१२४५) सूत्र से निषेध हो जाता है—अग्निसात्। इसीप्रकार 'मधुसात्' आदि में जानना चाहिये।

सातिँप्रत्यय के अभाव में च्विँप्रत्यय (१२४२) होता है। च्विँ का सर्वापहार-

लोप आदि करने पर 'अग्नि (भवति)' इस दशा में दीर्घविधान करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४६) **च्वौ च** ।७।४।२६।।

च्वौ च परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात् । अग्नी भवति ॥

अर्थः—च्विँ के परे रहते भी पूर्व को दीर्घ हो ।

व्याख्या—च्वौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । दीर्घः । १।१। (**अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** सूत्र से) । अङ्गस्य । (यह अधिकृत है) । अचः ।६।१। (**अचश्च** इस परिभाषा-सूत्रद्वारा) । 'अचः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अजन्तस्याङ्गस्य' बन जाता है । अर्थः—(च्वौ) च्विँ परे होने पर (च) भी[1] (अचः = अजन्तस्य) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषाद्वारा यह आदेश अजन्त अङ्ग के अन्त्य अल् = अच् के स्थान पर हो जाता है । अचों में अवर्ण के विषय में इस के अपवाद **अस्य च्वौ** (१२४३) सूत्र की प्रवृत्ति हो कर ईत्व हो जाता है । ऋकार के विषय में इस के अपवाद **रीङ् ऋतः** (१०४५) से रीङ् आदेश हो जाता है ।[2] अतः इन दोनों को छोड़ कर शेष अचों के विषय में इस की प्रवृत्ति होती है । परन्तु ए, ऐ, ओ, औ तो स्वयं दीर्घ हैं ही, इसलिये पारिशेष्यात् इकार और उकार के विषय में ही इस सूत्र की फलोन्मुखी प्रवृत्ति देखी जा सकती है । उदाहरण यथा—

अग्नि (भवति)—यहां सातिँ के अभावपक्ष में च्विँ का सर्वापहारलोप हो चुका है । प्रत्ययलक्षणद्वारा च्विँ को परे मान कर प्रकृत **च्वौ च** (१२४६) सूत्र से दीर्घ करने पर—अग्नी भवति । अब च्व्यन्त की गति और निपातसञ्ज्ञा (९५०) तथा निपातत्वात् अव्ययसञ्ज्ञा (३६७) कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'अग्नी भवति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी तरह—अशुचिः शुचिः सम्पद्यते तं करोति—शुची करोति । शुची भवति । शुची स्यात् । अपटुः पटुः सम्पद्यते तं करोति—पटू करोति । पटू भवति । पटू स्यात् । इत्यादि ।

च्व्यन्तों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) अस्वं स्वं सम्पद्यमानं करोति—स्वी करोति । स्वी भवति । स्वी स्यात् ।

---

१. अष्टाध्यायी में इस से पूर्व **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (७.४.२५) सूत्रद्वारा दीर्घ का विधान किया गया है । पुनः च्विँ के परे रहते भी दीर्घ के समुच्चय के लिये यहां 'च' का ग्रहण किया गया है ।

२. **रीङ् ऋतः** (१०४५) । अर्थः—अकृद्यकारेऽसार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्तस्याङ्गस्य रीङ् आदेशः स्यात् । यथा—अपितरं पितरं सम्पद्यमानं करोति—पित्री करोति ।

डाच्

(२) अनुन्मुखम् उन्मुखं सम्पद्यमानं करोति—उन्मुखी करोति। उन्मुखी भवति। उन्मुखी स्यात्।

(३) अघटं घटं सम्पद्यमानं करोति—घटी करोति मृदं कुम्भकारः। घटी भवति। घटी स्यात्।

(४) अराजानं राजानं सम्पद्यमानं करोति—राजी करोति। राजी भवति। राजी स्यात्।

(५) अपितरं पितरं सम्पद्यमानं करोति—पित्री करोति। पित्री भवति। पित्री स्यात्। (रीङ् ऋतः १०४५)।

(६) अमलिना बुद्धयो मलिनाः सम्पद्यमाना भवन्ति—मलिनी भवन्ति। **प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनी भवन्ति** (हितोप० १.२८)।

अब अव्यक्तध्वनि के अनुकरण से स्वार्थ में डाच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्— **(१२४७)**

अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्।५।४।५७॥

द्व्यजेव अवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनम् अनेकाजिति यावत्, तादृशम् अर्धं यस्य तस्माड् डाच् स्यात् कृभ्वस्तियोगे॥

अर्थः—(द्वित्व कर चुकने पर)[1] जिस के आधे भाग में कम से कम दो अच् पाये जायें ऐसे अव्यक्तानुकरण से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक डाच् प्रत्यय हो, यदि कृ, भू या अस् धातु का योग हो तो। परन्तु यह प्रत्यय 'इति' शब्द के परे रहते नहीं होता।

व्याख्या—अव्यक्तानुकरणात् ।५।१। द्व्यजवरार्धात् ।५।१। अनितौ ।७।१। डाच् ।१।१। कृभ्वस्तियोगे ।७।१। (**कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य०** सूत्र से मण्डूकप्लुतिद्वारा)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। यत्र ध्वनौ अकारादयो वर्णविशेषा न व्यज्यन्ते सोऽव्यक्तो ध्वनिः। तस्यानुकरणम्—अव्यक्तानुकरणम्, तस्मात्=अव्यक्तानुकरणात्। षष्ठीतत्पुरुषः। द्वयोरचोः समाहारो द्व्यच्, द्व्यच् एव अवरम्=न्यूनान्यूनं न ततो न्यूनं द्व्यजवरम्, कर्मधारयसमासः। द्व्यजवरम् अर्धम् (अर्धभागः) यस्य तत्=द्व्यजवरार्धम्, तस्माद्=द्व्यजवरार्धात्, बहुव्रीहिसमासः। न इतिः—अनितिः, तस्मिन्=अनितौ, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(द्व्यजवरार्धात्) जिस का आधा भाग कम से कम दो अचों वाला हो ऐसे (अव्यक्तानुकरणात्) अव्यक्तध्वनि के अनुकरण प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (डाच्) डाच् प्रत्यय हो जाता है यदि (कृभ्वस्तियोगे) कृ, भू या अस् धातु का योग हो तो (अनितौ) परन्तु 'इति' शब्द के परे होने पर यह प्रत्यय नहीं होता।

---

१. डाच् की विवक्षा होते ही **डाचि च द्वे बहुलम्** (वा० ६९) इस अग्रिम वार्तिक से अव्यक्तानुकरण को सर्वप्रथम द्वित्व हो जाता है। द्वित्व के बाद ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, अत एव यहां पर 'द्वित्व कर चुकने पर' ऐसा कहा गया है।

डाच्

डाच् में चकार अनुबन्ध **लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्** (३.१.१३) सूत्र में विशेषणार्थ जोड़ा गया है[1] तथा डकार **टेः** (२४२) द्वारा टि का लोप करने के लिये लगाया गया है। दोनों अनुबन्धों का लोप कर डाच् का 'आ' मात्र शेष रहता है।

जब कोई पदार्थ धड़ाम से गिरता हुआ या अन्य किसी प्रकार से एकदम शब्द करता है तो उस अव्यक्तध्वनि का लोक में पटत्, दमत्, खरटत्, श्रत् आदि शब्दों से अनुकरण किया जाता है। उस अनुकरण को प्रकट करने के लिये उस से डाच् प्रत्यय किया जाता है। परन्तु अनुकरण से डाच् तभी होता है जब उस अनुकरण को द्वित्व करने पर उस के आधे भाग में कम से कम दो अच् पाये जाते हों। यथा—'पटत्' इस अव्यक्तानुकरण को द्वित्व कर 'पटत् पटत्' बनेगा। अब इस के आधे भाग 'पटत्' में दो अच् हैं। अतः कृ, भू, अस् धातुओं का योग होते ही इस से डाच् प्रत्यय हो जायेगा। कम से कम दो अचों का होना इसलिये कहा है कि दो से अधिक अच् होने पर भी इस की प्रवृत्ति हो जाये। यथा—'खरटत् खरटत्'। परन्तु जिस का अर्ध भाग एक अच् वाला होगा उस से डाच् न होगा। यथा—'श्रत् श्रत्' में डाच् नहीं होता।

अब डाच् की विवक्षा में सब से प्रथम द्वित्व का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(९९) **डाचि च द्वे बहुलम्** ॥

इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम् ॥

अर्थः—डाच् की विवक्षा होने पर अव्यक्तानुकरण को बहुल से द्वित्व हो।

व्याख्या—यह वार्तिक **सर्वस्य द्वे** (८.१.१) के प्रकरण में महाभाष्यस्थ (८.१.१२) सूत्र पर पढ़ा गया है। 'डाचि' में विषयसप्तमी है। अर्थः—(डाचि) डाच् के विषय में (बहुलम्) बहुल कर के अव्यक्तानुकरण के स्थान पर (द्वे) दो शब्दस्वरूप हो जाते हैं। यह द्वित्व डाच् की विवक्षामात्र में अर्थात् डाच् करने से पूर्व ही हो जाता है। इस द्वित्व करने के बाद ही पूर्वसूत्र (१२४७) से डाच् की प्रवृत्ति होती है।

उदाहरण यथा—

'पटत्' एवं शब्दं करोति—पटपटा करोति ('पटत्' इस तरह की अव्यक्तध्वनि करता है)। यहां 'पटत्' यह किसी अव्यक्तध्वनि का अनुकरण है। इस से परे 'इति' शब्द नहीं है किञ्च इस का कृधातु के साथ कर्मत्वेन योग भी स्पष्ट है अतः डाच् की विवक्षा में डाच् के लाने से पूर्व ही **डाचि च द्वे बहुलम्** (वा० ९९) से 'पटत् अम्' को द्वित्व कर बाद में **अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्** (१२४७) सूत्र से डाच् प्रत्यय एवम् उस के अनुबन्धों का लोप करने से—पटत् अम् पटत् अम् आ (करोति)। अब डाजन्त समग्र समुदाय के तद्धितान्त होने से **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव दोनों

---

१. डाचश्चित्त्वं लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् (३.१.१३) इति विशेषणार्थम्। तेन 'नाभा पृथिव्याः' इत्यादौ डेर्डादेशे निष्पन्नस्य अनुकरणे पटपटायतीत्यादाविव नाभा इति भवति इत्यर्थे क्यष्वारणायेति भाष्यस्वरसः। (इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः)

अम्प्रत्ययों का लुक् करने पर 'पटत् पटत् आ (करोति)' बना। अब इस स्थिति में अग्रिमवार्त्तिक से पररूप एकादेश का विधान करते हैं —

[लघु०] वा०—(१००) **नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्** ॥

डाच्परं यद् आम्रेडितं तस्मिन् परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति तकारपकारयोः पकारः। पटपटा करोति ॥

अर्थः— डाच् है परे जिस के ऐसा जो आम्रेडित, उस के परे रहते पूर्व और पर दोनों वर्णों के स्थान पर पररूप एकादेश हो।

व्याख्या— यह वार्त्तिक **एकः पूर्वपरयोः** (६.१.८१) के अधिकार में पररूप-प्रकरण में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये। अर्थः—(डाचि) डाच् के परे रहते जो (आम्रेडिते) आम्रेडित, उस के परे रहते (पूर्वपरयोः) पूर्व वर्ण तथा पर वर्ण दोनों के स्थान पर (नित्यम्) नित्य (पररूपम्) पररूप एकादेश हो जाता है।

द्वित्व का परला रूप आम्रेडित होता है—यह पीछे **तस्य परमाम्रेडितम्** (६६) सूत्र पर बताया जा चुका है। पटत् पटत् आ (करोति)—यहां डाच् (आ) के परे रहते दूसरा पटत् शब्द आम्रेडित है अतः **नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्** (वा० १००) इस प्रकृत वार्त्तिक से आम्रेडित के परे रहते पूर्ववर्ण (प्रथम पटत् का तकार) और उस से पर वर्ण (दूसरे पटत् का पकार) इन दोनों के स्थान पर पररूप पकार एकादेश हो जाता है—पट प् अटत् आ (करोति) = पटपटत् आ (करोति)। डाच् के परे रहते **यचि भम्** (१६५) सूत्र से पूर्व की भसञ्ज्ञा कर **टेः** (२४२) सूत्र से भसञ्ज्ञक टि (अत्) का लोप हो जाता है—पटपट् आ (करोति) = पटपटा (करोति)। अब 'पटपटा' की अव्ययसञ्ज्ञा होकर[1] इस से परे आई औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने पर 'पटपटा करोति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—'दमत्' एवं शब्दं करोति—दमदमा करोति। 'खटत्' एवं शब्दं करोति—खटखटा करोति। अस् और भू धातुओं के योग में भी इसीतरह स्वार्थ में डाच् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरणार्थ यथा – पटपटा भवति, पटपटा स्यात्। दमदमा भवति, दमदमा स्यात्। इत्यादि।

अब **अव्यक्तानुकरणाद्**० (१२४७) सूत्र के विषय को प्रत्युदाहरणों द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हैं —

[लघु०] अव्यक्तानुकरणात् किम्? ईषत्करोति।

द्व्यजवरार्धात् किम्? श्रत् करोति।

---

१. 'पटपटा' शब्द डाजन्त है अतः **ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च** (६५०) से इस की गति और निपात दोनों सञ्ज्ञाएं हो जाती हैं। गतिसञ्ज्ञा के कारण **ते प्राग्धातोः** (४१६) द्वारा इस का धातु से पूर्व ही प्रयोग होता है—पटपटा करोति। 'करोति पटपटा' प्रयोग करना अशुद्ध है। निपातसञ्ज्ञा के कारण **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) से इस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

अवरेति किम् ? खरटखरटा करोति ।
अनितौ किम् ? पटिति करोति ॥

व्याख्या—अव्यक्तानुकरणात् किम् ? ईषत्करोति । अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् (१२४७) सूत्र में 'अव्यक्तानुकरणात्' कह कर अव्यक्तध्वनि के अनुकरण से ही डाच् का विधान किया गया है । यदि यह न कहते तो 'ईषत् करोति' (थोड़ा करता है) यहां भी डाच् होने लगता । 'ईषत्' शब्द 'थोड़ा' अर्थ में अव्यय है, यह किसी ध्वनि का अनुकरण नहीं, अतः इस से डाच् नहीं हुआ । डाच् के न होने से तन्मूलक द्वित्व आदि भी नहीं हुए ।

द्व्यजवरार्धादिति किम् ? श्रत् करोति ।

डाज्विधायकसूत्र (१२४७) में यह कहा गया है कि ऐसे अव्यक्तानुकरण से डाच् प्रत्यय होता है द्वित्व करने पर जिस के अर्ध भाग में कम से कम दो अच् रहते हों । यदि ऐसा न कहते तो 'श्रत् करोति' (श्रत् इस तरह अव्यक्तध्वनि करता है) यहां एकाच् वाले स्थानों पर भी डाच् हो जाता जो अनिष्ट था ।

अवरेति किम् ? खरटखरटा करोति ।

डाज्विधायकसूत्र (१२४७) में 'अवर' (न्यून=कम से कम) शब्द का प्रयोग किया गया है । उस का अभिप्राय यह है कि द्वित्व करने पर जिस के अर्धभाग में कम से कम दो अच् विद्यमान हों तो उस से डाच् हो जाता है । इसप्रकार के कथन से दो से अधिक अचों वाले अनुकरणों से भी डाच् हो जाता है । यथा—खरटखरटा करोति (खरटत् इस तरह अव्यक्तध्वनि करता है) । यहां द्वित्व करने पर अर्धभाग खरटत्शब्द में तीन अच् पाये जाते हैं । अतः यहां भी डाच् प्रत्यय निर्बाध हो जाता है । यदि 'द्व्यजवर' (कम से कम दो अचों वाला) न कह कर 'द्व्यच्' (दो अचों वाला) इतना मात्र कहते तो दो से अधिक अचों की अवस्था में डाच् न हो सकता ।[1]

अनितौ किम् ? पटिति करोति ।

डाज्विधायकसूत्र में 'अनितौ' इसलिये कहा गया है कि 'इति' शब्द के परे रहते डाच् न हो । डाच् न होगा तो तन्मूलक द्वित्व भी न होगा । यथा—'पटत्+इति' यहां 'इति' शब्द परे है अतः **अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्** (१२४७) से

---

१. वस्तुतः 'द्व्यजवरार्धात्' के स्थान पर यदि सूत्रकार 'अनेकाचः' कह देते तो अच्छा होता, अनेक झञ्झटों से छुटकारा मिल जाता तथा प्रक्रिया भी बहुत सरल हो जाती । तब डाच् की विवक्षा में पहले द्वित्व कर फिर उस के अर्धभाग में कम से कम दो अचों को देखने आदि की आवश्यकता ही न होती । सीधा जो अनेकाच् होता उस से डाच् और डाच् के परे रहते द्वित्व हो जाता । सम्भवतः आचार्य ने यहां किसी पूर्वव्याकरण का आश्रय लिया होगा । पाणिनीयव्याकरण के सूत्रपाठ को वेदाङ्ग मानने वाले वैयाकरण ऐसे स्थलों को प्रायः अदृष्टार्थ ही माना करते हैं ।

डाच् न होगा। अब यहां **अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ** (६.१.९५)[1] सूत्र से 'पटत्' के 'अत्' तथा 'इति' के आदि 'इ' के स्थान पर पररूप (इ) एकादेश हो कर—पट् इ ति='पटिति करोति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार— धमत्+इति=धमिति करोति। खरटत्+इति=खरटिति करोति।

अभ्यास [१६]

(१) निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—

१. अन्नमयम्। २. अश्वकः। ३. अन्नमयो यज्ञः। ४. प्राज्ञः। ५. आदितः। ६. कृष्णी करोति। ७. ब्रह्मी भवति। ८. दोषाभूतमहः। ९. अग्नी भवति। १०. पटपटा करोति। ११. चौरः। १२. अग्निसाद् भवति। १३. गङ्गी स्यात्। १४. भस्मसात् कुरुते। १५. स्वी चकार। १६. शुची भवति। १७. दमदमा भवति। १८. कौतूहलम्। १९. राक्षसः। २०. अल्पशो ददाति।

(२) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप सिद्ध करें—

१. स्वरेण। २. मध्ये। ३. बहूनि ददाति। ४. अश्व एव। ५. कृत्स्नं गृहं भस्म भवति। ६. खरटत् एवं शब्दं करोति। ७. अपटुः पटुः सम्पद्यते तं करोति। ८. अदिवा दिवा सम्पद्यमाना भूता। ९. कृत्स्नं लवणमुदकं सम्पद्यते। १०. अपितरं पितरं सम्पद्यमानं करोति। ११. चर एव। १२. अशुक्लं शुक्लं सम्पद्यमानं करोति। १३. प्राचुर्येण प्रस्तुता अपूपा यस्मिन्।

(३) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. तत्प्रकृतवचने मयट्। २. इवे प्रतिकृतौ। ३. कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः। ४. बह्वल्पार्थात् शस् कारकादन्यतरस्याम्। ५. अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्। ६. विभाषा साति कार्त्स्न्ये। ७. सात्पदाद्योः। ८. जीविकार्थे चाऽपण्ये। ९. अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ। १०. अस्य च्वौ।

---

१. **अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ** (६.१.९५)। अर्थः—अव्यक्तानुकरण के 'अत्' तथा उस से परे इतिशब्द के आदि इकार के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है। यथा—घटत्+इति=घटिति। छमत्+इति=छमिति। झटत्+इति=झटिति। [पटिति को प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने वाले लघुकौमुदीकार को यहां यह सूत्र अवश्य देना चाहिये था। अथवा—लघुकौमुदीकार ने शायद यह समझ लिया होगा कि इस का निर्वाह तो 'पतत्+अञ्जलि=पतञ्जलिः' की तरह **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** (वा० ८) वार्तिक से ही कर लिया जायेगा क्योंकि शकन्ध्वादियों को आकृतिगण तो माना ही हुआ है।]

(४) निम्नस्थ वार्त्तिकों वा वचनों की व्याख्या करें—
१. अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् ।
२. डाचि च द्वे बहुलम् ।
३. नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् ।
४. आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् ।
५. सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् ।
६. बह्वल्पार्थान्मङ्गलाऽमङ्गलवचनम् ।
७. च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम् ।
८. अवरेति किम् ? खरटखरटा करोति ।

(५) **रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे**
विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक् ।
अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति
व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तँ च धिग्धिक् ॥
इस पद्य में कौन कौन से अपशब्द हैं, उन का सप्रमाण विवेचन करें ।

(६) 'पटपटा करोति' को 'करोति पटपटा' क्यों नहीं लिखा जा सकता ? क्या इन दोनों में कोई समास हुआ है ?

(७) 'एकत्री भवन्ति' प्रयोग के शुद्धाशुद्धत्व का विवेचन करें ।

(८) प्रज्ञादियों से स्वार्थे अण् के चार उदाहरण दीजिये ।

(९) च्विँ के प्रसङ्ग में अस् धातु के विधिलिङ् का ही क्यों उदाहरण दिया जाता है, अन्य लकारों का क्यों नहीं ?

(१०) 'पटिति' में किस सूत्र से किस प्रकार की सन्धि होती है ? यहां डाच् की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

(११) प्रज्ञा, प्राज्ञा, प्राज्ञी— तीनों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें ।

(१२) च्विँ के परे रहते अवर्ण, इवर्ण, उवर्ण और ऋवर्ण के स्थान पर क्या क्या आदेश होते हैं ? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(१३) 'द्व्यजवरार्धात्' का अभिप्राय अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिये ।

(१४) 'तत्प्रकृतवचने मयट्' सूत्र की द्विविध व्याख्या कैसे और किस आधार पर की जाती है ?

(१५) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—
[क] 'प्रतिकृति' से यहां क्या अभिप्रेत है ?
[ख] 'अग्निसाद्भवति' में सकार को षत्व क्यों नहीं हुआ ?
[ग] 'दधि सिञ्चति' में षत्व हो या न हो ?
[घ] 'श्रत् करोति' में डाच् की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

[ङ] सार्वविभक्तिक तसिँ किसे कहते हैं ?

[च] च्विँ का सर्वापहारलोप किस प्रकार हो जाता है ?

[छ] देवता एव दैवतः—यहां प्रकृतिलिङ्गता क्यों नहीं होती ?

[ज] अभूततद्भाव का क्या आशय है ?

[झ] अव्यक्तानुकरण से क्या अभिप्रेत है ?

[लघु०] इति स्वार्थिकाः ॥

इति तद्धितप्रकरणम् ॥

[यहां पर स्वार्थिक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।]

[तद्धितप्रकरण का भी विवेचन यहां समाप्त होता है ।]

इति भूतपूर्वाऽखण्डभारतान्तर्गत-सिन्धुतटवर्ति-डेराइस्माईल-खाना-ख्य-नगरवास्तव्य - भाटियावंशावतंस-स्वर्गत - श्रीमद्रामचन्द्र-वर्मसूनुना एम्० ए० साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधिभृता वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां लघुसिद्धान्त-कौमुद्या भैमीव्याख्यायां तद्धित-प्रकरणाख्योऽयम् पञ्चमो भागः पूर्तिमगात् ॥

वसु-वेद-नभो-नेत्रे वैक्रमे शुभवत्सरे ।
वारे शुक्रे तृतीयायां ज्येष्ठमासाऽसिते दले ॥
चिरात्प्रतीक्षितो भागो भैमीव्याख्याविभूषितः ।
तद्धितान् विषयीकृत्य पञ्चमः पूर्त्तिमागतः ॥

ज्येष्ठ कृष्णपक्ष (३१.५.१९९१ ई०)
तृतीया, सं० २०४८ वि०

अथ परिशिष्टानि

(१) परिशिष्ट—विशेष स्मरणीय पद्य वा वचन

[भैमीव्याख्या के इस तद्धितप्रकरण में उद्धृत सैंकड़ों वचनों में से कुछ विशेष स्मरणीय पद्य या वचन यहां संगृहीत किये गये हैं।]

(१) तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः—तद्धिताः। (पृष्ठ २)

(२) संगच्छ पौंस्नि स्त्रैणं मां युवानं तरुणी शुभे।
राघवः प्रोष्य-पापीयान् जहीहि तमकिञ्चनम्॥ (पृष्ठ १७)

(३) सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः॥ (पृष्ठ ३१)

(४) त्यजस्व कोपं कुलकीर्तिनाशनं भजस्व धर्मं कुलकीर्तिवर्धनम्।
प्रसीद जीवेम सबान्धवा वयं प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥ (पृष्ठ ३१)

(५) सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम्॥ (पृष्ठ ३५)

(६) शुभ्रादित्वेन गाङ्गेयो गाङ्गश्चापि शिवाद्यणि।
गाङ्गायनिस्तिकादित्वादिति गङ्गा त्रिरूपिणी॥ (पृष्ठ ३८)

(७) नक्षत्रगामिन्यणि तिष्यपुष्ययोश्छे ङ्यां च लोपोऽयमगस्त्यसूर्ययोः।
ङ्यामेव मत्स्यस्य भवेदितीरणाद् व्यनाशि सूत्रं प्रविभज्य वार्त्तिके॥
(पृष्ठ ६४)

(८) सिद्धे यस्येतिलोपेन किमर्थं य-यतौ ङितौ।
ग्रहणं माऽलदर्थं भूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे॥ (पृष्ठ ६८)

(९) एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थः, तत्समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति।
(पृष्ठ ९४)

(१०) शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते॥ (पृष्ठ १०९)

(११) अमेह-क्व-तसि-त्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात् स्मृतः।
निनिर्भ्यां ध्रुवगत्योश्च प्रवेशो नियमे तथा॥ (पृष्ठ ११९)

(१२) गता वेदविद्या गतं धर्मशास्त्रं गतं रे गतं रे गतं न्यायसूत्रम्।
इदानीन्तनानां जनानां प्रवृत्तिः सुबन्ते तिङन्ते कदाचित् कृदन्ते॥
(पृष्ठ १३९)

(१३) नहि देवदत्तः स्रुघ्ने सन्निधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रे सन्निधीयते।
युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात्। (पृष्ठ १३९)

(१४) प्रायशब्दः साकल्यस्य किञ्चिन्न्यूनतामाह। (पृष्ठ १४१)

(१५) कारणे कार्यसद्भावपक्षात् सम्भूततोच्यते ।
विकारे वाच्यमेण्या ढञ् कोशाच्चेत्याह भाष्यकृत् ॥ (पृष्ठ १४४)

(१६) प्राण्योषधितरुभ्यस्तु विकारावयवार्थयोः ।
अन्येभ्यस्तु विकारेऽर्थे प्रत्ययाः स्युरतः परम् ॥ (पृष्ठ १७३)

(१७) इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽपिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥ (पृष्ठ १६२)

(१८) ग्रामात्क्रोशे निवस्तव्यं भिक्षुणेति विधीयते ।
तादृङ् निकटवासेऽयं विधिर्नैकटिको यतिः ॥ (पृष्ठ १६८)

(१९) अंशभूतं किलानाम्यस्मिति वृत्तावुदीरितम् ।
मूलद्रव्याङ्गभूतत्वाल्लाभस्यात्रास्ति मूल्यता ॥ (पृष्ठ २०७)

(२०) वैतण्डिकः प्रयतते निजपक्षसिद्ध्यै ताञ्चैष वेद परपक्षनिषधलभ्याम् ।
(पृष्ठ २११)

(२१) अन्यच्छब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् ॥ (पृष्ठ २४२)

(२२) पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च ।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥ (पृष्ठ २४९)

(२३) अधः पश्यसि किं वृद्धे ! पतितं तव किं भुवि ।
रे रे मूढ ! न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् ॥ (पृष्ठ २५४)

(२४) एतदध्यस्य कार्पेयं यदर्कमुपतिष्ठति ॥ (पृष्ठ २५८)

(२५) एष प्रावृषिजाम्भोदनादी भ्राता विरौति ते ।
ज्ञातेयं कुरु सौमित्रे ! भयात् त्रायस्व राघवम् ॥ (पृष्ठ २५९)

(२६) यव-गोधूम-धान्यानि तिलाः कङ्गु-कुलत्थकाः ।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः श्याम-सर्षपाः ॥
गवेधुकाश्च नीवारा आढक्यश्च सतीनकाः ।
चणकाश्चीणकाश्चैव धान्यान्यष्टादशैव तु ॥ (पृष्ठ २६५)

(२७) बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते ।
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फला गुणाः ॥
(पृष्ठ २६७)

(२८) प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ॥ (पृष्ठ २६९)

(२९) कियन्मात्रं जलं विप्र ! जानुदघ्नं नराधिप ।
तथापीयमवस्था ते, न हि सर्वे भवादृशाः ॥ (पृष्ठ २६९)

(३०) उदितवति परस्मिन् प्रत्यये शास्त्रयोनौ
गतवति विलयं च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे ।
सपदि पदमुदीते केवलः प्रत्ययो यत्
तदियदिति मिमीते को हृदा पण्डितोऽपि ॥ (पृष्ठ २७३)

(३१) भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ (पृष्ठ ३०२)

(३२) गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति ॥ (पृष्ठ ३०६)

(३३) एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ ॥ (पृष्ठ ३१४)

(३४) नहि व्यञ्जनपरस्य एकस्यानेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति । (पृष्ठ ३१९)

(३५) यो हि सम्यग्बहु भाषते वाग्मीत्येव भवति ॥ (पृष्ठ ३१९)

(३६) न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः ॥ (पृष्ठ ३२३)

(३७) अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति ॥ (पृष्ठ ३२५)

(३८) किंशब्दाद् द्व्यादिवर्जाच्च सर्वनाम्नो बहोरपि ।
प्राग्दिशः प्रत्यया ज्ञेया नाऽपरेभ्यो भवन्त्यमी ॥ (पृष्ठ ३२७)

(३९) अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतनः कालः ॥ (पृष्ठ ३४२)

(४०) बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामप्यातिशायनिकाः ॥ (पृष्ठ ३५७)

(४१) यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपर
आतिशायनिकः प्रत्ययो भवत्येव ॥ (पृष्ठ ३७१)

(४२) आतिशायनिकप्रत्ययान्ताद् आतिशायनिको न अनभिधानात् ॥ (पृष्ठ ३७१)

(४३) स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते ॥ (पृष्ठ ३७२)

(४४) क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि ॥ (पृष्ठ ३७२)

(४५) स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच् प्रकृतिलिङ्गता ॥ (पृष्ठ ३७४)

(४६) साद्योदादिभकारादिसुप्सु स्यात्प्रकृतेरकच् ।
अन्यत्र तु सुबन्तस्येत्याहुर्भोजहरादयः ॥ (पृष्ठ ३७८)

(४७) कादेशः खल्वप्यवश्यं साकच्कार्थो वक्तव्यः ॥ (पृष्ठ ३८५)

(४८) रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे
विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक् ।
अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति
व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग्धिक् ॥ (पृस्ठ ३९०)

(४९) दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ॥ (पृष्ठ ३९७)

(५०) नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥ (पृष्ठ ३९७)

—:x:—

(२) परिशिष्ट—तद्धितप्रकरणगताष्टाध्यायीसूत्रतालिका

[इस परिशिष्ट में तद्धितप्रकरण में व्याख्यात अष्टाध्यायीसूत्रों की अकारादि-क्रम से तालिका दी जा रही है। मूलोक्त सूत्र स्थूल टाइप में तथा व्याख्योक्त सूक्ष्म टाइप में मुद्रित किये गये हैं। सूत्रों के आगे इस ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या दी गई है।]

(३) परिशिष्ट—तद्धितप्रकरणान्तर्गतवार्त्तिकादितालिका

[इस परिशिष्ट में तद्धितप्रकरणान्तर्गत वार्त्तिकों, गणसूत्रों, न्यायों, परिभाषाओं एवं महत्त्वपूर्ण भाष्यादिवचनों की अकारादिक्रम से सूची दी जा रही है। इन के आगे इस ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या दी गई है।] संकेत—वा० = वार्त्तिक, ग. सू. = गणसूत्र, का. = काशिका, प० = परिभाषा, भाष्य = महाभाष्य इत्यादि।

(४) परिशिष्ट—मूलतद्धितप्रकरणगतोदाहरणतालिका

लघुसिद्धान्तकौमुदी के तद्धितप्रकरण में पठित समस्त उदाहरणों की अकारादिक्रम से यहां अनुक्रमणी दी जा रही है। इस के आगे तत्तद्रूपों के सिद्धिस्थल की पृष्ठ-संख्या अङ्कित की गई है। ध्यान रहे कि यहां मूलोक्त उदाहरणों की ही सूची दी गई है, भैमीव्याख्योक्त सैंकड़ों अन्य उदाहरण इस में संगृहीत नहीं।

(५) परिशिष्ट–तद्धितप्रत्ययानुक्रमणिका

[लघुकौमुदीस्थ तद्धितप्रकरण में लगभग एक सौ तद्धित प्रत्यय पाये जाते हैं, उन की अकारादिक्रम से यहां तालिका प्रस्तुत की जा रही है। प्रत्ययों के आगे कोष्ठकों में तत्तत्प्रत्ययों का अनुबन्धरहित शुद्ध रूप तथा उस प्रत्यय के विधायक किसी एक सूत्र का कौमुदीगत संख्याङ्क दिया गया है। प्रत्येक प्रत्यय के अन्त में छात्त्रों के सुखावबोधार्थ एक एक उदाहरण भी निर्दिष्ट कर दिया गया है।]

अ। (वा० ७१)। उडुलोमाः।
अकच् (अक्)। (१२३३)। त्वयका।
अच् (अ)। (११९५)। अर्शसः।
अञ् (अ)। (१००२)। औत्सः।
अण् (अ)। (१०१७)। शैवः।
अत् (अ)। (१२०६)। अत्र।
आमुँ (आम्)। (१२२१)। किन्तमाम्।
इञ् (इ)। (१०१४)। दाक्षिः।
इतच् (इत)। (११६७)। तारकितं नभः।
इनिँ (इन्)। (११९१)। दण्डी।
इमनिँच् (इमन्)। (११५५)। प्रथिमा।
इलच् (इल)। (११८८)। पिच्छिलः।
इष्ठन् (इष्ठ)। (१२१८)। लघिष्ठः।
ईकक् (ईक)। (वा० ९१)। बाह्लीकः।
ईयसुँन् (ईयस्)। (१२२२)। लघीयान्।
उरच् (उर)। (११८९)। दन्तुरः।
एण्य। (१०८५)। प्रावृषेण्यः।
क। (१२३२)। अश्वकः।
कन् (क)। (१२३८)। अश्वकः।
कल्पप् (कल्प)। (१२३०)। विद्वत्कल्पः।
ख (ख=ईन)। (११४१)। विश्वजनीनम्।
खञ (ख=ईन)। (११६४)। मौद्गीनम्।
ग्मिनिँ (ग्मिन्)। (११९४)। वाग्मी।
घ (घ=इय)। (१०२५)। क्षत्त्रियः।
घन् (घ=इय)। (१०४२)। शुक्रियम्।
च्विँ (×)। (१२४२)। कृष्णी करोति।
छ (छ=ईय)। (१०७७)। शालीयः।
ट्यण् (य)। (१०४३)। सौम्यम्।
ट्यु (यु=तन)। (१०८६)। सायन्तनम्।
ट्युल् (यु=तन)। (१०८६)। चिरन्तनम्।
ठक् (ठ=इक)। (१०२६)। रैवतिकः।
ठञ् (ठ, इक)। (वा० ८६)। आध्यात्मिकम्।
ठन् (ठ=इक)। (११९१)। दण्डिकः।
ठप् (ठ=इक)। (१०८८)। प्रावृषिकः।
डट् (अ)। (११७५)। एकादशः।
डतमच् (अतम)। (१२३७)। कतमः।
डतरच् (अतर)। (१२३६)। कतरः।
डाच् (आ)। (१२४७)। पटपटा करोति।
ड्मतुँप् (मत्)। (१०६३)। कुमुद्वान्।
ड्य (य)। (१०३७)। वामदेव्यम्।
ड्यण् (य)। (वा० ७५)। पाण्ड्यः।
ड्यत् (य)। (१०३७)। वामदेव्यम्।
ड्वलच् (वल)। (१०६६)। नड्वलः।
ढक् (ढ=एय)। (११६२)। कापेयम्।
ढञ् (ढ=एय)। (१०९१) कौशेयम्।
ण्य (य)। (१०२९)। कौरव्यः।
तमप् (तम)। (१२१८)। लघुतमः।
तयप् (तय)। (११७२)। पञ्चतयम्।
तरप् (तर)। (१२२२)। लघुतरः।
तल् (त)। (११५३)। गोता।
तसिँ (तस्)। (वा० ९६)। आदितः।
तसिँल् (तस्)। (११९९)। कुतः।
तीय। (११७९)। द्वितीयः।
त्यक् (त्य)। (१०७२)। दाक्षिणात्यः।
त्यप् (त्य)। (१०७४)। अमात्यः।
त्रल् (त्र)। (१२०४)। तत्र।

त्व। (११५३)। गोत्वम्।
थमुँ (थम्)। (१२१६)। इत्थम्।
थाल् (था)। (१२१५)। यथा।
दघ्नच् (दघ्न)। (११६८)। ऊरुदघ्नम्।
दा। (१२१०)। सदा, सर्वदा।
देशीयर् (देशीय)। (१२३०)। विद्वद्देशीयः।
देश्य। (१२३०)। विद्वद्देश्यः।
द्वयसच् (द्वयस)। (११६८)। ऊरुद्वयसम्।
न। (११८८)। पामनः।
नञ् (न)। (१००३)। स्त्रैणः।
फक् (फ=आयन)। (१०१२)। गार्ग्यायणः
बहुच् (बहु)। (१२३१)। बहुपटुः।
म। (१०८३)। मध्यमः।
मतुँप् (मत्)। (११८५)। गोमान्।
मयट् (मय)। (१११२)। अश्ममयम्।
मात्रच् (मात्र)। (११६८)। ऊरुमात्रम्।
य। (११३६)। सभ्यः।
यक् (य)। (११६३)। सैनापत्यम्।
यञ् (य)। (१००८)। गार्ग्यः।
यत् (य)। (१११५)। गव्यम्।
युस् (यु)। (११९६)। अहंयुः।
व। (११९०)। केशवः।
वतिँ (वत्)। (११५१)। ब्राह्मणवदधीते।
वतुँप् (वत्)। (११६९)। यावान्।
वलच् (वल)। (१०६७)। शिखावलः।
विनिँ (विन्)। (११९३)। यशस्वी।
वुञ् (वु, अक)। (११००)। औपाध्यायकः
वुन् (वु=अक)। (१०५५)। क्रमकः।
रूप्य। (११०१)। समरूप्यम्।
र्हिल् (र्हि)। (१२१३)। कर्हि।
लच् (ल)। (११८७)। चूडालः।
श। (११८८)। लोमशः।
शस्। (१२४१)। बहुशो ददाति।
ष्यञ् (य)। (११६०)। जाड्यम्।
सातिँ (सात्)। (१२४४)। अग्निसाद्भवति
स्नञ् (स्न)। (१००३)। पौंस्नः।
ह। (१२०५)। इह।

नोट—आचार्य ने कुछ तद्धितान्तशब्द निपातन के द्वारा भी सिद्ध किये हैं। यथा—पितृव्य, मातुल, मातामह, पितामह, पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति, शतम् आदि।

(६) परिशिष्ट—विशेष—द्रष्टव्य-स्थल-तालिका

[इस तालिका में इस व्याख्या के कतिपय द्रष्टव्यस्थलों का निर्देश किया गया है। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

भैमी प्रकाशन

के ग्रन्थों की नवीन सूची 2003

१. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग) 250/- रु०

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है । कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली । इस व्याख्या के **सन्धि षड्लिङ्ग तथा अव्ययप्रकरणात्मक** प्रथम भाग में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शङ्का का पूर्ण विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिए बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं । इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थसहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है । आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती । व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है । प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति वा प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है । अकेला **अव्ययप्रकरण** ही लगभग सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि—**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था ।** सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं--उदाहरणार्थ अकेले **इको यणचि** सूत्र पर ५० नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है । स्थान-स्थान पर समझाने के लिए नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत है । इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया । यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं ।

२. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग) 300/- रु०

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में **दस गण** और **एकादश प्रक्रियाओं** की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Back bone) समझा जाता है । क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है । अत: इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है । लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है । प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्यवैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं । चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं । अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी **णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं** के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं । जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों द्वारा प्रक्रियाओं को इस में समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । इस से प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छ: प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं । ग्रन्थ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

३. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (तृतीय भाग) 250/- रु०

भैमीव्याख्या के इस तृतीय भाग में **कृदन्त** और **कारक** प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिए कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है । प्राय: प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है । **कारकप्रकरण** लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टत: बहुत अपर्याप्त है । भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों

की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है ।

४. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग) 250/- रु०

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में **समासप्रकरण** का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है । मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है । इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं । साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं । प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है । जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं । मूलगत सूत्रवार्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं । व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है । समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई । इस से विद्यार्थीवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी होकर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैंकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है । अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है । व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनाम-निर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी । इसके सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी । ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं । समीक्षकों का यह कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्यार्थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वत: सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है । (२३×३६)/१६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड सुनहरी जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है । यह ग्रन्थ का शोधित द्वितीय संस्करण है ।

५. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग) 250/- रु०

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के **तद्धितप्रकरण** की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है । मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है । पठन पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है । अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है ।

६. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग) 100/- रु०

इस भाग में लघुकौमुदी के **स्त्रीप्रत्ययप्रकरण** की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्का-समाधानों से यह भाग विभूषित है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्त्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं । जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर संकलित किये गये हैं । 'स्वाङ्गम्' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है । दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश बिना व्याख्या के अछूता नहीं छोड़ा गया । पठितविषय की आवृत्ति के लिए यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं । नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषत: प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है । अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिए भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीयेतरव्याकरणों का आश्रय लेकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । वस्तुत: इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है । (२३×३६)/१६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है ।

७. अव्ययप्रकरणम् 25/- रु०

लघुकौमुदी का **अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित** पृथक् भी छपवाया गया है । इस में लगभग सवा पांच सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन

प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है । आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । ग्रन्थ के अन्त में सब अव्ययों की **अकारादिक्रम से अनुक्रमणी** भी दे दी गई है, ताकि अव्ययों को ढूंढने में असुविधा न हो। इस ग्रन्थ में अव्ययों के अर्थज्ञान के साथ साथ सुभाषितों वा सूक्तियों का व्यवहारोपयोगी एक बृहत्संग्रह भी अनायास उपलब्ध हो जाता है।

८. वैयाकरण-भूषणसार भैमीभाष्योपेत (धात्वर्थनिर्णयान्त) 150/-रु०

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । अत एव एम्०ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है । परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली–हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रान्तीय वा विदेशी भाषा में इस का अनुवाद तक उपलब्ध नहीं । विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्रायः सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे । परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दी भाष्य के प्रकाशित हो जाने से उन का भय जाता रहा । छात्रों वा अध्यापकों के लिए यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है । इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों वा फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भांति व्यक्त किया है । भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं । अतः छात्रों वा अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मकरीत्या प्रतिपादित किया गया है । इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है । विषय को समझाने के लिए अनेक चार्ट दिये गये हैं । जैसे–वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शनशास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है । ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिए सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु है । वस्तुतः व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है । इस भाष्य की प्रशंसा देश-विदेश के विद्वानों ने की है । ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से छः प्रकार के टाइपों में किया गया है । सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

९. न्यास-पर्यालोचन 150/- रु०

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिका-विवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत् शोधप्रबन्ध है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है । यह शोधप्रबन्ध शास्त्री जी द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है । इस में कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है । जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इस में उसे पूर्णतया वैदिक धर्मी सिद्ध किया गया है । यह शोधप्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है । **प्रथम** अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवासस्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय अध्याय में **'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण'** नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है । इस में केवल पाणिनीय व्याकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीयेतर **चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत** इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में **'उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन'** नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है । इस में उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं । चतुर्थ अध्याय में **'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन'** नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है । इस में काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है । पञ्चम अध्याय में **न्यासकार की भ्रान्तियों** तथा न्यास के **एक सौ भ्रष्टपाठों** का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है । छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है । व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है । सुन्दर मैप्लीथो कागज, पक्की अंग्रेजी सिलाई और स्क्रीन प्रिंटिड आकर्षक जिल्द से ग्रन्थ सुशोभित है ।

१०. बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन 25/- रु०

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्रीवासुदेवदीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है । पिछली अर्धशताब्दी में इस के कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो चुके हैं । परन्तु शोक से कहना पड़ता है

कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ जरा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया । यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं । इस से पठन- पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है । इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है । आप इस शोध पत्र को पढ़ कर मनोरञ्जन के साथ साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं । इस में स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियाँ ली गई हैं । यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है । हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न पहली बार किया गया है ।

११. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ? 25/- रु०

शोधपूर्ण इस निबन्ध में **'अइउण्'** आदि प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार व्यक्त किये गये हैं । ये सूत्र पाणिनि की स्वोपज्ञ रचना हैं या किसी अन्य मनीषी की ? इस विषय पर **महाभाष्य, काशिकावृत्ति, भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, कैयटकृत प्रदीप** आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के दर्जनों प्रमाणों के आलोक में पहली बार नवीनतम विचार प्रस्तुत किये गये हैं । इन के **शिवसूत्र या माहेश्वरसूत्र** कहलाने का भी क्रमिक इतिहास पूर्णतया दे दिया गया है । ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में **कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हेमचन्द्रशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, सारस्वत, मुग्धबोध, संक्षिप्तसार तथा हरिनामामृत**–इन ग्यारह पाणिनीयेतर व्याकरणों के प्रत्याहारसूत्रों को उद्धृत कर उन का पाणिनीयप्रत्याहारसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इस से प्रत्याहारसूत्रों के विषय में गत अढ़ाई हजार वर्षों के मध्य भारतीय व्याकरणविदों के विचार में आये क्रमिक परिवर्तनों पर प्रकाश पड़ता है । **इस के अन्त में बहुचर्चित नन्दिकेश्वरकाशिका ग्रन्थ भी अविकल दे दिया गया है**, जिस से पाठकों को इस विषय का पूरा-पूरा विवरण मिल सके ।